5.5

॥ श्रीः ॥

जड़ावकुँवर राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला
२६

कवि कर्णपूर और उनके महाकाव्य : एक अध्ययन

(कवि कर्णपूर और उनके महाकाव्यों का साहित्यिक एवं आलोचनात्मक अध्ययन)

लेखिका
डॉ० कृष्णलता सिंह

चौखम्भा ओरियन्टालिया
प्राच्यविद्या तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक
वाराणसी दिल्ली

प्रकाशक
चौखम्भा ओरियन्टालिया
पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२
गोकुल भवन, के. ३७/१०६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
टेलीफोन : ६३३५४ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

शाखा—बंगलो रोड, ९ यू० बी० जवाहर नगर
दिल्ली-११०००७ फोन : २२१६१७

प्रथम संस्करण : १९८३
मूल्य : रु० ५०-००

मुद्रक—श्रीगोकुल मुद्रणालय, वाराणसी-२२१००१

JADAUKUNWAR RASTRABHASA SERIES
NO. 26

KAVI KARṆAPŪRA AURA UṆAKE MAHĀKĀVYA : EKA ADHYAYANA

[a critical study of poet Karṇapūra and his epics]

By

Dr. KRISHNA LATA SINGH

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
VARANASI DELHI

Publishers :

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

A House of Oriental and Antiquarian Books

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32

Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane

VARANASI–221001 (India)

Telephone : 63354 Telegram : Gokulotsav

Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar

DELHI–110007 Phone : 221617

First Edition 1983

Price Rs. 50–00

मध्यकालीन काव्य धारा पर कृष्णभावना का प्रभाव

तपेश्वर नाथ प्रसाद

मूल्य रु० ६५–००

समर्पण

श्रद्धामयी, स्नेहमयी, त्यागमयी,

वात्सल्यमयी माँ राजरानी

एवं

विचक्षण विद्वान, परमश्रद्धेय गुरुवर,

पितृकल्प

डॉ० मातृदत्त त्रिवेदी

के

चरण कमलों

में

सादर, सभक्ति, सप्रेम

समर्पित

कृष्णलता

प्राक्कथन

परम हर्ष का विषय है कि डॉ० कृष्णलता सिंह द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ "कवि कर्णपूर और उनके महाकाव्य : एक अध्ययन" प्रकाशित होकर सुधीजनों के समक्ष आ रहा है। लेखिका ने गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के इस महाकवि को अपने ग्रन्थ का विषय बनाया है, जिसके जीवनचरित, काल, निर्मित ग्रन्थों एवं दार्शनिक विचारों से लोग विशेष रूप से अभी तक परिचित नहीं हैं। चैतन्य महाप्रभु का अनन्यभक्त और उनका सान्निध्य लाभ कर परमानन्द दास से कर्णपूर अभिधान प्राप्त करने वाला यह महाकवि एक प्रकार से अज्ञानान्धकार में विलीन था। डॉ कृष्णलता सिंह ने इसे प्रकाश में लाकर इस ग्रन्थ के माध्यम से कवि विषयक जो विपुल सामग्री साहित्य जगत् को दी है, उसके लिए वह प्रशंसा और साधुवाद की पात्रा हैं। इन्होंने बड़ी निष्ठा और अत्यन्त मनोयोग से इस ग्रन्थ का लेखन कर इसे अत्युत्तम रूप दिया है। इसके प्रकाशन से संस्कृत साहित्य समृद्ध और गौरवान्वित हुआ है, इसमें किञ्चिन्मात्र सन्देह नहीं है।

कवि कर्णपूर की कृतियों और विशेष रूप से उनके दो महाकाव्यों "चैतन्यचरितामृतम्" तथा "परिजातहरणम्" का सम्यक अध्ययन करने के लिए इस ग्रन्थ को दस अध्यायों में विभक्त किया गया है। इनमें प्रथम चार अध्याय कवि के अविर्भाव, जीवनवृत्त, काल-निर्णय और दार्शनिक विचारों से सम्बद्ध हैं तथा अन्तिम छः अध्यायों में दोनों महाकाव्यों का साहित्यिक समीक्षण किया गया है। इन छः अध्यायों में भी सर्वप्रथम दोनों महाकाव्यों के कथानक एवं मूलस्रोत तथा उन पर पूर्ववर्ती और समसामयिक कवियों के प्रभाव को दिखलाया गया है और तदनन्तर वस्तु-वर्णन, छन्दो-योजना, अलङ्कार-योजना तथा रस-योजना पर प्रकाश डाला गया है। लेखिका ने ग्रन्थ-लेखन में सदैव इस बात पर ध्यान रखा है कि कवि कर्णपूर से सम्बद्ध कोई आवश्यक तथ्य छूटने न पाये, जिससे पाठकों की जिज्ञासा का उपशमन न हो सके।

इस ग्रथ के चतुर्थ और दशम अध्याय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं; क्योंकि इनमें क्रमशः कर्णपूर की दार्शनिक विचारधारा और काव्य के आत्मतत्त्व रस का वैदुष्यपूर्ण विवेचन है। चैतन्यमत के नवद्वीप और वृन्दावन इन दोनों केन्द्रों में उपलब्ध साहित्यिक और दार्शनिक सामग्री के आधार पर कवि के दार्शनिक विचारों की मीमांसा की गई है। लेखिका ने स्वयं कवि के जन्मस्थान काञ्चनपल्ली जाकर कवि विषयक बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की और पुनः वृन्दावन जाकर

गौडीय सम्प्रदाय के विद्वानों से मिल कर पर्याप्त ज्ञानार्जन किया। अन्तिम अध्याय में रस का विवेचन करने में लेखिका ने बड़ी ही सावधानी से कार्य किया है। उसने दोनों महाकाव्यों के रसों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया है। प्रथमतः "परिजातहरणम्" के रसों की समीक्षा करते हुए अङ्गीरस शृङ्गार और अङ्गभूत रस हास्य, वीर, रौद्र, वीभत्स एवं भक्ति आदि का विवेचन किया गया है और तदनन्तर भक्तिरस प्रधान "चैतन्यचरितामृतम्" में अभिव्यक्त शृङ्गार, करुण, शान्त रौद्र, अद्भुत आदि अङ्गभूत रसों की चर्चा की गई है। ध्यातव्य है कि भक्तिरस का साङ्गोपाङ्ग विवेचन चैतन्य सम्प्रदाय के लब्धप्रतिष्ठ आचार्य रूपगोस्वामी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "हरिभक्तिरसामृतसिन्धु" में बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण ढंग से किया है। लेखिका ने उसका भलीभाँति अध्ययन कर इन महाकाव्यों में अभिव्यक्त भक्तिरस का निरूपण किया है। गौडीय वैष्णव लोग "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इस भागवत के श्लोकांश (१।३।२८) के आधार पर कृष्ण को साक्षात् भगवान् मानते हैं और तद्विषयिणी रति को भक्ति रस की संज्ञा प्रदान करते हैं। कृष्ण से भिन्न अन्य देव विषयक रति को वह भी आलङ्कारिकों की भाँति भाव ही मानते हैं। मम्मट आदि ने देवादिविषयक रति को भाव ही माना है—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारीतथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः ॥ (काव्यप्रकाश ४।३५, ३६)

ग्रन्थ के अन्त में उपसंहार रूप में चैतन्यसम्प्रदाय में कवि कर्णपूर के स्थान एवं परवर्ती साहित्य पर उनके व्यापक प्रभाव आदि को वर्णित किया गया है। पुनः परिशिष्ट रूप में जो सामग्री दी गई है, वह भी पाठकों के लिए विशेष उपयोगी है।

इस प्रकार इस मौलिक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना कर श्रीमती डॉ० कृष्णलता सिंह ने संस्कृत जगत् का महान् उपकार किया है और साथ ही गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय की भी महती सेवा की है। विदुषी लेखिका की इस महनीय कृति का विद्वानों में समुचित आदर होगा, ऐसा हमें विश्वास है।

डॉ० मातृदत्त त्रिवेदी
रीडर, संस्कृत विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

भाद्रपद पूर्णिमा
संवत् २०४०

आमुख

श्रीमद्भागवत् और जयदेव से निःसृत होने वाली भक्तिरसधारा १६ वीं शताब्दी में चैतन्यसम्प्रदाय के रूप में बंगाल में प्रवाहित हुई। चैतन्यसम्प्रदाय ने अपनी धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं साहित्यिक उपलब्धियों से संस्कृत साहित्य को गौरवान्वित किया। इस सम्प्रदाय ने साहित्यिक जगत् में अनेक आश्चर्यजनक नवोन्मेष किये। इसका प्रमुख कारण यह है कि चैतन्यसम्प्रदाय के प्रवर्तक केवल तत्त्ववेत्ता पण्डित ही नहीं अपितु उच्चकोटि की साहित्यिक प्रतिभा से सम्पन्न कवि भी थे। दुर्भाग्यवश अभी तक विद्वत्जन चैतन्यसम्प्रदायी कवियों की काव्यप्रतिभा और उच्चकोटि की साहित्यिक काव्यकृतियों के रसास्वादन से वंचित ही रहे हैं; क्योंकि अभी तक इन कवियों की काव्यकृतियों का अध्ययन केवल इस दृष्टिकोण से किया गया, जिससे चैतन्यसम्प्रदाय के क्रमिक विकास तथा चैतन्यदर्शन के सिद्धान्तों पर प्रकाश निक्षेप हो सके। इस दिशा में बंगाल के वरिष्ठ आधुनिक विद्वान् स्वर्गीय डॉ० सुशीलकुमार दे (Early History of Vaiṣṇava faith and Movement in Bengal), डॉ० दिनेशचन्द्र सेन (Chaitanya and his companions, Chaitanya and his Age, Vaiṣṇava Literature of Mediaeval Bengal), डॉ० विमान विहारी मजूमदार (चैतन्यचरितेर उपादान) तथा पाश्चात्य विद्वान् कैनेडी (Chaitanya Movement) की गवेषणाएँ महत्वपूर्ण हैं। पूर्वोल्लिखित विद्वानों के अथक प्रयासों से चैतन्यसम्प्रदायी कवियों के प्रति आधुनिक साहित्यिकजनों के हृदय में जिज्ञासा का उदय हो जाना स्वाभाविक ही है। अतएव इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए यह अपेक्षित था कि इन कवियों के जीवन-चरित तथा उनकी साहित्यिक साधना का पृथक्-पृथक् मौलिक अध्ययन विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत कर उनकी तीव्र साहित्यिक पिपासा का उपशमन किया जाये। वस्तुतः यही मूलभाव इस ग्रन्थ का प्रेरणास्त्रोत है।

चैतन्यदेव ने बंगाल में जिस वैष्णव आन्दोलन को प्रगति दी, उसके फलस्वरूप इस सम्प्रदाय की कतिपय शाखाएँ गोस्वामियों की परम्परा के रूप में नवद्वीप और वृन्दावन में प्रस्फुटित हुईं। चैतन्यसम्प्रदाय की नवद्वीप शाखा के अनेकानेक कवियों में से सर्वाधिक कविकर्णपूर के

व्यक्तित्व ने ही अपनी ओर आकृष्ट किया। सातवर्ष की अल्पावस्था में 'श्रवसो: कुवलयम्' पद्य रचकर लोक समुदाय को चमत्कृत करने के कारण उनके सम्बन्ध में जो उत्सुकता अंकुरित हो गई थी, वह उनके जीवन की रहस्यमयी घटनाओं से पल्लवित अन्त होकर में उनके सरलव्यक्तित्व एवं अगाध पाण्डित्य के प्रति नतमस्तक हो गई। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी जिज्ञासा की चरम परिणति है। इसके अतिरिक्त कविकर्णपूर और उनके महाकाव्यों का अध्ययन अन्य दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ। कवि कर्णपूर चैतन्य महाप्रभु के वरद पुत्र हैं, जिनकी साहित्यसाधना सात वर्ष की अल्पावस्था से प्रारम्भ होकर जीवन पर्यन्त चलती रही है। चैतन्यसम्प्रदाय की नवद्वीप शाखा में कविकर्णपूर ही सर्वाधिक साहित्यिक प्रतिभा से सम्पन्न कवि हैं और उनके ग्रन्थ संस्कृत साहित्य की अनुपम उपलब्धि हैं। संस्कृत के अधिकांश कवि या तो केवल कवि हैं या केवल आलंकारिक; किन्तु कविकर्णपूर में काव्यप्रतिभा और काव्यशास्त्रीय ज्ञान का समुचित समन्वय पाया जाता है। इस दृष्टि से कविकर्णपूर का महत्त्व अन्य कवियों से बढ़ जाता है। चैतन्यसम्प्रदाय के संगठन में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। चैतन्यदर्शन एवं सम्प्रदाय के क्रमिक विकास के अध्ययन के लिये उनका महाकाव्य 'चैतन्यचरितामृतम्' प्रथम सोपान है। उनका व्यक्तित्व सम्पूर्ण सम्प्रदाय पर आच्छादित है। कवि-कर्णपूर के उदात्त व्यक्तित्व में एक साथ अनेक विरोधी व्यक्तित्वों-भक्त, कवि, दार्शनिक, समाजसुधारक तथा आलोचक का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। कविकर्णपूर के महाकाव्य चैतन्यदर्शन से प्रभावित होते हुए भी प्राक्तन काव्य पद्धति पर ही रचे गये हैं। उनका द्वितीय महाकाव्य 'पारिजातहरणम्' सर्वतोभावेन साम्प्रदायिक सीमाओं से मुक्त है, जिससे स्पष्ट है कि कविकर्णपूर साम्प्रदायिक भक्त हैं, किन्तु साम्प्रदायिक कवि नहीं। उनके महाकाव्यों का काव्यत्व सहृदयो के हृदयों को आह्लादित करने वाला है। कविकर्णपूर की इन्हीं विशेषताओं के कारण मैंने उन्हें अपने ग्रन्थ का विषय बनाया, जो आज प्रकाशित होकर आप सब के सामने आ रहा है।

यह ग्रन्थ दस अध्यायों में संविभक्त है। आरम्भ के चार अध्याय कवि कर्णपूर से सम्बन्धित हैं और अन्तिम ६ अध्यायों में उनके महाकाव्यों का सम्यक् अध्ययन किया गया है। प्रथम अध्याय में कविकर्णपूर की आविर्भावकालीन पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है, जिससे अनुप्राणित होकर उनकी साहित्यसाधना मुखरित हुई थी। इस स्थल पर राजनैतिक,

धार्मिक एवं सामाजिक तीनों परिस्थितियों का परिचय कविकर्णपूर के ग्रन्थों, तत्कालीन गौडीय वैष्णव साहित्य तथा प्रामाणिक ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर देने की चेष्टा की गई है।

द्वितीय अध्याय में कवि कर्णपूर के जीवनवृत्त एवं उनके जन्मकाल पर विचार-विमर्श किया गया हैं। इस सम्बन्ध में कवि कर्णपूर के जन्मकाल एवं पैतृक निवास-स्थान के सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न धारणाओं का पर्यालोचन करते हुए कुछ मौलिक साक्ष्य देकर 'काञ्चनपल्ली' को ही उनका जन्म-स्थान तथा पैतृक निवास-स्थान निश्चित किया गया है। तदनन्तर उनके पिता, परिवार के अन्य सदस्यों, शिक्षा, गुरु एवं व्यक्तित्व का परिचय देते हुए कवि के जीवन से सम्बद्ध प्रमुख घटनाओं का उल्लेख तथा उनकी प्रामाणिकता पर विचार किया गया है। इसी प्रसङ्ग में कवि के कर्णपूर एवं पुरीदास नाम के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों के मत का उल्लेख किया हैं। कविकर्णपूर नामक अनेक व्यक्तियों का परिचय संस्कृत साहित्य में मिलता है। अतएव (परमानन्ददास) कवि कर्णपूर के साथ उन विभिन्न व्यक्तियों का ऐक्य है अथवा नहीं ? इस समस्या पर मौलिक ढंग से प्रकाश डाला गया है। अन्त में कवि के जन्मकाल के सम्बन्ध में प्राप्त अन्तरंग एवं वहिरंग प्रमाणों का आधार लेकर उनका जन्म-काल निश्चित किया गया है।

तृतीय अध्याय में कवि कर्णपूर की कृतियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। सर्वप्रथम रचनाओं का वर्गीकरण रचनाकाल के आधार पर न करके काव्य प्रकार के दृष्टिकोण से किया गया हैं। इन कृतियों का अध्ययन अभी तक नहीं किया गया था, अतएव विद्वत् जनों के कौतूहल को शान्त करने के लिए प्रत्येक ग्रन्थ के कर्तृत्व, रचनाकाल, वर्ण्यविषय, काव्यसौष्ठव एवं उसके महत्त्व पर दृष्टिपात किया गया है। साथ ही कुछ संदिग्ध कर्तृत्व वाली रचनाओं के सम्बन्ध में भी मौलिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

चतुर्थ अध्याय में कवि कर्णपूर के दार्शनिक विचारों का उल्लेख किया गया है। कवि कर्णपूर एवं उनके महाकाव्यों का अध्ययन उनकी दार्शनिक विचारधारा के अभिज्ञान के बिना अपूर्ण ही रहता। अतएव इस ग्रन्थ में इस अध्याय की योजना की गई है। इस सम्बन्ध में कवि कर्णपूर की कृतियों से प्राप्त होने वाले दार्शनिक विचारों को चैतन्य दर्शन की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है। उपर्युक्त स्थल

पर वृन्दावन और नवद्वीप शाखा की विचारधाराओं में विद्यमान मत भेदों तथा चैतन्य के पश्चात् चैतन्यसम्प्रदाय में होने वाले परिवर्तनों एवं संशोधनों का संकेत भी देने का प्रयास किया गया है।

पञ्चम अध्याय में कविकर्णपूर के महाकाव्यों के कथानक तथा उनके मूलस्रोत पर विचार किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए इस अध्याय को दो खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड में कवि-कर्णपूर के प्रथम महाकाव्य 'चैतन्यचरितामृतम्' के कथानक एवं उसके मूलस्रोत का विवेचन किया गया है। मूलस्रोत से कथानक के पार्थक्य एवं साम्य के औचित्य पर भी प्रकाश निक्षेप किया गया है। द्वितीय खण्ड में उनकें द्वितीय महाकाव्य 'पारिजातहरणम्' के कथानक के मूलस्रोत 'हरिवंशपुराण', 'विष्णुपुराण' एवं 'भागवतपुराण' का उल्लेख करते हुए 'हरिवंशपुराण' की द्वितीय कथा के साथ महाकाव्य के कथानक का साम्य स्थापित किया गया है। इस सन्दर्भ में कविकृत परिवर्तनों के औचित्य पर भी विचार विमर्श किया गया है।

षष्ठ अध्याय में कविकर्णपूर के महाकाव्यों पर पूर्ववर्ती एवं समसामयिक कवियों के प्रभाव का स्पष्टीकरण किया गया है। 'चैतन्यचरितामृतम्' एवं 'पारिजातहरणम्' में क्या भाव साम्य अथवा उक्ति साम्य है ? इस पर विचार करने के साथ ही दोनों महाकाव्यों की मौलिकताओं का भी उद्घाटन किया गया है।

सप्तम अध्याय वस्तु-वर्णन का है। इसमें 'चैतन्यचरितामृतम्' एवं 'पारिजातहरणम्–' के काव्य-सौन्दर्य के आस्वादनार्थ द्वारिकापुरी, सूर्यास्त, अन्धकार, चन्द्रोदय, नदी, पर्वत आदि के वर्णन-सौन्दर्य पर विचार किया गया है।

अष्टम अध्याय में छन्दोयोजना पर विचार किया गया है। इस सन्दर्भ में दोनों महाकाव्यों में प्रयुक्त होने वाले छन्दों की रसानुगुणता एवं वर्ण्यविषयानुरूपता पर मौलिक ढंग से विचार किया गया है।

नवम अध्याय में महाकाव्यों की अलंकार-योजना पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया है। सर्वप्रथम पूर्ववर्ती आलंकारिकों एवं कविकर्णपूर के अलंकार विषयक विचारों का परिचय दिया गया है। तदनन्तर कवि कर्णपूर की अलंकार-योजना की विशिष्टताओं पर सूक्ष्म दृष्टिपात किया गया है।

काव्य का आत्मतत्त्व रस है, अतः उसका निरूपण अन्तिम दशम अध्याय में किया गया है। यह अध्याय दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में कवि कर्णपूर के रसविषयक विचारों पर सूक्ष्म विचार करने के पश्चात् 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य की रस-योजना पर विचार किया गया है। 'चैतन्यचरितामृतम्' महाकाव्य की रस-योजना का चैतन्य-सम्प्रदाय द्वारा प्रवर्तित भक्ति रस सिद्धान्त के आधार पर अध्ययन करना अधिक तर्कसंगत प्रतीत हुआ। अतएव द्वितीय खण्ड में सर्वप्रथम सम्प्रदाय द्वारा प्रवर्तित भक्तिरस सिद्धान्त के आधार पर अध्ययन करना अधिक तर्कसंगत प्रतीत हुआ। अतएव द्वितीय खण्ड में सर्वप्रथम चैतन्यसम्प्रदाय के भक्ति रस सिद्धान्त का संक्षिप्त परिचय देने के पश्चात् 'चैतन्यचरितामृतम्' की रस योजना का आस्वादन किया गया है।

ग्रन्थ के अन्त में उपसंहार की योजना की गई है। यद्यपि कवि कर्णपूर के महाकाव्यों को हर प्रकार से परख लेने के पश्चात् अब यह विशेष आवश्यक नहीं प्रतीत होता है कि पृथक् से उनके संस्कृत साहित्य में विशिष्ट स्थान या महत्त्व का विज्ञापन किया जाये। किन्तु एक-दो विशेष बातें कहनी शेष रह गई थीं, जो इस प्रसंग में उचित समझ पड़ी। अतः उनके लिए उपसंहार की योजना की गई है। इस सन्दर्भ में कवि कर्णपूर की कृतियों विशेषतः उनके महाकाव्यों का मूल्यांकन करते हुए उनका संस्कृत साहित्य में स्थान निर्धारित किया गया है। साथ ही चैतन्यसाहित्य एवं सम्प्रदाय में कवि कर्णपूर के स्थान निर्धारण के लिए तत्कालीन कवियों के साथ उनकी तुलना की गई है तथा परवर्ती लेखकों पर कवि कर्णपूर के व्यापक प्रभाव को मौलिक ढंग से प्रतिपादित किया गया है। साम्प्रदायिक कारणों से कवि कर्णपूर की उपेक्षा के सम्बन्ध में कुछ गूढ़ तथ्यों को भी प्रकाश में लाया गया है।

ग्रन्थ में दो महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट भी संलग्न हैं। प्रथम परिशिष्ट में कवि के जन्मस्थान एवं पैतृक निवास 'काञ्चनपल्ली' का विशेष परिचय दिया गया है। द्वितीय परिशिष्ट में कवि कर्णपूर के टीकाकारों का उल्लेख करते हुए प्रसिद्ध टीकाकार विश्वनाथ चक्रवर्ती का परिचय वृन्दावन अवस्थित राधारमण मन्दिर के प्रमुख गोस्वामी श्रीदामोदराचार्य तथा राधाकुण्ड गौडीय मठ के अधिकारी श्रीकृष्णदास बाबा के प्रवचनों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ में कतिपय स्थलों पर मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियाँ रह गई हैं। उसके लिए 'शुद्धिपत्र' अलग से संलग्न कर

दिया गया है। साथ ही सहृदय पाठकों से इस दृष्टिदोष के लिए हृदय से क्षमाप्रार्थी हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की सामग्री बंगीय साहित्य परिषद् कलकत्ता, ऐशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल (कलकत्ता), राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता, सरस्वती भवन पुस्तकालय वाराणसी, केन्द्रीय पुस्तकालय बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, टैगोर पुस्तकालय लखनऊ विश्वविद्यालय, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् लखनऊ तथा वृन्दावन शोध संस्थान वृन्दावन से संकलित की गई है। अध्ययन की पूर्णता के लिए वृन्दावन स्थित राधारमण मन्दिर तथा गोविन्द कुण्ड स्थित गौड़ीय मठ के व्यक्तिगत पुस्तकालयों एवं चैतन्यसम्प्रदाय से सम्बद्ध वरिष्ठ व्यक्तियों के परामर्श से भी लाभ उठाया है। कवि कर्णपूर और उनके महाकाव्यों के सम्बन्ध में प्रचलित समस्त किंवदन्तियों एवम् भ्रमात्मक धारणाओं का निराकरण कर स्वस्थ विचार स्थिर करने के लिए तत्कालीन, पूर्ववर्ती एवं परवर्ती चैतन्यसाहित्य का अवलम्बन लिया है। अधिकांश चैतन्यसाहित्य बंगभाषा में छन्दोबद्ध है। अतएव जिन स्थलों पर बंगला ग्रन्थों से उद्धरण देना अत्यावश्यक था, वहाँ पर उनको बंगलिपि से देवनागरीलिपि में परिवर्तित कर दिया गया है। कवि के जन्मकाल निर्णय तथा कृतियों के कर्तृत्व एवं रचनाकाल की समस्या का निराकरण करने के लिए हस्तलिपियों का आश्रय लिया है। यथा सम्भव मौलिक मूलस्रोतों से ही प्रामाणिक साक्ष्य देने की चेष्टा की गई है।

यह ग्रन्थ चार वर्षों के सतत प्रयास का फल है। लेखिका इस प्रयास में कहाँ तक सफल हुई है, इसका आकलन सहृदय विद्वत् जन ही कर सकेंगे। ग्रन्थ के प्रकाशन के पीछे प्रातः स्मरणीय, परम श्रद्धेय गुरुवर डॉ० मातृदत्त त्रिवेदी का आशीर्वाद, स्नेहमयी माँ की प्रेरणा एवं पति मेजर रनवीर सिंह का उदार सहयोग ही प्रधान कारण है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन की औपचारिकता मेरे लिए कठिन ही नहीं, असम्भव है। मेरी मूक वाणी ही उनके प्रति मेरी भावाञ्जलि है। परम पूज्य श्रद्धेय डॉ० सत्यव्रत जी, (भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) परम श्रद्धेय गुरुवर डॉ० शिवशेखर मिश्र (विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) एवं आदरणीय श्रीरामनारायण त्रिपाठी शास्त्री जी की विशेष अनुगृहीत हूँ, जिनसे समय-समय पर यथाभिलाषित सहयोग एवं अमूल्य उपदेश मिलते रहे हैं।

इस अवसर पर परमबन्धु डॉ० वीरभद्र मिश्र का स्मरण न करना कृतघ्नता होगी, जिन्होंने बंगहस्तलिपियों एवं ग्रन्थों के देवनागरी परिवर्तन में अपना यथोचित सहयोग दिया। मैं हृदय से उनकी आभारी हूँ। मेरे इस ग्रन्थ के पीछे मित्र डॉ० यज्ञेन्द्र बहादुर सिंह, डॉ० कमला चौहान, श्री दर्शन प्रसाद गुप्त एवं आत्मज श्री अरुणकुमार, श्री अजय कुमार सिंह एवं श्री सुशील कुमार सिंह की सत्प्रेरणाएँ बराबर बनी रहीं, इन सबके प्रति हृदय से आभारी हूँ। सभी पुस्तकालयों के अधिकारियों व कर्मचारियों के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अपने पुस्तकालयों की अमूल्य पाण्डुलिपियों को देखने तथा मँगाने की सुविधा सुलभ करायी। साथ ही वृन्दावन स्थित राधारमण मन्दिर के गोस्वामी श्री दामोदराचार्य, गोविन्द कुण्ड गौडीय मठ के अधिकारी श्री रामानन्दराय तथा श्रीकृष्णदास बाबा के प्रति नतमस्तक हूँ, जिन्होंने अपने व्यक्तिगत पुस्तकालयों से अमूल्यग्रन्थ तथा हस्तलिपियाँ देकर दुःसाध्य कार्य को सुकर बनाया। अन्त में मैं प्रकाशक चौखम्भा ओरियन्टलिया वाराणसी का आभार स्वीकार करती हूँ, जिन्होंने इस कृति के प्रकाशन एवं मुद्रण में अपेक्षित सहयोग दिया।

विजयादशी
लखनऊ
१९८३

कृष्णलता सिंह

विषयानुक्रमणिका

कवि कर्णपूर और उनके महाकाव्य : एक अध्ययन

प्रथम अध्याय

महाकवि कर्णपूर का आविर्भाव और उनकी समसामयिक परिस्थितियाँ

भगवान् कृष्ण की 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !' की गरिमामयी उद्‌घोषणा से स्पष्ट है कि जब जब पृथ्वी पर अधर्म और अनाचार की वृद्धि होती है, तब तब धर्म की स्थापना के लिए वह इस पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। कुछ ऐसी ही मान्यता महाप्रभु चैतन्य के आविर्भाव के सम्बन्ध में भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि जिस समय बंगाल यवन-शासकों की कठोर शासन-शिला के नीचे पददलित हो रहा था; यवनों की असहिष्णुता और अनेक अमानवीय चेष्टाएँ हिन्दुओं के हृदय में भय और आतंक की भावना अंकुरित कर रही थी, विशृङ्खलित बंगाली समाज एक नूतन परिवर्तन की प्रतीक्षा कर रहा था; उस समय युग के आह्वान पर जन-जीवन को समस्त यन्त्रणाओं और उत्पीड़नों से मुक्त एवं निष्प्राण जीवन में चेतना की नवीन शक्ति का स्फुरण करने के लिए बंगाल की पवित्र धरती पर करुणावतार श्रीकृष्ण ने कृष्णचैतन्य रूप में अवतार लिया। चैतन्य महाप्रभु ने समस्त धार्मिक, सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन कर जनसामान्य को भगवद्‌भक्ति का आस्वादन कराया। महाप्रभु प्रदर्शित सन्मार्ग का अवलम्बन लेकर जिस समय बंगाल उत्थान के सोपानों पर शनैः शनैः पद-विक्षेप कर रहा था, उसी समय चैतन्य द्वारा प्रारम्भ कार्य को अमरत्व देने के लिए कवि कर्णपूर का आविर्भाव हुआ। कवि कर्णपूर का आविर्भाव-काल १६वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। प्राप्य तत्कालीन (गौड़ीयवैष्णव) साहित्यिक विश्वस्त सूत्रों तथा प्रामाणिक ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर बंगाल के इतिहास में १५वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा १६वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से हिन्दुओं का पूर्ण पराजय काल प्रमाणित होता है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

उस समय समस्त बंगाल मुस्लिमसत्ता के अधीन था। अतएव सम्पूर्ण देश (बंगाल) का जाति व धर्म दोनों ही क्षेत्रों में विदेशी शासन से शासित

होना कोई असम्भव बात नहीं थी। बंगाल की दुरवस्था के कारणों पर प्रकाश-निक्षेप करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार कैनेडी ने भी इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि –**'बंगाली समाज को इतना विश्रृङ्खलित बनाने में कुछ परस्पर सम्बन्धित प्रवृत्तियाँ हैं, जिसमें सबसे प्रमुख है—विदेशी शासन।'**[1] मुस्लिम और हिन्दू शासकों की खींचातानी में बंगाल की राजनीतिक व्यवस्था दिन प्रति दिन निरंकुश होती जा रही थी। उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र को दक्षिण में विजयनगर से उलझा हुआ देखकर उचित अवसर समझकर गौड के शासक हुसैनशाह ने अपनी विजयवाहिनी के साथ उड़ीसा पर आक्रमण कर दिया। विजयनगर से लौटकर प्रतापरुद्र ने उसका पीछा मन्दारस के किले तक किया, किन्तु दुर्भाग्यवश अपने ही एक अधिकारी गोविन्दविद्याधर के विश्वासघात के कारण उसे सुलतान से सन्धि करनी पड़ी। इसी समय विजयनगर के राजा कृष्णदेव ने उड़ीसा के विरुद्ध आक्रमण कर कोण्डवीढू एवं राजमुंद्री के किलों को हस्तगत कर लिया। परिस्थिति का लाभ उठाकर विदेशी शासकों की महत्त्वाकांक्षाओं ने हिन्दू धर्म को समूल विनष्ट कर देने के लिए किसी सम्भव प्रयत्न को दृष्टिपथ से ओझल न होने दिया। मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण किया गया। हिन्दू धर्म के मनोनीत पर्वों और प्रतिमाओं का पूजन निषिद्ध कर दिया गया।[2] सभी मुसलमानों को नवाब की उपाधि से विभूषित कर प्रतिष्ठित पदों पर नियुक्त किया गया।[3] पुरी का नरसंहार एवं देव-प्रतिमाओं का खंडन हुसैनशाह के लोमहर्षक अत्याचारों का ज्वलन्त उदाहरण है।[4] हुसैनशाह के उपर्युक्त कथित अत्याचारों की पराकाष्ठा से हिन्दुओं के भग्न विश्वास को पुनः धार्मिक चेतना का सम्बल स्वीकार करना पड़ा। फलस्वरूप नदिया (नवद्वीप) के कतिपय धर्मपरायण ब्राह्मणों ने एक

---

१. Various factors united to produce a State of Society commonly looked back upon on the dark period of Bengal History, Chief among these was alien rule.

Kennedy, M. T., The Chaitanya Movement, p. 1.

२. वही, पृ० १

३. Sen, D. C., Chaitanya and His Age, p. 53.

४. अ—वृन्दावनदास, चैतन्यभागवत, ३।४।६७, ७८, ७९

ब—Sen, D. C., Chaitanya and His Age, p. 52.

भविष्यवाणी की—'पश्चिमी बंगाल का शासक ब्राह्मण होगा, जो मुसलमानों को हटाकर गौड का शासक बनेगा।'[1] किन्तु इस भविष्यवाणी का प्रभाव हुसैनशाह पर विपरीत सिद्ध हुआ। उसने अपने अत्याचारों की इतिश्री करने की अपेक्षा उनका पर्यवसान हिन्दुओं के धार्मिक उत्पीड़न में किया। उसने अपने कुछ आप्त गुप्तचर नदिया के समीपवर्ती पिरूल्ल्या ग्राम में नियुक्त कर दिये। गुप्तचर निकटवर्ती ग्रामो पर तीक्ष्ण दृष्टि रखते हुए ब्राह्मणों को बलात् मुसलमान बनने के लिए बाध्य करने लगे। हरिनाम का संकीर्तन करने वाले ब्राह्मणों को पकड़कर कारागृह में डाला जाने लगा।[2] गृह प्रांगण से मुखरित होने वाली शंख ध्वनि, ललाट पर चित्रित तिलक, स्कन्धदेश पर अवलम्बित यज्ञोपवीत, गंगास्नान तथा तुलसी, अश्वत्थ आदि के वृक्ष हुसैनशाह के गुप्तचरों के क्रोध के विशेष उद्दीपक थे। इन धार्मिक प्रतीकों को देखकर न केवल वे इन्हें नष्ट करने का प्रयत्न करते अपितु हिन्दुओं की जाति भ्रष्टकर उनके धन एवं प्राण दोनों का अपहरण कर लेते अथवा उन्हें लौह पाश में बाँधकर कारागृह में डाल देते।[3] हुसैनशाह के इन अमानवीय अत्याचारों से उत्पीड़ित होकर सार्वभौम भट्टाचार्य आदि अनेक कुलीन ब्राह्मणों को नदिया त्याग कर उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र की शरण में सपरिवार जाने के लिए बाध्य होना पड़ा।[4] राजनीतिक विक्षुब्धता के कारण गौड उड़ीसा की सीमा पर सैनिकों का पहरा लगा दिया गया।[5] अपने को सर्वशक्ति सम्पन्न समझने वाले हिन्दू नरेशों की प्रभा भी निष्प्रभ हो गई थी। अतएव प्रजा चोर-डाकुओं के भय से भयभीत रहती थी। उच्चाधिकारी वर्ग जन-कल्याण की उपेक्षा कर निजस्वार्थवश उत्कोच लेकर समाज में उच्छृङ्खलता को प्रोत्साहन दे रहा था।[6] दूसरी

---

१. अ—वृन्दावनदास, चैतन्यभागवत, १।२।२२०
   ब—जयानन्द, चैतन्यमंगल, पृ० ११
२. वृन्दावनदास, चैतन्यभागवत, २।२३।१०३–१०६.
३. जयानन्द, चैतन्यमंगल, पृ० ११,६४.
४. Sen, D. C., Chaitanya and His Age, p. 53.
५. अ—कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १६८.
   ब—वृन्दावनदास, चैतन्यभागवत, ३।२।९६–९९.
६. Sen, D. C., Chaitanya and His Age, p. 56.

और निरीह जनता निराशा और विवशता के घोर अन्धकार में पथभ्रष्ट हो रही थी।

धार्मिक अवस्था

उपर्युक्त राजनीतिक विक्षुब्धता का प्रभाव वहाँ के धार्मिक जीवन को प्रभावित किये बिना न रहा। हृदय की शान्ति की गवेषणा में पथभ्रष्ट जनता अनेक सम्प्रदायों की ओर अग्रसर हुई। फलस्वरूप विषहारी, मनसा देवी, धर्मठाकुर, वाशुली, चण्डी तथा शक्ति-सम्प्रदाय से सम्बन्धित अनेक देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित हो गई।[1] बौद्ध धर्म का ह्रास हो चुका था, किन्तु सहजयान और वज्रयान चलते-चलते अपना प्रभाव हिन्दू जनता पर अंकित कर गये थे। नाथपंथ-सम्प्रदाय की यौगिक और तान्त्रिक साधनाएँ अपना चमत्कार दिखाकर जन साधारण को पथभ्रष्ट कर रही थीं। इन साधनाओं का कोई आध्यात्मिक अथवा कलात्मक प्रभाव जनता पर नहीं पड़ा, अपितु पशुबलि आदि कुप्रथाओं को प्रोत्साहन अवश्य प्राप्त हुआ। तन्त्र-सम्प्रदाय के वामाचारी भिक्षु और भिक्षुणी समाज में व्यभिचार और मदिरा-पान को और प्रोत्साहित कर रहे थे। दूसरी ओर मायावादी—'हम सन्मात्र, निर्विशेष, चिदुपाधि रहित, निर्विकल्प तथा निरीह ब्रह्म हैं, इस तरह की उक्तियों द्वारा श्रुति प्रसिद्ध ईश्वर की अशेष शक्तियों का खण्डन कर रहे थे।[2] कपिल, कणाद, पाशुपत, पातञ्जल तथा जैमिनी मत के विशेषज्ञों ने अपने-अपने मत के पाखण्ड से जन-जीवन को और जटिल बना दिया था।[3] संन्यासी जनों का परिचय उनके आचार से नहीं अपितु उनकी वेशभूषा से प्राप्त होता था। बाह्याडम्बर इतना बढ़ गया था कि संन्यासी खेचरी मुद्रा में नदी तट पर एकान्त साधना का आडम्बर करते, किन्तु उनकी समाधि जल हेतु आई हुई सुन्दरियों की चूड़ियों की खनखनाहट

---

१. वृन्दावनदास, चैतन्यभागवत, १।२।६६, ६७, ८९, ३।४।४११–१३.

२. सन्मात्रानिर्विशेषाचिदुपधिरहिता निर्विकल्पा निरीहा
ब्रह्मैवास्मीति वाचा शिव शिव भगवद्विग्रहे लब्धवैरा: ।
येऽमी श्रौतप्रसिद्धानहह भगवतोऽचिन्त्यशक्त्याद्यशेषा-
न्प्रत्याख्यान्तो विशेषानिह जहति रतिं हन्त तेभ्यो नमो वः ॥
—कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, २।५.

३. वही, पृ० २४–२५.

से ही भंग हो जाती थी ।[1] साधु-संन्यासी अपने ललाट, बाहु, उदर, कण्ठ, वक्ष आदि पर मिट्टी का लेप कर तथा हाथ में कुश धारण कर कुशल नर्तक की भांति अपना प्रचार करते थे ।[2] इस प्रकार यहँ धर्म साध्य न होकर जीविकोपार्जन का एक साधन बन गया था ।

सामाजिक अवस्था

धार्मिक विषमता का प्रत्यक्ष प्रभाव तत्कालीन समाज पर पड़ा। हिन्दुओं का जातिवाद स्वयं उनके लिए अभिशाप था। ब्राह्मणों का प्रभुत्व उस समय समाज का मुख्य अंग था। प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक महत्त्वपूर्ण क्षण, जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त सभी घटनाएँ ब्राह्मणों की धार्मिक पुस्तकों के अधीन थीं। ब्राह्मणों की इस सामाजिक प्रतिष्ठा ने उनके अहंवाद को तो अवश्य पुष्ट किया। किन्तु साथ ही उन्हें उनके कर्त्तव्यों से च्युत भी कर दिया। समाज के भाग्यविधाता बनकर नीचों की तरह नाना प्रपञ्चों में उलझकर चोरी-डकैती आदि निन्दनीय कुकर्मों को करने में भी उन्हें लज्जा का अनुभव नहीं होता था ।[3] यज्ञोपवीत धारण करके ब्राह्मण कहलाने वाले ब्राह्मण एकमात्र अध्यापन करके अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री मानने लगे थे। दूसरी ओर क्षत्रिय वर्ग नाममात्र के क्षत्रिय थे, सभी वैश्य बौद्ध हो गये थे। शूद्रगण अपने को महापण्डित समझकर उपदेश देने को आकुल थे। ब्रह्मचर्य

---

१. जिह्वाग्रेण ललाटचन्द्रजसुधास्यन्दाध्वरोधे मह—
द्राक्ष्यं व्यञ्जयतो निमील्य नयने बद्ध्वासनं ध्यायतः ।
अस्योपात्तनदीतटस्य किमयं भङ्गः समाधेरभूत्
(इति सविस्मयं विचिन्त्य) अहो, ज्ञातम् ।
पानीयाहरणप्रवृत्ततरुणी शङ्खस्वनाकर्णनैः ।।
कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, २।६.

२. ···मृत्स्नालिप्तललाटदोस्तटगलग्रीवोदरोराः कुशै-]
र्दीव्यत्पाणितलः समेति तनुमान्दम्भः किमाहो स्मयः ।।
···विष्णोर्भक्तिं निरुपधिमृते धारणाध्याननिष्ठा
शास्त्राभ्यासश्रमजपतपः कर्मणां कौशलानि ।
शैलूषाणामिव निपुणताधिक्यशिक्षाविशेषा
नानाकारा जठरपिठरावर्तपूर्तिप्रकाराः ।।
वही, २।८,९.

३. वही, पृ० ११–२२.

के वास्तविक मूल्य को न समझकर विवाह करने की योग्यता न होने के कारण लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। गृहस्थ का उद्देश्य केवल पुत्र-कलत्रों का उदर भरण का पोषण करना था।[१]

समाज का धनिक वर्ग अपने धन का अपव्यय केवल लड़के-लड़कियों के विवाह[२] में ही नहीं कर रहा था, अपितु गुड्डा-गुड्डियों तथा बिल्लियों के विवाह पर भी कर रहा था। व्यर्थ के संघर्षों में पड़कर अपने धन को न्यायालयों व राजदरबारों में लुटा रहा था। दूसरी ओर समाज का निम्नवर्ग अपना मनोरंजन द्यूत, मदिरा आदि नाना प्रकार के कुकर्मों में कर रहा था।[३] समाज में प्रचलित अनेकानेक कुरीतियों एवं अन्धविश्वासों ने जन-जीवन को पूर्णतया जीर्ण-शीर्ण कर दिया था। विधवा स्त्रियों की दशा तो और भी शोचनीय थी।[४] शिक्षा की दृष्टि से भी समाज कुछ विशेष प्रगति पर नहीं था। यद्यपि उस समय 'नवद्वीप' नव्यन्याय, वेदान्त तथा व्याकरण आदि की उच्चशिक्षा के लिए लोक विख्यात था। दूर-दूर से विद्यार्थी ज्ञानार्जन हेतु वहाँ आते थे। किन्तु उस शिक्षा से कोई लाभ भी होता था, यह कहना किञ्चित् कठिन है। समाज का शिक्षित वर्ग पाण्डित्य के अभिमान में परस्पर मूर्खतापूर्ण वाद-विवादों में अपने अमूल्य ज्ञान व समय का अपव्यय कर रहा था। कुछ प्रतिभाशाली ब्राह्मण अभ्यासवश उपाधि, जाति, अनुमिति, व्याप्ति आदि शब्दों को जन्म से दुहराते हुए जन-समाज पर अपने पाण्डित्य का सिक्का जमा रहे थे।[५]

---

१. षष्ठे कर्मणि केवलं कृतधियः सूत्रैकचिह्ना द्विजाः
संज्ञामात्रविशेषिता भुजभुवो वैश्यास्तु बोढा इव
शूद्राः पण्डितमानिनो गुरुतया धर्मोपदेशोत्सुकाः
वर्णानां गतिरीदृगेव कलिना हा हन्त संपादिता ॥
अपिच—विवाहायोग्यत्वादिह कतिचिदाद्याश्रमयुजो
गृहस्थाः स्त्रीपुत्रोदरभरणमात्रव्यसनिनः ॥
—कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, २।२,३.

२. वृन्दावनदास, चैतन्यभागवत, १।२।६८.

३. Tirtha, B. P., Sri Chaitanya Mahaprabhu, p. 6.

४. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्; १।२।६८.

५. अ—अभ्यासाद्य उपाधिजात्यनुमितिव्याप्त्यादिशब्दावले-
र्जन्मारभ्य सुदूरदूरभगवद्वार्ताप्रसंगा अमी।

उपर्युक्त उल्लिखित राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव कवि कर्णपूर पर पड़ा, क्योंकि कवि रस-स्रष्टा होने के साथ ही साथ अपने समय का प्रतिनिधित्व भी करता है। उसके लिए देश, समाज एवं युग की मान्यताओं और भावनाओं की उपेक्षा करना असम्भव होता है। इसलिए कवि कर्णपूर ने चैतन्यमहाप्रभु के वचनामृत को हृदयङ्गम करके युग के आह्वान पर उनके उपदेशों को जन-जीवन में चिरस्थायित्व प्रदान करने के लिए अनेक अमरकाव्यों की सृष्टि की, जिन्होंने केवल तत्कालीन बंगाली समाज को ही गतिमयता प्रदान नहीं की, अपितु युग-युग तक मानवता का पथ अवलोकित करते रहेंगे।

ये यत्राधिककल्पनाकुशलिनस्ते तत्र विद्वत्तमाः
स्वीयं कल्पनमेव शास्त्रमिति ये जानन्त्यहो तार्किकाः ॥
—कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, २।४.

ब—वृन्दावनदास, चैतन्यभागवत, ३।४।४२२.

द्वितीय अध्याय

कवि कर्णपूर का जीवनवृत्त और काल-निर्णय

महाकवि कर्णपूर का जीवनवृत्तान्त रहस्यमयी किंवदन्तियों से पूर्णतः आच्छादित है। किन्तु कवि के जीवन की यह रहस्यमयता ही उसके सम्बन्ध में कुछ प्रामाणिक साक्ष्य प्राप्त करने के लिए भूत की अन्धकार-गुहा की ओर प्रेरित करती है।

जन्म-स्थान—

प्राप्य सूत्रों के अनुसार कवि कर्णपूर का जन्मस्थान 'काञ्चनपल्ली' है।[1] 'काञ्चनपल्ली' पूर्व समय में बंगाल के विख्यात ग्राम 'कुमारहट्ट' की एक विशिष्ट पल्ली और बंगाल के २४ परगनों में से 'हालिसहर' परगना के अधीन थी।[2]

---

१. क—वैष्णवाचारदर्पण, पृ० ३४२.

ख—हरिमोहनप्रामाणिक, भारतवर्षीय कविदिगेर समय निरूपण, पृ० ११६.

ग—नगेन्द्रवसु, विश्वकोष, खण्ड-तृतीय, पृ० ५१३.

घ—जगद्बन्धु भद्र (सम्पादक), गौरपदतरङ्गिणी (प्रथम संस्करण), पृ० ५१, १८१.

ङ—De, S. K., Ths Early History of The Vaiṣṇava faith And Movement in Bengal, P. 32.

च—Sen, D. C., Chaitanya and His Campanion, P. 117.

छ—Sen, D. C., Vainṣava Literature of Medieaval Bengal, P. 71.

ज—Krishnamacharia, History of Classical Sanskrit Literature, P. 289.

झ—Dasgupta & De, History of Sanskrit Literature, P. 485.

ञ - Shastri, H. P., Notices of Sanskrit Mss. Vol. II., 1904, Preface, P. 7.

त—Aufreecht, T., Catalogus Catalogorun, Part I, P. 86.

२. काञ्चनपल्ली का विशेष परिचय परिशिष्ट संख्या—१ में दिया गया है।

आधुनिक विद्वान् जगद्‌बन्धु भद्र महोदय की विचारधारा में 'काञ्चन-पल्ली' कवि कर्णपूर का मातुलालय है, जिसको उन्होंने जन्मग्रहण करके अलंकृत किया। किन्तु उनका पैतृक निवास स्थान "कुलीन-ग्राम' है, जहाँ उनके पिता शिवानन्द सेन निवास करते थे।[1] उन्होंने अपने मत के समर्थन के लिए कृष्णदास कविराज विरचित 'चैतन्यचरितामृतम्' का उल्लेख किया है।[2] गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर भद्रमहोदय का उपर्युक्त मत किञ्चित् भ्रमात्मक प्रतीत होता है। कारण, कृष्णदास कविराज विरचित 'चैतन्य-चरितामृतम्' में ऐसा कोई भी कथा-प्रसंग प्राप्य नहीं है, जिसके आधार पर यह निर्णय किया जा सके कि कवि कर्णपूर के पिता शिवानन्दसेन 'कुलीन-ग्राम' वासी थे। 'चैतन्यचरितामृतम्' में शिवानन्दसेन और 'कुलीनग्राम' के सम्बन्ध में प्राप्त होने वाले प्रसंग इस प्रकार हैं :—

(१) प्रथम प्रसंग में महाप्रभु चैतन्य की दक्षिणयात्रा के पश्चात् नीलाचल पर प्रथम बार गौड़ीय भक्तों से उनके मिलाप का वर्णन है।[3] यहाँ पर शिवानन्दसेन और कुलीन ग्राम का उल्लेख होने मात्र से शिवानन्दसेन का कुलीनग्राम वासी होना किसी भी आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

(२) इसी प्रकार द्वितीय प्रसंग प्राप्य है, जिसमें महाप्रभु चैतन्य वासुदेवदत्त की अपव्यय से रक्षा करने के लिए उनकी आय-व्यय का लेखा-जोखा रखने का उत्तरदायित्व शिवानन्दसेन को समर्पित करते हुए उन्हें आदेश

---

१. जगद्‌बन्धुभद्र (सम्पादक), गौरपदतरङ्गिणी (प्रथम संस्करण), पृ०, ५१, १८१.

२. वही, पृ० १८१.

३. प्रस्तुत प्रसंग में गोपीनाथभट्टाचार्य राजा प्रतापरुद्र का गौड़ीयभक्तों से परि-चय करा रहे हैं; यथा—

एइ हरिभट्ट एइ श्रीनृसिंहानन्द। एइ वासुदेवदत्त एइ शिवानन्द ॥
गोविन्द माधव आर वासुदेव घोष। तिन-भाइ कीर्त्तने करे प्रभुर सन्तोष ॥
राघव पण्डित एइ आचार्य नन्दन। श्रीमान पण्डित एइ श्रीकान्त नारायण ॥
शुक्लाम्बर एइ, एइ श्रीधर विजय। वल्लभसेन एइ पुरुषोत्तम सञ्जय ॥
कुलीनग्रामवासी एइ सत्यराजखान। रामानन्द-आदि एइ देख विद्यमान ॥

—कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।११।७६—८०.

देते हैं कि—'प्रतिवर्ष तुम मेरे समस्त भक्तों को साथ लेकर उनका मार्गदर्शन करते हुए श्रीजगन्नाथ की रथयात्रा के दर्शनार्थ आना।' यहीं पर महाप्रभु ने 'कुलीनग्राम' का उल्लेख किया है।[१] किन्तु यहाँ पर 'कुलीनग्रामी' से तात्पर्य सत्यराजखाँ और रामानन्दवसु प्रभृति वसुवंशीयगण हैं। शिवानन्दसेन कुलीग-ग्राम निवासी हैं, ऐसा संकेत इस प्रसंग से प्राप्त नहीं होता है।

(३) तृतीय प्रसंग में वृन्दावन-यात्रा के पश्चात् महाप्रभु के नीलाचल प्रत्यावर्तन के अवसर पर गौड़ीयभक्तों का उनके दर्शनार्थ नीलाचल आना वर्णित है।[२]

उपर्युक्त प्रसंगों से यह प्रमाणित नहीं होता है कि शिवानन्दसेन कुलीनग्रामवासी हैं। वस्तुतः शिवानन्दसेन के वास-स्थान का निर्णय करने के लिए कवि कर्णपूर की कृतियों से प्राप्त होने वाले अन्तरंग साक्ष्य अवश्य उपयोगी हैं। महाप्रभु चैतन्य की प्रथम वृन्दावन यात्रा का वर्णन करते हुए कवि कर्णपूर का कथन है—'महाप्रभु चैतन्य सर्वप्रथम कटक से नौका द्वारा 'पानीहाटी' पधारते हैं। वहाँ एक दिन राघवपण्डित के गृह में आतिथ्य ग्रहण करने के पश्चात् दूसरे दिन 'कुमारहट्ट' में श्रीवासाचार्य के यहाँ उनका आगमन होता है। श्रीवास के यहाँ कुछ दिन रहने के पश्चात् महाप्रभु चैतन्य शिवानन्दसेन के गृह को पवित्र करते हैं। तदनन्तर उनके ही निकट-

१. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।१५।९४–१०२.

२. अ—शुनि शची आनन्दित सर्वभक्त गण। सभे मेलि नीलाचले करिला गमन।
कुलीनग्रामी भक्त आर यत खण्डवासी। आचार्य शिवानन्दसेन मिलिला सभे आसि॥

वही, ३।१।९, १०.

ब—वर्षान्तरे सब भक्त प्रभुरे देखिते..
कुलीनग्रामी खण्डवासी मिलिला आसिया। शिवानन्दसेन चलिला सभारे लइया॥
वही, ३।१०।२–११.

स—शिवानन्दसेन आर आचार्य गोसाञि। नवद्वीप सब भक्त हैला एक ठाञि॥
कुलीनग्रामवासी आर यत खण्डवासी। एकत्र मिलिला सभे नवद्वीप आसि॥
वही, ३।१२।७–८.

वर्ती वासुदेवदत्त का आतिथ्य ग्रहण कर उन्हें भी कृतार्थ करते हैं।'[1] कवि कर्णपूर वर्णित इसी घटना का उल्लेख कृष्णदास कविराज ने भी किया है।[2] यहाँ पर यह तथ्य विशेष विचारणीय है कि कवि कर्णपूर का मन्तव्य कुमार-हट्ट[3] से आगे किस स्थान पर स्थित शिवानन्दसेन के गृह से है? भौगोलिक दृष्टि से 'कुलीन-ग्राम' की अपेक्षा 'काञ्चन-पल्ली' 'कुमारहट्ट' के अधिक निकट है। 'कुमारहट्ट' की ही एक पल्ली होने के कारण दोनों की ही स्थिति गंगा के पूर्वीतट पर हैं। 'कुलीन-ग्राम' 'कुमार हट्ट' से २० मील दूर गंगा के पश्चिमी तट पर स्थित हैं। 'कुमार-हट्ट' के पश्चात् महाप्रभु 'काञ्चन-पल्ली' पधारे होंगे, यह सम्भावना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होती है। दूसरे, कवि कर्णपूर की शिक्षा 'कुमारहट्ट' निवासी श्रीनाथाचार्य के संरक्षण में हुई थी, ऐसा उल्लेख मिलता है।[4] ऐसी स्थिति में एक बालक के लिए विद्याध्ययनार्थ प्रतिदिन २० मील आना जाना असम्भव-सा प्रतीत होता है। इसकी अपेक्षा 'काञ्चनपल्ली' में रहकर 'कुमारहट्ट' में शिक्षा ग्रहण करना अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है। तीसरे, कवि कर्णपूर के पिता शिवा-नन्दसेन ने श्रीनाथाचार्य को अनुगृहीत करने के लिए 'काञ्चनपल्ली' स्थित श्रीकृष्णदेव के मन्दिर की प्रतिमा की स्थापना की थी, ऐसा प्रामाणिक साक्ष्य प्राप्त होता है।[5] यहाँ पर यह प्रश्न विशेष महत्त्वपूर्ण है कि यदि 'काञ्चनपल्ली' शिवानन्दसेन का पैतृक निवास नहीं था, तो उन्होंने प्रतिमा की स्थापना काञ्चनपल्ली में करने की अपेक्षा 'कुलीनग्राम' में क्यों नहीं की? क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का अपने पैतृक निवास स्थान के प्रति विशेष अनुराग होता है। 'काञ्चनपल्ली' की 'देवप्रतिमा' शिवानन्दसेन का उसके प्रति उत्कट अनुराग को अभिव्यक्त करती है।

---

१. अ—कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २०।१२–१७
ब—कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, अंक-नवम, पृ० १७०–१७१.

२. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।१६।१९९–२११.

३. 'कुमारहट्ट' का वर्तमान नाम 'हालिसहर' है। महाप्रभु चैतन्य के संन्यास ग्रहण करने के किञ्चित् दिवस पश्चात् श्रीवासाचार्य ने 'नवद्वीप' त्यागकर 'कुमार-हट्ट' में अपना निवास स्थान बना लिया था।

४. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, २१०, २११.

५. नगेन्द्र वसु, विश्वकोष, खण्ड-तृतीय, पृ० ४१३.

उपर्युक्त साक्ष्य इस पक्ष में है कि शिवानन्दसेन का निवास स्थान 'कुमारहट्ट' के निकटवर्ती ग्राम 'काञ्चनपल्ली' में था। गौड़ीयमठ से प्रकाशित होने वाले कृष्णदास विरचित 'चैतन्यचरितामृतम्' की टीका से भी यही समर्थन प्राप्त होता है। व्याख्यानुसार'—'चैतन्यमहाप्रभु के भक्त शिवानन्दसेन 'कुमारहट्ट' व हालिसहर' के निवासी है। 'काञ्चनापाड़ा' यहाँ से १।।० मील दूर है। वहाँ गौर गोपाल का विग्रह प्रतिष्ठित है।[1] 'कुमारहट्ट' से महाप्रभु ने 'काञ्चनपल्ली' में शिवानन्दसेन के गृह में गमन किया ; तदनन्तर शिवानन्दसेन के निकटवर्ती वासुदेवदत्त के यहाँ।"[2]

वर्तमान समय में कुलीनग्राम में खंडहरों के अतिरिक्त कुछ अवशेष नहीं हैं, लेकिन 'काञ्चनपल्ली' में शिवानन्दसेन की ठाकुरवाड़ी अद्यावधि जीर्ण-शीर्ण अवस्था में विद्यमान है। 'काञ्चनपल्ली' निवासी रायवंशीय वैद्य वहाँ के विख्यात कविराज चण्डीचरणराय को कवि कर्णपूर का पौत्र तथा स्वयं को उनका वंशज बताकर आत्म-गौरव का अनुभव करते हैं।[3]

कवि कर्णपूर के पिता एवं परिवार के अन्य सदस्यों का परिचय

कवि कर्णपूर शिवानन्दसेन के ही आत्मज थे। इस तथ्य की पुष्टि अन्त-

---

१. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम् (गौड़ीयमठ), १।१०।५४.

२. वही, २।१६।२०६.

३ शिवानन्द सेन के गृह के सम्बन्ध में प्रसिद्ध बंगाली विद्वान् श्री अच्युत चरण चौधरी ने 'श्रीहट्टेर इतिवृत्त' नामक निज ग्रन्थ में एक घटना का उल्लेख किया है। चौधरी महोदय के अनुसार शिवानन्द सेन वर्द्धमान जिले में स्थित कुलीन ग्राम में रहते थे। उनके पश्चात् दुर्भाग्य वश उनके ज्येष्ठ पुत्र चैतन्यदास की मृत्यु हो गई। चैतन्यदास का पुत्र नयनानन्द अपने प्रतिद्वेषियों के द्वारा अत्यधिक पीड़ित किये जाने पर कुलीनग्राम स्थित अपने पैतृक गृह का परित्याग कर गंगा के निकटवर्ती जंगल में निवास करने लगा। तदनन्तर नयनानन्द के पुत्र ने श्रीहट्ट में जाकर स्वयं अपने वंश की स्थापना की। 'श्रीहट्ट' के 'आसापासा' नामक स्थान में कुछ दिनों पूर्व तक उनकी वंश-शाखा निवास करती थी, जो उच्च पदों के अधिकारी थे।' अच्युत चरण चौधरी महोदय के उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता के लिए केवल जनश्रुति ही प्रमाण है।

उद्धृत-मृणालकान्तघोष (सम्पादक), गौरपदतरङ्गिणी (द्वितीयसंस्करण), पृ० २५१.

रंग एवं बहिरंग दोनों ही प्रमाणों से हो जाती है। कवि कर्णपूर ने प्रायः अपनी समस्त कृतियों में शिवानन्दसेन का उल्लेख अपने पिता के रूप में किया है।[1] इसके अतिरिक्त प्राप्य तत्कालीन गौड़ीयवैष्णव साहित्य में भी कवि कर्णपूर के पिता के रूप में उनका उल्लेख मिलता है।[2] समस्त आधुनिक विद्वान् भी इस विषय में एक मत हैं कि कवि कर्णपूर शिवानन्दसेन के ही आत्मज थे।[3] शिवानन्दसेन ने अम्बुष्ठ कुल को अलंकृत किया था।

---

१ क—इह परमकृपालोर्गौरचन्द्रस्य कोऽपि, प्रणयरसशरीरः श्रीशिवानन्दसेनः।
भुवि निवसति तस्यापत्यमेकं कनीयस्त्वकृतपरमभिख्याच्चित्रमेतं प्रबन्धम्॥
—कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २०।४६.

ख—श्रीकृष्णचैतन्यस्य प्रियपार्षदस्य शिवानन्दसेनस्य तनुजेन निर्मितं परमानन्ददासकविना विनाशितहृत्कषायतिमिरं श्रीचैतन्यचन्द्रोदयं नाम नाटकम्।
—कवि कर्णपूर, चैतन्यचंद्रोदयम्, पृ० ३.

ग—श्रीगौराङ्गकृपामयोऽवनितले श्रीमच्छिवानन्दकः
सेनोऽम्बुष्ठकुलोद्भवः सुकृतिभिः सार्द्धं सदा गौरदृक्।
तत्पुत्रः कविकर्णपूररसिकाचार्याग्रणीर्नीतितः
श्रीकृष्णाह्निककौमुदीति विदितं काव्यं सुकाव्यं व्यधात्॥
—कवि कर्णपूर, कृष्णाह्निककौमुदी, कौतूहल—६ (अन्तिम श्लोक).

घ—चैतन्यकृष्णकरुणोदितवाग्विभूति-
स्तन्मात्रजीवनधनस्य जनस्य पुत्रः।
... ...
श्चम्पूमिमां रचितवान् कविकर्णपूरः॥
टीका—तन्मात्रजीवनधनस्य श्रीशिवानन्दसेनस्य॥
—कविकर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू (पण्डित न्यू सीरिज, भाग—३), २२।६१

२. क—मुरारिगुप्त, श्रीकृष्ण चैतन्यचरितामृतम्, ४।१७।६.
ख—कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, १।१०।६०,९।१९।१०२.
ग—लालदास, बंगाली-भक्तमाल, पृ० ४४,४७.
घ—प्रेमदास, चैन्यचन्द्रोदयकौमुदी, पृ० ४८६.
ङ—वैष्णवाचारदर्पण, पृ० १५४.

३. A—De, S. K., The Early History of The Vaiṣṇava faith And Movement in Bengal, p. 32.
B—Sen, D. C., Chaitany a and His Campanion, p. 119.
C—Sen., D.C., Vaiṣṇava Literature of Medieaval Bengal.p.71

चैतन्य के प्रिय पार्षदों के मध्य उनका विशिष्ट स्थान था, जिसका उल्लेख चैतन्य के समस्त चरितलेखकों ने किया है।[1]

चैतन्यसम्प्रदाय में शिवानन्दसेन के व्यक्तित्व का परिचय एक विनम्र भक्त के रूप में मिलता है। उनकी गणना चैतन्य के परिकर-वर्ग में की जाती है। सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार शिवानन्दसेन कृष्ण की व्रजलीला में वीरादती नामक गोपी थे।[2] महाप्रभु चैतन्य शिवानन्दसेन के परिवार को अपने परिवार के रूप में परिगणित करते थे तथा अपना उच्छिष्ट प्रसाद रूप में दिया करते थे।[3] शिवानन्दसेन की भी चैतन्य महाप्रभु में प्रगाढ़ श्रद्धा थी।[4] संन्यास ग्रहणोपरान्त महाप्रभु जिस समय गृहत्याग कर नीलाचलवास के लिए प्रस्थान कर रहे थे, उस अवसर पर शिवानन्दसेन की भी उत्कट इच्छा थी कि वह भी गृहत्याग कर चैतन्य का अनुगमन

D—Gupta & De, History of Sanskrit Literature, p. 485,

E—Krishnamacharia, History of Classical Sanskrit Literature, p. 289.

F—Aufreecht, T., Cotalogus Catalogorum, part I, p. 86.

G—Shastri, H. P., Notices of Sanskrit Mss, Vol. II. 1904, Proface, p. 7.

H—Mitra, R. L., Chaitanya Chandrodayam (Introd.), Bibliotheca Indica, 1854, P. 6.

१. क—मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्, ४।१७।६.

ख—वृन्दावनदास, चैतन्यभागवत, ३।५।१८, ३।९।६१

ग—जयानन्द, चैतन्यमंगल, पृ० १४२.

घ—कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, १।१०।६०,६१, २।११।१३५, १३६, ३।१।१०—२८, ३।१०।१३९—१४४, ३।१२।७—२४, ३१—४३,

ङ—नरहरि चक्रवर्ती, भक्तिरत्नाकर, पृ० ४१९.

च—लालदास, बंगालीभक्तमाल, पृ० ४०, ४६.

छ—वैष्णवाचारदर्पण, पृ० ३५४.

ज—पदकर्ता शेखर, (उद्धृत), पदकल्पतरु, ४।२५।२०।२३७२.

२. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, १७६.

३. कृष्णदासकविराज, चैतन्यचरितामृतम्, ३।१२।५०—५१.

४. वही, २।११।१३५, १३६.

करें। किन्तु चैतन्य ने उनकों कर्त्तव्यों के प्रति सजग करते हुए गृह में ही रहने का उपदेश दिया। इस घटना का संकेत शिवानन्दसेन ने स्वयं अपने एक पद्य में दिया है।[1]

शिवानन्दसेन के व्यक्तित्व में एक उच्चकोटि के चिन्तक एवं काव्योचित प्रतिभा से सम्पन्न कवि के भी दर्शन होते हैं। स्वयं कवि कर्णपूर ने चैतन्य-दर्शन के सूक्ष्म सिद्धान्तों के निरूपण में शिवानन्दसेन की सहायता ली है। कई स्थलों पर उनके मत का निर्देश भी किया है।[2] उपर्युक्त साक्ष्य इस तथ्य का प्रबल समर्थन करते हैं कि शिवानन्दसेन अपने समय में एक लब्ध-प्रतिष्ठ दार्शनिक के रूप में प्रसिद्ध रहे होंगे। उनकी साहित्यिक प्रतिभा का दर्शन उनके द्वारा रचित (बंगाली) भक्तिपदों में होता है, जिनका संकलन 'पद-कल्पतरु'[3] एवं 'गौरपदतरङ्गिणी'[4] में किया गया है।

---

१. दयामय गौरहरि नैद्या लीला साङ्गकरि
हाय हाय कि कपाल मन्द।
गेला नाथ नीलाचले ए दासेरे एका फेले
ना घुचिलें मोर भवबन्ध।
आदेश करिला याहा निश्चय पालिब ताहा
किन्तु एका कि रूपे रहिब।
पुत्र परिवार षत लागिवे विषेर मत
तोमा बिना कि मते गोङार
गौड़ीय यात्रिक सने वत्सरान्ते दरशने
काहिला याइते नीलाचले। कि रूपे सहिया रब संवत्सर काटाइब
युगशत ज्ञान करि हओ प्रभु कृपावान् कर अनुगतिदान तिले, नितिनिति हेरि पदद्वन्द॥
यदि ना आदेश कर अहे प्रभुविश्वम्भर आत्मघाती हवे शिवानन्द॥
मृणालकान्त घोष (सम्पादक), गौरपदतरङ्गिणी (द्वितीय संस्करण), ५।३।५२.

२. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ६३,१७२.

३. वैष्णवदास (संकलनकर्ता), सतीशचन्द्रराय (सम्पादक), पदकल्पतरु, ३।१८।६।११३४, ३।१८।७।११३३, ३।२०।५।११८०, ३।२२।१६।१२३१, ४।१०।८७।१८५१, ४।१८।१९।२१२७, ४।२५।३।२३५५.

४. मृणालकान्तघोष (सम्पादक), गौरपदतरङ्गिणी (द्वितीयसंस्करण), १।२।३९, १।३।२५, ४।३।१४, ५।१।६१, ५।३।५२. ६।३।५, ७.

शिवानन्द सेन विपुल ऐश्वर्य के अधीश्वर होने पर भी अत्यन्त उदार, विनम्र, संयमी एवं धार्मिक वृत्ति वाले थे। धर्मजीवी शिवानन्दसेन निःस्वार्थभाव से अपने धन का व्यय लोककल्याणार्थ किया करते थे। दूसरे शब्दों में उनके जीवन में धर्मार्थकाम का 'मणिकाञ्चन' संयोग था। वे प्रतिवत्सर चैतन्य महाप्रभु के दर्शनार्थ नीलाचल जाया करते थे। उनकी सुरक्षा में नवद्वीप, कुलीनग्राम तथा खण्डग्राम के समस्त भक्त जाया करते थे।[1] अपरिचित व्यक्ति को ही नहीं, अपितु अपनी सुरक्षा में वे कुत्ते तक को पुरी ले जाया करते थे।[2] इससे अधिक उनकी सर्वभूतव्यापिनी सहृदयता एवं उदारता का और क्या प्रमाण हो सकता है? महाप्रभु चैतन्य के आवास-भोजन की व्यवस्था तथा मार्ग में अवस्थित राजकीय चौकियों पर पड़ने वाले राजकरों को वे स्वयं देते थे।[3] इस सम्बन्ध में वे एकबार कारागार में भी बन्दी कर दिये गये थे।[4] भक्ति की अतिशयता के कारण वे मार्ग के कङ्कड़ पत्थरों को हटाकर चैतन्य के भक्तों के लिए मार्ग को सुगम बनाया करते थे।[5] दूसरे शब्दों में शिवानन्दसेन यथार्थ में चैतन्य के सच्चे भक्त थे।

शिवानन्दसेन की धर्मपरायण पत्नी सदैव धार्मिक कार्यों में उनको सहयोग प्रदान करती थी। चैतन्यमहाप्रभु का उनके प्रति पुत्रीवत् स्नेह था। शिवानन्दसेन के साथ वे प्रायः प्रभु के दर्शनार्थ नीलाचल जाया करती थीं। चैतन्य सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यतानुसार शिवानन्दसेन की पत्नी कृष्ण की व्रजलीला में बिन्दुमती नामक गोपी थी।[6]

---

१. अ—कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, १७८.
   ब—कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, १।१०।५२–५३.
२. अ—कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १७८, १७९.
   ब—कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।१।१३०, ३।१।१२–२८.
३. अ—कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोयम्, पृ० १८०
   ब—कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।१६।१८–२६, ३।१२।१४,१५
४. अ—कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १८०.
   ब—कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, ३।१२।१५-१६.
५. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १७८.
६. अ—कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, १७६.
   ब—लालदास, बंगालीभक्तमाल, पृ० ४६.

शिवानन्दसेन के तीन आत्मजों—चैतन्य दास, रामदास एवं परमानन्ददास का परिचय मिलता है।[1] स्वयं कवि कर्णपूर ने अपने ज्येष्ठ भ्राताओं की गणना चैतन्यपरिकर वर्ग में की है। उनके मतानुसार चैतन्यदास एवं रामदास कृष्ण की व्रजलीला में क्रमशः दक्ष और विचक्षण नामक शुक पक्षी थे।[2]

शिवानन्दसेन के तीनों ही पुत्र चैतन्य के अनन्य सेवक थे। चैतन्यदासक बाल्यकाल से ही पिता के साथ महाप्रभु के दर्शनार्थ नीलाचल जाया करते थे।[3] उनके जीवन से सम्बद्ध अनेक रोचक कथा प्रसंग कृष्णदास कविराज विरचित 'चैतन्यचरितामृतम्' में प्राप्त होते हैं। एक प्रसिद्ध जनश्रुति का उल्लेख कृष्णदास कविराज ने इस प्रकार किया है कि किसी समय शिवानन्दसेन के निमंत्रण पर महाप्रभु चैतन्य ने प्रीतिभोज किया, किन्तु भोजन की गरिष्ठता उन्हें रुचिकर न लगी। महाप्रभु की रुचि को समझकर बालक चैतन्यदास ने दूसरे दिन सुपच्य भोजन से उन्हें सन्तुष्ट कर लिया। महाप्रभु ने अपना उच्छिष्ट चैतन्यदास को देकर उन्हें अनुगृहीत किया।[4] 'कृष्णकर्णामृतम्' तथा 'गीतगोविन्द' पर इनकी संस्कृत व्याख्या भी प्राप्त होती हैं।[5]

कवि कर्णपूर के जीवन से सम्बद्ध प्रमुख घटनाएँ—

शिवानन्दसेन के तृतीय आत्मज 'परमानन्ददास सेन' ही संस्कृत साहित्य में 'कवि कर्णपूर' के नाम से प्रसिद्ध हैं। परमानन्ददास सेन शिवानन्दसेन के

---

१. अ—कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, १४५.
 ब—कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, ३।१०।६०.
 स—वैष्णवाचारदर्पण, पृ० ३५४, ३५५.
२. अ—कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, १४५.
 ब—वैष्णवाचारदर्पण, पृ० ३५५.
३. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, ३।१०।१३९, १४१.
४. वही, ३।१०।१४२-१४८.
५. अ—Mitra, R. L., Notices of Sanskrit Mss, Ms. No. 52, Vol. II., 1904, p. 43.
 ब—Eggeling, J., Catalogue of Sanskrit Mss. Library of the India Office, Ms. No. 3866।994a, Part VII., 1904, P. 1454.

कनिष्ठ पुत्र थे, इस तथ्य का स्पष्टीकरण स्वयं उनके ही उल्लेखों से हो जाता है।[1] 'परमानन्ददास सेन' से कवि का नाम 'कर्णपूर' किस प्रकार हुआ ? क्यों हुआ ? कब हुआ ? यह जिज्ञासा बलात् कवि के जीवन की रहस्यमयी घटनाओं के उद्घाटनार्थ प्रेरित करती है। कवि के जीवन से सम्बद्ध घटनाएँ किंवदन्तियों के रूप में चैतन्य सम्प्रदाय में प्रचलित हैं। किन्तु उन घटनाओं की विश्वसनीयता के सम्बन्ध में प्रामाणिक साक्ष्यों का सर्वथा अभाव है। कवि के नाम एवं जन्म से सम्बद्ध जिन घटनाओं का उल्लेख कृष्णदास कविराज अथवा उन (कर्णपूर) के टीकाकार ने किया है, केवल उन्हें ही प्रामाणिक मानकर सन्तोष करना पड़ता है। कृष्णदास कविराज के उल्लेखानुसार कवि कर्णपूर के जन्म से पूर्व किसी समय महाप्रभु चैतन्य ने शिवानन्दसेन को आदेश दिया था कि—"इस बार पुत्र लाभ होने पर उसका नाम पुरीदास रखना।"[2] वस्तुतः उस समय शिवानन्दसेन की गृहिणी गर्भवती थी। महाप्रभु चैतन्य को अपनी सर्वज्ञता से ज्ञात हो गया था कि शिवानन्दसेन को पुत्र लाभ होगा। अतः उन्होंने उस पुत्र का नाम पुरीदास रखने की आज्ञा दी। किञ्चित् दिवसोपरान्त पुत्रलाभ होने पर शिवानन्दसेन ने महाप्रभु की आज्ञा का स्मरण कर अपने आत्मज को 'परमानन्ददास' संज्ञा से अभिहित किया।[3] कुछ बड़े होकर परमानन्ददास ने महाप्रभु के दर्शन की उत्कण्ठा अभिव्यक्त की। इनकी प्रभु-परायण माता ने शैशवकाल में ही इन्हें गौराङ्ग-चरित एवं समस्त गौर भक्तों के नाम कण्ठस्थ करा दिये थे। परमानन्ददास शैशवकाल से ही होनहार, मेधावी, प्रत्युत्पन्नमति एवं सरस हृदय के थे। पुत्र के अत्यधिक आग्रह करने पर शिवानन्दसेन इन्हें अपनी पत्नी तथा अन्य पुत्रों के साथ नीलाचल स्थित महाप्रभु के समीप लाये। यद्यपि महाप्रभु चैतन्य परमानन्ददास को शिशुरूप में देख चुके थे[4] तथापि शिवानन्दसेन अपने वर पुत्र को एकान्त में महाप्रभु चैतन्य के श्रीचरणों में समर्पित करने के अभिलाषी थे। अतएव एक दिन नरेन्द्रसरोवर के निकट महाप्रभु चैतन्य को स्वरूप दामोदर आदि प्रमुख भक्तों के साथ एकान्त में कृष्णवार्त्ता में

---

१. अ-कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २०।४६.
   ब—कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, १४५.
२. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, ३।१२।४५, ४६.
३. वही, ३।१२।४७, ४८.
४. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १८४.

निमग्न देखकर शिवानन्दसेन ने परमानन्ददास को चैतन्य महाप्रभु के पदकमलों पर समर्पित कर दिया। महाप्रभु ने भी देशकाल की आवश्यकता का अनुभव करते हुए अपनी अद्‌भुत शक्ति का समर्पण अपने योग्यतम प्रतिभाशाली शिष्य में करने की इच्छा से परमानन्द के मुख में अपने अमृतमयचरणदल का स्थापन कर दिया।[1] परमानन्ददास ने भी आनन्दपूर्वक महाप्रभु के चरणदल का रसपान किया। बालक से अत्यधिक सन्तुष्ट होकर महाप्रभु चैतन्य ने शिवानन्दसेन से बालक के नाम के सम्बन्ध में जिज्ञासा की। सेन महोदय ने विनम्रता पूर्वक बालक का नाम परमानन्ददास बताया। महाप्रभु ने पुरीदास कहकर उपहास किया।[2] इस घटना के पश्चात् पुनः एक बार शिवानन्दसेन अपनी पत्नी तथा पुत्र परमानन्ददास के साथ प्रभु के दर्शनार्थ नीलाचल आये। शिवानन्दसेन ने पुत्र से चैतन्य महाप्रभु की वन्दना कराई।[3] महाप्रभु चैतन्य ने बालक परमानन्ददास से 'कृष्ण' नाम उच्चारित करने का पुनः पुनः अनुरोध किया। किन्तु परमानन्द ने एक बार भी कृष्ण नाम का उच्चारण नहीं किया। शिवानन्दसेन को भी अत्यधिक प्रयास के फलस्वरूप भी सफलता नहीं मिली।[4] अन्त में अत्यधिक खिन्न होकर महाप्रभु ने कहा 'मैंने मानवों से ही नहीं अपितु लतावृक्षादि स्थावरों से भी कृष्ण नाम का उच्चारण कराया है, किन्तु इस बालक से कृष्ण नाम उच्चारित न करा सका।' यह सुनकर स्वरूप दामोदर गोस्वामी ने हँसते हुए कहा—'प्रभु! आपने इसे कृष्ण नाम का मन्त्र प्रदान किया है, यह बालक उस मन्त्र को अन्य किसी के समक्ष प्रकट नहीं करना चाहता है। मुझे इसका यही मन्तव्य प्रतीत होता है।'[5] दूसरे दिन पुनः चैतन्य महाप्रभु ने 'परमानन्ददास' से कहा कि—'पुरीदास' श्लोक पढो।[6] प्रभु के आशीर्वाद से पुरीदास के मुख से काव्य का स्रोत प्रस्फुटित हो उठा—

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावन-रमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥[7]

---

१. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, ३।१२।४९.
२. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, ३।१२।४३, ४४, ४८.
३. वही, ३।१६।६०, ६१. ४. वही, ३।१६।६२, ६३.
५. वही, ३।१६।६४-६७. ६. वही, ३।१६।६८.
७, प्रस्तुत श्लोक कवि कर्णपूर विरचित 'आर्याशतकम्' ग्रन्थ का प्रथम श्लोक माना जाता है। इस सम्बन्ध में अध्याय-तृतीय के अन्तर्गत 'खण्डकाव्य' द्रष्टव्य है।

कृष्णदास कविराज के अनुसार उपर्युक्त कथित घटना के समय बालक परमानन्ददास की आयु ७ वर्ष की थी तथा अध्ययनकार्य भी आरम्भ नहीं हुआ था। सप्तवर्षीय बालक के मुख से 'श्रवसोः कुवलयम्' श्लोक सुनकर लोकसमुदाय चमत्कृत हो गया।[1] कवि कर्णपूर के टीकाकार वृन्दावन चक्रवर्ती ने उन (कवि कर्णपूर) के जीवन से सम्बद्ध इसी घटना का उल्लेख 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' की टीका में किया है। वृन्दावन चक्रवर्ती के अनुसार इसी श्लोक से प्रभावित होकर महाप्रभु चैतन्य ने परमानन्ददास को 'कवि कर्णपूर' की उपाधि से विभूषित किया।[2]

उपर्युक्त उल्लिखित घटना से यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि परमानन्ददास का कवि कर्णपूर नाम चैतन्य प्रदत्त है। वर्तमान समय में उनका परमा-

१. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, ३।१६।६९-७०.

२. वत्सास्वाद्य मुहुः स्वया रसनया प्रापय्य सत्काव्यतां
देयं भक्तजनेषु भाविषु सुरैर्दुष्प्रायमेतत्त्वया।
इत्याज्ञापयतेव येन निदधे श्रीकर्णपूराननै
बाल्ये स्वाङ्घ्रिदलामृतं गतिरसौ चैतन्यचन्द्रोऽस्तु नः॥

..........एकदा महाप्रभुर्द्विजप्रियसहचरसङ्गीस्वपार्षदप्रवरस्य एतत् पितुः शिवानन्दसेनस्य सपरिजनस्य रथयात्रादर्शनच्छलेन स्वचरणान्तिकभागतस्यावासभागतस्तेन च ससंभ्रमं वन्दितचरणकमलस्तत्र च बाल्यविकासं प्रपञ्चयन्तं पञ्चवर्षवयसमेतं पित्राकारितवन्दनमालोक्य साधुस्तवायं पुत्रो जात इत्यभिनन्द्य कृपयैतच्छिरसि चरणं दिधीर्षुबाल्यावेशेन मुखं व्यादत्तवन्तमेनं कौतुकेन चरणाङ्गुष्ठमास्वादयामास, दिव्यकाव्यकर्तृत्वशक्तिमप्यलक्षितं संचारयामास, वद वद कृष्ण-कृष्णेत्युवाच च, ततोऽसौ शिशुरुत्फुल्लमुखो ब्रूहि ब्रूहीति पित्रा दिभिः प्रयुज्यमानोऽपि यदि नानुजगाद, प्रभुरपि विस्मयमेकमेवेत्युवाच, तदा श्रीस्वरूपगोस्वामीभिरुक्तं, भगवता स्वयमेव स्वनाम महामन्त्रमुपदिष्टोऽस्मि। कथं पुनस्तमुच्चैरुच्चारयामीत्येवमस्य गम्भीरं हृदयमनुमीयत इति, परे द्यवि वत्स वद किंचिदित्युक्त एव प्रभुणा शीघ्रं पद्यमेकं बबन्ध—

'श्रवसोः कुवलयम्..........हरिर्जयति', ततः सन्तुष्टेन भगवता 'कवि कर्णपूर' इति नाम तद्दिनमारम्भ कृतवता।

कवि कर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू, सुखवर्त्तिनी टीका (पण्डित ओल्ड सीरिज, भाग—९), पृ० १०६, १०८.

नन्ददास अथवा पुरीदास नाम श्रुतिगोचर नहीं होता है। साहित्यजगत् में वे कवि कर्णपूर नाम से विख्यात हैं।

कवि कर्णपूर के बाल्यकाल से सम्बद्ध यह घटनाएँ केवल कपोल-कल्पित नहीं हैं; अपितु इनके मूल में सत्य का कुछ अंश अवश्य अन्तर्निहित होगा। कवि कर्णपूर अपने बाल्यकाल में चैतन्य महाप्रभु से नीलाचल में मिले थे तथा शिवानन्दसेन ने इनका परिचय महाप्रभु से कराया था। इस घटना का संकेत स्वयं उन्होंने अपने 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' में दिया है।[1] कवि कर्णपूर के उत्तरवर्ती गौड़ीय वैष्णव साहित्य में उनके जीवन से सम्बद्ध यह घटनाएँ अत्यधिक लोकप्रिय रही हैं। 'वैष्णवाचारदर्पण' नामक ग्रन्थ में इस घटना का उल्लेख किया गया है।[2] 'प्रेमदास' नामक कवि ने कवि कर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' का भावानुवाद बंगभाषा में उपनिबद्ध किया है। उन्होंने अपने पूर्वोक्त ग्रन्थ में इस घटना का उल्लेख किया है।[3] चैतन्य महाप्रभु के जीवन-चरित पर (बंग भाषा में) स्फुट पद रचने वाले पदकर्ताओं में से उद्धवदास नामक पदकर्ता[4] तथा बंगाली भक्तमाल के प्रसिद्ध लेखक लालदास[5] ने भी इस घटना का उल्लेख किया है। चैतन्य सम्प्रदाय

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १८४-१८६.

२. गुण चूड़ा सखी हैल कवि कर्णपूर काँचड़ापाडायवास चैतन्येर शाखासूर।
वृद्धपदागुष्ठ प्रभुयाँर मुखे दिल। पुरीदास नाम वलि शक्ति सञ्चारिला ॥
वैष्णवाचारदर्पण, पृ० ३४२.

३. अज्ञानतिमिर पूर महाकविकर्णपूर, अतिशिशु यखने आछिला ॥
प्रभु स्थाने नीलाचले गेलाचापि पितृकोले, नेत्रभरि चैतन्य देखिला ॥
गति हस्त जानुयुगे. प्रभुपादपद्म आगे, आनन्द करिला प्ररणाम ॥
देखि प्रभु हैला तुष्टे दक्खिन चरणागुष्ठ, तार मुखे दिला भगवान् ॥
हस्ते धरि श्रीचरण अङ्गुलि चोषेनघनप्रभुर पार्षद गण हासे ॥
निजपुत्रे कृपा देखि शिवानन्द हैया सुखी, ऊर्ध्वबाहु नाचेन हरिषे ॥
उच्छिष्टे चरणामृत श्रीचैतन्य कदाचित निजेच्छाय ना देन काहारे ॥
सर्व शक्ति सञ्चारिया निजोच्छिष्ट आनाइया आपनें दिलेर कर्णपूरे ॥
कृपामते सिक्त कैला नापड़ि पण्डित हैला, जानिल सकल शास्त्र नीत ॥
प्रेमदास, चैतन्यचन्द्रोदय कौमुदी, पृ० ४८६.

४. मृणालकान्त घोष (सम्पादक), गौरपदतरङ्गिणी (द्वितीय संस्करण), ६।३।४७

५. लालदास, बंगाली भक्तमाल, पृ० ४७.

में कवि कर्णपूर के जीवन से सम्बद्ध ये घटनाएँ उनके आकर्षण का प्रमुख केन्द्र हैं। अद्यावधि वृन्दावन स्थित गौड़ीयमठ, गोविन्दकुण्ड तथा राधाकुण्ड में निवास करने वाले चैतन्यसम्प्रदायी संन्यासी इन घटनाओं का भक्तिरस-पूर्ण पदों में आत्मविभोर होकर गायन करते हैं।

कवि कर्णपूर की कृतियों अथवा चैतन्य साहित्य में (उनके) बाल्यकाल की उपर्युक्त घटनाओं के अतिरिक्त, उनकी किशोरावस्था अथवा प्रौढ़ावस्था से सम्बद्ध किसी घटना का उल्लेख नहीं मिलता है। कवि कर्णपूर के गृहस्थजीवन तथा उनकी सन्तानों का कोई संकेत प्राप्य नहीं हैं। केवल काञ्चनपल्ली निवासी रायवंशीय वैद्य स्वयं को कवि कर्णपूर का वंशज कहकर आत्म-परिचय देते हैं, जिनसे उनके गृहस्थ होने का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु इस जनश्रुति का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। आश्चर्य है कि कवि कर्णपूर के किसी परवर्ती लेखक ने इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया है। सम्भावना यही की जाती है कि कवि कर्णपूर ने एक विरक्त भक्त होने के कारण स्वयं को सांसारिक बन्धनों में परि-सीमित नहीं किया होगा। उनके जीवन की अन्तिम लीला के समय के सम्बन्ध में भी प्रमाणाभाव में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। वृन्दावन के निकटवर्ती गोविन्दकुण्ड निवासी चैतन्य सम्प्रदायी भक्तों की धारणा है कि कवि कर्णपूर ने ५८ वर्ष की अवस्था में देहत्याग किया था। किन्तु इस कथन में सत्य का कितना अंश है ? यह नहीं कहा जा सकता है।

कवि कर्णपूर के 'पुरीदास' नाम के सम्बन्ध में विभिन्न धारणायें

कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य चरितामृतम्' में कई स्थलों पर कवि कर्णपूर को पुरीदास नाम से अभिहित किया है।[1] उद्धवदास नामक बंगाली पदकर्ता ने भी कवि कर्णपूर के पुरीदास नाम का उल्लेख किया है।[2] 'वैष्णवाचारदर्पण' में भी कवि कर्णपूर के पुरीदास नाम का संकेत मिलता है।[3] उपर्युक्त साक्ष्यों से प्रतीत होता है कि कवि कर्णपूर का परमानन्ददास नाम के अतिरिक्त उनका 'पुरीदास' नाम भी था, जो चैतन्य प्रदत्त था। डा० विमानविहारी मजूमदार उपर्युक्त साक्ष्यों को प्रामाणिक नहीं मानते हैं।

---

१. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, ३।१२।४५-४६; ४८.
२. मृणालकान्त घोष (सम्पादक), गौरपदतरङ्गिणी (द्वितीय संस्करण), ६।३।४७.
३. वैष्णवाचारदर्पण, पृ० ३४२.

उनके मतानुसार कवि कर्णपूर का एक अन्य नाम पुरीदास था वह चैतन्य प्रदत्त था, यह सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक तर्कों को अपने शोध प्रबन्ध–'चैतन्यचरितेर उपादान'–में प्रस्तुत किया है।[1] विस्तार भय से उनका पूर्ण विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा है। अतएव वहीं दृष्टव्य है।

कुछ आधुनिक विद्वानों ने कवि कर्णपूर के पुरीदास नाम के कारण उनका ऐक्य परमानन्दपुरी से स्थापित करने का प्रयास किया है।[2] किन्तु इस प्रकार का प्रयास निरर्थक है। परमानन्दपुरी माधवेन्द्रपुरी के शिष्य एवं ख्यातिप्राप्त संन्यासी थे, उन्हें महाप्रभु चैतन्य अत्यधिक आदर व सम्मान की दृष्टि से देखते थे। इसके विपरीत पुरीदास अथवा परमानन्द-दास कवि कर्णपूर उनके समक्ष बालक थे। कवि कर्णपूर ने स्वयं परमानन्दपुरी का उल्लेख आदरपूर्वक किया है।[3] ऐसी स्थिति में दोनों में ऐक्य स्थापित करना औचित्यपूर्ण नहीं है।

कवि कर्णपूर की शिक्षा एवं उनके गुरु श्रीनाथ का परिचय

अनुमानतः कवि कर्णपूर की शिक्षा सात वर्ष की आयु के पश्चात् प्रारम्भ हुई होगी। उपर्युक्त अनुमान कृष्णदास कविराज के कथन पर आधारित है, जिसका उल्लेख विगत पृष्ठ (२२) पर किया जा चुका है। कवि कर्णपूर के टीकाकार वृन्दावन चक्रवर्ती के अनुसार उनके प्रथम गुरु चैतन्य महाप्रभु ही हैं, जिन्होंने कृष्णनाम की मन्त्रदीक्षा तथा चरणामृत प्रदान कर अपनी शक्ति का सञ्चार उनमें किया था।[4] तथापि लोकाचारानुसार श्रीनाथाचार्य इनके गुरु के रूप में प्रसिद्ध हैं। 'कुमारहट्ट' निवासी श्रीनाथाचार्य अपने समय के उद्भट विद्वान् थे। उनकी कीर्ति लोकविश्रुत थी। सुदूर दूर से विद्यार्थी ज्ञानार्जन हेतु उनके समीप आते थे। श्रीनाथाचार्य की 'श्रीमद्भागवत' पर प्राप्त होनेवाली तीन टीकाएँ—'भागवत-

---

१. विमानविहारी मजूमदार, चैतन्यचरितेर उपादान (प्रथम संस्करण), पृ० ८३-८५.

२. Sen, D. C., Chaitanya and His Campanion, p. 121.

३. अ-कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १९।६, ६०,
ब—कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १३९, १४०.
स—कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ११८.

४. कवि कर्णपूर, आनन्दवृन्दावन चम्पू, सुखवर्तिनीटीका, (प्रण्डित ओल्डसीरिज भाग-९), पृ० १०८.

संहिता'[1], 'भागवतमतदीपिका'[2] एवं 'चैतन्यमतमंजूषा'[3]—उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य की प्रत्यक्षसाक्षिणी है। कवि कर्णपूर के उल्लेखानुसार श्रीनाथाचार्य स्वयं अद्वैताचार्य के शिष्य थे तथा अद्वैताचार्य की अनुकम्पा से चैतन्य महाप्रभु की विशेष कृपा इन्हें (श्रीनाथ को) प्राप्त हुई थी।[4] कवि कर्णपूर के गुरु श्रीनाथाचार्य ही थे, इस विषय में दो मत नहीं हैं। कारण, कवि कर्णपूर ने स्वयं अपनी कृतियों में गुरु रूप में उनका उल्लेख किया है।[5] 'गौरगणोद्देशदीपिका' में कवि कर्णपूर ने ऐसा भी संकेत किया है कि शास्त्रानुसार आदि में गुरु के नाम का उल्लेख नहीं करना चाहिए, इसलिए उन्होंने अपने गुरु श्रीनाथ का उल्लेख आदि में नहीं किया।[6] कवि कर्णपूर के समय श्रीनाथाचार्य अत्यन्त वृद्ध रहे होंगे, क्योंकि श्रीनाथाचार्य

---

१. व्याचकार परिपाट्याद्यो भागवतसंहिताम् ।
कुमारहट्टे यत्कीर्त्तिकृष्णदेवो विराजते ॥
कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, २११.

२. कवि कर्णपूर ने 'अलंकार-कौस्तुभः' में श्रीनाथाचार्य की 'भागवतमतदीपिका' का एक श्लोक उद्धृत किया है जिससे इस कृति के अस्तित्व का अभिज्ञान प्राप्त होता है।

कवि कर्णपूर, अलंकार-कौस्तुभः किरण-१०, पृ० ३७१.

३. हरिदास द्वारा सम्पादित, हरिबोलकुटीर नवद्वीप द्वारा प्रकाशित (प्रथम संस्करण, चैतन्याब्द ४६६)

४. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, अंक दशम, पृ० १८४.

५. अ—वही, पृ० ३.

ब—गुरुं नः श्रीनाथाभिधमवनिदेवान्वयविधुं
नुमो भूषा रत्नं भुव इव विभोरस्यदयितम् ।
यस्यास्यादुन्मीलन्तिखकर वृन्दावनरहः
कथास्वादं लब्ध्वा जगति न जनः क्वापि रमते ॥
कवि कर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू (पण्डित ओल्ड सीरिज, भाग—९), ११५

स—श्रीनाथपादकमलस्मृतिशुद्धबुद्धि-
श्चम्पूमिमां रचितवान् कविकर्णपूरः ॥
वही, (पण्डित न्यू सीरिज, भाग-२), २२।६१

द—कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ३.

६. वही, २१०

उनके पिता शिवानन्दसेन के भी गुरु थे। इस तथ्य की पुष्टि काञ्चनपल्ली स्थित कृष्णदेव के मन्दिर के शिलालेख से हो जाती है,[1] जिसमें शिवानन्दसेन ने श्रीनाथ को अपना गुरु स्वीकार किया है।

कवि कर्णपूर का व्यक्तित्व एवं विचारधारा

कवि कर्णपूर के सशक्त व्यक्तित्व में कवि, भक्त, दार्शनिक, आलोचक, समाजसुधारक आदि परस्पर विरोधी व्यक्तित्वों का अपूर्व समन्वय एक साथ दृष्टिगोचर होता है। उनकी कवि प्रतिभा में सन्देह का अवकाश नहीं है। सरल, उदार, गम्भीर, मितभाषी एवं सौम्य स्वभाव के लिए वे गौड़ीय-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध हैं। एक भक्त के रूप में उनका व्यक्तित्व विशेष स्पृहणीय है। कवि कर्णपूर की अधिकांश साहित्यिक रचनाएँ चैतन्य एवं उनके भक्तों के प्रति उनकी अनन्य श्रद्धा-भक्ति को अभिव्यक्त करती हैं। समस्त जड़-चेतन जगत् को कृष्ण-चैतन्यमय मानते हुए भी उन्होंने अन्य धार्मिक सम्प्रदायों से द्वेष नहीं किया। एक निःस्वार्थ, निरंहकार एवं विरक्त भक्त होने के कारण उन्होंने कभी भी चैतन्य सम्प्रदाय में विशिष्ट स्थान प्राप्त करने की अभिलाषा भी नहीं व्यक्त की। उनका भक्तहृदय एवं काव्य दोनों साम्प्रदायिक संकुचित परिवेश से ऊपर उठकर मानवमात्र के कल्याणार्थ मुखरित हुआ है। वे हृदय और संस्कार दोनों से ही भक्त एवं कवि हैं। चैतन्यभक्त परिवार में उत्पन्न होने के कारण उनके जीवन का अधिकांश समय चैतन्य के प्रमुख पार्षदों-नित्यानन्द, अद्वैत, स्वरूपगोस्वामी, श्रीवास, मुरारि गुप्त आदि के मध्य व्यतीत हुआ।[2] पिता की साहित्यिक प्रतिभा उन्हें उत्तराधिकार में प्राप्त हुई। अतएव चैतन्य के श्री चरणों के स्पर्श से उनका काव्यत्व पर्वतीय निर्झर की भाँति प्रस्फुटित हो उठा। कवि कर्णपूर ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है कि 'महाप्रभु के उच्छिष्ट के प्रसाद से उन्हें वाणी की प्रौढ़ता स्वरूप काव्यक्षमता प्राप्त हुई, जिसे उन्होंने महाप्रभु के अवतार का वर्णन करके सार्थक किया।[3] इस प्रकार सुन्दर

१. नगेन्द्र वसु, विश्वकोष, खण्ड-तृतीय, पृ० ४१३

२. दृष्टा भागवताः कृपाप्युपगता तेषां स्थितं तेषु च।
ज्ञातं वस्तु विनिश्चतं च कियता प्रेम्णापि तत्रासितम्॥
कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, १०/७८ (अन्तिम श्लोक)

३. यस्योच्छिष्टप्रसादादयमजनि मम प्रौढिमा काव्यरूपी।
वाग्देव्या यः कृतार्थीकृत इह समयोत्कीर्त्य तस्यावतारम्॥
वही, १०/७६ (अन्तिम श्लोक)

परिस्थितियों ने कवि कर्णपूर के सुसंगठित व्यक्तित्व के निर्माण में पर्याप्त योगदान दिया।

उच्चकोटि के दार्शनिक के रूप में उनके व्यक्तित्व का परिचय उनकी समस्त कृतियों में प्राप्त होता है। इस विषय पर विस्तारपूर्वक विवेचन कवि कर्णपूर की दार्शनिक विचारधारा में किया जायेगा।[1] आलोचक के रूप में कवि कर्णपूर का व्यक्तित्व अत्यन्त निर्भीक एवं निष्पक्ष है। सैद्धान्तिक एवं साहित्यिक आलोचना करते समय उन्होंने प्रशंसनीय साहस का परिचय दिया है। 'अलंकार-कौस्तुभ:' में काव्य तत्त्व का निरूपण करते समय उन्होंने निर्भीकतापूर्वक काव्यप्रकाशकार मम्मट तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की आलोचना की है। इसी प्रकार काव्य दोषों का निरूपण करते समय उन्होंने अपने गुरु श्रीनाथ[2] तथा स्वयं अपने ग्रन्थों[3] के उद्धरण प्रस्तुत कर अपनी निष्पक्ष दृष्टि का परिचय दिया है। समाज सुधारक के रूप में उनकी वाणी हृदयस्पर्शी एवं ओजस्वी है। उनके सरल व्यक्तित्व में छल-कपट, पाखण्ड, दम्भ, मिथ्या आदि तामसीक प्रवृत्तियों का स्थान नहीं था। अतएव इन प्रवृत्तियों के प्रति अपने हार्दिक विरोध को उन्होंने 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' नाटक के द्वितीय सर्ग में प्रकट किया है। जातिपाति, उच्च-नीच, अस्पर्शता आदि सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन उन्होंने अपने महाकाव्य एवं नाटक के माध्यम से करने का प्रयास किया है।

कवि कर्णपूर नामक अनेक व्यक्तियों का समीक्षात्मक विवेचन

संस्कृत साहित्य में कवि कर्णपूर नाम से अनेक विद्वान् एवं कवि विख्यात

---

१. प्रस्तुत प्रसंग के लिए अध्याय चतुर्थ द्रष्टव्य है।

२. द्वयोरनुपादानेऽपि द्वयोरर्थः क्वचिदवगम्यते।
यथा अस्मद् गुरोः—
नवादिनिग्रहः कार्यो न शिष्यानुग्रहोऽपि च।
उभयायितरूपस्य मनसो ह्युभयं मतम्॥
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, किरण—१०, पृ० ३७१.

३. 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' का निम्न श्लोक कवि कर्णपूर ने 'प्रकाशितविरुद्ध' नामक काव्य दोष के उद्धरण रूप में प्रस्तुत किया है। प्रकाशितविरुद्ध यथा—'न मे वाणी वृन्दावनरमणलीलामृतहृदेनिमग्नाऽप्युत्थातं प्रभवति कथया तु परित।'
वही, किरण—१०, पृ० ३८१.

हुए हैं। ऐसी स्थिति में कवि कर्णपूर नामक ये अनेक व्यक्ति परस्पर भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं ? अथवा उसका सम्बन्ध एक ही व्यक्ति से है ? परमानन्ददास कवि कर्णपूर से उनका कोई ऐक्य है अथवा नहीं ? यही प्रश्न विशेष विचारणीय है।

सर्वप्रथम, 'संस्कृतपारसीकपदप्रकाशः'[1] के रचयिता कवि कर्णपूर का उल्लेख मिलता है। इनका वास्तविक नाम अद्यावधि जिज्ञासा का प्रश्न है। 'संस्कृतपारसीकपदप्रकाशः' के अनुसार उन्होंने मुग़ल सम्राट जहाँगीर के आदेश पर ग्रन्थ की रचना की थीं।[2] पूर्वोक्त कवि कर्णपूर का उल्लेख प्रो० चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने अपने एक निबन्ध में भी किया है।[3] 'परमानन्ददास कवि कर्णपूर' से इनका कोई ऐक्य है अथवा नहीं ? यह विवेचनीय है। 'पण्डितसीरिज काशी' से प्रकाशित 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के सम्पादक (श्रीवेचन राम त्रिपाठी) महोदय ने 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के रचयिता (परमानन्ददास) कवि कर्णपूर का ऐक्य पूर्वोक्त जहाँगीर के सभासद कवि कर्णपूर के साथ स्थापित किया है।[4] किन्तु समीक्षा की कसौटी पर उपर्युक्त मत समीचीन प्रतीत नहीं होता है। केवल नाम की समानता से दोनों में कोई ऐक्य स्थापित नहीं किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में निम्न साक्ष्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) 'संस्कृतपारसीकपदप्रकाशः' के रचयिता कवि कर्णपूर कामरूप-

---

१. काशी गोरक्षा ग्रन्थमाला द्वारा मुद्रित।

२ श्रीमज्जहाँगीरमहीमहेन्द्रप्रासादमासाद्य निदेशरूपम्।
करोत्यदः 'संस्कृतपारसीकपदप्रकाशं' कविकर्णपूरः॥
कवि कर्णपूर, संस्कृतपारसीकपदप्रकाशः, २.

३. Year Book, Royal Asiatic Society of Bengal, Vol. IV., 1938. p. 12, And his paper entitled 'Muslim Patronage to Sanskrit Learning'. B. C. Law. Volume, part II., p, 180.

४. आनन्दवृन्दावननामचम्पूः श्रीकर्णपूरेणविनिर्मितैषा।
श्रीमत्जहाँगीरमहीमहेन्द्रसभाप्रधानेन महामहिम्ना॥
कवि कर्णपूर, आनन्दवृन्दावन चम्पू (पण्डित न्यू सीरिज, भाग-२), पृ० १८९.

वासी हैं ।[१] किन्तु परमानन्ददास कवि कर्णपूर काञ्चनपल्ली के निवासी हैं ।[२]

(२) कामरूप-वासी कवि कर्णपूर ने अपना परिचय करणवंशज एवं कवीन्द्र कविराज गुणाब्धि के अनुज के रूप में दिया है ।[३] विगत पृष्ठों (१३-१९) पर सिद्ध किया जा चुका है कि परमानन्ददास कवि कर्णपूर ने अम्बुष्ठ कुल को अलंकृत किया था तथा चैतन्यदास एवं रामदास इनके अनुज थे ।

(३) कामरूपवासी कवि कर्णपूर के आश्रयदाता मुगल सम्राट् जहाँगीर थे । ऐतिहासिकों के अनुसार जहाँगीर का शासनकाल १६०५ ई० से लेकर १६२७ ई० पर्यन्त था ।[४] परमानन्ददास कवि कर्णपूर का जन्मकाल लगभग १५२४ ई० अथवा १५२६ ई० के आसपास का समय है ।[५] जनश्रुति है कि परमानन्ददास कवि कर्णपूर की मृत्यु ५८ वर्ष की अवस्था में हुई थी । फलस्वरूप उनका जीवनकाल १५२४ ई० से लेकर १५८२ ई० तक रहा होगा । पूर्वोक्त सम्भावनानुसार जहाँगीर के शासनकाल और परमानन्ददास कवि कर्णपूर के जीवनकाल के मध्य २३-२४ वर्षों का व्यवधान है । यदि कवि कर्णपूर की मृत्यु का उपर्युक्त समय प्रामाणिक न स्वीकार किया जाये, ऐसी स्थिति में सम्भवतः परमानन्ददास सेन कवि कर्णपूर जहांगीर के शासनकाल के पूर्वार्द्ध में जीवित रहें हों । किन्तु उनका सम्बन्ध किसी भी भाँति जहाँगीर से रहा होगा, ऐसा कोई भी संकेत उनकी कृतियों से प्राप्त नहीं होता है ।

---

१. कर्णपूरः　　कामरूपवासीकरणवंशजः ।
कारिकां कुरुते भाषासारसंग्रहकारिकाम् ॥
　　　　कवि कर्णपूर, संस्कृतपारसीकपदप्रकाशः, ३२८.

२. प्रस्तुत प्रसंग के लिए पृष्ठ १०-१३ द्रष्टव्य हैं ।

३. अनुजन्मना गुणाब्धेः करणमणेः श्रीकवीन्द्रस्य ।
कविराजस्य च विंतता कृतिरेषा श्रीकर्णपूरेण ॥
　　　　कवि कर्णपूर, संस्कृतपारसीकपदप्रकाशः, ३२६.

४. Srivastava, A. L., Mughal Empire, p. 268.

५. प्रस्तुत अध्याय का पृ० ५८ द्रष्टव्य है ।

(४) कामरूपवासी कवि कर्णपूर शैवमतावलम्बी हैं।[1] किन्तु परमानन्ददास कवि कर्णपूर परमवैष्णव एवं चैतन्य के अनन्य अनुयायी हैं।

उपर्युक्त साक्ष्यों से स्पष्ट है कि परमानन्ददास कवि कर्णपूर एवं कामरूपवासी कवि कर्णपूर में कोई ऐक्य स्थापित नहीं किया जा सकता है। वे दोनों सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं।

'वृत्तमाला'[2] के रचयिता के रूप में द्वितीय कवि कर्णपूर का परिचय प्राप्त होता है। 'वृत्तमाला' से प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार पूर्वोक्त कवि कर्णपूर प्राचीनकामरूप के अन्तर्गत कोछ विहार राज्य के शासक श्रीमल्लदेव नृपति के सभापण्डित थे।[3] ऐतिहासिकों के अनुसार मल्लदेव का शासन काल १५४० ई० से लेकर १५८४ ई० पर्यन्त था।[4]

उपर्युक्त साक्ष्य के अनुसार 'वृत्तमाला' के रचयिता कवि कर्णपूर का समय १६ वीं शताब्दी के निकट निश्चित होता है। 'वृत्तमाला' से प्राप्त होने वाले साक्ष्यों के अनुसार यह जाति के ब्राह्मण एवं शिव के उपासक थे। किन्तु परमानन्ददास कवि कर्णपूर के साथ पूर्वोक्त कवि कर्णपूर का ऐक्य स्थापित करने में अनेक बाधाएँ हैं—प्रथमतः परमानन्ददास कवि कर्णपूर ब्राह्मण वंश में न होकर अम्बुष्ठ कुल में उत्पन्न हुए थे। दूसरे वे कृष्णचैतन्य के अनन्य भक्त एवं परमवैष्णव थे। तीसरे किसी राजा के सभापण्डित होने का उल्लेख उनके सम्बन्ध में प्राप्त नहीं होता है। परमानन्ददास कवि कर्णपूर स्वयं एक सम्पन्न परिवार के विरक्त संन्यासी थे, अतः उन्हें किसी राजाश्रय की आवश्यकता ही नहीं थी। वस्तुतः 'वृत्तमाला' के रचयिता कवि कर्णपूर का साम्य 'संस्कृतपारसीकपदप्रकाशः' के रचयिता कवि कर्णपूर से स्थापित किया जा सकता है। सम्भवतः मल्लदेव की मृत्यु के पश्चात् (वृत्तमाला के रचयिता) कवि कर्णपूर ने जहाँगीर की राजसभा में सभासद का पद प्राप्त कर लिया हो।

---

१. कवि कर्णपूर, संस्कृतपारसीकपदप्रकाशः, १.

२. कवि कर्णपूर, वृत्तमाला, कामरूपसंस्कृतसञ्जीवनी सभा द्वारा प्रकाशित, १८५४ शकाब्द.

३. कविना कर्णपूरेण गुरुसन्मतकर्म्मणा।
मल्लदेवे महीपाले वृत्तमालेयमारचि॥ वही, ९२. पृ० ८४.

४. Gait, Barua & Murthy, History of Assam, p. 50-58.

.. आचार्य श्रीनिवास के शिष्य-रूप में कवि कर्णपूर नामक तृतीय व्यक्ति का परिचय 'प्रेमविलास' नामक ग्रन्थ में मिलता है[1] पूर्वोक्त कवि कर्णपूर का उल्लेख द प्रसिद्ध कविराजों में किया गया है—

श्रीरामचन्द्रगोविन्दकर्णपूरनृसिंहकाः भगवान् वल्लीदासो।
गोपीरमणगोकुलो कविराजा इमे ख्याता जयन्त्यष्टौ महीतले ॥[2]

उपर्युक्त उल्लिखित कवि कर्णपूर के साथ परमानन्ददास कवि कर्णपूर का सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। आचार्य श्रीनिवास अन्य कोई व्यक्ति नहीं हैं अपितु श्रीवासाचार्य हैं,[3] जो चैतन्य के अनन्य अनुयायी होने के साथ ही उच्चकोटि के विद्वान् भी थे। वस्तुतः चैतन्य के समस्त शिष्य श्रीवास को गुरुतुल्य मानते थे। बहुत सम्भव है कि परमानन्ददास कवि कर्णपूर ने भी कुछ समय के लिए उनके आश्रय में गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की शिक्षा ग्रहण की हो। क्योंकि कवि कर्णपूर के गुरु श्रीनाथ एवं श्रीवास दोनों ही 'कुमारहट्ट' निवासी थे। श्रीनाथ स्वयं चैतन्यभक्त होने के कारण श्रीवास और अद्वैताचार्य की गुरु तुल्य श्रद्धा करते थे। इसके अतिरिक्त 'प्रेमविलास' में उल्लिखित सभी कविराज चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी हैं तथा इनका उल्लेख कवि कर्णपूरकृत 'चैतन्यचरितामृतम्' 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' एवं 'गौरगणोद्देशदीपिका' में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। उपर्युक्त समानतायें इस तथ्य का प्रबल समर्थन करती हैं कि श्रीनिवासाचार्य के शिष्य कवि कर्णपूर ही परमानन्ददास कवि कर्णपूर हैं।

कवि कर्णपूर नामक चतुर्थ व्यक्ति का परिचय 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य के सम्पादक महोदय ने ग्रन्थ की भूमिका में दिया है।[4] उनके उल्लेखानुसार पूर्वोक्त कवि कर्णपूर बंगाल के वर्धमान जिला के 'खण्डघोष' नामक ग्राम के निवासी थे। इन्होंने जयदेव विरचित 'गीतगोविन्द' का बंगला में अनुवाद किया था। स्पष्ट है कि परमानन्द दास कवि कर्णपूर के साथ इनका ऐक्य किसी भी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता है।

विशारद के पुत्र तथा कविचन्द्र के पिता के रूप में कवि कर्णपूर नामक पाँचवे व्यक्ति का परिचय मिलता है। 'चिकित्सारत्नावली' नामक ग्रन्थ में

---

१. नित्यानन्ददास, प्रेमविलास, पृ० २७६.

२. वही, पृ० ३००.

३. Sen, D. C., Chaitany and His Campanion, p. 47.

४. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् (प्रस्तावना), पृ० ११

कविचन्द्र द्वारा प्रदत्त साक्ष्यों के अनुसार दत्तकुलोत्पन्न धीर गम्भीर काव्य-मर्मज्ञ एवं विद्याविनोदी विशारद नामक वैद्य के कवि कर्णपूर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। कवि कर्णपूर के पुत्र कविचन्द्र हुए, जिन्होंने नाना ग्रन्थों के सार रूप में 'चिकित्सारत्नावली' नामक ग्रन्थ की रचना शकसंवत् १५८३ अर्थात् १६६१ ई० में दीर्घाङ्गनामक नगर में की।[1] कविचन्द्र के दो पुत्रों—कविभूषण एवं कविवल्लभ का भी उल्लेख मिलता है। पूर्वोक्त कवि कर्णपूर का परमानन्ददास कवि कर्णपूर के साथ कोई ऐक्य है अथवा नहीं ? यह विचारणीय है। आधुनिक विद्वान् ऑफ्रेक्ट महोदय ने कविचन्द्र के पिता कवि कर्णपूर का ऐक्य परमानन्ददास कवि कर्णपूर के साथ स्थापित किया है।[2] किन्तु ऑफ्रेक्ट महोदय का उपर्युक्त कथन सम्भावना मात्र प्रतीत होता है। कारण, पूर्वोक्त दोनों कवि कर्णपूर सर्वथा पृथक् व्यक्ति हैं। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत तर्क विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) कविचन्द्र के पिता कवि कर्णपूर विशारद वैद्य के आत्मज है। परमानन्ददास कवि कर्णपूर शिवानन्दसेन के पुत्र हैं।

---

१. आसीद्वैद्यविशारदः सुरधुनीतीरे सुधीरे परे
श्रीमद्दत्तकुलाब्जभास्करो गाम्भीर्यधैर्याकरः।
हिण्डीरस्फुटपुण्डरीकपटलीकर्पूरपुरस्फुरत्
कीर्त्तिः काव्यविचारचारुचतुरो विद्याविनोदाह्वयः॥
तत्सूनुः कविकर्णपूरसुकृतीनानागुणालङ्कृती
तज्जातः कविचन्द्र एष सुधियो वैद्यानिदं याचते॥
नानातन्त्रकवीन्द्रसंग्रहगणं संवीक्ष्य यल्लिख्यते
तत्रास्तां भवतां सतां महिमतां धीरावधानच्छटा
संग्रह्य ग्रन्थसिन्धोर्गुरुकुलकृपया साररत्नानि यत्नै-
र्म्या रत्नावलीयं विमलगुणवतीगुम्फयतेऽस्माभिरेका
सा सद्वर्णविकीर्णा रुचिरतरपदा सम्यगर्थैरुपेता
राज्ञामाज्ञारतानां सदसि निवसतां राजतां चारुकण्ठे॥
'''गंगातरङ्गल्लसदङ्ग विहङ्गभृङ्गरङ्गस्फुरत्सततगुञ्जितमञ्जुलकुंजं।
दीर्घाङ्गनामनगरे कृतगुम्फनोऽयं ग्रन्थः कृशानुवसुवाणशशाङ्कशाके॥
कविचन्द्र, चिकित्सारत्नावली, Oriental Library of Asiatic Society of Bengal. Ms. No. 53 B. II.

२. Aufreech, T., Catalogus Catalogorum, Ms. No. 2129. Part I. p. 86.

(२) कविचन्द्र के पिता कवि कर्णपूर का सम्बन्ध दत्त परिवार से है। किन्तु परमानन्ददास कवि कर्णपूर सेनवंश से सम्बद्ध हैं।

(३) कविचन्द्र के पिता कवि कर्णपूर गृहस्थ व्यक्ति थे। किन्तु परमानन्ददास कवि कर्णपूर के गृहस्थ होने का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है।

(४) कविचन्द्र ने अपनी अन्य रचना 'काव्यचन्द्रिका' में 'कविकल्पलता', 'स्तवावली', 'पुरुषोत्तम', 'साहित्यदर्पण', 'रामचन्द्रचम्पू', 'रत्नावली', 'शक्तिचन्द्रिका' तथा अपनी दो रचनाओं—'सारलहरी' एवं 'धातुचन्द्रिका' का उल्लेख किया है।[१] यदि कविचन्द्र परमानन्ददास कवि कर्णपूर के पुत्र होते, ऐसी स्थिति में वे अवश्य ही अपने विद्वान् पिता की किसी कृति का उल्लेख करते।

उपर्युक्त तर्क इस पक्ष में है कि कविचन्द्र के पिता कवि कर्णपूर और परमानन्ददास कवि कर्णपूर सर्वथा दो भिन्न व्यक्ति हैं जिन्हें भ्रमवश आँफ्रेक्ट महोदय ने एक व्यक्ति समझ लिया है।

'वर्णप्रकाश' ग्रन्थ के कर्ता के रूप में कवि कर्णपूर नामक एक अन्य व्यक्ति का परिचय उपलब्ध होता है। प्राप्य हस्तलिपि के अनुसार कवि कर्णपूर ने 'वर्णप्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना त्रिपुरा के राजा अमर माणिक्य के पुत्र राजधर के लिए की थी।[२] महामहोपाध्याय हरिप्रसाद शास्त्री ने उपर्युक्त कवि कर्णपूर का उल्लेख किया है।[३] निश्चय ही अमरमाणिक्य के राज्याश्रित होने के कारण उनका समय भी अमरमाणिक्य का

---

१. De, S. K., Sanskrit Poetic, p. 256

२. पुरन्दर पुरीवान्या धन्यास्ति त्रैपुरी पुरी
सोमसन्तानसम्भूतः पुरुहूत इवापरः।
तस्या अमरमाणिक्यनामाभून्नृपनायकः॥
कमलानन्दितोऽनन्त कैरवक्रमकारिणः।
सर्व एवाभवन् शूराः पीरा यस्य प्रभावतः॥
हिते रतः समस्तानां भूतानां भूतिभूषितः।
तस्य राजधरो नामसूनः स्याणुरिवाजनि॥
शब्दशास्त्रातिशूरेण कर्णपूरेण सूरिणा।
अयं तस्यानुबन्धेन निबन्धः क्रियते मया॥
Oriental Library of Asiatic Society of Bengal. Ms. No. 328.

३. Descriptive Catalogus of Sanskrit Mss. in oriental Library of Asiatic Society of Bengal. Vol. VI (preface), P. Clii

शासनकाल होगा। ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार त्रिपुरा के राजा अमर-माणिक्य देवमाणिक्य के सुपुत्र थे। देवमाणिक्य के ज्येष्ठपुत्र विजयमाणिक्य की मृत्यु के पश्चात् क्रमशः उनके पुत्रों—उदयमाणिक्य एवं जयमाणिक्य ने सिंहासन को अलंकृत किया। तदनन्तर अमरमाणिक्य सिंहासनारूढ़ हुए। ऐतिहासिकों के अनुसार विजयमाणिक्य का शासनकाल १५४८ ई० से लेकर १५६४ ई० पर्यन्त था। तदनन्तर उनके दोनों पुत्रों ने सिंहासन को अलंकृत किया, तत्पश्चात् अमरमाणिक्य ने। अमरमाणिक्य का शासन काल लगभग १५८० ई० से लेकर १५८७ ई० तक का अल्प समय रहा है।[1] उसके पश्चात् उसका पुत्र राजधर का शासनकाल आता है। इस प्रकार अमरमाणिक्य के समयानुसार 'वर्णप्रकाश' के कर्ता कवि कर्णपूर का समय १६ वीं शताब्दी का मध्यकाल तथा उत्तरार्द्ध रहा होगा। परमानन्ददास कवि कर्णपूर का समय भी लगभग यही है। किन्तु 'वर्णप्रकाश' के रचयिता कवि कर्णपूर और परमानन्ददास कवि कर्णपूर एक ही व्यक्ति हैं, ऐसा कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। 'वर्णप्रकाश' से भी इस सम्बन्ध में कोई सहायता नहीं मिलती है। क्योंकि पूर्वोक्त ग्रन्थ में कहीं पर भी कवि ने कृष्ण अथवा चैतन्य के प्रति भक्तिभाव प्रदर्शित नहीं किया है। किन्तु परमानन्ददास कवि कर्णपूर चैतन्य अथवा कृष्ण के अनन्य भक्त हैं। उनकी समस्त कृतियों में कृष्ण अथवा चैतन्य इष्ट देवता के रूप में विद्यमान हैं। अतएव यही विचार अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है कि दोनों कवि कर्णपूर भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

कवि कर्णपूर का काल-निर्णय

चैतन्य महाप्रभु के समसामयिक होने के कारण कवि कर्णपूर का समय संदिग्ध नहीं हैं। उनकी कृति से प्राप्त होने वाले अन्तरंग एवं अन्य बाह्य साक्ष्यों से उनके जन्मकाल पर भी ईषत् प्रकाश पड़ जाता है।

अन्तरंगप्रमाण

कवि कर्णपूर ने अपनी कृति 'चैतन्यचरितामृतम्' में उल्लिखित किया है कि इस ग्रन्थ का सृजन करने वाला कवि 'शिशु' है, यथा—

आशैशवं प्रभुचरितविलासविज्ञैः
केश्चिन्मुरारिरिति मञ्जुलनामधेयैः।

१. Long, R. J., Analysis of the Bengali Poem Rajmala or Chronicles of Tripura, Journal of Asiatic Society of Bengal, Vol. XIX, 1850, p. 548.

यद्यद्विलासललितं समलेखि तज्ज्ञै-
स्तत्तद्विलोक्य विलिलेख 'शिशुः' स एषः ॥[1]

उपर्युक्त साक्ष्यानुसार इस ग्रन्थ के निर्माण के समय कवि कर्णपूर की शैशवावस्था थी। शब्दकोषानुसार शैशवावस्था जन्म से लेकर षोड़श वर्ष पर्यन्त होती है। 'चैतन्यचरितामृतम्' का रचनाकाल कवि कर्णपूर के अनुसार—

वेदारसाः श्रुतय इन्दुरिति प्रसिद्धे
शाके तथा खलु शुचौ सुभगे च मासि।
वारे सुधाकिरणनाम्न्यशितद्वितीया-
तिथ्यन्तरे परिसमाप्तिरभूदमुष्य ॥[2]

अर्थात् (शक-संवत् १४६२) १५४२ ई० है।

इस प्रकार कवि कर्णपूर का जन्मकाल (१५४२–१६) १५२६ ई० प्रमाणित होता है।

(२) ढाका विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से प्राप्त होने वाली 'चैतन्यचरितामृतम्' की हस्तलिपि (सं० २३८९) में उसके लिपिकार विष्णुदास ने (इन्होंने स्वयं को रूपगोस्वामी का सेवक कहकर आत्मपरिचय दिया है) उल्लिखित किया है कि "चैतन्यचन्द्रचरितामृतं अद्भुताभैर्द्वयष्टाब्दिकैर्विरचितम् कविकर्णपूरैः" ।[3] उपर्युक्त साक्ष्य अनुसार इस ग्रन्थ के निर्माण के समय कवि कर्णपूर की अवस्था १६ वर्ष की थी। इस प्रकार उपर्युक्त साक्ष्यानुसार भी कवि कर्णपूर का जन्मकाल १५२६ ई० (१५४२ ई०–१६) सिद्ध होता है।

बहिरंग प्रमाण—

कृष्णदास कविराज विरचित 'चैतन्यचरितामृतम्' में नीलाचल में चैतन्य और कवि कर्णपूर के मिलाप की घटना का वर्णन किया गया है। उल्लेखानुसार कवि कर्णपूर ७ वर्ष की अवस्था में महाप्रभु चैतन्य से मिले थे।[4] इस

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २०।४२.

२. वही, २०।४९.

३. उपर्युक्त उल्लिखित हस्तलिपि का संकेत डा० दे ने अपने ग्रन्थ—The Early History of The Vaisnava Faith And Movement in Bengal, (p. 33) में दिया है।

४. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, ३।१६।६८–६९.

घटना का उल्लेख कृष्णदास कविराज नें चैतन्य की अन्तिम लीला वाले अध्याय में किया है। कृष्णदास कविराज ने पूर्वोक्त घटना के उपरान्त चैतन्य लीला का उपसंहार करतें हुए उनके दो वर्षों के शेष जीवन का वर्णन किया है। चैतन्य का निर्वाणकाल ऐतिहासिक साक्ष्योंके अनुसार १५३३ ई० है।[1] इस प्रकार अनुमानतः कवि कर्णपूर ने चैतन्य महाप्रभु से १५३१ ई० के लगभग साक्षात्कार किया होगा। इसलिए वह उनके निर्वाण के समय लगभग ९ वर्ष के रहे होंगे। अतएव उनका जन्मकाल (१५३३–९) १५२४ ई० निश्चित होता है।[2]

(२) कवि कर्णपूर के टीकाकार श्रीवृन्दावन चक्रवर्ती के उल्लेखानुसार कवि कर्णपूर ने ५ वर्ष की अवस्था में चैतन्य का प्रत्यक्षदर्शन किया था।[3] इस प्रकार चैतन्य निर्वाण काल के समय उनकी अवस्था ७ वर्ष की सिद्ध होती है। तदनुसार उनका जन्मकाल (१५३३ ई० + ७) १५२६ ई० प्रमाणित होता है।[4]

---

१. A—De. S.K., The Early History of The Vaisnava Faith And Movement in Bengal, p. 76.

B—Sen. D. C., Chaitany and His Age, p. 259.

२. आधुनिक विद्वान् राजेन्द्रलाल मित्रा महोदय के अनुसार भी कवि कर्णपूर चैतन्य की निर्वाणयात्रा के समय ९ वर्ष के थे (राजेन्द्रलाल मित्रा, चैतन्यचन्द्रोदयम् , भूमिका, पृ० ६.)। श्रीयुत् रासविहारी सांख्यतीर्थ के अनुसार कवि कर्णपूर ७ वर्ष की अवस्था में चैतन्य से मिले थे अर्थात् उनकी निर्वाणयात्रा के समय ९ वर्ष के थे। (रासविहारी सांख्यतीर्थ, 'वैष्णव साहित्य', बंगीय साहित्य सम्मेलन—काशिम बाजार का सम्पूर्ण विवरण, पृ० १७९)। मित्रा एवं सांख्यतीर्थ महोदय ने अपने मत के आधार का उल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः उनके मत का आधार उपर्युक्त मत ही रहा होगा।

३. कवि कर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू, सुखवर्तिनी टीका (पण्डित ओल्ड सीरिज भाग–९), पृ० १०८

४. बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् जगद्बन्धुभद्र तथा नगेन्द्र वसु महोदय भी कवि कर्णपूर का जन्मकाल १५२६ ई० स्वीकार करते हैं। जगद्बन्धुभद्र के कथनानुसार चैतन्य की अप्रकट लीला के ७ वर्ष पूर्व कवि कर्णपूर का जन्म हो चुका था (गौरपदतरङ्गिणी, प्रथम संस्करण, पृ० ५१) नगेन्द्र वसु महोदय के अनुसार

यदि किञ्चित् क्षणों के लिए कवि कर्णपूर का जन्मकाल १५२६ ई० स्वीकार कर लिया जाये, ऐसी स्थिति में कवि कर्णपूर द्वारा स्वयं को

शिवानन्दसेन पंचवर्षीय कवि कर्णपूर को चैतन्य के सम्मुख ले गये थे (नगेन्द्र वसु, विश्वकोष, खण्ड तृतीय, पृ० ३३९)। उपर्युक्त कथनानुसार चैतन्य की अप्रकट लीला के समय कवि कर्णपूर की आयु ७ वर्ष की होगी। फलस्वरूप उनका जन्मकाल (१५३३ ई०-७) १५२६ ई० स्थिर होता है। किन्तु पूर्वोक्त दोनों ही विद्वानों ने अपने मत के आधार का उल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः उनके कथन का आधार कवि कर्णपूर के टीकाकार वृन्दावन चक्रवर्ती का ही उपर्युक्त कथन हो। किन्तु श्रीयुत अतुलकान्त घोष इस तथ्य से सहमत नहीं हैं कि कवि कर्णपूर ने ७ या ८ वर्ष की आयु में चैतन्य का साक्षात्कार किया होगा। उनके मतानुसार उस समय उनकी आयु पूर्वोक्त आयु से अधिक होनी चाहिए (गौरपदतरङ्गिणी, द्वितीय संस्करण, प्रस्तावना, पृ० १९६)। कारण, महाप्रभु की अप्रकट लीला (१५३३ ई०) के पश्चात् अर्थात् अद्वैताचार्य के अतिरिक्त सभी भक्तों ने चैतन्य का अनुसरण अर्थात् जीवन लीला का समापन कर दिया था। यदि कवि कर्णपूर उस समय ८ या ९ वर्ष के थे, ऐसी अवस्था में यह कैसे सम्भव हो सकता है कि कवि कर्णपूर ने चैतन्य महाप्रभु तथा उनके भक्तों के साथ सहवास तथा गोष्ठी लाभ किया होगा ? अष्टवर्षीय बालक चैतन्य कथा के गूढ़ रहस्यों को किस प्रकार हृदयङ्गम कर सकता है ? कवि कर्णपूर के स्वकथित साक्ष्यों के अनुसार उन्होंने चैतन्य के भक्तों का प्रत्यक्ष दर्शन तथा उनके मुख से चैतन्य कथा का श्रवण किया था। (कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, १०।७६ अन्तिम श्लोक)। अतएव उस समय कवि कर्णपूर की अवस्था अवश्य ही ७ या ८ वर्ष से अधिक होगी। यदि घोष महोदय के उपर्युक्त मत को स्वीकार कर लिया जाये, ऐसी स्थिति में यह समस्या उठती है कि उस समय अन्ततः कवि कर्णपूर कितने वर्ष के थे ? पूर्वोक्त समस्या के निराकरण के अभाव में घोष महोदय की सम्भावना स्वयमेव निरस्त हो जाती है। इसी प्रकार हरिप्रसाद शास्त्री ने चैतन्य की अप्रकट लीला के समय कवि कर्णपूर की आयु १२ वर्ष स्वीकार की है (Shastri, H, P., Notices of Sanskrit Mss, Second series. Vol. II, 1 04, Preface, P. 8) इस प्रकार शास्त्री के अनुसार कवि कर्णपूर का जन्मकाल (१९३३ ई०-१२) १५२१ ई० निश्चित होता है। किन्तु शास्त्री ने अपने उपर्युक्त सम्भावना के समर्थन में किसी प्रामाणिक साक्ष्य का उल्लेख नहीं किया है।

'शिशु' कहने वाली बात सर्वथा उचित प्रतीत होने लगती है। किन्तु दूसरी ओर कृष्णदास कविराज के इस वक्तव्य—अर्थात् 'कवि कर्णपूर ने ७ वर्ष की अवस्था में चैतन्य महाप्रभु का साक्षात्कार किया था'—का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। क्योंकि १५३३ ई० में महाप्रभु परलोक गमन कर चुके थे; ऐसी अवस्था में (१५२६ ई० + ७) १५३३ ई० कवि कर्णपूर का चैतन्य के साथ मिलाप किस प्रकार सम्भव हो सकता है? कवि कर्णपूर चैतन्य महाप्रभु से मिले अवश्य थे, यह घटना ऐतिहासिक सत्य है। इसका उल्लेख स्वयं कवि कर्णपूर ने भी किया है।[1] यदि कृष्णदास कविराज के वक्तव्य को सत्य मान लिया जाये, ऐसी स्थिति में कवि कर्णपूर द्वारा स्वयं को 'शिशु' कहना असंगत प्रतीत होता है। किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर कवि द्वारा स्वयं को 'शिशु' कहने का आशय उसकी सांसारिक अनभिज्ञता एवं शिशुसुलभ चपलता से प्रतीत होता है। द्वितीयतः कविगण सदैव से अपनी दीनता एवं विनम्रता के प्रकाशनार्थ शिशु, बाल, दीन, अज्ञ, अल्पमति आदि विशेषणों का प्रयोग करते आये हैं। 'रघुवंश' जैसे काव्य-रत्न के स्रष्टा कालिदास ने अपनी विनम्रता का प्रकाशन स्वयं को अल्पमति एवं मन्दमति कहकर किया है।[2] जब कालिदास जैसे लब्ध प्रतिष्ठ महाकवि ने स्वयं को मन्दबुद्धि कहकर अपनी विनम्रता का प्रकाशन किया है तथा वहाँ इस प्रकार का विशेषण उनकी विनम्रता का सूचक माना जाता है। ऐसी अवस्था में भक्त कवि द्वारा स्वयं को 'शिशु' कहना उसकी विनम्रता का ही सूचक है, अवस्था विशेष का नहीं। 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' नाटक में कवि कर्णपूर ने स्वयं को 'बाल' कहा है,[3] किन्तु इस रचना के समय कविकर्णपूर पूर्णतः वयस्क थे।

कवि कर्णपूर के जन्मकाल के सम्बद्ध में १५२६ ई० के विपक्ष में प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त तर्कों का यह आशय कदापि नहीं है कि १५२६ ई० की

---

१. कवि कर्णपूर चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १८४–१८६।

२. क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषयामतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥
मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥
कालिदास, रघुवंशम्, १।२, ३

३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, १०।७७ (अन्तिम श्लोक)

अपेक्षा १५२४ ई० वाला मत अधिक उपयुक्त है। क्योंकि यह मत भी प्रायः अनुमान पर ही आधारित है। प्रथमतः ७ वर्ष की अवस्था में चैतन्य से मिले होंगे, यह वक्तव्य सत्य हो सकता है, किन्तु चैतन्य की निर्वाण-यात्रा से दो वर्ष पूर्व ही मिले थे, यह तथ्य पूर्णतः अनुमान पर आधारित है। द्वितीयतः कवि कर्णपूर कृष्णदास कविराज से पूर्ववर्ती थे। कृष्णदास कविराज ने १६१५ ई० के लगभग इन घटनाओं को उपनिबद्ध किया है। वे स्वयं इस घटना के समय उपस्थित नहीं थे। ऐसी दशा में कवि कर्णपूर ने ७ वर्ष की अवस्था में चैतन्य का साक्षात्कार किया था। उनका यह वक्तव्य स्वयं अनुमान अथवा जनश्रुति पर आधारित होगा। अतएव कृष्णदास कविराज प्रदत्त आयु की सीमा ध्रुव सत्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अतीत की घटनाओं के सम्बन्ध में दो एक वर्षों का अन्तर हो जाना कोई असम्भव नहीं है।

इस प्रकार १५२४ ई० और १५२६ ई० दोनों ही तिथियों में से एक तिथि कवि कर्णपूर के जन्मकाल की वास्तविक तिथि है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। हाँ, इन साक्ष्यों से इतना अवश्य निश्चित हो जाता है कि कवि कर्णपूर का जन्मकाल १५२४ ई० अथवा १५२६ ई० के आसपास रहा होगा।[1]

---

१. आधुनिक विद्वान् डा० दे (The Early History of The Vaisnava faith And Movement in Bengal, p. 33), राजेन्द्रलाल मित्रा (चैतन्यचन्द्रोदयम्, भूमिका, पृ० ६), कृष्णामाचारी (History of Classical Sanskrit Literature, p. 289), ऑफ्रेक्ट (Catalogus catalogorum, Part I, p. 86) एवं हरिमोहन प्रामाणिक (भारतवर्षीय कविदिगेर समयनिरूपण, पृ० ११६) महोदय कवि कर्णपूर का जन्मकाल १५२४ ई० स्वीकार करते हैं। जगद्बन्धुभद्र (गौरपदतरङ्गिणी, प्रथम संस्करण, पृ० ५१) एवं नगेन्द्रवसु (विश्वकोष, खण्ड तृतीय, पृ० ३३९) ने कवि कर्णपूर का जन्मकाल १५२६ ई० स्वीकार किया है। डा० सेन ने अपने ग्रन्थ (Vaisnava Literature of Medieaval Bengal, P. 72) में कवि कर्णपूर का जन्मकाल १५२७ ई० तथा एक अन्य ग्रन्थ (Chaitanya and His Age, p. 117) में १५२८ ई० स्वीकार किया है। किन्तु पूर्वोक्त किसी भी विद्वान् ने अपने मत के आधार का उल्लेख नहीं किया है।

तृतीय अध्याय

कवि कर्णपूर की कृतियाँ—एक संक्षिप्त परिचय

कवि कर्णपूर की बहुमुखी प्रतिभा ने साहित्य की समस्त सरणियों को समृद्ध बनाया है। उनके द्वारा विरचित ग्रन्थों को निम्नलिखित श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

१. महाकाव्य—चैतन्यचरितामृतम् एवं पारिजातहरणम्
२. खण्डकाव्य—आर्याशतकम्, कृष्णाह्निककौमुदी, स्तवावली, श्रीकृष्ण-चैतन्यसहस्रनामस्तोत्र एवं स्फुट पद (बंगला एवं संस्कत में)
३. नाटक—चैतन्यचन्द्रोदयम्
४. चम्पू—आनन्दवृन्दावनचम्पू
५. लक्षणकाव्य—अलंकारकौस्तुभः
६. साम्प्रदायिक ग्रन्थ—गौरगणोद्देशदीपिका, बृहत्कृष्णगणोद्देश दीपिका एवं श्रीमद्भागवत की टीका
७. सन्दिग्धकर्तृत्व वाली रचनाएँ—चमत्कारचन्द्रिका एवं कृष्णकौतुकम्

महाकाव्य

चैतन्यचरितामृतम्

चैतन्यचरितामृतम् कवि कर्णपूर की किशोरावस्था की अभूतपूर्व कृति है।[1] ग्रन्थ के कर्तृत्व एवं रचनाकाल के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है।

---

१. चैतन्यचरितामृतम् सर्वप्रथम १८८४ ई० में श्रीयुक्त शिशिर कुमार घोष, केदारनाथ दत्त एवं दुर्गादास के अत्यधिक अनुरोध पर बंगला अनुवाद के साथ बंगलिपि में मुर्शिदाबाद से प्रकाशित किया गया था। तदनन्तर उसका द्वितीय संस्करण १९२५ ई० में प्रकाश में आया। द्वितीय संस्करण में भी इतस्ततः अशुद्ध पाठ प्राप्त होने के कारण उसका संशोधन सरस्वती भवन पुस्तकालय वाराणसी (हस्तलिपि सं० ४०४५९, ४२३९७) एवं ऐशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल (हस्तलिपि सं० III E 205) से उपलब्ध होने वाली हस्तलिपि के आधार पर किया गया है। उद्धरण संशोधित पाठ से ही दिये गये हैं। 'चैतन्यचरितामृतम्' की अन्य हस्तलिपियों के लिए New Catalogus Catalogorum (Madras University. vol. VII. का पृ० ७७ द्रष्टव्य है।

इस समस्या का निराकरण स्वयं कवि ने कर दिया है; यथा—

इह परमकृपालोर्गौरचन्द्रस्य कोऽपि—
प्रणयरसशरीरः श्री शिवानन्दसेनः।
भुवि निवसति तस्यापत्यमेकं कनीय—
स्त्वकृत परममौग्ध्याच्चित्रमेतं प्रबन्धम् ॥[1]

कविप्रदत्त उपर्युक्त साक्ष्य से स्पष्ट है कि यह शिवानन्दसेन के कनिष्ठ आत्मज की कृति है। शिवानन्दसेन के कनिष्ठ पुत्र 'परमानन्ददाससेन कविकर्णपूर ही हैं, यह विगत अध्याय में प्रमाणित किया जा चुका है। १८ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध चैतन्य सम्प्रदायी लेखक नरहरि चक्रवर्ती ने 'चैतन्यचरितामृतम्' को कविकर्णपूर की रचना के रूप में उल्लिखित करके उपर्युक्त कथन को प्रामाणिक सिद्ध कर दिया है।[2] आधुनिक विद्वान् भी 'चैतन्यचरितामृतम् को कविकर्णपूर की ही रचना स्वीकार करते हैं।[3] अतएव ग्रन्थ के कर्तृत्व के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के सन्देह का अवकाश नहीं रह जाता है। 'चैतन्यचरितामृतम्' का रचनाकाल कवि कर्णपूर के वक्तव्य से स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है, यथा—

वेदा रसाः श्रुतय इन्दुरितिप्रसिद्धे
शाके तथा खलु शुचौ सुभगे च मासि।
वारे सुधाकिरणनाम्न्यसितद्वितीया-
तिथ्यन्तरे परिसमाप्तिरभूदमुष्य ॥[4]

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २४।४६.

२. नरहरि चक्रवर्ती ने 'भक्तिरत्नाकर' के पृ० ४८२ पर महाकाव्य का २।२४ तथा पृ० ५३४ पर ५।१२८, १२९ वें श्लोक को उद्धृत किया है।

३. केवल केदारनाथदत्त (सज्जनतोषणी, भाग २, कलकत्ता, १८८५ ई०) अतुलकान्त गोस्वामी (वृन्दावनदास, चैतन्यभागवत द्वितीय संस्करण, परिशिष्ट, पृ० ४१,४४) एवं श्री निशिकान्त सन्याल (श्रीकृष्णचैतन्य, भाग—१, पृ० २५) ने चैतन्यचरितामृतम्' को कविकर्णपूर के ज्येष्ठ भ्राता चैतन्यदास की रचना स्वीकार की है। पूर्वोक्त किसी भी विद्वान् ने अपने उपर्युक्त निर्णय के आधार के सम्बन्ध में कोई भी साक्ष्य नहीं दिया है। किन्तु उनका यह मत कविकर्णपूर के स्वयं के साक्ष्य से बिना तर्क के स्वयमेव धराशायी हो जाता है।

४. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २०।४९.

उपर्युक्त साक्ष्यानुसार 'चैतन्यचरितामृतम्' का रचनाकाल शक-संवत् १४६४ अर्थात् १५४२ ई० प्रमाणित होता है।[1]

'चैतन्यचरितामृतम्' पर दो टीकाएँ उपलब्ध हैं—प्रथम वृन्दावनचन्द्र-तर्कालंकार की 'विष्णुप्रिया'[2] और द्वितीय नित्यानन्दाधिकारी की 'गौर-भक्त-विनोदिनी'।[3] द्वितीय टीका अपूर्ण है।

'चैतन्यचरितामृतम्' महाकाव्य २० सर्गों में विभाजित है तथा उसमें कुल १६११ श्लोक उपलब्ध हैं। मुरारि गुप्त के 'श्रीकृष्ण चैतन्यचरितामृतम्' तथा 'श्रीमद्भागवत' पुराणादि से भी कुछ श्लोक उद्धरण रूप में प्रयुक्त किये गये हैं। महाकाव्य के २० सर्गों में कवि कर्णपूर ने चैतन्य महाप्रभु के ४७ वर्षों के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को छन्दोबद्ध करने का प्रयास किया है। प्रारम्भ के दश सर्गों में महाप्रभु चैतन्य के जन्म से लेकर संन्यासग्रहण के पूर्व की कथा वर्णित है तथा एकादश से लेकर विंशति सर्ग पर्यन्त संन्यास ग्रहण से लेकर मृत्यु पर्यन्त की घटनाएँ उपनिबद्ध हैं। चैतन्य का जीवनचरित प्रस्तुत करते समय कवि कर्णपूर एक इतिहासकार की अपेक्षा भक्त अधिक प्रतीत होते हैं। किन्तु चैतन्य के अन्य चरित लेखकों की अपेक्षा कवि कर्णपूर के महाकाव्य में कल्पना और ऐतिहासिकता का सन्तुलित समन्वय प्राप्त होता है। यद्यपि चैतन्यचरितामृतम्' कवि

१. डा० दिनेशचन्द्र सेन महोदय ने 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' के साथ ही 'चैतन्यचरितामृतम्' का रचनाकाल भी १५७२ ई० स्वीकार किया है। (The poem Chaitanyacharita and the drama Chaitanyachandrodaya were both completed in year 1572 A. D. vaisnava Literature of Medieaval Bengal, p. 72). इसी प्रकार डा० रत्नकुमारी ने भी 'चैतन्यचरितामृतम्' का रचनाकाल 1570 ई० स्वीकार किया है (१६वीं शताब्दी के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि—तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ६३)। दोनों ही विद्वानों ने अपने मत के आधार का उल्लेख नहीं किया है; किन्तु कवि प्रदत्त प्रामाणिक साक्ष्य होने के कारण पूर्वोक्त कथन की अनौचित्यता स्वयमेव प्रकट हो जाती है।

२. A Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the library of the Calcatta Sanskrit College, Vol. X. B. 41.

३. A Triennial Catalogue of Manuscripts Collected for the Government Oriental Manuscripts library Madras, R.No. 30 1 3

कर्णपूर की प्रारम्भिक रचना होने के कारण भावपक्ष एवं काव्यसौष्ठव की दृष्टि से अधिक प्रौढ़ नहीं है। अतएव उसकी गणना कवि कर्णपूर की उत्कृष्ट रचनाओं में नहीं की जा सकती है तथापि एक किशोर बालक के लिए (जिसने बौद्धिक विकास की दृष्टि से स्वयं को 'शिशु' स्वीकार किया है[२]) यह ग्रन्थ अभूत पूर्व सफलता है। कवि ने भक्तिपरक कथानक का चयन करके भी उसे संस्कृत महाकाव्य की परम्परागत शैली में उपनिबद्ध करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष द्वारा प्रशस्त मार्ग का अनुसरण करके कवि ने अपने महाकाव्य में चित्रबन्धों की योजना की है। आर्याछन्द के अतिरिक्त संस्कृत के प्रायः सभी प्रसिद्ध छन्दों का सफलता पूर्वक विन्यास इसमें किया गया है। 'चैतन्यचरितामृतम्' की सफलता के सम्बन्ध में कविकर्णपूर का विश्वास था कि यद्यपि (आलंकारिक दृष्टिकोण से अनेक त्रुटियों से पूर्ण) उनकी यह कृति साहित्यिक जगत् में विशिष्ट स्थान प्राप्त नहीं कर सकेगी और उनका उद्यम व्यर्थ हो सकता है; तथापि गौराङ्ग महाप्रभु के चरित का वर्णन होने के कारण वह हास्यास्पद कदापि नहीं होगी। उससे कवि के सौभाग्य का उदय अवश्य होगा।[१] चैतन्य देव का चरित आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक-त्रिविध ताप का हरण करने वाला है, अतएव उनके भक्त कवि की त्रुटियों की आलोचना करने की अपेक्षा भक्तिपूर्वक इस रमणीय प्रबन्ध का आस्वादन करेंगे।[३] प्रभु का चरित उपनिबद्ध होने के कारण 'चैतन्यचरितामृतम्' संसार सागर को उत्तीर्ण करने में उनका सहायक होगा, ऐसा कवि का अटल विश्वास था।[४]

पारिजातहरणम् महाकाव्य

'पारिजातहरणम्' महाकाव्य का सर्वप्रथम प्रकाशन 'मिथिला विद्यापीठ ग्रन्थ माला दरभंगा' से १९५६ ई० में हुआ है; जिसका सम्पादन मैथिली में प्राप्त एक हस्तलिपि के आधार पर किया गया है।[५] सम्पादक महोदय की

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २०।४२.

२. वही, १।११.

३. वही, २०।४२.

४. वही, २०।४४.

५. मिथिला विद्यापीठ दरभंगा, हस्तलिपि सं० ५८०।४९०

सूचनानुसार प्राप्य हस्तलिपि के दो सर्ग (द्वितीय एवं पञ्चम) तथा कुछ श्लोक काल के गर्त में विलुप्त हो चुके हैं। पूर्वोक्त हस्तलिपि का सम्पूर्ण परिचय सम्पादक महोदय ने मुद्रित ग्रन्थ की भूमिका में प्रस्तुत किया है।[1] विद्वानों की दृष्टि से अद्यावधि उपेक्षित होने के कारण पूर्वोक्त महाकाव्य के कर्तृत्व और काल की समस्या संदिग्ध है। अतएव इन समस्याओं पर अपेक्षित प्रकाशनिक्षेपण सर्वथा समीचीन होगा।

मुद्रित ग्रन्थ में कहीं पर भी ग्रन्थकर्ता ने अपना परिचय नहीं दिया है। अन्तिम सर्ग के अन्तिम श्लोक विलुप्त हैं। सम्भवतः कवि ने अन्तिम श्लोकों में अपना किञ्चित् परिचय प्रस्तुत किया हो। प्रत्येक सर्ग की समाप्ति पर कवि ने 'शार्दूलविक्रीडित छन्द में अपने नाम का उल्लेख अवश्य किया है, यथा—

स्वान्तध्वान्तविधूननं प्रणमतां दीर्घादरं ध्यायता,
धन्यं किञ्चन हृद्गतं नवजवासिन्दूरसान्द्रं महः।
धीरश्रीकविकर्णपूरकृतिना कौतूहलान्निर्मिते—
काव्ये चारुणि पारिजातहरणे सर्गस्तृतीयो ययौ॥

प्रस्तुत श्लोक से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि इस ग्रन्थ के प्रणेता कवि कर्णपूर हैं। किन्तु संस्कृत साहित्य में कवि कर्णपूर नामक अनेक व्यक्तियों का परिचय मिलता है, जिनका उल्लेख विगत (द्वितीय) अध्याय में किया जा चुका है। पारिजातहरणम्' महाकाव्य के रचयिता कौन से कवि कर्णपूर है? यह विवाद का प्रश्न हो सकता है। प्रस्तुत 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य के कर्ता परमानन्ददास सेन कवि कर्णपूर नहीं हैं, इस प्रकार की सम्भावना करने वाले विद्वानों की चार प्रमुख आपत्तियाँ हो सकती हैं; यथा—

(१) गौड़ीय वैष्णव भक्त अपने साहित्य में कृष्ण की गोकुल व वृन्दावन की माधुर्य लीलाओं को ही स्थान देते हैं, कृष्ण की द्वारकालीला को नहीं। यदि द्वारकालीला का वर्णन किया भी जाता है, उस स्थिति में उसका प्राधान्य वृन्दावनलीला से नहीं उपनिबद्ध किया जाता है। कारण, चैतन्य-सम्प्रदाय की आस्था कृष्ण की माधुर्योपासना में है, ऐश्वर्योपासना में नहीं। 'पारिजातहरणम्' में कृष्ण को व्रजलीला का संकेत कहीं नहीं मिलता

१. श्रीमदनन्तलालदेवशर्मा (सम्पादक), पारिजातहरणम्, प्रस्तावना, पृ० ७–८.

है। इसके विपरीत कृष्ण के ऐश्वर्यावेश अर्थात् राक्षसवधादि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

(२) 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में नायक (कृष्ण) को दृढ़ परिश्रमी, तेजस्वी युद्धप्रिय तथा धीरोदात्त रूप में पुराणों की भाँति चित्रित किया गया है।

(३) 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में शिव एवं कालिका देवी का उल्लेख किया गया है।

(४) 'पारिजातहरणम्' के रचयिता ने प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में गणेश की स्तुति की है (नवजदासिन्दूरसान्द्रं महः)।

प्रथम शंका का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि यद्यपि यह सत्य है कि गौड़ीयवैष्णव सम्प्रदाय की कृष्ण की माधुर्योपासना में ही दृढ़ आस्था है, किन्तु वहाँ पर कृष्ण के ऐश्वर्य रूप की सर्वथा उपेक्षा नहीं की गई है। कारण, कृष्ण की वृन्दावन-लीला में ही पूतनावध, तृणावर्तवध आदि कथाएँ कृष्ण के ऐश्वर्य रूप का संकेत देती हैं। यदि ऐश्वर्यभाव नितान्त उपेक्षित होता, उस अवस्था में रूपगोस्वामी के 'हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु' जैसे ग्रन्थ में वीर रस भक्तिरस के अन्तर्गत प्रतिष्ठित कदापि न किया जाता। कृष्ण की माधुर्यपूर्ण लीलाएँ जहाँ भक्तों के हृदय को प्रेमाप्लावित करती हैं, वही उनका ऐश्वर्य रूप भक्तों को सांसारिक दुःखों से सुरक्षा प्रदान करता है। एक भक्त को अपने इष्टदेव के दोनों ही रूप स्वीकृत हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त रूपगोस्वामी ने अपने 'ललितमाधव' नाटक में कृष्ण की वृन्दावन-लीला के साथ ही द्वारकालीला का भी संकेत दिया है। जीवगोस्वामी विरचित 'गोपालचम्पू' में कृष्ण की द्वारकालीला का वर्णन उपलब्ध है। रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी की गणना विशुद्ध गौड़ीय-वैष्णवभक्तों एवं 'वृन्दावन के षड्गोस्वामी' वर्ग में की जाती है। उनकी पूर्वोक्त कृतियों के सम्बन्ध में विद्वानों को कोई आपत्ति नहीं है। यदि कृष्ण की द्वारकालीला के आधार पर कवि कर्णपूर के 'पारिजातहरणम्' के कर्तृत्व के सम्बन्ध में इस प्रकार की आपत्ति उपस्थित की जाती है, ऐसी स्थिति में रूपगोस्वामी एवं जीवगोस्वामी के पूर्वोक्त ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी यही आपत्ति होनी चाहिए? गौड़ीय वैष्णव भक्त होकर रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी कृष्ण की द्वारकालीला का उपनिबन्धन कर सकते थे, ऐसी परिस्थिति में कवि कर्णपूर भी द्वारकालीला का अवलम्बन ले सकते थे।

विद्वानों की द्वितीय सम्भावित आपत्ति कि 'पारिजातहरणम्' में नायक का चित्रण पौराणिक नायक की भांति किया गया है, सर्वथा हास्यास्पद है। कारण, नायक का प्रस्तुतीकरण सदैव कथानक के आधार पर होता है। जब कथानक ही पौराणिक है, उस स्थिति में उसका नायक अवश्य ही पौराणिक नायक के गुणों से समन्वित होगा।

तृतीय आपत्ति कि इसमें शिव एवं कालिका देवी का उल्लेख है, इसीलिए यह परमानन्ददास कवि कर्णपूर की कृति नहीं हो सकती है, भी कुछ तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती है। कारण, गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय इतना संकीर्ण सम्प्रदाय नहीं है कि उसमें अन्य देवताओं का उल्लेख करना अपराध हो। परमानन्ददास सेन कवि कर्णपूर ने अपने प्रथम महाकाव्य 'चैतन्यचरितामृतम्' में चैतन्य के बलराम,[1] नृसिंह,[2] वराह[3] एवं कृष्णभाव[4] का चित्रण किया है, वहीं उन्होंने चैतन्य में शिव,[5] गिरिजा,[6] लक्ष्मी[7] आदि आवेशों का भी उल्लेख किया है। शिव के उल्लेखमात्र से ही उसे परमानन्ददास कवि कर्णपूर की कृति न स्वीकार करना औचित्यपूर्ण नहीं है। इसके अतिरिक्त कवि कर्णपूर ने अपने 'चैतन्यचरितामृतम्'[8], 'चैतन्यचन्द्रोदयम्'[9] तथा गौरगणोद्देशदीपिका'[10] में अद्वैताचार्य को रुद्र का अवतार निरूपित किया हैं। गौड़ीय सम्प्रदाय में अद्वैताचार्य का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतएव 'पारिजातहरणम्' में शिव का उल्लेख मात्र होने से उसे (परमानन्ददास) कविकर्णपूर की कृति स्वीकार न करना न्यायोचित नहीं है।

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ७।२४,८।१९-२८.
२. वही, ७।८०
३. वही, ५।१६-२१.
४. वही, ८।५६-६३.
५. वही, ७।८६-८८.
६. वही, ११।३४.
७. वही, ११।३४.
८. कविकर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ७।२६, ११।८३, १४।४५.
९. कविकर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, १।१८.
१०. कविकर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ७६.

चतुर्थ आपत्ति, अर्थात् 'पारिजातहरणम् के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में गणेश की स्तुति की गई है, इसलिए उसका कर्ता गणेश का उपासक होगा। यह तर्क भी विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। कारण, यदि ग्रन्थ का प्रणेता गणेश का उपासक होता, ऐसी स्थिति में वह मंगलाचरण में गणेश की स्तुति करता, सर्ग के अन्त में नहीं। क्योंकि प्रत्येक भक्त अपने इष्टदेव का स्मरण आदि में करता है, अन्त में नहीं। यहाँ पर एक शंका हो सकती है कि ग्रन्थ कर्ता ने प्रत्येक सर्ग के अन्त में गणेश की स्तुति क्यों की? इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय में कृष्ण की ऐश्वर्योपासना मुख्यतः प्रचलित नहीं है और कवि ने उसी का वर्णन किया है। सहृदय पाठक उसे सम्मान की दृष्टि से देखेंगे अथवा नहीं? इस सम्बन्ध में कवि को अवश्य ही सन्देह रहा होगा। अतएव ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति तथा उचित सम्मान के लिए ग्रन्थ कर्ता ने गणेश का स्मरण किया होगा। क्योंकि भारतीय परम्परा में किसी नवीन कार्य के आरंभ में विघ्नों की शान्ति के लिए गणेश का स्मरण किया जाता है। सम्भवतः कृष्ण के उपासक होने के कारण उन्होंने ग्रन्थ के मंगलाचरण में कृष्ण तथा सर्ग के अन्त में गणेश की स्तुति की होगी।

उपर्युक्त तर्कों के अतिरिक्त रचना-शैली तथा भाषा-शैली की दृष्टि से भी इस कृति का (परमानन्ददास) कवि कर्णपूर की अन्य रचनाओं से साम्य प्रतीत होता है। (परमानन्ददास) कवि कर्णपूर की अपनी मौलिकता है कि वह प्रायः श्लोक के अन्तिम चरण में 'शिव शिव' पद का प्रयोग अवश्य करते हैं। इस प्रकार के प्रयोग कवि कर्णपूर के 'चैतन्य-चरितामृतम्'[१] तथा चैतन्यचन्द्रोदयम्'[२] आदि ग्रन्थों में भी दृष्टिगोचर होते हैं। 'पारिजातहरणम्'[३] में भी इस प्रकार का प्रयोग किया गया है। (परमानन्ददास) कवि कर्णपूर के अतिरिक्त अन्य किसी भी कवि कर्णपूर नामक कवि ने इस पद का प्रयोग नहीं किया है। इसके अतिरिक्त 'चैतन्य-चरितामृतम्' के तृतीय और चतुर्थ सर्ग में अनुप्रास अलंकार का प्रयोग अधिक किया गया है। 'पारिजातहरणम्' के दशम सर्ग में उसी प्रकार

---

१. कविकर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १।२१, २२, २५, २७, ११।५०.
२. कविकर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, १।१५, २।५, ४।३३, ५।१८, ६।२४, ९।८, १०।७७.
३. कविकर्णपूर, पारिजातहरणम्, १२।२७.

अनुप्रास अलंकार का प्रयोग किया गया है। कई स्थलों पर शब्द साम्य भी उपलब्ध होता है। छन्दों की विविधता तथा रसानुकूल प्रयोग कवि कर्णपूर की अपनी विशेषता है। एक सर्ग में एक से अधिक छन्दों का प्रयोग करना उन्हें विशेष रुचिकर प्रतीत होता है। उनकी यह मौलिकताएँ 'पारिजातहरणम्' तथा 'चैतन्यचरितामृतम्' दोनों ही महाकाव्यों में दृष्टिगोचर होती हैं।

'पारिजातहरणम्' महाकाव्य के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का रचयिता अवश्य ही कोई आलंकारिक होगा। कारण, एक स्थल पर आकाशगंगा की उपमा महाकवि की भारती से दी गई है, जिसमें श्लेष से ध्वनिकाव्य की परिभाषा स्पष्ट की गई है।[1] संस्कृत साहित्य में जितने भी कवि कर्णपूर नामक व्यक्तियों का परिचय मिलता है, उनमें से परमानन्ददास कवि कर्णपूर ही ऐसे कवि हैं, जो एक आलंकारिक रूप में भी लोकविश्रुत हैं। कवि कर्णपूर कृत 'चैतन्यचरितामृतम्' में भी कई स्थलों पर रसनिष्पत्ति[2] तथा विभावानुभाव-संचारीभाव[3] आदि से सम्बन्धित उपमाएँ उपलब्ध होती हैं। 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य से प्राप्त होने वाले साक्ष्य से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि कवि वैदर्भी रीति का विशेष प्रशंसक है।[4] वैदर्भी रीति के प्रति कवि का यही अनुराग 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में भी दृष्टिगोचर होता है। वहाँ पर राधा की उपमा वैदर्भी रीति से दी गई है।[5] उपर्युक्त कथन के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कवि कर्णपूर की अन्य कृतियों की रचना शैली एवं

---

१. कविकर्णपूर, पारिजातहरणम् ९।३४.

२. कविकर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ५।६१.

३. वही, १७।१०.

४. नाकनायकपुरोपमं पुरो
भाति भाविनि ! विदर्भमण्डलम् ।
सद्‌गुणां प्रणयिनीमिव प्रियो
यस्य रीतिमनुयाति सत्कविः ॥ कविकर्णपूर, पारिजातहरणम्, १७।७२

५. आसां मध्ये सकलरमणीमौलिमणिमालेव वैदर्भीरीतिरिव माधुर्यौजः प्रसादादि-सकलगुणवती, रसभावमयी च…कापि राधिका नाम ।
कविकर्णपूर, आनन्दवृन्दावन चम्पू (पण्डित ओल्ड सीरिज काशी, खण्ड—९) १।१६९, पृ० १५९.

भावाभिव्यक्ति से 'पारिजातहरणम्' का पर्याप्त साम्य है, जो इस तथ्य को पुष्ट करता है कि यह कृति परमानन्ददास कवि कर्णपूर की ही कृति है। इसके अतिरिक्त अब तक के अनुसन्धान के आधार पर जितने भी कवि कर्णपूर नामक व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है, उनमें से 'परमानन्ददास' कवि कर्णपूर के अतिरिक्त अन्य किसी भी कवि कर्णपूर नामक कवि ने महाकाव्य की रचना की है अथवा अन्य किसी में भी इतनी अधिक काव्य प्रतिभा थी, ऐसा कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य परमानन्ददास कवि कर्णपूर की ही कृति है। परमानन्ददास कवि कर्णपूर की कृति न स्वीकार करने वाले विद्वान् अवश्य ही यह भूल जाते हैं कि परमानन्ददास कवि कर्णपूर गौड़ीयवैष्णव भक्त होने के साथ ही साथ एक कवि भी थे। कवि हृदय कभी भी साम्प्रदायिक सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता है। अवसर मिलते ही वह विकास के मार्ग का अन्वेषण स्वयं कर लेता है। कवि कर्णपूर को केवल साम्प्रदायिक भक्त कवि के रूप में देखना उचित नहीं है। सम्प्रदाय की संकीर्ण सीमाओं से बाहर उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व सुरक्षित है। वह साम्प्रदायिक भक्त है, किन्तु साम्प्रदायिक कवि नहीं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनका 'अलंकारकौस्तुभः' और 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य है। 'अलंकारकौस्तुभः' में उन्होंने गौड़ीयवैष्णव सम्प्रदाय द्वारा प्रवर्तित भक्तिरस के सिद्धान्तों से प्रभावित होते हुए भी रसनिरूपण में प्राचीन काव्य परम्परा का ही अनुसरण किया है। इसके लिए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की विवेचना अन्य ग्रन्थों (हरिभक्तिरसामृतसिन्धु एवं उज्ज्वलनीलमणि) में हो चुकी है, अतएव वहीं द्रष्टव्य है।'[1] 'अलंकारकौस्तुभः' की ही भाँति 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य भी कवि कर्णपूर के स्वतंत्र व्यक्तित्व का प्रमाण है, जिसमें कवि को साम्प्रदायिक वातावरण से मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से अपनी प्रतिभा का विकास करने का सुअवसर मिला है। इस रचना का उद्देश्य प्रसिद्धि अथवा अर्थस्पृहा न होकर कवि के हृदय में उत्पन्न होने वाला कौतूहल है। कवि ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने कौतूहल के कारण की है—'श्रीकविकर्णपूरकृतिना कौतूहलान्निर्मिते'। सम्भवतः अपने इष्ट देव (कृष्ण) की वृन्दावन लीला का वर्णन 'आनन्दवृन्दावन चम्पू' में करने के

१. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, किरण-पञ्चम, पृ० ११९.

पश्चात् उन (कविकर्णपूर) के हृदय में कृष्ण के उत्तरकालीन जीवन अर्थात् द्वारका लीला के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न हुई होगी और इसी जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होंने 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य की सृष्टि की होगी। द्वितीय, इस ग्रन्थ के द्वारा उन्हें शृंगाररस का पूर्ण विवेचन करने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ होगा। क्योंकि इसके पूर्व चैतन्यचरितामृतम्', 'चैतन्यचन्दोदयम्', 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' आदि ग्रन्थों में उन्होंने गौड़ीयवैष्णव सम्प्रदाय द्वारा अभिमत भक्तिरस का ही सांगोपाङ्ग निरूपण किया था। संस्कृत की प्राचीन काव्य-परम्परा के निर्वाहार्थ उन्हें 'पारिजातहरणम्' में ही अवसर मिला है।

'पारिजातहरणम्' की रचना का प्रमुख किन्तु अप्रत्यक्ष उद्देश्य और भी प्रतीत होता है। कवि कर्णपूर के जीवनकाल में सम्पूर्ण देश में मुसलमानों का आधिपत्य हो रहा था। हिन्दू सम्राट् आपस के संघर्षों एवं युद्धों से मुसलमानों की शक्ति को और वर्द्धित कर रहे थे। कवि देश में सुखसमृद्धि एवं शान्ति चाहता था। एक सुखी साम्राज्य की छत्रछाया में अपनी कल्पना का आधार खोज रहा था। अपनी कल्याणकामना को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए उसने 'पारिजातहरणम्' की रचना की है। इसमें इन्द्र और कृष्ण का युद्ध वर्णित है, जिसमें असंख्य जनहित की हानि होती है। कवि कर्णपूर ने इस युद्ध में सन्धि कराकर कृष्ण और इन्द्र दोनों से ही पश्चात्ताप कराया है। कृष्ण यह स्वीकार करते हैं कि उन्होंने यह युद्ध मूर्खतावश किया है। इन्द्र भी पारिजात वृक्ष प्रदान कर क्षमा माँगते हैं।[1] अन्त में दोनों ही सुख-समृद्धि का उपभोग करते हैं। कवि ने कृष्ण के सुखी साम्राज्य का वर्णन कर ग्रन्थ की समाप्ति की है। इन्द्र और कृष्ण दोनों ही दैत्य विनाशक हैं। यदि वही आपस में छोटी-छोटी बातों के लिए युद्ध करके अपनी शक्ति को क्षीण कर देगें, ऐसी स्थिति में राक्षसों का विनाश कार्य कैसे सम्भव होगा ? कवि पूर्वोक्त घटना से यह उपदेश देना चाहता था कि देश को विदेशी शासकों से मुक्त रखने के लिए हिन्दु सम्राटों को आपस में युद्ध करके अपनी शक्ति का विनाश नहीं करना चाहिये। कवि का यह उद्देश्य उस काल की आवश्यकता के अनुरूप ही प्रतीत होता है।

'पारिजातहरणम्' के कर्तृत्व की समस्या का समाधान करने के पश्चात् उसके काल की समस्या का समाधान करना शेष रह जाता है। ग्रन्थ में

१. कविकर्णपूर, पारिजातहरणम्, १६।१५,१६,२६,२७.

कहीं पर भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है, जिससे उसके रचनाकाल पर प्रकाश पड़ सके। कवि कर्णपूर की किसी भी कृति में उसका उल्लेख नहीं किया गया है। न इसमें ही किसी अन्य रचना का संकेत दिया गया है। 'अलंकारकौस्तुभः' में भी इसका कोई श्लोक उद्धरण के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि 'पारिजातहरणम्' कवि कर्णपूर की सबसे अन्तिम रचना है। इसकी रचना अवश्य ही कवि ने 'अलंकारकौस्तुभः' के उपरान्त की होगी। कथानक, भाषाशैली तथा काव्यसौष्ठव की दृष्टि से यह ग्रन्थ सभी रचनाओं से परिपक्व है। 'अलंकारकौस्तुभः का रचनाकाल १५८०-१५८३ ई० के लगभग अनुमान बल से निर्धारित किया गया है। अतएव 'पारिजातहरम्' का रचनाकाल १५८३-८५ ई० के लगभग होगा। उपर्युक्त कथन के प्रमाण में किसी साक्ष्य को नहीं दिया जा सकता है।

'पारिजातहरणम्' महाकाव्य १८ सर्गों में विभक्त है। इसमें कृष्ण द्वारा स्वर्ग से 'पारिजातवृक्षहरण' करने की पौराणिक कथा का उपनिबन्धन किया गया है। कथा अत्यधिक सरस एवं रोचक है। इसलिए कवि ने स्वयं कहा है कि—'काव्ये चारूणि पारिजातहरणे'। कवि कर्णपूर ने अपनी अन्तिम रचना में आलंकारिकों द्वारा विहित महाकाव्य के सभी लक्षणों का निर्वाह किया है।

खण्डकाव्य

आर्याशतकम्

कालक्रम के अनुसार 'आर्याशतकम्' कवि कर्णपूर की काव्य प्रतिभा का प्रथम उपहार है। इसमें सौ आर्या छन्दों में महाप्रभु चैतन्य की स्तुति की गई है। यह रचना काल के गर्त में विलुप्त हो चुकी है।[1] ऐसी सम्भावना की जाती है कि कवि कर्णपूर ने 'अलंकारकौस्तुभः' में अर्थालंकार के निरूपण के अवसर पर 'मालारूपक' के उद्धरण रूप में जिस श्लोक को उद्धृत

१. शिवप्रसाद भट्टाचार्य की सूचना के अनुसार हरिदास दास महोदय ने आर्याशतकम् का सम्पादन एक हस्तलिपि के आधार पर किया है तथा हरिबोल कुटीर नवद्वीप से इसका प्रकाशन भी हुआ है। हस्तलिपि और ग्रन्थ कितना प्रामाणिक और विश्वसनीय होगा, इस सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है, क्योंकि वर्तमान समय में यह ग्रन्थ अप्राप्य है (Bhattacharya. S P., 'Two Ascription examined, Our Heritage.' Vol. IV, part I, 1956, p. 10)।

किया है, वह श्लोक 'आर्याशतकम्' का ही है। यह श्लोक इस प्रकार है:—

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम ।
वृन्दावनरमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति ।।[१]

उपर्युक्त सम्भावना के पुष्टीकरण के लिए कृष्णदास कविराज के 'चैतन्य-चरितामृतम्' को प्रमाण रूप में उद्धृत किया जा सकता है। 'चैतन्य-चरितामृतम्' में जिस स्थल पर उन्होंने कविकर्णपूर के प्रति महाप्रभु चैतन्य के आग्रह का वर्णन किया है, उसी स्थल पर—'तथाहि कर्णपूरकृतआर्या-शतके'—लिखकर पूर्वोल्लिखित पद्य का उल्लेख किया है।[२] प्रस्तुत साक्ष्य से स्पष्ट है कि 'आर्याशतकम्' कवि कर्णपूर की ही रचना है तथा 'श्रवसोः कुवलयम्' पद्य उसी का है। कवि कर्णपूर के उत्तरवर्ती लेखक प्रेमदास ने 'आर्याशतकम्' को कवि कर्णपूर की रचना स्वीकार किया है।[३] हरिमोहन-प्रामाणिक ने भी इसे कवि कर्णपूर कृत ही स्वीकार किया है[४] 'अलंकार-कौस्तुभः' के सम्पादक भट्टाचार्य महोदय ने (अलंकारकौस्तुभः' की 'मौक्तिकावली' टिप्पणी में) 'श्रवसोः कुवलयम्' पद्य' को 'आर्याशतकम्' का प्रथम श्लोक स्वीकार किया है।[५] 'श्रवसोः कुवलयम्' पद्य से ही कवि को कवि कर्णपूर नाम चैतन्यमहाप्रभु से प्राप्त हुआ था, इस घटना का उल्लेख विगत अध्याय (द्वितीय) में किया जा चुका है। श्री अक्षय कुमार दत्त महोदय ने अपने ग्रन्थ में भ्रमवश कवि कर्णपूर कृत 'आर्याशतकम्' के स्थान पर 'आचार्यशतकम्' लिख दिया है।[६]

ग्रन्थ के अप्राप्य होने के कारण उसके वर्ण्यविषय तथा काव्यसौष्ठव के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता है। केवल मात्र सम्भावना की जा सकती है, कि उसमें चैतन्य अथवा कृष्ण की स्तुति की गई होगी।

---

१. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ७।४३, पृ० २१४.

२. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, ३।१६।७, पृ० ३३२.

३. प्रेमदास, चैतन्यचन्द्रोदयकौमुदी, पृ० ४८६.

४. हरिमोहन प्रामाणिक, भारतवर्षीय कविदिगेर समय निरूपण, पृ० ११७.

५. श्रवसोरिति—पञ्चहायनः (मतान्तरे सप्तहायनो वा) कविकर्णपूरः भगवतः श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रादुद्दीपितकवित्वकान्तिरिममेव श्लोकं प्रथमं प्रथितवानिति प्रसिद्धिः—आर्याशतकाख्यस्य ग्रन्थस्य कर्णपूरकृतस्यायमेव मुखबन्धः।
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, किरण-सप्तम, पृ० २९६.

६. अक्षयकुमार दत्त, भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय. भाग—प्रथम, पृ० १४९.

कृष्णाह्निककौमुदी

रचनापद्धति की दृष्टि से 'कृष्णाह्निककौमुदी'[१] एक खण्ड काव्य है, जिसमें वृन्दावन स्थित राधा-कृष्ण की 'अष्टकालिक नित्यलीलाओं का सर्वप्रथम ललित वर्णन किया गया है। राजेन्द्र लाल मित्रा महोदय ने भ्रमवश 'कृष्णाह्निककौमुदी' का लीलाशुक (विल्वमंगल) की कृति के रूप में उल्लेख किया हैं।[२] मित्रा महोदय का उपर्युक्त भ्रम ग्रन्थ (कृष्णाह्निककौमुदी) से प्राप्त होने वाले अन्तरंग प्रमाण से स्वयमेव अपनोदित हो जाता है; यथा—

परमानन्ददासेन शिवानन्दस्य सूनुना।
मधुपानोत्तमां लीलां ज्ञात्वा शान्तिरिहातनि ॥
निर्देशात् सखिवृन्दानां मधुपानात् प्रमत्तयोः।
अद्भुतानीक्षमाणानां राधामाधवयोर्निशि ॥
श्रीगौराङ्गकृपामयोऽवनितले श्रीमच्छिवानन्दकः
सेनोऽम्बुष्ठकुलोद्भवः सुकृतिभिः सार्द्धं सदा गौरदृक्।
तत्पुत्रः कविकर्णपूररसिकाचार्याग्रणीर्नीतितः
श्रीकृष्णाह्निक कौमुदीति विदितं काव्यं सुकाव्यं व्यधात् ॥[३]

उपर्युक्त साक्ष्य से स्पष्ट है कि 'कृष्णाह्निककौमुदी' के रचयिता शिवानन्दसेन के सुपुत्र परमानन्ददास कवि कर्णपूर ही हैं।

'कृष्णाह्निककौमुदी' ६ प्रकाशों में विभक्त है तथा उसमें कुल २०५ श्लोक उपलब्ध होते हैं। प्रथम प्रकाश का आरम्भ रात्रि के अवसान से होता है। रात्रि के वनविहार से क्लान्त होकर कुंज में शयन करने वाले राधाकृष्ण

---

१. अ—हरिदास (सम्पादक), बंगाक्षरों में हरिबोल कुटीर नवद्वीप से प्रकाशित, १९४१ ई० (समस्त उद्धरण इसी संस्करण से दिये जा रहे हैं।)
ब—पुरीदास (सम्पादक), बंगलिपि में गौड़ीयमठ बाग बाजार कलकत्ता से प्रकाशित, १९५४ ई०
स—मोहनलाल चक्रवर्ती की बालबोधिनी टीका के साथ बंगलिपि में कलकत्ता से प्रकाशित, १९०५ ई०

२. Mitra, R. L., Notices of Sanskrit Mss. Vol. IX, Ms. No. 2951, p. 60-61

३. कवि कर्णपूर, कृष्णाह्निककौमुदी, ६।१, २, ३. (अन्तिम श्लोक)

को विदग्ध शुक अपनी मधुर वाणी से जागरण का सन्देश देता है (१-२६)। तदनन्तर रात्रि की केलिक्रीड़ाओं से क्लान्त कोमलाङ्गी राधा के श्रृंगारिक हावभाव का (३०-३६) स्निग्ध वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् लताकुंज के शयन को त्यागकर गृहगमन के प्रसंग का वर्णन (४०-४५) किया गया है। प्रथम प्रकाश सब प्रकाशों में सबसे छोटा तथा मालिनी छन्द में उपनिबद्ध है।

द्वितीय प्रकाश का वर्ण्य विषय कृष्ण की प्रातः लीला है। सर्वप्रथम कृष्ण द्वारा शय्या त्याग, सेविका द्वारा मुख प्रक्षालन तथा अन्य प्रातःकालीन क्रियाओं (१-१६) का वर्णन किया गया है। तदनन्तर कृष्ण द्वारा गोदोहन, मित्रों के साथ मल्लयुद्ध, स्नान, वस्त्र-परिवर्तन तथा जलपान आदि का (२०-४६) रोचक वर्णन किया गया है। साथ ही राधा और उनकी सखियों की प्रातःकालीन क्रियाओं—स्नान, वस्त्र तथा अलंकार सज्जा का (४७-७६) मनोहारी दृश्य उपस्थित किया गया है। तदनन्तर यशोदा के गृह में आकर राधा द्वारा एक कर्त्तव्यपरायण कुलवधू की भाँति प्रातःकालीन जलपान के लिए नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यञ्जन तैयार करने का वर्णन ८० से लेकर ११८ श्लोकों में किया गया है। द्वितीय प्रकाश में कवि ने वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग किया है, किन्तु अन्तिम छन्द पुष्पिताग्रा है।

तृतीय प्रकाश का वर्ण्य विषय पूर्वाह्न लीला एवं मध्याह्न लीला है। पूर्वाह्न लीला में कृष्ण एवं उनके मित्रों का भोजन, गोचारण के लिए प्रस्थान, प्रस्थान कालीन वेशभूषा तथा बाल्योचित मधुरक्रीड़ाओं का स्निग्ध एवं मनोहारी चित्रण १ से लेकर ३६ श्लोकों में किया गया है।

मध्याह्नलीला का प्रारम्भ कृष्ण की सुरीली वंशी से होता है। वंशी की मादक तान से चराचर, जीव-जड़ सभी आत्मविभोर होकर आत्मविस्मृत हो जाते हैं। तत्पश्चात् कवि ने वन-सौन्दर्य वर्णन के प्रसंग में षड्ऋतुओं का विशद चित्रण (३७-५६) किया है। पूर्वोक्त प्रकाश का अन्त कृष्ण और उनके साथियों की कानन क्रीड़ा (५७-७२) से होता है। यह प्रकाश शार्दूलविक्रीडित छन्द में छन्दोबद्ध है।

स्वागता छन्द में उपनिबद्ध चतुर्थ प्रकाश २९६ श्लोकों का सबसे विशाल प्रकाश है। इसमें राधा कृष्ण की मध्याह्न के समय की जाने वाली प्रेमक्रीड़ाओं का मनोमुग्धकारी चित्र उपस्थित किया गया है। सर्वप्रथम कृष्ण के बलिष्ठ एवं सुसंगठित शारीरिक सौन्दर्य (१-३४) का वर्णन किया गया

है। तत्पश्चात् राधा और उनकी सखियों के अभिसार तथा अनेक प्रेमपूर्ण हास परिहास (३५–७०) का चित्रण है। ७१ से लेकर ८२ श्लोकों में कृष्ण के वंशीवादन तथा उसकी लय पर की जाने वाली अनेक क्रीड़ाओं का वर्णन है। इस प्रसंग का वर्णन कवि ने बड़ा ही मर्मस्पर्शी किया है। वंशी के भावपूर्ण एवं ललित स्वर को सुनकर गोपियों के हृदय में भाववैकल्य उदित हो जाता है। ८३ से लेकर २०० श्लोकों में वन के स्वामित्व पर राधाकृष्ण की प्रणय कलह का वर्णन है। २०१ से लेकर २१२ श्लोंको में जलक्रीड़ा के उपरान्त वस्त्राभूषणादि की साजसज्जा का उल्लेख किया गया है। २३९ से लेकर २९६ श्लोकों में अक्षादि क्रीड़ाओं तथा अन्य रसपूर्ण कृत्यों का चित्रण किया गया है।

पञ्चम प्रकाश में पुष्पिताग्रा छन्द में अपराह्ण तथा सांय लीला का वर्णन किया गया है। इसमें गायों के समूह के साथ वन से लौटते हुए कृष्ण तथा तत्कालीन अवसादपूर्ण वातावरण का कवि ने अत्यधिक मर्मस्पर्शी एवं साहित्यिक चित्र उपस्थित किया (१–१४) है। कृष्ण के वियोग में पशुपक्षी, वृक्षलता, पर्वत, सरोवर आदि सभी जड़चेतन विरहाकुल हो (१५–५३) जाते हैं। कृष्ण स्वयं भी उदास एवं क्लान्त (२४–४३) चित्रित हैं। गृह प्रत्यावर्तन पर कृष्ण द्वारा विहित गोदोहन आदि क्रिया-कलापों (४४–४७) का उपनिबन्धन किया गया है।

सायं लीला में सेवकों की सहायता से कृष्ण के वस्त्रपरिवर्तन, तेलमालिश के उपरान्त स्नान, विश्राम, जलपान, गौशाला निरीक्षण तथा शयन कक्ष में विश्राम आदि (४८–९७) का रोचक वर्णन किया गया है।

षष्ठ सर्ग का आरम्भ कृष्ण की प्रदोष एवं रात्रि लीला से होता है, जिसमें कृष्ण माता यशोदा तथा दासियों की देखरेख में अपनी शय्या पर शयन करते (१–१२) हैं। गोपिकाओं के सहित राधा अभिसार हेतु वन जाती हैं। कृष्ण वहाँ पहले से उपस्थित (१२–३१) होते हैं।

रात्रि लीला का प्रारम्भ लताकुंजों की प्रणयलीला (३२–३७) से होता है। प्रणयक्रीड़ा के अन्तर्गत मदिरापान (३८–६५) का वर्णन किया गया है। तदनन्तर राधा द्वारा अपनी सखियों की सहायता से कृष्ण के रत्नाभूषण चुराने (६६–६९) का उपनिबन्धन किया गया है। प्रकाश के अन्त में अन्य शृंगारिक क्रीड़ाओं का वर्णन (७०–७१) किया गया है। सम्पूर्ण प्रकाश मन्दाक्रान्ता छन्द में उपनिबद्ध है।

'कृष्णाह्निक कौमुदी' की भावाभिव्यक्ति परम्परागत होने के कारण उसमें कवि सम्प्रदायसिद्ध प्रतीकों, विचारों तथा कल्पनाओं की प्रचुरता है। प्रकृति-वर्णन कई स्थलों पर सजीव हैं। कवि कर्णपूर ने एक चतुर शिल्पी की भाँति एक ही अर्थ के वाचक अनेक शब्दों, ध्वन्यात्मक शब्दों, नवीन धातुओं एवं छन्दों का प्रयोग किया है। फलस्वरूप 'कृष्णाह्निककौमुदी' की कोमल-कान्त पदावली, रमणीय संगीतमय छन्द, कमनीय शब्दविन्यास तथा अलंकारों का सुरुचिपूर्ण प्रयोग उसके आकर्षण का प्रमुख केन्द्र हैं। छन्दों में मध्यतुकान्त एवं अन्त तुकान्त का सफल प्रयोग किया गया है, यथा—

मौलौ बबन्ध कतमा सुमणिप्रवेकम्,
सन्मालती कुसुमगर्भककान्तिसेकम्।
धम्मिल्लमुल्लसितलोहितपट्टदाम्ना,
लम्ब प्रलम्बयुगलेन मणीन्द्रधाम्ना ॥[1]

इसी प्रकार पदमध्यान्तानुप्रास का सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया है:, यथा—

रजनिचरमयामे स्तोकताराभिरामे,
किमपि किमपि वृन्दादेशजाताभिनन्दा।
विततिरकृत राधाकृष्णयोः स्वापबाधा-
मतिमृदुवचनानां सारिकाणां शुकानाम् ॥[2]

निःसन्देह उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में गीतात्मकता है, किन्तु इस प्रकार की तुकान्त कविता में हृदय की अनुभूति की अपेक्षा बौद्धिक प्रयास अधिक प्रतीत होता है। 'कृष्णाह्निककौमुदी' में कवि का दृष्टिकोण आलंकारिक हैं। इसीलिए अत्यधिक काल्पनिक एवं प्रेमपूर्ण कथावस्तु लेने तथा परम्परागत शैली का अनुकरण करने पर भी कवि की अद्भुतवर्णना शक्ति एवं काव्यात्मक शक्ति का विकास नहीं हो पाया है। किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि उनकी यह कृति स्वाभाविक गुणों से सर्वथा रहित है तथा उच्चकोटि के प्रेमकथानक से परिपूर्ण होते हुए भी सरसता और मृदुलता को प्रकाश में नहीं ला पाई है। वस्तुतः 'कृष्णाह्निककौमुदी' में स्वाभाविक गुणों के बीज अन्तर्निहित हैं। लेकिन वह अत्यधिक पाण्डित्य

---

१. कविकर्णपूर, कृष्णाह्निककौमुदी, २।७०.
२. वही, १।१.

प्रदर्शन तथा आलंकारिक दृष्टिकोण के कारण प्रस्फुटित नहीं हो पाये हैं। यह पाण्डित्य प्रदर्शन एवं आलंकारिक दृष्टिकोण उस युग की देन थी, जिसका कवि कर्णपूर पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक भी था।

यद्यपि भावपक्ष अथवा कलापक्ष की दृष्टि से 'कृष्णाह्निककौमुदी' विशेष महत्वपूर्ण नहीं है तथापि 'गौड़ीयवैष्णव' सम्प्रदाय की प्रतिनिधि रचना है, जिसमें सर्वप्रथम परम्परानुकूल वृन्दावन के विलासपूर्ण वातावरण तथा कृष्ण की नित्यलीला का उपनिबन्धन साम्प्रदायिक एवं साहित्यिक दोनों ही दृष्टिकोण से किया गया है। अपने यथार्थ रूप में यह कृति स्वर्ग की आह्लादकारी क्रीड़ाओं, कौतुकों एवं आनन्दों की एक मनोहारी शृंखला है, जो वैष्णव भक्तों के हृदयों को प्रफुल्लित करती है। आगे चलकर 'कृष्णाह्निककौमुदी' की ही परम्परा पर रूपगोस्वामी ने 'स्मरणमंगल स्तोत्र, कृष्णदास कविराज ने 'गोविन्दलीलामृतम्' तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ने 'श्रीकृष्णभावनामृतम्' का सृजन किया। उपर्युक्त ग्रन्थ 'कृष्णाह्निककौमुदी' की लोकप्रियता एवं उपादेयता के यथेष्ट प्रमाण हैं।

स्तवावली

कवि कर्णपूर ने स्तोत्रों एवं स्तवों की भी रचना की थी, ऐसा उल्लेख वैष्णव सम्प्रदाय में प्राप्त होता है। कवि कर्णपूर के उत्तरवर्ती पदकर्ता उद्धवदास ने अपने एक पद में कविकर्णपूर रचित 'स्तवावली' का उल्लेख किया है; यथा—

श्री चैतन्यचन्द्रोदय, स्तवावली ग्रन्थचय रचिलेन कविकर्णपूर।
या शुनि भक्ति उदय नास्तिकता नष्ट ह्य अवैष्णव भाव हयदूर ॥[१]

डा० सेन महोदय ने भी कविकर्णपूर कृत 'स्तवावली' का उल्लेख किया है।[२] पुस्तक के अप्राप्य होने से उसके वर्ण्यविषय एवं काव्यसौन्दर्य के सम्बन्ध में कुछ निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है। केवल अनुमान बल से यही सम्भावना की जा सकती है कि पूर्वोक्त ग्रन्थ में कवि ने कृष्ण अथवा चैतन्य के प्रति स्तुत्यात्मक पदों के रूप में अपनी भावाञ्जलि अर्पित की होगी।

---

१. मृणालकान्त घोष (सम्पादक), गौरपदतरङ्गिणी (द्वितीय संस्करण), ०६।३।८७, पृ० ३१४.

२. Sen, D. C., Vaisnava literature of Medieaval Bengal, P. 74.

श्रीकृष्णचैतन्यसहस्रनामस्तोत्र

प्रस्तुत स्तोत्र के कर्ता के रूप में कवि कर्णपूर का उल्लेख मिलता है।[1] मुद्रित ग्रन्थ में ११३ श्लोक हैं। स्तोत्र का ऋषि-नारायण, छन्द-अनुष्टुप्, देवता—श्रीमद्भागवतभक्ति तथा विनियोग-राधा-कृष्ण की प्रीति को उपनिबद्ध किया गया है। स्तोत्र का वर्ण्यविषय चैतन्य के सम्पूर्ण जीवन-चरित की एक संक्षिप्त झलक है। सर्वप्रथम उन्हें विष्णु का अवतार प्रमाणित किया गया है। तदनन्तर चैतन्य में राधाभाव, उनकी भक्त-वत्सलता, करुणा, उनके विभिन्न स्वरूप, उनके ज्येष्ठ भ्राता विश्वरूप तथा अद्वैत आदि पार्षदों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी यह स्तोत्र दार्शनिक दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है।

स्फुट पद

कवि कर्णपूर की विकासोन्मुखी प्रतिभा ने केवल उच्चकोटि के संस्कृत काव्यों का सृजन कर संस्कृत साहित्य को ही अलंकृत नहीं किया है, अपितु स्फुट पद रचना द्वारा अपनी मातृभाषा बंगला का भी साहित्य समृद्ध बनाने में अपना सक्रिय योग दान दिया है। उन्होंने (बंग देश की लोक-भाषा) बंगला में स्फुट भक्तिपदों की रचना की है, जिनका संकलन 'पदकल्पतरु'[2] तथा 'गौरपदतरङ्गिणी'[3] में किया गया है। कुछ पद दोनों

---

१. मथुरा से प्रकाशित (१९५९ ई०) 'श्रीस्तवकल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ के सम्पादक श्री सारङ्ग गोस्वामी ने वैष्णव भक्तों के अनेक पदों, स्तवों एवं स्तोत्रों का संकलन इस ग्रन्थ में किया है। पूर्वोक्त संकलन के अन्तर्गत कवि कर्णपूर कृत 'श्रीकृष्णचैतन्यसहस्रनामस्तोत्र' का परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त मथुरा से ही प्रकाशित (संवत् २०१२) 'सहस्रनामत्रयम्' नामक ग्रन्थ में भी कवि कर्णपूर विरचित 'श्रीकृष्णचैतन्यसहस्रनामस्तोत्र' का उल्लेख किया गया है।

२. सतीशचन्द्र राय (सम्पादक), वैष्णवदास (संकलनकर्ता), पदकल्पतरु, १।७।५२।१८३, ३।३१।२।१५८७, ४।६।३२।१६९३, ४।१०।८७।१८५१, ४।१८।११।२११९, ४।२०।१९।२२०२, ४।३०।५५।२५२८, ४।३२।३४।२८७१, ४।३३।६९।२९०६, ४।३५।१७।२९७४.

३. मृणालकान्तघोष, (सम्पादक), गौरपदतरङ्गिणी (द्वितीय संस्करण), १।२।६, १।२।४०, १।३।२६, ३।१।७८, ४।४।४, ५।४।७, ५।५।५, ६।४।२४ एवं परिशिष्ट का पद (संख्या—१४)

ही ग्रन्थों में समान हैं। "इन पदों के माध्यम से कवि-कर्णपूर" की उत्कट भक्तिभावना का सहज परिचय प्राप्त होता है। बंगभाषा की मृदुलता, सरलता, भावों की मार्मिकता तथा संगीतात्मकता अपना अमिट प्रभाव मानस पटल पर अंकित करती है। वस्तुत: चैतन्य के प्रति कवि कर्णपूर तथा अन्य समसामयिक भक्तों की भक्तिभावना का वास्तविक परिचय प्राप्त करने के लिए यहीं पद मूलस्रोत हैं। भाव आलंकारिक बन्धनों की सीमा का परित्याग कर पर्वतीय निर्झर की भाँति प्रवाहित हुए हैं। उदाहरणार्थ निम्न पद द्रष्टव्य है, जिसमें भावोन्मत्त गौराङ्ग महाप्रभु का रागभटियार में वर्णन किया गया है; यथा—

शचीर नन्दन गोरा चाँद, सकल भुवन मनो फाँद।
नव अनुरागे भेल भोर, अनुखन कन्ज नयने वहे लोर॥
पुलके पूरित पद गद बोल, क्षणे चित स्थिर क्षणे उत्तरोल।
ऐछे विभावित सहचर सङ्ग, परमानन्द कहे प्रेमतरङ्ग॥[1]

वंग भाषा में छन्दोबद्ध इन पदों का वर्ण्यविषय अधिकांशत: गौराङ्ग-महाप्रभु का अवतार, उनकी प्रगाढ़ भक्ति-भावना तथा उनके विभिन्न अलौकिक क्रियाकलाप हैं। उदाहरणार्थ-एक पद में महाप्रभु चैतन्य द्वारा नदिया (नवद्वीप) त्याग कर संन्यास लेने का वृतान्त उपनिबद्ध किया है, जिसमें भक्तों का करुण-क्रन्दन कवि की भावधारा में और मार्मिक हो गया है; यथा—

कि करिले गोरा चाँद नदिया छाड़िया।
मरये भक्तगण तोमा ना देखिया॥
कीर्तनविलास आदि ये करिला सुख।
सोङरि सोङरि सभार विदरये बुक॥
....
नदीयार लोक सब कोतर हइया।
छट पट करे प्रान तोमा ना देखिया॥

१. अ—मृणालकान्त घोष (सम्पादक), गौरपदतरङ्गिणी (द्वितीय संस्करण), ४।४।४
ब—सतीशचन्द्र राय (सम्पादक), वैष्णवदास (संकलन कर्ता), पद-कल्पतरु, ४।३०।५५।२५२८.

कहये परमानन्द दन्ते तृनधरि।
एवार नदीया चल प्रभु गौरहरि॥[1]

व्याकुल नदियावासी भक्तों की विवशता, दीनता एवं हृदय की अकुलाहट का सजीव चित्रण नेत्रों के समक्ष अवसादपूर्ण वातावरण को उपस्थित कर देता है। कवि कर्णपूर विरचित कुछ पदों में चैतन्य की नीलाचल लीला का भी चित्रण किया गया हैं। एक पद में गौरगदाधर उपासना का संकेत भी मिलता है; यथा—

श्रीशची नन्दन नदीया अवतरि।
उज्ज्वलवरन गौररूप माधुरी॥
....
वामें गदाधर राजत रङ्गी।
चौदिशे उपनीत शोभित सङ्गी॥
अविरत नयने वहत प्रेम धारा।
मोहत भागत कलि अँधियारा॥
करई आलिंगन नाहि विचार
नीलाचले वसत शचीनन्दन॥[2]

इसी प्रकार एक अन्य पद में कवि कर्णपूर ने अपनी भावाञ्जलि चैतन्य के प्रति समर्पित की है। भावों की दृष्टि से यह सर्वोत्कृष्ट पद है। कवि के हृदय की समस्त आकुलता एक पद में समाहित हो गई है, यथा—

परशमणिर संगे कि दिव तुलना।
परश छोयाइले हय ना कि सोना॥
... ...
गोरा मोर परान पुतलि (ध्रु)
गौराङ्ग चाँदर छाँदे चाँद कलङ्की रे,
ऐ मन हइते नारे आर,

---

१. अ—सतीशचन्द्र राय (सम्पादक), वैष्णवदास (संकलन कर्ता), पदकल्पतरु, ४।६।३२।१६९३.
ब—मृणालकान्त घोष (सम्पादक), गौरपदतरङ्गिणी (द्वितीय संस्करण), ५।४।७.
२. वही, ५।५।५.

अलङ्क पूर्णचन्द्र उदय, नदीया पुरे,
दूरे गेल मनेर आँधार ॥
ए गुने सुरभि सुंरतरू नहे रे
मागिले से पाय कोन जन ।
ना-मगिते अखिल भुवन भरि जने जने,
याचिञा देओल प्रेमधन ।
गोरा चाँदेर तुलना केवल गोरार सहं,
विचारं करिया देख सबे,
परमानन्देर मने ए बड़ आकुति रे,
गौराङ्गेर दया कबे हवे ॥[1]

बंगभाषा में छन्दोबद्ध स्फुट पदों के अतिरिक्त कवि कर्णपूर ने कुछ स्फुट पद संस्कृत भाषा में भी रचे हैं। इन पदों का परिचय रूपगोस्वामी कृत 'पद्यावली' तथा नरहरि चक्रवर्ती विरचित 'भक्तिरत्नाकर' से प्राप्त होता है। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में उदाहृत पद्य कवि कर्णपूर की किसी भी कृति में उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः कवि कर्णपूर ने स्फुट पदों की रचना की हो, जो कालचक्र से इतस्ततः बिखर गये हो। 'पद्यावली' में उदाहृत पद ध्वनि-काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है ; यथा—

श्यामोऽयं दिवसः पयोदपटलैः सायं तथाप्युत्सुका
पुष्पार्थं सखि ! यासि यामुनतटं याहि व्यथा का मम ?
किन्त्वेकं खरकण्टकक्षतमुरस्यालोक्य सद्योऽन्यथा
शंकां यत् कुटिलः करिष्यति जनो जातास्मि तेनाकुला ॥[2]

'भक्तिरत्नाकर' में उदाहृत पद्य में गौराङ्ग महाप्रभु का वर्णन किया है; यथा—

श्रीचैतन्यमहाप्रभोरतिकृपामाध्वीकसद्भाजनं
सान्द्रप्रेमपरस्पराकवलितं वाचा प्रफुल्लं मुदा ।
श्रीखण्डेरचितस्थितिं निरवधि श्रीखण्डचर्य्यार्चितं
वन्दे श्रीमधुमत्युपाधिबलितं कञ्चिन्महाप्रेमदम् ॥[3]

१. मृणालकान्त घोष (सम्पादक), गौरपदतरङ्गिणी (द्वितीय संस्करण). ३।१।७८
२. रूपगोस्वामी, पद्यावली, पद सं० ३०५.
३. नरहरि चक्रवर्ती, भक्तिरत्नाकर, पृ० ५१.

कवि कर्णपूर की कृतियों की समीक्षा अथवा आलोचना करते समय पूर्वोक्त स्फुट पद उपेक्षणीय नहीं हैं :

नाटक

चैतन्यचन्द्रोदयम्

'चैतन्यचन्द्रोदयम्'[1] नाटक संस्कृत साहित्य के प्रतीकात्मक नाटकों की परम्परा में उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। इसमें चैतन्य महाप्रभु के जीवन से सम्बद्ध कुछ प्रमुख घटनाओं को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है।

'चैतन्यचन्द्रोदयम्' के कर्तृत्व की समस्या संदिग्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों ही प्रमाण उपलब्ध हैं। नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार के वक्तव्य से इस समस्या पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। उल्लेखानुसार 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' के रचयिता शिवानन्द सेन के पुत्र तथा श्रीनाथ के शिष्य परमानन्द दास हैं।[2] प्रस्तुत साक्ष्य की पुष्टि कवि की अन्य कृति 'गौरगणोद्देशदीपिका' से भी हो जाती है, जिसमें उन्होंने 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है।[3] उपर्युक्त अन्तरंग प्रमाणों के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में प्राप्त होने वाले बहिरंग प्रमाण भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

---

१. क—Mitra, R. L., Bibliotheca Indica. 14, Royal Asiatie Society of Bengal, 1854 A. D.
ख—व्रजनाथ भट्टाचार्य (सम्पादक), कलकत्ता, १८७३ ई०
ग—सरस्वती प्रेस, कलकत्ता, १८८५ ई०
घ—राधारमण प्रेस, मुर्शिदाबाद, १८८४ ई० (द्वितीय संस्करण १९२५ ई०)
ञ—गौड़ीय मठ, कलकत्ता, १९५४ ई०
ट—चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९६६ ई०
ठ—काव्य-माला (सं० ८७), निर्णय सागर प्रेस, १९१७ ई०
(समस्त उद्धरण इसी संस्करण से दिये जा रहे हैं)।

२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० ३.

३. कविकर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ४८, ५९, १५०

कवि कर्णपूर के उत्तरवर्ती कृष्णदासकविराज,[१] नरहरिचक्रवर्ती,[२] उद्धवदास[३], लालदास[४] आदि कवियों ने अपने ग्रन्थों में 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' को कवि-कर्णपूर की कृति के रूप में उल्लिखित किया है तथा 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' से पर्याप्त मात्रा में उद्धरण भी दिये हैं। इसके अतिरिक्त बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् प्रेमदास ने १७१२ ई० के लगभग 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' का भावानुवाद बंग भाषा में किया, जिसमें उन्होंने कवि कर्णपूर का परिचय 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' के कर्ता के रूप में दिया है।[५] इस प्रकार पूर्वोल्लिखित अन्तरंग एवं वहिरंग प्रमाणों से नाटक के कर्तृत्व के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की शंका अथवा सन्देह का ईषत् अवकाश नहीं रह जाता है।

'चैतन्यचन्द्रोदयम्' के रचनाकाल पर नाटक के अन्त में दिये गये श्लोक से पर्याप्त प्रकाश पड़ने पर भी इसका रचनाकाल सर्वाधिक विवाद का प्रश्न रहा है। विवाद का सर्वप्रथम कारण एक ही श्लोक से उद्गत होने वाले दो भिन्न अर्थ हैं, जिससे रचना काल की समस्या स्पष्ट होने की अपेक्षा और जटिल हो जाती है। श्लोक निम्नलिखित है—

शाके चतुर्दशशते रविवाजियुक्ते
गौरोहरिर्धरणिमण्डले-आविरासीत्।
तस्मिँश्चतुर्नवतिभाजि तदीयलीला
ग्रन्थोऽयमाविरभवत्कतमस्यवक्त्रात्॥[६]

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम अर्थ के अनुसार चैतन्यमहाप्रभु का आविर्भाव-काल शकसंवत् १४०७ अर्थात् १४८५ ई० तथा नाटक का रचनाकाल (तस्मिन् को 'चतुर्दशशते रविवाजियुक्ते का सर्वनाम स्वीकार करने पर) शक् संवत् १५०१ अर्थात् १५७९ ई० प्रमाणित होता है। किन्तु (तस्मिन्

---

१. कृष्णदासकविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।६।८, २।१०।३, २।११।२,३,९, २।१९।११, २।२४।६३, ३।६।४, ५०,

२. नरहरि चक्रवर्ती, भक्तिरत्नाकर, पृ० ३१, ६९, ३३०, ३६७, ५९०, ५९४.

३. मृणालकान्तघोष (सम्पादक), गौरपदतरङ्गिणी (द्वितीय संस्करण), ६।३।४७.

४. लालदास, बंगालीभक्तमाल, पृ० ४४.

५. प्रेमदास, चैतन्यचन्द्रोदयकौमुदी, पृ० ४८६.

६. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, १०।७९ (अन्तिम श्लोक)

को केवल चतुर्दशशते का सर्वनाम स्वीकार करने पर) द्वितीय अर्थानुसार नाटक का रचनाकाल शक-संवत् १४९४ अर्थात् १५७२ ई० निश्चित होता है।

नाटक के रचनाकाल के सम्बन्ध में तृतीय समस्या का उदय नाटक की प्रस्तावना से होता है। प्रस्तावना के उल्लेख के अनुसार नाटक का अभिनय उड़ीसा के राजा गजपति प्रतापरुद्र की आज्ञा से किया गया था।[1] उपर्युक्त साक्ष्य के अनुसार नाटक का रचनाकाल गजपति प्रतापरुद्र का शासनकाल सिद्ध होता है। इस प्रकार 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' के रचनाकाल के सम्बन्ध में तीन प्रमुख विप्रतिपत्तियाँ विद्यमान हैं।

(१) नाटक का रचनाकाल १५७९ ई० है।

(२) अथवा नाटक का रचनाकाल १५७२ ई० है।

(३) अथवा नाटक का रचनाकाल प्रतापरुद्र का शासन काल है।

अर्थविभिन्नता के कारण उपस्थित होने वाली पूर्वोक्त दोनों समस्याओं का निराकरण सरलता पूर्वक किया जा सकता है। कारण, कवि कर्णपूर की अन्य कृति 'गौरगणोद्देशदीपिका' में 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' का उल्लेख किया गया है,[2] जिससे स्पष्ट है कि 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' 'गौरगणोद्देशदीपिका' से पूर्ववर्ती रचना है। 'गौरगणोद्देशदीपिका' का रचनाकाल १५७६ ई० ग्रन्थ कर्ता ने स्वयं उद्दिष्ट किया है।[3] यदि 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' का रचनाकाल १५७९ ई० स्वीकार कर लिया जाये, ऐसी स्थिति में 'गौरगणोद्देशदीपिका' को 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' से पूर्ववर्ती रचना स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु ऐसा स्वीकार करना असम्भव है, क्योंकि परवर्ती रचना में पूर्ववर्ती ग्रन्थ का उल्लेख तर्कसंगत है, किन्तु परवर्ती रचना का पूर्ववर्ती कृति में उल्लेख

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १–३.

२. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ४८,५९,१५०.

३. पाठ भेद के आधार पर 'गौरगणोद्देशदीपिका' का रचनाकाल १५४४ ई० भी निश्चित होता है। यदि किञ्चित् क्षणों के लिए 'गौरगणोद्देशदीपिका' का रचनाकाल १५४४ ई० स्वीकार भी कर लिया जाये, ऐसी स्थिति में भी उपर्युक्त उल्लिखित कथन के साथ कोई असंगति नहीं होगी। क्योंकि उक्त स्थिति में भी 'गौरगणोद्देशदीपिका', 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' से पूर्ववर्ती रचना ही प्रमाणित होगी, जो असम्भव है।

असम्भव है। 'गौरगणोद्देशदीपिका' में 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' का उल्लेख होने के कारण वह 'गौरगणोद्देशदीपिका' से पूर्ववर्ती है, अतएव इसका रचनाकाल १५७६ ई० कदापि सम्भव नहीं हो सकता है। किसी भी आधुनिक विद्वान् ने नाटक का रचनाकाल १५७६ ई० स्वीकार करने का अनुरोध नहीं किया है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् मुख्यतः दो समस्याएँ अवशेष रह जाती हैं। प्रथम, नाटक का रचनाकाल १५७२ ई० है अथवा गजपति प्रतापरुद्र का शासनकाल है। नाटक की प्रस्तावना को ऐतिहासिक सत्य स्वीकार कर ग्रन्थ का रचनाकाल प्रतापरुद्र का शासनकाल स्वीकृत किया जा सकता है। इसका कारण है कि संस्कृत नाटकों की परम्परा में उपद्दिष्ट राजा के शासनकाल से नाटक के रचनाकाल का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' (नाटक) की प्रस्तावना के अनुसार चैतन्यमहाप्रभु के विरह में शोकग्रस्त प्रतापरुद्र के विषाद के अपनोदन के लिए इस नाटक का अभिनय किया गया था।[1] उपर्युक्त साक्ष्य इस पक्ष में है कि नाटक का रचनाकाल प्रतापरुद्र का शासनकाल है। इस मत के समर्थन में अन्य तर्क भी दिये जा सकते हैं। प्रथम, नाटक के अन्त में दिये गये अन्तिम श्लोक प्रक्षिप्त हैं, जिन्हें अभिनेतृ वर्ग ने अपनी ओर से संलग्न कर दिये होंगे।[2] द्वितीय, यदि नाटक का रचनाकाल प्रतापरुद्र का शासनकाल नहीं होता, ऐसी स्थिति में कवि प्रस्तावना में मिथ्या उल्लेख नहीं करता। स्थूल दृष्टि से उपर्युक्त तर्क एवं सम्भावनाएँ औचित्यपूर्ण प्रतीत होती हैं। किन्तु समीक्षा की कसौटी पर पहुँचते ही प्रत्येक सम्भावना का पदस्खलन स्वयमेव हो जाता है। इसका प्रमुख कारण है कि ऐतिहासिकों ने प्रतापरुद्र का शासनकाल १५४० ई० तक ही स्वीकार किया है।[3] यदि नाटक का रचनाकाल प्रतापरुद्र का शासनकाल था, तो इसका अभिप्राय हुआ कि नाटक का निर्माण अवश्य ही १५४० ई०

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १–३

२. वृन्दावन शोध संस्थान में सुरक्षित 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' की हस्तलिपि (३१) तथा 'ऐशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' से प्राप्त होने वाली हस्तलिपि (I. B. 52) में अन्तिम श्लोक नहीं है, जिसके आधार पर पूर्वोक्त सम्भावना की गई है।

३. Banerjee, R. D., History of Orrisa, Vol I, p. 334.

से पूर्व हुआ होगा। पूर्वोक्त समय स्वीकार करने के साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' कवि कर्णपूर की द्वितीय रचना है तथा इसका सृजन कवि कर्णपूर के 'चैतन्यचरितामृतम्' महाकाव्य से भी पूर्व हुआ होगा, क्योंकि 'चैतन्यचरितामृतम्' का रचनाकाल १५४२ ई० निर्विवाद स्थिर किया जा चुका है। यदि किञ्चित् क्षणों के लिए नाटक के अन्तिम श्लोक को प्रक्षिप्त मानकर नाटक का रचनाकाल प्रतापरुद्र का शासन स्वीकार भी कर लिया जाये, किन्तु 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' को 'चैतन्य-चरितामृतम्' से पूर्ववर्ती रचना किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता है। कारण, दोनों कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' ऐतिहासिक तथ्यों, साहित्यिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण से 'चैतन्यचरितामृतम्' की अपेक्षा अधिक विकसित, सुपरिपक्व एवं प्रौढ़ रचना है। 'चैतन्यचरितामृतम्' के अध्ययन से यह सुतरां सिद्ध तथ्य सम्मुख आता है कि यह कृति किसी किशोर की रचना है, जिसने आत्मविश्वास के अभाव के कारण मुरारिगुप्त का अनुकरण किया है।[1] किन्तु 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' में कवि पूर्ण वयस्क प्रतीत होता है। चैतन्यभक्तों के संसर्ग, चैतन्य-सम्बन्धी ग्रन्थों के अवलोकन तथा स्वयं के अनुभवों के कारण उन्होंने चैतन्यचरित को पूर्ण आत्मविश्वास के साथ उपनिबद्ध किया है, उसमें किसी का अनुकरण नहीं किया गया है। यदि 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' 'चैतन्यचरितामृतम्' से पूर्व की रचना होती, ऐसी स्थिति में कवि कर्णपूर को मुरारिगुप्त के 'श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्' को अपने 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' का उपजीव्य बनाना चाहिए था, महाकाव्य का नहीं? यदि उपर्युक्त तर्क का समाधान इस प्रकार दिया जाये कि कवि ने अपने नाटक का उपजीव्य किसी को न बनाकर स्वतन्त्र रूप से चैतन्यचरित का वर्णन किया है। यह कथन भी उचित नहीं प्रतीत होता है। कारण, एक बार चैतन्यचरित का विवेचन स्वतन्त्र रूप से करने के पश्चात् कवि ने अपनी तृतीय कृति 'चैतन्यचरितामृतम्' के लिए मुरारिगुप्त का ऋण क्यों लिया होगा? 'चैतन्यचरितामृतम्' का उपजीव्य वह अपने नाटक को बना सकते थे, क्योंकि दोनों का कथानक एक ही है। उपर्युक्त तर्कों से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' 'चैतन्यचरितामृतम्' से बाद की रचना है। इसके अतिरिक्त दोनों कृतियों से प्राप्त होने वाले अन्तरंग

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २०।४२.

प्रमाण भी इस पक्ष में हैं कि 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' परवर्ती रचना है। सर्वप्रथम 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' में भाषा की प्रौढ़ता, शब्दविन्यास की प्राञ्जलता, भावों की गरिमा, दार्शनिक सिद्धान्तों की परिपक्वता आदि गुण इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि 'चैतन्यचन्द्रोदयम्', 'चैतन्यचरितामृतम्' से बाद की रचना है। कोई भी कवि अपनी पूर्ववर्ती रचना में इतनी सुन्दर रचनाशैली, भाषाशैली तथा भावाभिव्यक्ति अपनाने के पश्चात् परवर्ती कृति में अपना शिशुत्व प्रदर्शित करेगा, यह असम्भव है। द्वितीय, 'चैतन्यचरितामृतम्' के प्रथम सर्ग में मंगलाचरण के पश्चात् चैतन्य के तिरोभाव पर कवि ने अपने शोकोद्गारों की अभिव्यञ्जना की है, जिससे स्पष्ट है कि 'चैतन्य-चरितामृतम्' की रचना के समय केवल चैतन्य का तिरोभाव हुआ था, लेकिन उनके कुछ पार्षदगण अवश्य जीवित थे। लेकिन 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' में स्पष्ट शब्दों में चैतन्य तथा उनके पार्षदों के तिरोभाव पर शोक प्रकट किया गया है,[1] जिससे ज्ञात होता है कि 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' की रचना तक चैतन्य के भक्त शनैः शनैः स्वर्ग लोक जा चुके थे। साथ ही उड़ीसा में चैतन्यमत के विरोध में अनेक सम्प्रदायों का उदय हो गया था, जो चैतन्य के जीवन से सम्बद्ध भ्रमात्मक किंवदन्तियों का प्रचार कर जनसाधारण की चैतन्य के प्रति श्रद्धा को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध थे। ऐसे दूषित वातावरण में नाटक की रचना करते समय कवि कर्णपूर को स्वयं सन्देह था कि नाटक को इस वातावरण में किस प्रकार सफलता मिलेगी ? इसीलिए उन्होंने खिन्न होकर अपने भावों को इस प्रकार व्यक्त किया है—

एतां तत्प्रियमण्डले शिव शिव स्मृत्येकशेषं गते।
को जानातु शृणोतु कस्तदनया कृष्णः स्वयं प्रीयताम् ॥[2]

यदि नाटक चैतन्य के तिरोभाव के कुछ वर्षों उपरान्त रचा गया होता, उस स्थिति में कवि को 'को जानातु' 'शृणोतु' कहने की आवश्यकता ही नहीं थी। क्योंकि उस समय तक तो गौड़वासी एवं उत्कलवासी चैतन्य की ईश्वर रूप से आराधना करते रहे थे तथा उनके प्रति उनका उत्साह पूर्व की भाँति ही स्थिर था। लेकिन शनैः शनैः चैतन्य का प्रभाव धूमिल होने लगा था। इसीलिए चैतन्य के वरद पुत्र कवि कर्णपूर को उन्हें पुनः ईश्वर रूप में प्रतिष्ठित करने की मनप्राण से चेष्टा करनी पड़ी होगी।

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, १०।७८ (अन्तिम श्लोक)
२. वही, १०।७७ (अन्तिम श्लोक)

अनेक युक्तिमूलक तर्कों द्वारा उनका ईश्वरत्व प्रमाणित करना पड़ा है। यह शैली 'चैतन्यचरितामृतम्' में प्राप्त नहीं होती है। इससे स्पष्ट है कि 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' किसी भी भाँति 'चैतन्यचरितामृतम्' से पूर्व की रचना सिद्ध नहीं हो सकती है। अतएव नाटक के कालसूचक श्लोक को प्रक्षिप्त मानकर उसका रचनाकाल प्रतापरुद्र का शासनकाल स्वीकार नहीं किया जा सकता है। न हि प्रतापरुद्र के शासनकाल को १५७२ ई० तक बढ़ाया जा सकता है। कारण, ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर गजपति प्रतापरुद्र के वंश ने कठिनाई से १५५९–६० ई० तक उड़ीसा पर शासन किया था[1], उसके पश्चात् वहाँ पर मुगल साम्राज्य सर्वतोभावेन स्थापित हो चुका था। अतएव उचित यही है कि नाटक की प्रस्तावना को कविकल्पित मानकर उसका रचनाकाल १५७२ ई० स्वीकार कर लिया जाये। जहाँ तक नाटक की प्रस्तावना की ऐतिहासिकता का प्रश्न है। उसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि चैतन्य महाप्रभु के जीवन का उत्तरार्द्ध प्रतापरुद्र से अत्यधिक सम्बद्ध था। प्रतापरुद्र चैतन्य के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित भी थे। इस प्रकार के घनिष्ट सम्बन्ध को पुष्ट करने के लिए कवि कर्णपूर ने इस प्रकार की कल्पना की होगी। अतएव निष्कर्ष रूप में नाटक का रचनाकाल १५७२ ई० ही सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। आधुनिक विद्वान् भी इस मत से सहमत प्रतीत होते हैं।[2] कतिपय

१. Banerjee, R. D., History of Orrisa, Vol. I, p. 341.

२. क—De, S. K., The Early History of The Vaisnava Faith And Movement in Bengal, p. 34.

ख—Ds Gupta & De, History of Sanskrit Literature, p. 485.

ग—Bhattacharya, S. P., 'Two Ascriptions Examined, Our Heritage, Vol iv, part I, 1956, p. 11.

घ—डा० विमानविहारी मजूमदार ने अपने बंगभाषा में उपनिषद्ध शोधप्रबन्ध 'चैतन्यचरितेर उपादान' के प्रथम संस्करण में नाटक की प्रस्तावना को ऐतिहासिक सत्य मानकर नाटक का रचनाकाल प्रतापरुद्र का शासनकाल अर्थात् १५४० ई० से पूर्व का समय स्वीकार किया था। अपने मत के समर्थन में उन्होंने कुछ तर्कों को भी प्रस्तुत किया था, जो उनके शोध प्रबन्ध के पृ० ८८–९४ पर द्रष्टव्य हैं। किन्तु कुछ समय पश्चात् अपने तर्कों की निरर्थकता का अनुभव कर डा० मजूमदार महोदय ने अपने

आधुनिक विद्वान् महाकाव्य और नाटक को समकालीन मानते हुए उसका रचनाकाल १५४३ ई० निर्धारित करते हैं।[१] किन्तु उन्होंने अपने उपर्युक्त निर्णय के आधार के सम्बन्ध में कुछ संकेत नहीं दिया है।

नाटक के काल एवं कर्तृत्व की समस्या का समाधान करने के पश्चात् उसके वर्ण्यविषय की समीक्षा अपेक्षित है। 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' नाटक में चैतन्य के समग्र जीवन को १० अंकों में विभाजित किया गया है। प्रथम अंक का नाम 'स्वानन्दावेश' है, जिसमें कलि और अधर्म के पारस्परिक

शोध प्रबन्ध के द्वितीय संस्करण (पृ० १०१–१०२) में 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' का रचनाकाल १५७२ ई० स्वीकार कर लिया है। अतएव पूर्वमत की आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है।

ङ—हरिमोहन प्रामाणिक, भारतवर्षीय कविदिगेर समय निरूपण, पृ० ११७

च—सम्भवतः राजेन्द्रलाल मित्रा महोदय ने भ्रमवश नाटक का रचनाकाल १५७२ ई० के स्थान पर १५७३ ई० स्वीकार कर लिया है। (रॉयल ऐशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल से प्रकाशित 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' की भूमिका, पृ० १४)

१. कृष्णमाचारी (History of Classical Sanskrit Literature, p. 290) और ऑफ्रेक्ट महोदय (Catalogus Catalogorum, part I, p. 86) ने नाटक और महाकाव्य दोनों का ही रचनाकाल १५४३ ई० स्वीकार किया है। किन्तु दोनों ही विद्वानों के उपर्युक्त कथन से इस तथ्य पर प्रकाश नहीं पड़ता है कि नाटक का रचनाकाल प्रतापरुद्र का शासनकाल है, न हि नाटक के कालसूचक श्लोक की सार्थकता सिद्ध होती है। दोनों विद्वानों ने इस प्रकार का उल्लेख किस आधार पर किया है, इस सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता है। इसी प्रकार डा० दिनेशचन्द्र सेन महोदय ने अपने (Chaitanya and His Companion, p. 119) ग्रन्थ में नाटक का रचनाकाल १५६८ ई० स्वीकार किया है। सेन महोदय के उपर्युक्त कालनिर्णय का आधार भी अज्ञात है। नाटक का रचनाकाल १५६८ ई० स्वीकार करने पर न तो नाटक के कालसूचक श्लोक की ही सार्थकता प्रकट होती है, न हि नाटक की प्रस्तावना में निर्दिष्ट सूत्रधार के वक्तव्य से ही उसका सामञ्जस्य प्रतीत होता है। किन्तु सेन महोदय ने अपनी इस त्रुटि को अपनी अन्य कृति (Chaitanya and His Age, p. 159) में सुधारते हुए नाटक का रचनाकाल १५७२ ई० स्वीकार कर लिया है।

वार्त्तालाप से महाप्रभु चैतन्य के आविर्भाव, चैतन्य के ज्येष्ठ भ्राता विश्व रूप द्वारा संन्यास ग्रहण, लक्ष्मी और विष्णुप्रिया के साथ उन (चैतन्य) के विवाह, गया में ईश्वर पुरी से दीक्षा ग्रहण, नवद्वीप के कुछ प्रमुख साथियों, महाभिषेक आदि की सूचना दी गई है। अवशेष अंक में विश्वम्भर (चैतन्य) अद्वैत, श्रीवास, शची तथा अन्य साथियों के साथ रंगमंच पर उपस्थित होकर दार्शनिक दृष्टिकोण से भक्ति रस तथा कृष्ण के द्विभुज रूप का माहात्म्य प्रतिपादित करते हैं। शची माता के अतिरिक्त अन्य उपस्थित जनों को चैतन्य के देवत्व का बोध हो जाता है। चैतन्य स्वयं अपने अन्तःकरण में स्थित परमानन्द का आस्वादन करते हुए अद्वैत को बताते हैं कि वह अद्वैत की प्रार्थना से गोलोक से पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं।[1]

द्वितीय अंक का नाम 'सर्वावतार' दर्शन है, जिसमें 'विराग' और 'भक्ति' के पारस्परिक वार्त्तालाप से उस समय के समाज की विश्रृंखलित अवस्था तथा अराजकता पर खेद प्रकट किया गया है। ऐसे विषम वातावरण में प्रेमभक्ति नवद्वीप में प्रादुर्भूत होकर एक सुखद व आशाप्रद सन्देश लाती है कि नवद्वीप में कृष्ण ने चैतन्य के रूप में भक्तावतार लिया है। शेष अंक में आनन्दातिरेक से हर्षोन्मत्त महाप्रभु की अनेक अलौकिक क्रीड़ाओं-मुरारीगुप्त के गृह में संकर्षण रूप, द्विभुज रूप, नित्यानन्द के समक्ष षड्भुज रूप का प्रदर्शन तथा उनके दिव्योन्माद-का वर्णन किया गया है।

तृतीय अंक का नाम 'दानविनोद' है। इस अंक में 'गर्भांक' नाटक की योजना की गई है। अंक के प्रारम्भ में मैत्री और प्रेमभक्ति रंगमंच पर उपस्थित होकर यह सूचना देती है कि महामुनि नारद के परामर्श से राधा कृष्ण की दान-लीला पर आधारित एक लघुनाटक का आयोजन होने जा रहा है, जिसमें हरिदास-सूत्रधार, मुकुन्द-पारिपार्श्विक, वासुदेव-नेपथ्य-रचनाकार, श्रीवास-नारद, अद्वैत-कृष्ण, चैतन्य-राधा तथा नित्यानन्द-योगमाया जरती की भूमिका को अभिनीत करेंगे। इस गर्भांक अंक में राधा और कृष्ण की वन के स्वामित्व पर होने वाली प्रणय कलह का उपनिबन्धन किया गया है।[2]

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्. १।५०.

२. दानकेलि के इस प्रसंग का वर्णन कवि कर्णपूर की 'कृष्णाह्निक कौमुदी' के

चतुर्थ अंक का नाम 'संन्यास-परिग्रह' है, जिसमें केशवभारती के निकट चैतन्य महाप्रभु के संन्यास ग्रहण तथा शान्तिपुर में अद्वैत के गृह में उनके आगमन का वृत्तान्त वर्णित है।

पञ्चम अंक का नाम 'अद्वैतपुरविलास' है, जिसमें संन्यास-ग्रहण के पश्चात् महाप्रभु चैतन्य नित्यानन्द के साथ अद्वैताचार्य के गृह में तीन दिन व्यतीत करने के पश्चात् अपने साथियों तथा माता शची से मार्मिक विदाई लेते हैं।

षष्ठ अंक का नाम 'सार्वभौमानुग्रह' है, जिसमें रत्नाकर (समुद्र) और उसकी पत्नी गंगा (नदी) के पारस्परिक वार्त्तालाप से महाप्रभु की पुरी-यात्रा, पुरी में सार्वभौम के साथ होने वाले वाद-विवाद तथा सार्वभौम के प्रति उनके अनुग्रह का वर्णन किया गया है।

सप्तम अंक का नाम 'तीर्थाटन' है, जिसमें सार्वभौम और राजा प्रतापरुद्र की वार्त्ता से महाप्रभु की दक्षिणयात्रा तथा रामानन्दराय के साथ उनके मिलाप की सूचना मिलती है।

अष्टम अंक का नाम 'प्रतापरुद्रानुग्रह' है, जिसमें महाप्रभु के दक्षिण-यात्रा के संस्मरण तथा रथयात्रोत्सव पर प्रतापरुद्र के ऊपर उनके अनुग्रह का वर्णन है।

नवम अंक का नाम 'मथुरागमन' है। इसमें सर्वप्रथम एक किन्नरयुगल से तदनन्तर प्रतापरुद्र और सार्वभौम की वार्त्ता से महाप्रभु की गौड़ देश की यात्रा, वृन्दावन-यात्रा तथा पुनः पुरी आगमन की सूचना मिलती है। इस अंक की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ—शिवानन्द सेन के गृह में महाप्रभु द्वारा आतिथ्य ग्रहण करना, प्रयाग में रूप और अनुपम से उनका समागम, वृन्दावन जाने के लिए उन्हें उत्साहित करना, बनारस में सनातन गोस्वामी द्वारा उनके स्वागत आदि का उल्लेख है।

अन्तिम अंक का नाम 'महोत्सव' है, जिसमें जगन्नाथ प्रभु की स्नान-दोलारथयात्रा तथा 'गुण्डिचामार्जनोत्सव' का वर्णन किया गया है। इस

चतुर्थ प्रकाश में भी मिलता है। इसी प्रकार का कथानक रूपगोस्वामी कृत 'दानकौमुदी' तथा रघुनाथदास कृत 'दानकेलिचिन्तामणि' में भी विस्तारपूर्वक प्राप्त होता है।

अंक की महत्वपूर्ण घटना शिवानन्दसेन द्वारा अपने पुत्र (सम्भवतः कवि-कर्णपूर) को महाप्रभु चैतन्य के सम्मुख लाना है।[1]

कथानक के सर्गानुसार विश्लेषण से स्पष्ट है कि 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' नाटक की कथावस्तु चैतन्य के भक्तिमय जीवन को केन्द्र-बिन्दु मानकर परिभ्रमण करती है। किन्तु चैतन्य का कार्यक्षेत्र तथा प्रभाव भगवान् बुद्ध की भांति विश्वव्यापी न होकर बंगाल तक ही सीमित था। फलतः उनके जीवन की घटनाएँ एवं अनुभव १० अंकों वाले नाटक के लिए पर्याप्त नहीं थे। इसलिए इस अभाव की पूर्ति के लिए कवि ने अनेक दीर्घ दार्शनिक संवादों की योजना की है, जिससे नाटक में कृत्रिमता और परम्परागत रुढ़ियाँ स्पष्ट दिखाई देने लगी हैं। यद्यपि इस नाटक में कवि का उद्देश्य साहित्यिक प्रभाव डालने के साथ ही साथ धार्मिक भावना भी है तथापि धार्मिक अनुभूति और भावना के सत्य होने पर भी उसकी उत्सुकता उतनी उत्कट और तीव्र नहीं है, जितनी होनी चाहिए। इसके विपरीत रुढ़िगत वेदान्ती दार्शनिक सिद्धान्तों ने उसके प्रभाव को अतिनाटकीय बना दिया है, जिसके कारण कहीं-कहीं ऐसा अभास होने लगता है कि नाटक का निर्माण गौड़ीयवैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए किया गया है। कहीं-कहीं पर अन्धविश्वासों और सिद्धान्तों की अधिकता अस्वाभाविकता उत्पन्न कर देती है। उदाहरणार्थ-प्रथम और द्वितीय अंक में चैतन्य और उनके अनुयायियों के मध्य ईश्वरीय ज्ञान-संबन्धी विस्तृत तत्त्वविवेचन, तृतीय अंक में प्रेमभक्ति और मैत्री के मध्य वार्त्ताएँ, षष्ठ सर्ग में सार्वभौम द्वारा द्वैतवाद पर वादविवाद एवं धार्मिक ग्रन्थों से दृष्टान्त देकर अपने मत को पुष्ट करना आदि सैद्धान्तिक वार्त्ताएँ दर्शकों के मस्तिष्क को बोझिल बना देती हैं तथा उसकी सहानुभूति अर्जित नहीं कर पाती हैं। इसके विपरीत ये तत्त्वविवेचन महाप्रभु चैतन्य के जीवन के गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्वों को पूर्ण रूप से प्रकाश में लाने में भी सर्वथा असमर्थ रहे हैं। साथ ही साहित्यिक और नाटचशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी इनका महत्त्व नहीं प्रतीत होता है। अपितु नाटक के नैसर्गिक विकास में अवरोधक अवश्य प्रतीत होते हैं। नाटक में कार्यान्विति का भी अभाव पाया जाता है। नाटक में घटनाओं की न्यूनता होने के कारण लम्बे-लम्बे वर्णनात्मक प्रसंगों की अधिकता हो गई है, जिसके कारण यह नाटक की अपेक्षा 'कथनीय

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम् १०।७.

आख्यान प्रतीत होने लगता है। जो नाटक को रंगमंचीय अभिनय से रोकता है। सम्भवतः इसी कारण डा० डे ने 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' को नाटक कहने की अपेक्षा नाट्य काव्य कहना अधिक समीचीन समझा है।[1] नाटक में घटनाएँ हैं, किन्तु वह एक दूसरें को स्वयं उत्पन्न नहीं करती हैं, अपितु उत्पन्न की गई हैं। फलस्वरुप उसमें पाश्चात्य नाटकों की भाँति बाह्य घटनाओं में घात-प्रतिघात गति नहीं उत्पन्न हो पाई है और न ही नाटकीय एवं अप्रत्याशित घटनाओं की मनोहारिणी शृंखला देख पड़ती है। नाटक में कुछ ऐसे भी तत्त्व हैं, जो विश्वसनीय नहीं हैं। अधिकांश घटनाओं की सूचना भी दे दी गई है और उन्हें रंगमंच पर उपस्थित भी किया गया है, जिससे कवि की नाट्यकला में शिथिलता आ गई है।

रचनाशैली की दृष्टि से 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' पर कृष्णमिश्र के 'प्रबोध-चन्द्रोदयम्' का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है, किन्तु इसमें प्रतीकात्मक, पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्रों के संमिश्रण होने के कारण इसे 'प्रबोध-चन्द्रोदयम्' की तरह विशुद्ध प्रतीकात्मक नाटक नहीं कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रतीकात्मक नाटकों में पाये जाने वाले सभी तत्त्व इसमें उपलब्ध नहीं हैं। प्रतीकात्मक पात्र—मैत्री, प्रेमभक्ति, विराग, कलि, अधर्म, रत्नाकर तथा गंगा कुछ विशेष सिद्धान्तों और शिक्षाओं के प्रतिरूप प्रतीत होते हैं, उनमें रक्तमांस से बने हुए व्यक्तियों की सी गरिमा, जीवित सत्ता, सजीवता तथा स्वाभाविकता का सर्वथा अभाव है, जो कृष्ण मिश्र द्वारा निरूपित पात्रों में पाई जाती है। पौराणिक पात्र—नारद, राधा, ललिता, सुबल, कुसुमासव, कृष्ण आदि का चित्रण उनकी मर्यादा के अनुकूल है। ऐतिहासिक पात्र—चैतन्य, प्रतापरुद्र, नित्यानन्द, अद्वैत, सार्वभौम, रामानन्द, स्वरूपदामोदर, मुरारि गुप्त, विश्वरूप, सनातनगोस्वामी, रूपगोस्वामी, हरिदास, वासुदेव, ब्रह्मानन्द भारती, परमानन्दपुरी, मुकुन्द, शिवानन्दसेन, गदाधर, शची आदि उल्लेखनीय हैं। पात्रों की अधिकता के कारण पात्रों का चरित्र विशेष रूप से उभर नहीं पाया है। किन्तु चैतन्य का चरित्र-चित्रण करने में कवि को विशेष सफलता मिली है। शची का ममत्व दर्शकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

---

१. De. S. K., The Early History of the Vaisnava paith And Movement in Bengal, P. 438.

नाटक का काव्य पक्ष कुछ अधिक सुन्दर बन पड़ा है, जिसे देखकर यह कहना पड़ता है कि कवि-कर्णपूर एक उच्चकोटि के कवि हैं। नाटक का पद्य ललित, सुरुचिपूर्ण और पवित्र भावनाओं से ओत प्रोत है। कहीं-कहीं पर भावपक्ष अत्यधिक उच्चकोटि का है। गद्य सुस्पष्ट, प्रवाहपूर्ण तथा कमनीय है। केवल एक दो स्थलों पर समासगर्भित शैली के दर्शन होते हैं। उनका छन्दकौशल अद्भुत है। लगभग सभी छन्दों का प्रयोग बड़ी कुशलता के साथ वर्ण्य विषय के अनुकूल किया गया है। नाटक में नाटकीय और साहित्यिक दोनों गुणों की झलक मिलती है। तृतीय अंक में गर्भांक नाटक की सफल योजना कर उन्होंने अपनी अपूर्व नाटचकला का परिचय दिया है। इस प्रकार के प्रयोग श्रीहर्ष, भवभूति तथा राजशेखर के नाटकों में पाये जाते हैं। महाप्रभु जगन्नाथ की रथयात्रा और स्नानदोला-यात्रा का जितना कलात्मक और भव्य चित्रण 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' में प्राप्त होता है, उतना सुन्दर वर्णन समस्त गौड़ीय वैष्णव साहित्य में दुर्लभ है। यद्यपि नाटक कालिदास जैसी उच्चकोटि की काव्यात्मक निसर्गावगाहिनी प्रतिभा से अलंकृत नहीं होने पाया है तथापि इसमें कवि की कला का विकास हुआ है, जिसके कारण इनकी यह रचना 'चैतन्यचरितामृतम्' की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ और उत्कृष्ट है।

नाटकीय दृष्टि से कुछ न्यूनताओं के होते हुए भी नाटक को प्रभावहीन या अर्थहीन नहीं कहा जा सकता है। नाटक की नाटकीय अपर्याप्तता स्पष्ट परिलक्षित होते हुए भी सम्पूर्ण नाटक का मिलकर प्रभाव अच्छा पड़ता है। नाटक में सजीवता और स्थिरता का नितान्त अभाव नहीं है। कुछ घटनाएँ केवल घटनामात्र ही नहीं हैं, अपितु सहृदय दर्शक के हृदय पर उसका मार्मिक प्रभाव पड़ता है, जिससे स्पष्ट है कि कवि कर्णपूर ने विस्तृत ऐतिहासिक कथानक को अपने उद्देश्य के अनुकूल सुसंगठित करने का प्रयास अवश्य किया है, भले ही उसमें क्रियाशीलता का अभाव है। पाश्चात्य आलोचक डा० लेवी ने 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' को एक शक्तिशाली व मौलिक नाटक स्वीकार किया है। उनके अनुसार इसमें बड़े ही प्रभावशाली ढंग से चैतन्य और उनके समकालीन साथियों को रंगमंच पर उपस्थित किया गया है।[1] इसके अतिरिक्त नाटक के ऐतिहासिक मूल्य की भी उपेक्षा नहीं

---

१. It is an original and powerful drama in which Kavi Karṇapūra

की जा सकती है। यह सत्य है कि कवि कर्णपूर एक भक्त कवि हैं, उन्हें गम्भीर ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता है, लेकिन नाटक को अनहोनी घटनाओं का समुदाय मात्र कहना उचित नहीं प्रतीत होता है। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर यह नाटक पूर्ण प्रकाश डालता है। वैष्णव साहित्य में 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' एक चिरस्मरणीय कृति है।

चम्पू-काव्य

आनन्दवृन्दावनचम्पू[1]

कवि कर्णपूर विरचित 'आनन्दवृन्दावनचम्पू'[2] संस्कृत साहित्य के समस्त चम्पूकाव्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसके कर्तृत्व की समस्या संदिग्ध नहीं है।[3] ग्रन्थ से प्राप्त होने वाले अन्तरंग प्रमाण निर्विरोध इसे कवि कर्णपूर की कृति प्रमाणित करते हैं। कवि ने स्वयं कहा है—

---

boldly brought Chaitanya and his companions on the stage. Foreword by Dr. Sylvan Levi to Dr. D. C. Sen's Chaitanya and His Age, P. XVIII.

२. संस्कृत साहित्य में 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' नामक दो ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। एक के कर्ता कवि-कर्णपूर है तथा दूसरे के केशवभट्ट (Aufrecht, T., Catologus Catalogorum, part I, p. 49.

२. क–पण्डित ओल्ड सीरिज काशी, खण्ड–९, १० तथा पण्डित न्यू सीरिज काशी, खण्ड-१–३, उद्धरण इसी संस्करण से दिये जा रहे हैं।

ख–मधुसूदन दास (सम्पादक), वृन्दावन चक्रवर्ती की सुखवर्तिनी टीका के साथ प्रथम से लेकर नवम स्तवक पर्यन्त बंगाली अनुवाद सहित, हुगली १९१९ ई०

ग–पुरीदास (सम्पादक), वृन्दावन चक्रवर्ती की सुखवर्तिनी टीका सहित, कलकत्ता १८७१. ई०

घ–सुखवर्त्तिनी टीका के साथ, वम्बई १८६७ ई०

ङ–मथुरा १८९८. ई०

ट–श्रीवनमालिदासशास्त्री (सम्पादक) 'श्रीकृष्णानन्द स्वर्गाश्रम वृन्दावन, १९७४ ई०

ठ–नित्यानन्ददायिनी पत्रिका भाग–२, कलकत्ता १८७१.

३. हरिमोहन प्रामाणिक के उल्लेखानुसार कतिपय विद्वान् 'आनन्दवृन्दावनचम्पू'

आनन्दवृन्दावननामधेयां चम्पूमिमां कृष्णचरित्रचित्राम्।
मनोविनोदाय रसग्रहाणां चक्रे स्वमोदाय च कर्णपूरः ॥[1]

चैतन्यकृष्णकरुणोदितवाग्विभूति-
स्तन्मात्रजीवनधनस्य जनस्य पुत्रः।
श्रीनाथपादकमलस्मृतिशुद्धबुद्धि-
श्चम्पूमिमां रचितवान् कविकर्णपूरः ॥[2]

उपर्युक्त साक्ष्य के अतिरिक्त कवि कर्णपूर की एक अन्य कृति 'गौरगणोद्देशदीपिका' के मंगलाचरण का एक श्लोक भी इसमें उपलब्ध है, जिसमें कवि ने अपने गुरु श्रीनाथ का उल्लेख किया है—

गुरुं नः श्रीनाथाभिधमवनिदेवान्वयविधुं
नुमो भूषारत्नं भुव इव विभोरस्य दयितम्।
यदास्यादुन्मीलन्निरवकरवृन्दावनरहः
कथास्वादं लब्ध्वा जगति न जनः कोऽपि रमते ॥[3]

उपर्युक्त अन्तरंग प्रमाणों के अतिरिक्त कतिपय बाह्य प्रमाण भी इस सम्बन्ध में प्राप्त हैं। कवि कर्णपूर ने अपने 'अलंकारकौस्तुभः' में अनेक स्थलों पर 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' से उद्धरण दिये हैं,[4] जिसका उल्लेख उनके टीकाकार वृन्दावन चक्रवर्ती ने अपनी टीका में किया है।[5] 'आनन्दवृन्दावन-

---

को रूपगोस्वामी कृत स्वीकार करते हैं (भारतवर्षीय कविदिगेर समय निरूपण, पृ० ११८) पूर्वोक्त कथन की निरर्थकता कवि प्रदत्त साक्ष्यों से स्वयमेव प्रकट हो जाती है। कारण, ग्रन्थ के आदि और अन्त दोनों ही स्थलों पर कवि कर्णपूर ने अपना उल्लेख ग्रन्थकर्ता के रूप में किया है (१।१५, २२।६१.)

१. कवि कर्णपूर. आनन्दवृन्दावनचम्पू (पण्डित ओल्ड सीरिज काशी, खण्ड–९) ९।१।१५
२. वही, (पण्डित न्यू सीरिज काशी, खण्ड–३), २२।६१.
३. अ–वही, (पण्डित ओल्ड सीरिज काशी, खण्ड–९), १।५.
ब–कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ३.
४. 'अलंकारकौस्तुभः' के पृ० ३२, १६०, १६१, २९१, ३८१, ३८२ पर 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के पद्य उद्धृत हैं।
५. कवि कर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू (पण्डित न्यू सीरिज काशी, खण्ड–३). २०।१५०,

चम्पू' कवि कर्णपूर की ही कृति है, इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए पूर्वोक्त अन्तरंग एवं बाह्य प्रमाण यथेष्ट हैं।

'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के रचनाकाल के सम्बन्ध में अन्तरंग एवं बाह्य दोनों ही प्रमाणों का अभाव है। अनुमान बल से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि चम्पू की रचना कवि कर्णपूर ने 'गौरगणोद्देशदीपिका' के पश्चात् तथा 'अलंकारकौस्तुभः' से पूर्व की होगी। क्योंकि 'गौरगणोद्देशदीपिका' का एक श्लोक 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में प्राप्त है तथा 'अलंकारकौस्तुभः' में 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' से उद्धरण दिये गये हैं। 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में इन दोनों में से किसी भी कृति का उल्लेख नहीं किया गया है। 'गौरगणोद्देशदीपिका' का रचनाकाल १५७६ ई० निश्चित किया गया है। अतएव 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' का निर्माण-काल अवश्य ही १५७७ ई० के पश्चात् का काल (१५७७–१५८०) रहा होगा। प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन से भी प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का सृजन कवि ने निश्चिन्त होकर धीरे-धीरे अपनी वृद्धावस्था में किया होगा। ग्रन्थ के आरम्भ में कवि कर्णपूर ने केवल महाप्रभुचैतन्य के परलोक गमन पर ही शोक प्रकट नहीं किया है, अपितु उनके पार्षदों एवं शिष्यों के लिए भी शोक अभिव्यक्त किया है—

गते स्वस्वाभीष्टं पदमहह चैतन्यभगवत्-
परीवारे पश्चात् गतवति च तस्मिन् निजपदम्।
विलुप्ता वैदग्धी प्रणयरसरीतिर्विगलिता
निरालम्बो जातः सुकविकवितायाः परिमलः ॥[1]

उपर्युक्त साक्ष्य से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि ये आचार्य विदग्ध-धी एवं प्रणय रस के प्रतिरूप थे। ग्रन्थ के रचनाकाल के समय तक वे चैतन्य का अनुगमन अर्थात् स्वर्गलोक जा चुके थे। शनैः शनै महाप्रभु चैतन्य का प्रभाव भी क्षीण होने लगा था। कवि के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का निर्माण-काल उनके जीवन का उत्तरार्द्ध काल था। किन्तु इस सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रामाणिक तिथि नहीं दी जा सकती है।

ग्रन्थ के शीर्षक 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' से ही स्पष्ट है कि ग्रन्थ का अभिधेय कृष्ण की वृन्दावन की नित्य लीला है। कथा का मूल स्रोत 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित श्रीकृष्णलीला है, जिसे उन्होंने अपने गुरु श्रीनाथ से सुनी थी।[2]

१. कविकर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू (पण्डित ओल्डसीरिज काशी, खण्ड-९),१।६.
२. वही, १।५

'श्रीमद्भागवत' में मुख्यत: जन्मोत्सव से लेकर रासलीला तक का ही वर्णन है। कवि कर्णपूर ने इसी कथा में व्रजबालाओं एवं कृष्ण के होलिका और दोला उत्सव को और प्रक्षिप्त कर दिया है।[1] समस्त-चम्पू २२ स्तवकों में विभाजित है। प्रथम स्तवक का नाम "भगवत् स्थानतत्त्ववल्लीविस्तार" है, जिसमें अत्यधिक आलंकारिक शैली में वृन्दावन तथा वहाँ के निवासियों का अतिरंजित चित्र उपस्थित किया है।

द्वितीय से लेकर सप्तम स्तवक का नाम 'बाल्यलीलालताविस्तार' है। इसमें कृष्ण के जन्म तथा उनके बाल्यजीवन का ललित वर्णन है। तृतीय स्तवक में पूतना-वध तथा मथुरा से गोकुल प्रत्यावर्तन पर नन्द और यशोदा का करुण विलाप उपनिबद्ध है। चतुर्थ स्तवक में कृष्ण के द्वारा विहित 'शंकटभञ्जन' तथा 'तृष्णावर्तवध' का चित्रण है। पञ्चम स्तवक में कृष्ण की मनोहर बाल्यक्रीड़ाओं का स्निग्ध चित्रण है। कृष्ण का 'नामकरण' संस्कार तथा माता यशोदा को कृष्ण के अलौकिक ईश्वरीय रूप का दर्शन इसी स्तवक में होता है। षष्ठ स्तवक में कृष्ण के 'दामबन्धन', 'यमलार्जुन-मोचन' आदि कृत्यों में प्रदर्शित पराक्रम का वर्णन है। सप्तम स्तवक में वत्सराक्षसवध, वन भोजन तथा अभिमानी ब्राह्मणों का गर्वचूर्ण आदि प्रसिद्ध घटनाओं का उल्लेख है।

अष्टम सर्ग से लेकर द्वाविंशति स्तवक तक का नाम 'किशोरलीला विस्तार' हैं, जिनमें कृष्ण की किशोरावस्था तथा यौवनावस्था की मधुर क्रीड़ाओं का चित्रण है। अष्टम स्तवक में गोपिकाओं के 'पूर्वराग', 'कन्दुक क्रीड़ा' तथा 'धेनुकराक्षसवध' का वर्णन है। नवम स्तवक में 'कालियादाह' का वर्णन है। दशम स्तवक मे राधा की ओर से कृष्ण को अभिसार के लिए सन्देश, भोजन बनाने तथा परोसने आदि का परम्परागत शैली में वर्णन है। एकादश स्तवक में ग्रीष्मऋतु, प्रलम्बवध, शरदऋतु, वंशीवादन तथा राधा-कृष्ण की क्रीड़ाओं का वर्णन है।

द्वादश स्तवक में गोपिकाओं के वस्त्रहरण का वर्णन है। त्रयोदश स्तवक में ब्राह्मण-पत्नियों के प्रति कृष्ण का अनुग्रह वर्णित है। चतुर्दश स्तवक में अनेक पर्वों और उत्सवों का आकर्षक चित्रण है। पञ्चदश स्तवक में गोवर्धन पर्वत धारण करने का वर्णन है। सप्तदश से लेकर विंशति स्तवक

१. कवि कर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू (पण्डित ओल्ड सीरीज काशी, खण्ड–९), ११।१, सुखवर्तिनी टीका, पृ० १०६.

पर्यन्त कृष्ण की रसपूर्ण क्रीड़ाएँ वर्णित हैं। एकविंशति स्तवक में कृष्ण की वंशी चुराने का चित्रण है। द्वाविंशति स्तवक में दोलापर्व का मनोहारी दृश्यांकन किया गया है।

कथानक का सर्गानुसार विश्लेषण करने के पश्चात् यह स्पष्ट है कि कवि कर्णपूर ने कृष्ण की वृन्दावन को नित्यलीला से सम्बद्ध प्रमुख घटनाओं को अपने चम्पू में स्थान दिया है। अपने को केवल प्रेमक्रीड़ाओं के उपवनों में ही परिसीमित नहीं किया है, अपितु जीवन की सभी परिस्थितियों का चित्रण किया है।

'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में कवि कर्णपूर की गद्यशैली तीन प्रकार की दृष्टिगोचर होती है; प्रथम-दीर्घसमास वाली 'उत्कलिका', द्वितीय-अल्पसमास वाली 'चूर्णक' तथा तृतीय-समासरहित 'आविद्ध'। चतुर शिल्पी की भांति कवि कर्णपूर ने इन शैलियों का स्थान के अनुरूप प्रयोग किया है। प्रायः बड़े-बड़े वर्णनों में 'उत्कलिका' शैली का आश्रय लिया गया है। बीच-बीच में 'चूर्णक' और 'आविद्ध' को प्रश्रय दिया गया है, जिससे वर्णन बोझिल बनकर पाठक के मन को आक्रान्त न कर दे। तथापि इसमें कवि कर्णपूर की अन्य कृतियों के विपरीत आडम्बरयुक्त आलंकारिक शैली के दर्शन होते हैं। 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' का गद्य सरल, सुबोध तथा सुगम है, अतएव वहाँ भावाभिव्यक्ति नैसर्गिक प्रतीत होती है। किन्तु यहाँ अलंकृत शैली होने के कारण भावाभिव्यक्ति का साधन नैसर्गिक न होकर कुछ कृत्रिम सा हो गया है। फलतः काव्य सुकुमार बुद्धि वाले सहृदयों की अपेक्षा पण्डित वर्ग के लिए सीमित हो गया है। उदाहरणार्थ-वृन्दावन का एक चित्र प्रस्तुत है—

निरन्तरालविराजमानज्योतिश्चक्रमप्यविकर्तनमनिशेशमभौमं विबुधमजीवमकविग्रम्यममदं विकेतुवितमो निस्तारकम्, स्वतेजसा तु सुभास्वत् सुपीयूषकिरणं सुमंगलं सुबुधं सुजीवं सुकविगम्यं सुभानवम् सुकेतु सुतमो सुतारकं, भूविशेषकमपि न भूविशेषकम्, सदा सक्षणमपि क्षणरहितं व्यापकमपि नव्यापकं किञ्चन निखिलगुणवृन्दावनं वृन्दावनं नाम वनम्॥[1]

इसी प्रकार एक गोपिका का चित्र द्रष्टव्य है—

तासामपि कौमारापगमे ऋजूभूय वर्धिता मञ्जरीव तिरश्चीना दृष्टिः हेमन्तदिनमिव क्रमहीयमानं हसितं, काव्यगुणविशेष इव वाक्यार्थेऽपि

१. कवि कर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू (पण्डित ओल्ड सीरिज काशी, खण्ड-९), १।२२-२४.

पदमात्रप्रयोगो व्याहारः, वलीकप्रान्तनिस्यन्दी निर्वृष्टजलधरजलबिन्दु-संदोह इव क्रममन्द-मन्दश्चरणविहारः। दीनैलब्धमहारत्नमिव जनलोकन-संकोचाच्छन्नं वक्षः, अर्घपात्रमिव अवगुण्ठनमुद्रयावगुण्ठितमुत्तमाङ्गम्, अन्तर्वर्तिरत्नशलाकं मृणालशकलमिव कौमारापगमेन निष्क्रष्टमपि कयापि देवतयेव जुष्टमानसं, कौमारपरिचितानपरिचितानिव विषयान् कुर्वाणं ज्ञानम्।...येन च तासामपि उत्कलिका, मनोभूर्मनोभूः, मनोरथो-मनोरथो, रतिरतिद्राघीयसो, त्रपात्रपारशून्या, साध्वसं साध्वसंकोचम् उच्चैररति-ररतिग्मा, अनुत्साहोऽनुत्साहो, वैमनस्यं वै-मनस्यन्दुकप्रायम्॥[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि उनका काव्य श्लेष, उपमा, विरोधाभास तथा अन्य शाब्दिक चमत्कार का दुर्गम महाकान्तार है, जिसमें वास्तविक काव्य सौन्दर्य को खोजना कुछ कठिन सा प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, कवि ने एक से एक मार्मिक मुहावरों तथा वक्रोक्ति का सफल प्रयोग किया है। वर्णन दीर्घ हैं। किसी वस्तु का वर्णन करते समय प्रस्तुत प्रसंग को तब तक विराम नहीं दिया गया है, जब तक वह पूर्णतया आलोडित नहीं हो गया है। कोई पर्यायवाची विशेषण 'शिलष्ट या लाक्षणिक प्रयोग अवशेष नहीं रहा है। उनकी कल्पना मुक्तहस्त होकर अजस्र काव्यत्व की वृष्टि करती चली है।

'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में कवि कर्णपूर का भाषा-कौशल और कल्पना-वैचित्र्य अद्भुत है। शब्दचित्रों में विविधता है, लेकिन प्रभविष्णुता नहीं। इस प्रकार की शैली पुनः बाणभट्ट की 'हर्षचरितम्' एवं 'कादम्बरी' तथा सुबन्धु की 'वासवदत्ता' के गौरव का स्मरण करा देती है, जिसका कवि कर्णपूर पर प्रभाव परिलक्षित होता है। कवि सदैव इस बात के लिए सतर्क रहा है कि भावाभिव्यक्ति के लिए नूतन दृष्टान्तों का प्रयोग किया जाये। उन्होंने अत्यन्त कुशलता से विस्मय उत्पन्न करने वाले शब्दों का भण्डार निर्मित किया है। उनके गद्य में एक ही ध्वनि उत्पन्न करने वाले ललित पदविन्यास की मधुर झंकार कर्णप्रिय प्रतीत होती है। एक ही वाक्य में अनेक प्रकार से समास करने पर भिन्न-भिन्न अर्थों की उपलब्धि होती है। अनेक पाण्डित्यपूर्ण नवीन कल्पनाओं की उद्भावना की गई है। काव्यत्व के प्रकाश में अनेक गूढ़ दार्शनिक अस्पष्ट गुत्थियों को सुलझाने की चेष्टा

१. कविकर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू (पण्डित ओल्ड सीरिज काशी, खण्ड–९), ८।१०।११।१६.

की गई है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं पर कुछ ऐसे श्लोकों की प्राप्ति हो जाती है, जो स्पष्ट सरल तथा भावपूर्ण हैं। लेकिन ऐसे स्थलों की संख्या अति न्यून है।

उपर्युक्त विवेचन से कवि कर्णपूर की साहित्यिक प्रतिभा पर सन्देह नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि समासप्रधान आलंकारिक शैली, श्लेष, वक्रोक्ति एवं विरोधाभास का शाब्दिक वैचित्र्य तथा गूढ़ दार्शनिक ग्रन्थियों का काव्य में समावेश, यह सब उस युग की देन थी, जिसका कवि कर्णपूर ने सफलतापूर्वक अनुकरण किया है। इसके अतिरिक्त संस्कृत कवियों ने चम्पू काव्य के निमित्त विशेषतः आडम्बर युक्त आलंकारिक शैली का चयन किया है। अतएव इस प्रकार की शैली के लिए कवि को दोष नहीं दिया जा सकता है। उनका गद्य व्यावहारिक कार्यों के लिए भले ही अनुपयुक्त है, लेकिन पण्डित वर्ग के, लिए आज भी पठनीय है। निष्कर्ष रूप में 'आनन्द-वृन्दावनचम्पू' संस्कृत के समस्त चम्पू काव्यों का प्रतिनिधि काव्य है, साथ ही कवि कर्णपूर की अक्षय कीर्ति का आधार-स्तम्भ भी है। वस्तुतः कालिदास के 'मेघदूत' की भाँति केवल 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' की रचना मात्र से कवि का कर्णपूर नाम सार्थक हो सकता था।

लक्षण-ग्रन्थ

अलंकार कौस्तुभः—

कवि कर्णपूर प्रणीत अलंकारकौस्तुभः[1] सोलहवीं शताब्दी के समस्त अलंकार विषयक ग्रन्थों का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। कवि ने भरत मुनि से लेकर भोजदेव पर्यन्त विशाल साहित्य का मन्थन कर उसमें से निःसृत होने वाले सारभूत नवनीत स्वरूप 'अलंकार कौस्तुभः' का निर्माण किया है। 'अलंकार-कौस्तुभः' की लोकप्रियता उसपर प्राप्त होने वाली विभिन्न टीकाओं से स्पष्ट है। 'अलंकारकौस्तुभः' की टीकाओं तथा टीकाकारों का परिचय विभिन्न पुस्तकालयों से प्राप्त होने वाली हस्तलिपियों से प्राप्त होता है।

---

१. अ—शिवप्रसाद भट्टाचार्य (सम्पादक), वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, १९२३-२४ ई० (उद्धरण इसी संस्करण से दिये जा रहे हैं)।
ब—बंगलानुवाद तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती की सुखबोधिनी टीका सहित, राधारमण प्रेस, मुर्शिदाबाद १९०७ ई०।
स—वृन्दावन १९५५ ई०।

प्राप्य साक्ष्यों के अनुसार 'अलंकारकौस्तुभः' पर पण्डित सार्वभौम की टीका[1], कृष्ण मोहन गोस्वामी की रोचनाख्यां टीका[2], कवि कर्णपूर तथा कृष्ण मोहन गोस्वामी की सम्मिलित टीका[3], लोकनाथ चक्रवर्ती की टीका[4], वृन्दावनचन्द्रतर्कालंकार की 'दीधित प्रकाशिका टीका'[5] तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती की सुखबोधिनी टीका है।[6]

---

१. क–सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी, हस्तलिपि सं० ४१०६०।
ख–An Alphabetical typed list of the Sanskrit Manuscript. in the collection of the Dacca University, Dacca. Mss. No. 2363, 2394, 3471, 3472, 4510.

२. सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी, हस्तलिपि सं० ४१०५९।

३. वही, हस्तलिपि सं० ४३०६१।

४. (क) Mitra, R. L., Notices of Sanskrit Manuscripts, Vol. IV., Mss. No. 1662, 1663.
(ख) Shastri, H. P., Descriptine Catalogue of Sanskrit Manuscripts in Asiatic Society of Bengal, Vot. VI, Ms. No. 4870/4595.
(ग) Catalogue of Printed Books and Manuscripts in Sanskrit belonging to the Oriental Library of Asiatic Society of Bengal, compiled by Pandit Kunja Vihari Nyaya-bhushan, under the Supervision of H. P. Shastri 1 Fascicles, Calcutta, 1899, Ms, No. I. A. 10, p. 13
(घ) A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Vangiya Sahitya Parishat Series No. 85., P. 214.
(ङ) A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the library of H. H. the Maharaja of Alwar by Peterson, Bombay 1892. Ms No. 1034.
(च) Aufrecht, T., Catalogus Catalogorum, Part I, p. 13

५. (अ) वही, पृ. ३१.
(ब) A Catalogue of Sanskrit and Prakrt Manuscripts in the India office library by Julius Eggeling, Part III, Ms No. 1195.

६. De, S. K., Sanskrit Poetics, p. 257

'अलंकारकौस्तुभ' कवि कर्णपूर की ही रचना है। इस सम्बन्ध में अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों हीं प्रमाण उपलब्ध हैं। पूर्वोक्त ग्रन्थ में कवि ने 'चैतन्यचन्द्रोदयम्'[1] तथा 'आनन्दवृन्दावनचम्पू'[2] से कुछ उद्धरण दिये हैं। अपने गुरु श्रीनाथ का उल्लेख किया है[3], साथ ही उनके ग्रन्थ से भी कुछ उद्धरण भी दिये है।[4] इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त सभी टीकाकारों ने टीका के प्रारम्भ में कवि कर्णपूर का उल्लेख किया है। मुद्रित पुस्तक में स्पष्टतया उल्लेख किया गया है—'अथ सोऽयं कविमुकुटमणिः श्रीकर्णपूरस्वकृत-श्लोकानां स्वयमेव टीकामाह'[5]। इसके अतिरिक्त कवि कर्णपूर के प्रसिद्ध टीकाकार वृन्दावन चक्रवर्ती ने 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' की 'सुखवर्तिनी' टीका में 'अलंकार कौस्तुभ' का उल्लेख किया है।[6] 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' का बंग भाषा में भावानुवाद करने वाले प्रेमदास ने कवि कर्णपूर की कृतियों का उल्लेख करते समय 'अलंकारकौस्तुभम्' का उल्लेख किया है।[7] उपर्युक्त अन्तरंग एवं बाह्य साक्ष्य इस तथ्य का समर्थन करते हैं कि 'अलंकार-कौस्तुभ' कवि कर्णपूर की ही रचना है। आधुनिक विद्वान् हरिमोहन प्रामाणिक,[8] डा. डे,[9] कृष्णामाचारी[10] आदि पूर्वोक्त मत से सहमत हैं।

---

१. 'अलंकारकौस्तुभः' के पृ. १०६, ३२८, ३२९ पर क्रमशः 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' का 'दृष्टा भागवताः.........रामाय तुभ्यं नमः' (१०।७८) एवं किं गेयं.........। श्रीकृष्णराधाभिधे ।। (७।१०) पद उद्धृत हैं।

२. 'अलंकारकौस्तुभः' के पृ. ३२, १६०, १६१, २९२, ३८१, ३८२ पर 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के पद उद्धृत हैं।

३. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ. २७३

४. वही, पृ. ७९, ३७१

५. वही, पृ. २

६. कविकर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू, (पण्डित न्यू सीरिज, काशी, खण्ड–३,), २०।१५०, १५७वें श्लोक का टीका।

७. प्रेमदास, चैतन्यचन्द्रोदय कौमुदी, पृ. ४८६

८. हरिमोहन प्रामाणिक, भारतवर्षीय कविदिगेर समयनिरूपण, पृ. ११७

९. (अ) De, S. K., The Early History of the Vaiṣṇava Faith And Movement in Bengal, P. 35

(ब) De, S. K., Sanskrit Poetics, P. 255

१०. Kṛṣṇamāchāri, History of Classical Sanskrit Literature, p. 290

'अलंकार कौस्तुभ' के रचनाकाल के सम्बन्ध में ग्रन्थ से कोई सहायता नहीं मिलती है। उनके टीकाकारों ने भी इस सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं दिया हैं। किन्तु इतना स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ की रचना अवश्य ही 'चैतन्य-चन्द्रोदयम्' तथा 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के पश्चात् हुई होगी, क्योंकि पूर्वोक्त दोनों ही ग्रन्थों के उद्धरण 'अलंकार कौस्तुभ' में दिये गये हैं। 'आनन्द-वृन्दावनचम्पू' का समय अनुमान बल से १५७७ ई. से १५८० ई. तक का समय निश्चित किया गया है। तदनुसार 'अलंकार कौस्तुभ' का रचना काल भी १५८० ई. के पश्चात् का ही समय होगा। साक्ष्यों के अभाव में कोई निश्चित तिथि नहीं दी जा सकती है।

'अलंकारकौस्तुभ' मम्मट के 'काव्यप्रकाश' की शैली पर रचा गया है। कारिका एवं वृत्ति दोनों के ही रचयिता कवि कर्णपूर ही हैं। सम्पूर्ण ग्रत्थ १० किरणों में विभक्त है। प्रथम किरण का नाम 'काव्यादि सायान्योद्देश' है, जिसमें सर्वप्रथम ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मङ्गलाचरण का विधान करने के उपरान्त ग्रन्थ के अभिधेय का निर्देश उपमा अलङ्कार के माध्यम से किया गया है, यथा—

स जयति येन प्रभवति दृशि सुदृशां व्यञ्जनावृत्तिः।
अतिशयितपदपदार्थो ध्वनिरिव मुरलीध्वनिर्मुरारातेः॥[1]

ध्वनि को ग्रन्थ का अभिधेय उल्लिखित करने के पश्चात् उसकी सर्वोत्कर्षता योगशास्त्र के आधार पर प्रमाणित की गई है।[2] तदनन्तर राजशेखर की भाँति काव्य की कल्पना पुरुष[3] रूप में करते हुए ध्वनि का काव्य पुरुष में प्राणत्व निरूपित करने के पश्चात् काव्य के शरीरादि सामान्य-स्वरूप का उल्लेख किया गया है।[4] तत्पश्चात् काव्य का लक्षण किया गया है।[5] तदनन्तर कवि लक्षण तथा कवि कर्म की हेतुभूता प्रतिभा का निरूपण किया गया है।[6] किरण के अवशेष भाग में पूर्व आचार्यों द्वारा कथित काव्य के तीन भेदों—उत्तम, मध्यम एवं अवर[7] का उल्लेख करने के पश्चात्

१. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, १–२.
२. वही, पृ. ३.
३. राजशेखर, काव्यमीमांसा, तृतीय अध्याय, पृ. १४–१५.
४. वही, १–१.
५. वही, १–२.
६. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ. ११–१२.
७. वही, १,६.

स्वमत से काव्य के चार भेदों—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम एवं अवर[1] का उल्लेख करते हुए प्रत्येक काव्य प्रकार का सोदाहरण विवेचन किया गया है। अन्त में काव्य का प्रयोजन का निरूपण किया गया है।[2]

द्वितीय किरण का नाम 'शब्दार्थनिरूपण' है। किरण के प्रारम्भ में शब्द की उत्पत्ति, एवं स्फोटवाद को स्पष्ट करते हुए अनेक मत मतान्तरों का उल्लेख किया गया है। शब्द के साधु, असाधु दो भेदों का उल्लेख करते हुये साधु शब्द के चार भेदों-जाति, क्रिया, गुण, एवं द्रव्य का स्वरूप निर्धारण किया गया है।[3] पूर्व आचार्यों द्वारा अनुमोदित शब्द के तीन प्रमुख भेदों—मुख्य, लाक्षणिक एवं व्यञ्जक[4] का भलीभाँति निरूपण करने के पश्चात् शब्द की तीन वृत्तियों—अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना-का सामान्य लक्षण तथा उनके भेदोपभेद का विस्तृत विवेचन किया गया है।[5] किरण के शेष भाग में अर्थ के तीन भेदों—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ का सूक्ष्म पर्यालोचन किया गया है।[6]

तृतीय किरण का नाम 'ध्वनिनिर्णय' है। इसमें सर्व प्रथम ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति अर्थात् 'शब्दार्थादिभिरन्यैश्च ध्वन्यतेऽसाविति ध्वनिः' कहकर 'ध्वननम्' 'इति ध्वनिः', 'ध्वन्यतेऽनेनेति ध्वनिः' एवं 'ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिरिति' का निराश किया गया है।[7] तदनन्तर ध्वनि के दो भेदों—अभिधा मूला एवं लक्षणामूला[8], अभिधामूला के दो प्रमुख भेदों—लक्ष्यक्रम एवं अलक्ष्यक्रम,[9] अलक्ष्यक्रमध्वनि के अनेक भेदों—रस, भाव, तदाभास, भावशान्ति आदि[10] का वर्णन किया गया है। तदनन्तर लक्ष्यक्रमध्वनि के तीन भेदों—शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ एवं उभयशक्त्युथ,[11] शब्दशक्त्युत्थ

१. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, १।७.
२. वही, १।८.
३. वही, २।१२.
४. वही, २।१३.
५. वही, २।१६–२६.
६. वही, २।३०–३२.
७. वही, ३।३४.
८. वही, ३।३६.
९. वही, ३।३८.
१०. वही, ३।३६.
११. वही, ३।४०.

ध्वनि के दो भेदों—वस्तुध्वनि एवं अलंकार ध्वनि,[1] अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के १२ भेदों[2] तथा उभयशक्त्युत्थ ध्वनि का एक प्रकार 'शब्दार्थभूरेक एव'[3] का उल्लेख किया गया है। किरण के अवशेष भाग में ध्वनि के भेदोपभेद का विस्तार करके (ध्वनि के) कुल १०४५४ भेद स्वीकृत किये गये हैं।[4]

चतुर्थ किरण का नाम 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' निर्णय है। इसमें सर्व प्रथम 'गुणीभूतव्यंग्य' काव्य के आठ भेदों—स्फुट, अपरांग, वाच्यप्रपोषक, कष्टगम्य, संदिग्धप्राधान्य, तुल्यप्राधान्य; काकुगम्य, अमनोज्ञ का उल्लेख करने के पश्चात् प्रत्येक का पृथक् पृथक् सोदाहरण विवेचन किया गया है।[5] तदनन्तर ध्वनि के भेदों के साथ मिलाकर उनका विस्तार किया गया है।

पञ्चम किरण का नाम रसनिरूपण है। सर्वप्रथम भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या के पश्चात् अनुभाव, विभाव, स्थायीभाव, संचारीभाव एवं सात्त्विक भाव का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। तदनन्तर रस साक्षात्कार, सामाजिक में रसस्थिति, प्राकृत आलम्बन में रस स्थिति का खण्डन, रसाभास, परकीयावाद, भोजकथित एकादश रसों का उल्लेख, भक्तिरस सहित द्वादस रसों का पृथक् पृथक् सोदाहरण निरूपण किया गया है। किरण के शेष भाग में शृंगार रस के समस्त अनुभाव, विभाव एवं व्यभिचारी भावों का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् अन्त में भावोदय, भावशान्ति, भावशबलता आदि का निरूपण किया गया है।

षष्ठ किरण का नाम 'गुण' विवेचन है। किरण के प्रारम्भ में गुण का सामान्य लक्षण,[6] पूर्व आचार्यों द्वारा किये गये गुण लक्षण का मूल्यांकन,[7] गुण के तीन भेद—माधुर्य, ओज एवं प्रसाद,[8] पूर्व आलंकारिकों द्वारा कथित गुण के दश भेदों का पूर्वोक्त तीनों भेदों में अन्तर्भाव[9] तथा अन्त में गुणों की व्यञ्जक वर्णरचना का सोदाहरण वर्णन किया गया है।[10]

---

१. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ३।४१.
२. वही, ३।४२–४४.
३. वही, ३।४५.
४. वही, ३।५७.
५. वही, ४।५६.
६. वही, ६।१७६.
७. वही, ६।१७७.
८. वही, ६।१७८, १७९.
९. वही, ६।१८०–१८५.
१०. वही, ६।१८६.

सप्तम किरण में शब्दलंकारों का निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि मुख्य शब्दालंकारों के भेदोपभेद का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। तदन्तर चित्र काव्य के भेदों—प्रतिलोमानुलोमपाद, प्रतिलोमानुलोमश्लोक, महासर्वतोभद्र, सर्वत्रोभद्र, छत्रबन्ध, खंगबन्ध, मुजरबन्ध, पताकाबन्घ, गदाबन्ध, चक्रबन्ध, शार्ङ्गबन्ध, एकाक्षर, पुनरुक्तवदाभास आदि का विस्तार पूर्वक निरूपण किया गया है।

अष्टम किरण में अर्थालंकार का निरूपण किया गया है। अर्थालंकारों में सर्वप्रथम उपमा, उपमा के समस्त भेदों, अनन्वययोपमा, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान्, सन्देह, रूपक, अपह्नुति, अर्थश्लेष, समासोक्ति, निर्दर्शना, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोध, स्वभावोक्ति, ब्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, काव्यलिङ्ग, पर्यायोक्ति, उदात्त, समुच्चय, पर्य्याय, अनुभावन, परिकर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य उत्तर; सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, स्मरण, प्रतीप, सामान्य, विशेष तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात, संसृष्टि, संकर आदि अलंकारों का सूक्ष्म विवेचन मम्मट आदि आचार्यों द्वारा प्रवर्तित परिपाटी पर किया गया है। किरण के अवशेष भाग में रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि एवं समाहित आदि रसपोषक अलंकारों का निरूपण किया गया है। अन्त में शब्दालंकारों के दोषों का उल्लेख किया गया है।

नवम किरण का नाम 'रीति-निरूपण' है। इसके अन्तर्गत रीति का सामान्यलक्षण,[1] उसके चार भेदों—वैदर्भी, पाञ्चाली, गौड़ी, लाटी का उल्लेख[2] करने के पश्चात् उनका पृथक्-पृथक् सोदाहरण निरूपण किया गया है।[3]

अन्तिम किरण दशम (दशम) का नाम 'दोष दर्शन' है। किरण के प्रारम्भ में दोषों का सामान्य लक्षण,[4] दोष के दो प्रकार 'सहृदयानामसहिष्णुता' एवं सहिष्णुता',[5] श्रुतिकटु, समासगत आदि षोडश दोषों में से प्रथम १३ का पदगत एवं समासगत होना, अन्तिम तीन का केवल समासगत होना निरूपित किया गया है।[6] तदनन्तर इसके

१. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ६।३२६.
२. वही, ६।३३०.
३. वही, ६।३३१–३३६.
४. वही, १०।३३७.
५. वही, १०।३४०.
६. वही, १०।३४२.

पदगत, समासगत, वाक्यगत एवं पदांशगत चारों ही प्रकारों का सोदाहरण वर्णन किया गया है। अन्त में रसदोष एवं उसके परिहार्य का विवेचन किया गया है।

'अलंकारकौस्तुभ' में कविकर्णपूर की सारग्राहिणी प्रतिभा एवं विवेचन शैली सर्वत्र परिलक्षित होती है। पूर्वोल्लिखित विषय सामग्री का विवेचन करते समय उन्होंने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरण–पाणिनि,[1] पातञ्जलि,[2] अमरकोषकार,[3] आलंकारिक भरत मुनि[4], दण्डी,[5] वामन,[6] आनन्दवर्धन,[7] मम्मट,[8] विश्वनाथ,[9] भोजराज,[10] अनन्तदास,[11] कुमारिभट्ट,[12] पुष्पराज,[13] रूपगोस्वामी[14] तथा दार्शनिक शंकराचार्य[15] आदि के ग्रन्थों से यथासम्भव सहायता ली है। इसके अतिरिक्त महाभारत,[16] अग्निपुराण,[17] भागवतपुराण,[18] योगवशिष्ट रामायण,[19] रघुवंश,[20] अनर्घराघव,[21]

---

१. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ. ३६.
२. वही, पृ. ४१.
३. वही, पृ. १६, ३५१, ३५९.
४. वही, पृ. ११७.
५. वही, पृ. २३९.
६. वही, पृ. ९, ११, १३. ३४७.
७. वही, पृ. २७, ४२, ४९, ८२, १०४, १०५, २४०, ३९६.
८. वही, पृ. ८, १३, २०, २७, ४२, ४९, १३९, १०४, १०५, २४०.
९. वही, पृ. ८, १२८, १७८, २०२, २०७.
१०. वही, पृ. १२३.
११. वही, पृ. १२८, १३३, १५५, १६५.
१२. वही, पृ. ४२.
१३. वही, पृ. २४, २५.
१४. वही, पृ. ११८, ११९, १३३.
१५. वही, पृ. ३.
१६. वही, पृ. १३४.
१७. वही, पृ. १२.
१८. वही, पृ. २२, २३.
१९. वही, पृ. ८, २४.
२०. वही, पृ. ३६५, ३७३.
२१. वही, पृ. ३९९.

मालतीमाधव,[1] किरातार्जुनीयम्[2] आदि लोक प्रसिद्ध ग्रन्थों से कुछ उद्धरण भी दिये हैं। 'पूर्वोक्त' आलंकारिकों का उल्लेख कवि ने कई स्थलों पर अपने मत के समर्थन में किया है, अन्यत्र उनके मत का खण्डन भी किया है। अनेक स्थलों पर अपनी सूझबूझ एवं गवेषणाशक्ति का परिचय दिया है। 'अलंकारकौस्तुभः' कहाँ तक प्राक्तन काव्यशास्त्र का उपजीवी है और कहाँ इसमें नवीन उद्भावनायें हैं, इस तथ्य का निरूपण प्रस्तुत अध्याय के छोटे से अंश में सम्भव नहीं है। यह एक स्वतन्त्र अनुसन्धान का विषय है। कवि कर्णपूर की मौलिकता एवं गवेषणा शक्ति के प्रकाशनार्थ एक दो प्रसंग पर्याप्त होंगे। कवि कर्णपूर ने काव्य का स्वरूप निर्धारण करते समय पर्याप्त मौलिकता का परिचय दिया है; यथा—

शरीरं शब्दार्थौ ध्वनिरसव आत्मा किल रसो
गुणा माधुर्याद्या उपमितिमुखोऽङ्कृतिगणः।
सुसंस्थानं रीतिः स किल परमः काव्यपुरुषो
यदस्मिन् दोषः स्याच्छ्रवणकटुतादिः स न परः ॥[3]

यहाँ पर कवि कर्णपूर ने स्पष्टतया ध्वनि और रस में पार्थक्य स्थापित किया है। उनके मतानुसार काव्य की आत्मा रस है तथा प्राण ध्वनि। आत्मा का अनेकत्व असम्भव है, लेकिन प्राण का नानात्व सम्भव है। इस दृष्टिकोण से ध्वनि और रस का पार्थक्य स्थापित किया गया है। कवि कर्णपूर के पूर्ववर्ती प्रसिद्ध आलंकारिक आनन्दवर्धन के कथन—'काव्यस्य आत्मा ध्वनिः' से विद्वानों को उनके वास्तविक मन्तव्य के सम्बन्ध में किञ्चित् मतिभ्रम हो जाता है। उन्हें शंका होने लगती है कि 'काव्यस्य आत्मा ध्वनि' से वस्तु-अलंकार-रस रूप त्रिविध ध्वनि को लिया जाये अथवा रसभावादि रूप ध्वनि को। यदि त्रिविध ध्वनि को लिया जाये ऐसी स्थिति में प्रहेलिकाबन्ध भी, जिनमें कुछ न कुछ वस्तुरूप ध्वनि अवश्य ही खींची जा सकती है, ध्वनि काव्य में स्थान पा लेंगे। दूसरी ओर 'काव्यस्य आत्मा ध्वनि' से आनन्दवर्द्धन की निम्न कारिका से भी उन्हें विरोध प्रतीत होने लगता है—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥[4]

१. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ. ३७३.
२. वही, पृ. ३८१.
३. वही, १।१.
४. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोकः, १।२.

यहाँ कारिका का सामान्य अर्थ लेकर वे शंका में पड़ जाते हैं कि आनन्दवर्धन ने वाच्यार्थ को भी काव्य का आत्मतत्त्व निरूपित किया है। वस्तुतः आनन्दवर्द्धन का इन कारिकाओं में जो गूढ़ मन्तव्य है। उसे लोचनाकार ने अथक प्रयासों से स्पष्ट करने का प्रयास किया है किन्तु इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद स्थिर रहा। कविकर्णपूर ने सम्भवतः ध्वन्यालोक की इसी जटिलता और दुरूहता को स्पष्ट करने के लिए हरि सरल शब्दों में ध्वनि को काव्य का प्राण तथा रस को काव्य की आत्मा घोषित किया, जिसमें किसी प्रकार की शंका अथवा द्विविधा के लिए अवकाश नहीं रह जाता है।

इसी प्रकार कविकर्णपूर ने काव्य का लक्षण[1] कविवाङ्निर्मितिः काव्यम्[2]—स्वीकार किया है। उन्होंने लक्षण के प्रत्येक शब्द का औचित्य स्पष्ट किया है। कवि शब्द के औचित्य को स्पष्ट करते हुए उनका कथन है कि यदि लक्षण में कवि शब्द का प्रयोग न किया जाता, ऐसी स्थिति में किसी कुशल व्याख्याता के व्याख्या कौशल से भी काव्यत्व की उत्पत्ति संभव हो सकती थी। इसी प्रकार लक्षण में यदि वाङ् पद का प्रयोग न किया जाता, ऐसी स्थिति में कवि कृत अन्य शिल्पान्तर का बोध भी हो सकता था। यदि केवल कविवाङ् पद का ही प्रयोग किया जाता, उस स्थिति में कवि के वचन मात्र से ही काव्यत्व की सृष्टि हो सकती थी। इसलिए लक्षण में निर्मिति पद का प्रयोग किया गया है। क्योंकि असाधारण चमत्कारी रचना ही निर्मित होती है।[3] इस प्रकार कविकर्णपूर आचार्य मम्मट द्वारा निरूपित 'कविवाङ् निर्मितिः' को ही काव्य का सर्वाङ्गपूर्ण लक्षण स्वीकार करते हैं। किन्तु उनके 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' काव्य लक्षण से सहमत नहीं है। उनके अनुसार निर्मित पद से मम्मट उक्त शब्दार्थ के दोनों विशेषण अदोषौ और सगुणौ का आक्षेप हो जाता है। क्योंकि रस के अपकर्षक दोषों का राहित्य, यथासम्भव गुण और अलंकार का उपनिबन्धन और रसात्मक शब्दार्थ यह तो काव्य में स्वतः सिद्ध है। इनके अभाव में कवि की रचना असासारण चमत्कारी नहीं हो सकती है और असाधारण चमत्कारी न होने कारण उसे निर्मित नहीं कहा जा सकता है। अतः काव्य

१. अलंकारकौस्तुभः, १।२.

२. कविकर्णपूर कृत उपर्युक्त काव्यलक्षण पर मम्मट कृत 'काव्यप्रकाशः' के मंगलाचरण का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्होंने मंगलाचरण की वृत्ति में काव्य को 'कविवाङ्निर्मितः' कहा है। (काव्यप्रकाशः, १।१ वृत्तिः)

३. अलंकारकौस्तुभः, १।२ की वृत्ति.

लक्षण में पूर्वोक्त विशेषण देने की कोई उपादेयता शेष नहीं रह जाती।[1] द्वितीय कवि कर्णपूर के अनुसार उनके काव्य लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है। कारण वह 'कुरङ्ग नयने' आदि में अतिव्याप्त हो जाता है।[2] यहाँ पर शब्दार्थ में दोषों का राहित्य, गुण एवं अलंकार की उपस्थिति है इसलिए आचार्य मम्मट के काव्य लक्षण के अनुसार इसे भी काव्य कहा जा सकता है। लेकिन कविकर्णपूर के अनुसार असाधारण चमत्कारी रचना न होने के कारण इसे काव्य नहीं कहा जा सकता है।[3]

इसी प्रकार विश्वनाथ कृत लक्षण—'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' में भी अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोनों ही दोष हैं।[4] क्योंकि वह 'गोपिभिः सह विहरति हरिः' इत्यादि वाक्य में अतिव्याप्त हो जाता है।[5] विश्वनाथ के काव्यलक्षणानुसार वाक्य के रसात्मक होने के कारण उसे काव्य कहा जा सकता है। लेकिन उसमें कोई विच्छिति नहीं है। इसी प्रकार 'कूर्म्मलोम-पटच्छन्नः' आदि में काव्य का लक्षण अव्याप्त हो जाता है।[6] क्योंकि यहाँ वाक्य का अभाव है। किन्तु कविकर्णपूर वाक्य के अभाव होने पर भी काव्यत्व के स्फुरण से उसे काव्य स्वीकार करते हैं।[7]

कविकर्णपूर ने वामन द्वारा निरूपित लक्षण—'रीतिरात्मा काव्यस्य'—की भी आलोचना की है। क्योंकि रीति काव्य का वाह्यतत्त्व है।[8] कवि-कर्णपूर रीति को काव्य का सुसंस्थान निरूपित कर चुके है, अतः उसे काव्य की आतमा के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार जो लोग यह कहते हैं कि लोकोत्तर वर्णन में निपुण कवि की

---

१. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, व्याख्या, पृ. ७.

२. वही, वृत्ति, पृ. ८.

३. वही, टीका, पृ. ८.

४. वही, वृत्ति, पृ. ८.

५. वही, वृत्ति, पृ. ८.

६. कूर्म्मलोमपटच्छन्नः शशशृङ्गधनुर्द्धरः।
एष वन्ध्यासुतो भान्ति खपुष्पकृतशेखरः॥
परस्परान्वितार्थ बोधक पदसमुदाय वाक्य होता है। यहाँ शृङ्गार में शशादि का यथाक्रम अन्वय अप्रसिद्ध है। अतः यहाँ वाक्यत्व का अभाव है। किन्तु यहाँ वाक्यत्व का बोध गौणीवृत्ति से सम्भव है।

८. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ. ९.

लोकोत्तर चमत्कार वर्णन में निपुणवाणीकाव्य है। यह भी उचित नहीं है। क्योंकि इससे अन्योन्याश्रय दोष हो जायेगा।[१]

इसी प्रकार कविकर्णपूर के मतानुसर 'कविवाङ्ग निर्मितः काव्य' ही काव्य की सर्वाङ्गपूर्ण परिभाषा है।[२] किन्तु कविकृत काव्य का यह लक्षण भी एकान्ततः समीचीन नहीं कहा जा सकता है। सर्वप्रथम जो उन्होंने काव्यलक्षण में प्रत्येक पद का परस्पर अन्वय और दोष का निराश करने का प्रयास किया है, वह केवल प्रौढ़ि है। दूसरे पर्यायान्तर प्रयोग लक्षण नहीं होता है। लक्षण में लक्षणीय के प्रमुख धर्मों का उल्लेख नितान्त आवश्यक होता है। इस लक्षण में ग्रन्थकार ने स्वयं ही 'आत्मा किल रसो' इस प्रकार उद्दिष्ट मुख्य धर्म का उल्लेख नहीं किया है।

कविकर्णपूर ने काव्य के भेद निरूपण में भी अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। व्यङ्ग्य की प्रधानता एवं अप्रधानता के अधार पर उन्होंने काव्य के चार भेद निरूपित किये हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम एवं अवर। उत्तम, मध्यम एवं अवर का विवेचन उन्होंने मम्मट के अनुसार ही किया है अर्थात् ध्वनि का वैशिष्ट्य होने पर उत्तम काव्य ध्वनि के मध्यम होने पर मध्यम काव्य एवं ध्वनि के निष्पन्द होने पर अवर काव्य।[३] यथा—

उत्तम काव्य—

गौरीमर्च्चयितुं प्रसूनविचये श्वश्रूनिदिष्टा हरेः
क्रीड़ाकाननमागता वयमहो मेघागमश्चाभवत्।
प्रेङ्खोलाः परितश्च कण्टकलताः श्यामाश्च सर्वा दिशो
नो विघ्नः प्रतिवेशवासिनी! गुरोः किं भावि सम्भावितम्॥[४]

यहाँ पर कृष्ण के साथ भावी सम्भोगजन्य नखक्षतादि का स्थगन रूप व्यङ्ग्य का वैशिष्ट्य होने के कारण उत्तम काव्य है।

मध्यम काव्य—

उत्तमस्य पुरुषस्य वनान्तः सव्यमालि! कुसुमाय गतासीः।
आययुर्म्मधुकरास्तव पश्चादुदुःशकः परिमलो हि वरीतुम्॥[५]

---

१. लोकोत्तरचमत्कारवर्णानानिपुणः कविः। तस्य तादृग् वचः काव्यम् इत्यपि न साधु, अन्योन्याश्रयदोषप्रसक्तेः। अलंकारकौस्तुभ, वही, पृ. ९.

२. वही, पृ. ९.

३. उत्तमं ध्वनिवैशिष्टे मध्यमे तत्र मध्यमम्।
अवरं तत्र निष्पन्द इति त्रिविधमादितः॥ वही, १।६.

४. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, श्लोक. १।४

५. वही, श्लोक. १।५

यहाँ 'पुन्नागे पुरुषस्तुङ्गः केशर' से उत्तम पुरुष से प्रकृष्ट पुन्नाग तथा पुरुषोत्तम कृष्ण का श्लेष से स्पष्ट बोध हो जाने के कारण व्यङ्ग्य के स्फुट हो जाने से ध्वनि का मध्यमत्व है, अतः यहाँ मध्यम काव्य है।

अवरकाव्य—

ऊर्ज्जत्स्फूर्ज्जैर्गर्ज्जनैर्वारिवाहाः प्रोद्यद्विद्युद्दामविद्योतिताशाः।
अद्रावद्रौ विद्रुता द्राघयन्ते दन्तिभ्रान्त्या सिंहसङ्क्षप्रकोपान् ॥[1]

यहाँ पर केवल शब्दवैचित्र्य होने से ध्वनि निष्पन्द हो गई है। अतः यह अवर काव्य का उदाहरण है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि कविकर्णपूर कृत काव्य के उत्तम, मध्यम और अवर भेद आचार्य मम्मट के काव्य विभाजन के अनुसार ही हैं। किन्तु उनके द्वारा अनुमोदित उत्तमोत्तम काव्य सर्वथा नवीन है। उनके मतानुसार उत्तमोत्तम काव्य वहाँ होता है, जहाँ ध्वनि वैशिष्ट्य के साथ ध्वन्यन्तर का वैशिष्ट्य हो। यही नहीं उनकी विचारधारा में उत्तम, मध्यम और अवर काव्य भी शब्दार्थ के वैचित्र्य से क्रमशः उत्तमोत्तम, उत्तम और मध्यम काव्य बन जाते हैं। अर्थात् यदि उत्तम काव्य में ध्वनि वैशिष्ट्य के साथ शब्दार्थ का वैचित्र्य भी सम्मिलित हो जाये, उस स्थिति में वह उत्तमोत्तम काव्य का अधिकारी हो जायेगा। इसी प्रकार मध्यम काव्य और अधम काव्य भी शब्दार्थ के वैचित्र्य से क्रमशः उत्तम तथा मध्यम काव्य की श्रेणी में आ जाते हैं।[2] उदाहरणार्थ—

उत्तमोत्तम काव्य—

ध्वनिवैशिष्ट्य के साथ ध्वन्यन्तर का वैशिष्ट्य होने पर उत्तमोत्तम काव्य; यथा—

यातासि स्वयमेव रत्नपदकस्यान्वेषणार्थं वना-
दायातासि चिरेण कोमलतनुः क्लिष्टासि हा मत्कृते।
श्वासो दीर्घतरः सकण्टकपदं वक्षो मुखं नीरसं
का ते ह्रीरसमञ्जसा सखि! गतिर्दूरे रहः सुभ्रुवाम् ॥[3]

प्रस्तुत स्थल पर 'तुम रत्नपदक को लाने नहीं गई थी, अपितु उसके

---

१. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, श्लोक. ११६

२. ध्वनेर्ध्वन्यन्तरोद्गारे तदेव ह्युत्तमोत्तमम्।
शब्दार्थयोश्च वैचित्र्ये द्वे यातः पूर्वपूर्वताम् ॥
वही, ११७.

३. वही, ११७ श्लोक.

साथ उपभोगार्थ गई थी' यह एक ध्वनि है। वक्तृ, प्रकृति एवं प्रकरण के वैशिष्टय से अन्य ध्वनियाँ भी प्रतिभासित हो रही है। सखी के साथ प्रेमानुबन्ध प्रकरण वैशिष्टय से ध्वनि—यूथेश्वरी राधा की कृष्ण के साथ पहले से ही युक्ति थी कि जब मैं अमुक सखी को रत्नपदक के निमित्त कानन में प्रेषित करूँ, तब तुम उसके साथ रमण करना। तदनन्तर सम्भोगान्तर आई हुई सखी का अपराध सिद्ध करने के लिए यूथेश्वरी का परिहास, अवहित्था, असूयादि भावों का शाबल्य तथा सखी का भय, लज्जा, कोपादि भावों का शाबल्य व्यङ्ग्य होने से ध्वनि के अनेक पल्लव पल्लवित हो रहे हैं। अतः ध्वनिवैशिष्टय के साथ ध्वन्यन्तर का भी वैशिष्टय आस्वादन होने के कारण यह उत्तमोत्तम काव्य का उदाहरण है। शब्दार्थ के वैचित्र्य से उत्तम काव्य का उत्तमोत्तमत्व; यथा—

नवजलधरधामा कोटिकामावतारः
प्रणयरसयशोरः श्रीयशोदाकिशोरः।
अरुणदरुणदीर्घापाङ्गभङ्ग्या कुरङ्गी-
रिव निखिलकृशाङ्गी रङ्गिणि ! त्वं क्व यासि ॥[1]

यहाँ पर ध्वनि है कि हे कुतुकिनी। तुम अत्यन्त प्रसिद्ध गुणवती हो। अतः कहीं और न जाकर वहीं जाओ, जहाँ यशोदानन्दन समस्त कृशाङ्गियों को अपनी अरुण दीर्घापाङ्गभङ्गी से रोक लेता है अर्थात् अपने वश में कर लेता है। वस्तुतः तुम कहाँ जा रही हो ? क्यों जा रही हो ? मत जाओ आदि लक्ष्यार्थ का वैचित्र्य है। 'कोटिकामावतार' है. इस प्रकार प्रलोभन द्वारा वहीं जाओ यह व्यङ्ग्य है। तुम्हें अविश्वास नहीं होना चाहिए, वह प्रणयरस रूप यश (प्रणयरसयशोरः) देने वाले हैं। नवजलधर की कान्ति रूप होने के कारण वह अपनी कान्ति से सर्वत्र तिमिर उत्पाद्य करके निःशङ्क या अलक्ष्य होकर विहार करता है। अतः लोक भीति से भी कोई कार्य नहीं है। 'नवजलधरधामा' और 'कोटिकामावतार' से उस (कृष्ण) के सौन्दर्य का अतिशयत्व सूचित कर रही हैं। अतः वाच्यार्थ से ध्वन्यार्थ का उत्कर्ष होने के कारण उत्तमत्व है। कुरङ्गी इव में उपमा अलंकार होने से अपाङ्गभङ्गी पर वागुरात्व का आरोप प्रतीयमान होने से रूपक अलंकार का वैचित्र्य है तथा शब्दालंकार में अनुप्रास और यमक का सौन्दर्य होने से शब्दार्थ का चमत्कार है। इस प्रकार ध्वनिवैशिष्टय के साथ शब्दार्थ का वैचित्र्य भी सम्मिलित हो जाने से उत्तमोत्तम काव्य है।

---

१. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, श्लोक. १।८

शब्दार्थ के वैचित्र्य से मध्यम काव्य का उत्तमत्व—

शिक्षितानि सुहृदां न गृहीतान्युक्षितासि निजगर्वरसेन ।
दीक्षितः कुलवधूवधयागे वीक्षितः सखि ! स नन्दकुमारः ॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर यूथेश्वरी के प्रति सखियों का आश्वासन ध्वनि है कि तुम्हारे प्राणों की रक्षार्थं हम सखियों को उसके साथ तुम्हारा समागम कराने के लिए प्रयत्न करना पड़ेगा। किन्तु ध्वनि के अगूढ़ होने के कारण उसका मध्यमत्व है। दूसरी ध्वनि है कि कृष्ण कुलवती स्त्री को भी मोहित करने में समर्थ हैं। किन्तु उसका वाच्यार्थ से अतिशयित्व न होने के कारण यह ध्वनि का मध्यमत्व है, किन्तु यमक एवं अनुप्रास का वैचित्र्य होने के कारण यह उत्तम काव्य का उदाहरण बन गया है।

शब्दार्थ के वैचित्र्य से अवरकाव्य का भी मध्यमत्व—

काननञ्जयति यत्र सदा सत् का न नन्दति यदेत्य सुखश्रीः ।
का न नन्दतनये प्रणयोत्का काननं घयति वा न हि तस्य ॥[2]

प्रस्तुत स्थल पर 'सुखश्री' से रमण ध्वनि है, किन्तु उसके निष्पन्द होने के कारण वाच्यार्थ चमत्कारी है। चारों पदों में यमक अलंकार होने से शब्दकृत वैचित्र्य भी है। अतः यहाँ अवरकाव्य भी मध्यमत्व को प्राप्त कर रहा है।

कविकर्णपूर अनुमोदित उत्तमोत्तम काव्य की उद्भावना ने संस्कृत काव्यशास्त्र को एक नवीन दिशा का बोध कराया है। साथ ही उन्होंने उत्तम, मध्यम और अवर काव्य के क्षेत्र को किञ्चित् व्यापक बना दिया है, जिसमें उत्तम, मध्यम और अवर तीनों ही अपनी श्रेणी से आगे की श्रेणी में पटाक्षेप कर सकते हैं। मम्मट और कविकर्णपूर के काव्य विभाजन का मौलिक भेद यही है कि मम्मट का काव्य विभाजन ध्वनि की प्रधानता और अप्रधानता के आधार पर आधारित हैं। उसमें शब्दार्थ के वैचित्र्थ को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। अपितु शब्दार्थ के वैचित्र्य से काव्य अपनी श्रेणी से नीचे की श्रेणी में परिगणित किया जाता है जबकि कविकर्णपूर का काव्यविभाजन ध्वनि की प्रधानता और अप्रधानता के साथ ही शब्दार्थ के वैचित्र्य पर भी आधारित है। अर्थात् उनकी विचारधारा में काव्य ध्वनिवैशिष्टच के साथ ही शब्दार्थ के वैचित्र्य का आधार लेकर भी आगे की कक्षा को प्राप्त कर सकता है। सम्भवतः कविकर्णपूर के उत्तमोत्तम

१. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, श्लोक. १।९
२. वही, १।१० श्लोक.

काव्य की उद्भावना के पीछे यह मन्तव्य अन्तर्निहित होगा कि वे केवल मात्र ध्वनिवैशिष्टच और ध्वनिवैशिष्टच के साथ ध्वन्यन्तर वैशिष्टच को एक श्रेणी (उत्तम काव्य) में परिगणित नहीं करना चाहते थे। दोनों में जो एक कक्षा का भेद है, उसे सहृदय सहज में समझ सकते हैं। निश्चय ही ध्वनिवैशिष्टच के साथ ध्वन्यन्तर वैशिष्टचवाला काव्य सहृदयों द्वारा अधिक सराहा जायेगा, अतः उसे उत्तमोत्तम काव्य की संज्ञा से अभिहित करना उन्होंने उचित समझा होगा।

कवि कर्णपूर कृत इस काव्य विभाजन का प्रभाव उनके उत्तरवर्ती आलंकारिक पण्डितराज जगन्नाथ पर भी परिलक्षित होता है। उन्होंने भी कवि कर्णपूर की भाँति काव्य के चार भेद स्वीकार किये हैं।[1] किन्तु दोनों के मतों में सर्वथा पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। कवि कर्णपूर मम्मट कथित ध्वनिकाव्य[2] को उत्तम स्वीकार करते हैं, जब कि पण्डितराज जगन्नाथ उसी को उत्तमोत्तम काव्य की संज्ञा से अभिहित करना उचित समझते हैं।[3]

कवि कर्णपूर के अनुसार उत्तमोत्तम काव्य वहाँ होता है, जहाँ ध्वनि-वैशिष्टच के साथ ध्वन्यन्तर का वैशिष्टच भी हो अथवा शब्दार्थ का वैचित्र्य भी सम्मिलित हो।[4] किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ इस प्रकार का कोई काव्य भेद नहीं मानते हैं। पुनः कवि कर्णपूर गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के समस्त भेदों को मध्यम काव्य के अन्तर्गत ही परिगणित करते हैं। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ मध्यम काव्य को उत्तम एवं मध्यम दो भागों में विभाजित करते हैं। उनके अनुसार जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान होते हुए भी चमत्कार का कारण होता है अर्थात् जागरूक गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य को उत्तम काव्य[5] तथा जहाँ पर वाच्यार्थ का चमत्कार व्यङ्ग्यार्थ के चमत्कार के अधिकरण में न रहे अर्थात् जिस काव्य

---

१. तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा ॥
पण्डितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर, आनन प्रथम, पृ. ३६.

२. इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥
मम्मट, काव्यप्रकाश, १।४.

३. शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम् ।
पण्डितराज जगन्नाथ, रसगंगाधरः, आनन प्रथम, पृ. ३६.

४. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभ, १।७.

५. यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद द्वितीयम् ।
पण्डितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर, आनन प्रथम, पृ. ६६.

में व्यङ्ग्यार्थ का चमत्कार लघु अंश में रहकर भी व्यापक वाच्यार्थ के चमत्कार में अन्तर्भुक्त हो जाने से स्पष्टतया अनुभूत न हो, वह मध्यम काव्य है।[1] कवि कर्णपूर ध्वनि के निष्पन्द होने पर अवर काव्य स्वीकार करते हैं।[2] किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार जहाँ अर्थचमत्कृति शब्द चमत्कृति में लीन हो जाती है, वहाँ पर अवर काव्य होता है।[3] पण्डितराज कृत यह काव्य विभाजन बुद्धिमतापूर्ण होते हुए भी आचार्य मम्मट से कुछ विशेष पृथक् नहीं है। वे केवल गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के समस्त भेदों को मध्यम काव्य के अन्तर्गत परिगणित नहीं करना चाहते थे। उनकी विचारधारा में गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के कुछ भेद रमणीय काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। अतः उसे उत्तम काव्य की संज्ञा से वञ्चित रखना उन्हें औचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत हुआ। गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के जो भेद विशेष रमणीय नहीं है, उन्हें वह मध्यम काव्य के अन्तर्गत रखना चाहते हैं। दूसरी ओर अर्थचित्र और शब्दचित्र, जिसे मम्मट ने अधम काव्य के अन्तर्गत वर्गीकृत किया है, उसमें से उन्होंने अर्थचित्र को मध्यम काव्य में सम्मिलित कर लिया है, क्योंकि दोनों का भेद सहृदय सहज ही अनुभव कर सकते हैं।[4] पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट के अधम काव्य के आचार्य विश्वनाथ द्वारा निरूपित दोषों[5] का निराकरण अपने काव्य विभाजन द्वारा करने का प्रयास किया है। किन्तु उनकें द्वारा प्रदत्त समाधान भी सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होता है। कारण, अधम काव्य के अन्तर्गत (जिसे व्यङ्ग्य से रहित माना जाता है) अर्थचित्र और शब्दचित्र

---

१. यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तृतीयम्।
वही, पृ. ७६.

२. कविकर्णपूर, अलंकारकौस्तुभ, १।६. का.

३. यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्। वही, पृ.७८.

४. पण्डित जगन्नाथ, रसगंगाधर, आनन प्रथम, पृ. ७८.

५. आचार्य विश्वनाथ को मम्मट के अधम काव्य की परिभाषा—'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्' के अव्यङ्ग्यम्' 'पद पर विशेष' आपत्ति है। उनके अनुसार यदि यहाँ पर अव्यङ्ग्य से व्यङ्ग्य का अभाव माना जाये, ऐसी स्थिति में वह चित्र भले ही हो जायेगा, लेकिन काव्य नहीं। यदि अव्यङ्ग्य से किञ्चिन्मात्र व्यङ्ग्य के स्पर्श से तात्पर्य लिया जाये, उस स्थिति में उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के अन्तर्गत अन्तर्भुक्त करना चाहिए।
विश्वनाथ, साहित्यदर्पणम्, परिच्छेद चतुर्थ।

को एक साथ परिगणित न करने के लिए पण्डितराज प्रदत्त कारण चमत्कार भी अपने आप में पूर्ण नहीं है। दूसरे गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के भेदों में चारुत्व और अचारुत्व को पृथक् करने के लिए चमत्कार का आधार भी नितान्त अनियत है। पुनः मध्यम काव्य के साथ अर्थचित्र को सम्मिलित करना जो व्यङ्ग्य से रहित है, यह उचित नहीं प्रतीत होता है।

यद्यपि कवि कर्णपूर कृत इस काव्य विभाजन से भी मम्मट के (विश्वनाथ कथित) दोषों का समाधान नहीं हो पाया है। तथापि संस्कृत काव्यशास्त्र में एक नवीन काव्य प्रकार की वृद्धि करने का प्रथम श्रेय उन्हें दिया जा सकता है।

कवि कर्णपूर ने काव्य का प्रयोजन—'काव्यं यशसे'......आदि को तुच्छ माना है। उनके अनुसार काव्य का प्रमुख प्रायोजन श्रीकृष्ण के गुण लावण्य एवं क्रीड़ाओं का उपनिबन्धन करते समय चित्त में व्याप्त होने वाला सान्द्रानन्द है। कवि कर्णपूर की रसविषयक मौलिकताओं का उद्घाटन रस निरूपण के अवसर पर विस्तारपूर्वक किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'अलंकार-कौस्तुभ' संस्कृत साहित्य का उज्ज्वल ग्रन्थ है, जिसमें सरल, सुबोध भाषा में गूढ़ विषय को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया गया है।

साम्प्रदायिक ग्रन्थ

गौरगणोद्देशदीपिका

'गौरगणोद्देशदीपिका'[1] चैतन्य सम्प्रदाय की प्रतिनिधि रचना है, इसमें महाप्रभु चैतन्य और उनके पार्षदों का दार्शनिक तत्त्व विवेचन सरल और सुबोध भाषा में किया गया है। 'गौरगणोद्देशदीपिका' के कर्तृत्व की समस्या कुछ सन्दिग्ध है। कतिपय विद्वानों का विचार है कि 'गौरगणोद्देशदीपिका' कवि कर्णपूर की रचना नहीं है।[2] इस सम्बन्ध में उनकी तीन

१. (अ) राधारमण प्रेस, मुर्शिदाबाद, १९१२ ई०
   (ब) पुष्पराज प्रेस, मथुरा, १९६५ (उद्धरण इसी संस्करण से दिये जा रहे हैं।)

२. (अ) रासविहारी सांख्यतीर्थ—वैष्णवसाहित्य, बंगीयसाहित्य सम्मेलन काशिम बाजार का सम्पूर्ण विवरण, पृ. १२.
   (ब) श्रीचैतन्यमतबोधिनी पत्रिका, चैतन्याब्द, ४०७.
   (स) सोनार गौराङ्ग पत्रिका, तृतीय वर्ष, संख्या ११, वंगाब्द १३३२, पृ. ६८४.
   (द) मासिक वसुवती पत्रिका, पौसमास, वंगाब्द १३४२, पृ. ४६६.

आपत्तियाँ हैं :—

(१) कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्यचरितामृतम्' में 'गौरगणोद्देशदीपिका' का उल्लेख नहीं किया है।

(२) 'गौरगणोद्देशदीपिका' में उल्लिखित गौरपार्षदों का तत्त्व विवेचन वृन्दावन के षट्गोस्वामियों द्वारा अनुमोदित नहीं है।

(३) 'गौरगणोद्देशदीपिका' में चैतन्यसम्प्रदाय को माध्वसम्प्रदाय के अन्तर्गत अन्तर्भुक्त करने का प्रयास किया गया है।

विद्वानों की प्रथम आपत्ति विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्यचरितामृतम्' में कवि कर्णपूर कृत 'चैतन्यचरितामृतम्' महाकाव्य का नामतः उल्लेख नहीं किया है, न हि उसमें से किसी श्लोक को उद्धरण रूप में प्रयुक्त किया है। किन्तु कृष्णदास कविराज ने पूर्वोक्त ग्रन्थ का अध्ययन अवश्य किया था। कारण, उनके 'चैतन्यचरितामृतम्' में कई ऐसे स्थल प्राप्त होते हैं, जहाँ पर कवि कर्णपूर कृत 'चैतन्यचरितामृतम्' का प्रभाव तथा श्लोकों का भावानुवाद स्पष्ट परिलक्षित होता है।[1] इसके अतिरिक्त कृष्णदास कविराज ने कवि कर्णपूर के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आनन्दवृन्दावनचम्पू', 'कृष्णाह्निक कौमुदी', 'अलंकारकौस्तुभ' तथा प्रबोधानन्द सरस्वती के 'चैतन्यचन्द्रामृतम्' का नामतः उल्लेख नहीं किया है। न हि उसमें से किसी उद्धरण को उद्धृत किया है। तथापि इन कृतियों के कर्तृत्व के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है। केवल इस आधार पर कि कृष्णदास कविराज ने 'गौरगणोद्देशदीपिका' का उल्लेख अपने ग्रन्थ में नहीं किया है, इसलिए वह कवि कर्णपूर की कृति नहीं है, कुछ औचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता है।

'गौरगणोद्देशदीपिका' कवि कर्णपूर कृत नहीं है, इस सम्बन्ध में दिया गया द्वितीय तर्क भी सबल नहीं है। यह सत्य है कि कवि कर्णपूर के तत्त्व-विवेचन और अन्य गोस्वामियों के तत्त्वविवेचन में पर्याप्त पार्थक्य है। विशेषतः कवि कर्णपूर ने 'गौरगणोद्देशदीपिका' में स्वरूपगोस्वामी के मत का खण्डन किया है। किन्तु यह मतभेद होना स्वाभाविक है। इसका प्रमुख कारण यह है कि चैतन्य सम्प्रदाय की नवद्वीपशाखा और वृन्दावन शाखा में स्वयं ही पर्याप्त अन्तर है। कवि कर्णपूर नवद्वीप (गौड) मण्डली के गोस्वामी थे, अतएव वृन्दावन के षट्गोस्वामियों से यदि उनकी विचारधारा

---

१. प्रस्तुत प्रसंग से सम्बन्धित साक्ष्य उपसंहार में द्रष्टव्य हैं।

का साम्य नहीं है, तो उस आधार पर उन्हें 'गौरगणोद्देशदीपिका' का कर्ता न माना जाये, यह कदापि उचित नहीं है।'

'गौरगणोद्देशदीपिका' कवि कर्णपूर की रचना नहीं है, इस सम्बन्ध में तृतीय आपत्ति उठाने वाले विद्वानों का कथन हैं कि 'गौरगणोद्देशदीपिका' कवि कर्णपूर की रचना नहीं है, अपितु बलदेव विद्याभूषण ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए इस ग्रन्थ का निर्माण कर कवि कर्णपूर के नाम से प्रसिद्ध कर दी है।[1] किन्तु यह तर्क निराधार प्रतीत होता है। क्योंकि बलदेव विद्याभूषण से पूर्व ही माध्वसम्प्रदाय की गुरुप्रणाली चैतन्य सम्प्रदाय में प्रचलित हो चुकी थी। १६९६ ई. के लगभग मनोहर दास ने अपनी 'अनुरागावल्ली' में माध्व गुरुप्रणाली दी है।[2] इसके अतिरिक्त विश्वनाथ चक्रवर्ती (कवि कर्णपूर के टीकाकार) बलदेव विद्याभूषण से पूर्ववर्ती हैं। उनके स्वयं के उल्लेखों के अनुसार उन्होंने शक, संवत् १६०१ की फाल्गुनी पूर्णिमा अर्थात् १६८० ई. में 'श्रीकृष्णभजनामृतम्', १६९६ ई. में उज्ज्वलनीलमणि की 'आनन्दचन्द्रिका' तथा शक संवत् १६२६ के माघ मास अर्थात् १७०४ ई. में 'श्रीमद्भागवत' की 'सारार्थदर्शिनी' नामक टीका समाप्त की। लोक श्रुति है कि विश्वनाथ चक्रवर्ती के शिष्य कृष्णदेव सार्वभौम के साथ बलदेव विद्याभूषण ने जयपुर में वाद-विवाद किया था। उस समय विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'गौरगणस्वरूपतत्त्वचन्द्रिका' में माध्वगुरुप्रणाली विद्यमान थी।[3] उपर्युक्त साक्ष्यों को देखते हुए यह कहना कहाँ तक औचित्यपूर्ण होगा कि बलदेव विद्याभूषण ने सर्वप्रथम 'गौरगणोद्देशदीपिका' की रचना कर उसे कवि कर्णपूर के नाम से प्रचारित कर दिया? जब बलदेव विद्याभूषण से पूर्व ही गुरुप्रणाली प्रकाश में आ गई थी, ऐसी स्थिति में वह ऐसा अनुचित कार्य क्यों करेंगे? इससे स्पष्ट है कि 'गौरगणोद्देशदीपिंका' कवि कर्णपूर की ही रचना है।

'गौरगणोद्देशदीपिका' के कर्ता कवि कर्णपूर ही हैं, इस सम्बन्ध में कुछ आन्तरिक प्रमाण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

(१) 'गौरगणोद्देशदीपिका' में कवि ने अपने गुरु श्रीनाथ का उल्लेख किया है। वही श्लोक 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के मंगलाचरण में भी विद्यमान

१. सत्येन्द्रनाथ वसु, 'श्रीगौड़ीयवैष्णव सम्प्रदाय', मासिक वसुमती पत्रिका, पौषमास, १४ वर्ष, बंगाब्द १३४२, पृ. ४५५.

२. मनोहर दास, अनुरागावल्ली, पृ. ११२.

३. उद्धृत—डा० विमान विहारी मजूमदार, चैतन्यचरितेर उपादान, प्रथम संस्करण, पृ. १००.

है।[1] इसके अतिरिक्त 'चैतन्यचरितामृतम्' और 'गौरगणोद्देशदीपिका' के मंगलाचरण का प्रथम श्लोक एक ही है।[2] उपर्युक्त साक्ष्यों से स्पष्ट है कि यह तीनों कृतियाँ एक ही व्यक्ति (कवि कर्णपूर) की रचनाएँ हैं।

(२) 'गौरगणोद्देशदीपिका' में कवि ने अपने पिता–शिवानन्दसेन का उल्लेख किया है—

पितरं श्रीशिवानन्दं सेनवंशप्रदीपकम्।
वन्देऽहं परया भक्त्या पार्षदाग्रं महाप्रभोः।[3]

यदि 'गौरगणोद्देशदीपिका' कवि कर्णपूर की कृति न होकर अन्य किसी की रचना होती, ऐसी स्थिति में ग्रन्थकर्ता अपने पिता के रूप में शिवानन्द-सेन का उल्लेख कदापि न करता। 'गौरगणोद्देशदीपिका' में ग्रन्थकर्ता के रूप में परमानन्ददास का उल्लेख मिलता है,[4] परमानन्ददास कवि कर्णपूर का ही पितृप्रदत्त नाम है। ग्रन्थ में नित्यानन्ददास की महिमा का उल्लेख करते समय कवि कर्णपूर ने उल्लिखित किया है कि—'इति ब्रुवन् मे जनको ननर्त्त'।[5] इसी प्रकार चैतन्यदास और रामदास का उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता के रूप में परिचय दिया है।[6] उत्तरवर्ती अन्य लेखकों ने भी चैतन्य-दास एवं रामदास को कवि कर्णपूर का ज्येष्ठ भ्राता उल्लिखित किया है।[7] कवि कर्णपूर ने अपने माता और पिता का तत्त्व निरूपण भी किया

---

१. कवि कर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू (पण्डित ओल्ड सीरिज, काशी, खण्ड ६), १।५.

२. (अ) यः श्रीवृन्दावनभुवि पुरा सच्चिदानन्दसान्द्रो
गौराङ्गीभिः सदृशरुचिभिः श्यामधामा ननर्त्त।
तासां शश्वद्दृढतरपरीरम्भसम्भेदतः किं
गौराङ्गः सन् जयति स नवद्वीपमालम्बमानः॥
कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् १।१

(ब) कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका।

३. वही, ४.

४. वही, ५.

५. वही, ६३.

६. वही, १४३.

७. (अ) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, १।१०।६०.

(ब) वैष्णवाचारदर्पण, पृ. ३५४–३५५.

(स) लालदास, बंगालीभक्तमाला, पृ. ४४.

है।[1] इसके अतिरिक्त सारङ्गठाकुर के तत्त्व का निरूपण करते समय उन्होंने उपनिबद्ध किया है—"प्रह्लादो मन्यते कैश्चिन्मतिपित्रा स न मन्यते।"[2] उपर्युक्त समस्त दृष्टान्त इस पक्ष का सबल समर्थन करते हैं कि यह कृति शिवानन्द-सेन के आत्मज कवि कर्णपूर की ही रचना है। अन्यथा अन्य व्यक्ति कवि कर्णपूर के परिवार का वर्णन क्यों करता ?

(३) 'गौरगणोद्देशदीपिका' में कवि कर्णपूर ने गोपीतत्व का निरूपण करते समय स्वरूप दामोदर के मत की तुलना अपने मत से की है।[3] शिवानन्दसेन के पुत्र कवि कर्णपूर के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति में यह साहस नहीं हो सकता था, जो स्वरूप दामोदर गोस्वामी के मत से अपनी तुलना करे, साथ ही उनके मत का खण्डन कर अपने मत की स्थापना करे। इसका प्रमुख कारण है कि कवि कर्णपूर के पिता शिवा-नन्दसेन चैतन्यमहाप्रभु के अन्तरंग सखा थे, उनके विचारों से भलीभाँति परिचित थे। साथ ही सम्प्रदाय के गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों के निर्माता भी थे। अतएव कवि कर्णपूर ने सत्य तथ्यों को अपने पिता से प्राप्त कर स्वरूप दामोदर गोस्वामी के मत का खण्डन किया है। पूर्वोक्त अन्तरंग प्रमाणों से ही स्पष्ट है कि 'गौरगणोद्देशदीपिका' कवि कर्णपूर की ही कृति है।

'गौरगणोद्देशदीपिका' कवि कर्णपूर की ही रचना है, इस सम्बन्ध में कुछ बहिरंग प्रमाण भी उपलब्ध हैं। 'गौरगणोद्देशदीपिका' से परवर्ती तथा बलदेव विद्याभूषण से पूर्ववर्ती लेखकों की कृतियों में कवि कर्णपूर 'गौरगणोद्देशदीपिका' के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। 'भक्ति-रत्नाकर' के कर्ता नरहरि चक्रवर्ती ने अपने ग्रन्थ में चैतन्य सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना करते समय अनेक स्थलों पर कवि कर्णपूर कृत 'गौरगणोद्देशदीपिका' से उद्धरण दिये हैं।[4] इतना ही नहीं, नरहरि चक्रवर्ती ने माध्वगुरु-परम्परा का उल्लेख करते समय स्पष्ट शब्दों में

---

१. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, १७६.

२. वही, १७२.

३. वही, १४७।१५३.

४. नरहरि चक्रवर्ती, भक्तिरत्नाकर, पृ. ५१, ८७, ६४, २१२, ३६१, ३६६, ४६०, ४७५, ६०१, ६२३ पर क्रमशः 'गौरगणोद्देशदीपिका' के निम्न श्लोक २०१, १८४, १६२, २१–२५, १२८, १४७–१५५, १८, २०४, ४०, ६५, ६० उद्धृत हैं।

उल्लिखित किया है—'तथाहि श्री कवि कर्णपूर कृत 'श्रीमद्‌गौरगणोद्देश-दीपिकायाम्'।[१] 'बंगाली-भक्तमाल' के लेखक लालदास ने भी 'गौरगणोद्देशदीपिका' के अनुसार ही 'गुरु परम्परा और 'चैतन्यपार्षद' का वर्णन किया है।[२] उपर्युक्त समस्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि 'गौरगणोद्देशदीपिका' कवि कर्णपूर की ही रचना है।

'गौरगणोद्‌देशदीपिका' के कर्तृत्व की भाँति उसका रचना काल भी संदिग्ध है। ग्रन्थ के अन्त में दिये हुए कालसूचक श्लोक से इसके रचनाकाल पर प्रकाश अवश्य पड़ता है, किन्तु विभिन्न प्राप्य हस्तलिपियों में पाठभेद होने के कारण समस्या और भी जटिल हो गयी है। हरिप्रसाद शास्त्री कृत हस्तलिपि ग्रन्थ सूची पत्र[३] ऑफ्रेक्ट के सूचीपत्र[४] तथा मुद्रित दोनों संस्करणों में पाठ इस प्रकार मिलता है—

'शाके वसुग्रहमिते मनुनैव युक्ते,
ग्रन्थोऽयमाविरभवत् कतमस्य वक्रात्।'

प्रस्तुत पाठ के आधार पर ग्रन्थ का रचना काल शक संवत् १४९८ अर्थात् १५७६ ई. निश्चित होता है। लेकिन दूसरी ओर इण्डिया आफिस लाइब्रेरी के सूचीपत्र[५] (Catalogue), सरस्वती पुस्तकालय[६], ऐसियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल पुस्तकालय[७] तथा वृन्दावन शोध संस्थान[८] से प्राप्त हस्तलिपियों में पाठ–'शाके रसारसमिते मनुनैव युक्ते' प्राप्त होता है, जिसके अनुसार ग्रन्थ का निर्माण काल शक संवत् १४६६ अर्थात् १५४४ ई. सिद्ध होता है।

उपर्युक्त दोनों पाठ-भेदों के आधार पर 'गौरगणोद्‌देशदीपिका' का रचना काल १५७६ ई. एवं १५४४ ई. निश्चित होता है। किन्तु प्रथम पाठ

१. नरहरि चक्रवर्ती, भक्तिरत्नाकर, पृ. २१२, ५।२१४६–२१६२.
२. लालदास, बंगाली भक्तमाल, पृ. ३८.
3. Shastri, H. P., Notices of Sanskrit Manuscripts, Vol. II, Ms. No. 60, pp. 49–50.
4. Leipzig Catalogue. No. 721.
5. A Catalogue of Sanskrit and Prākṛt Manuscript in the India office Library by. Julius Eggeling, Vol. IV. Ms. No. 2510, p. 819.
६. हस्तलिपि सं० ४४४३२.
७. हस्तलिपि सं० १११ व १४५.
८. हस्तलिपि सं० १२९७.

के आधार पर 'गौरगणोद्देशदीपिका' का रचना काल १५७६ ई. ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इस मत के समर्थन में निम्न तर्क विशेष द्रष्टव्य है—

(१) 'गौरगणोद्देशदीपिका' में 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' नाटक का उल्लेख मिलता है।[1] इससे स्पष्ट है कि 'चैतन्यचन्द्रोदय' 'गौरगणोद्देशदीपिका' से पूर्व की रचना है। 'चैतन्यचन्द्रोदय' का रचनाकाल १५७२ ई. निश्चित किया जा चुका है। इसलिए 'गौरगणोद्देशदीपिका' का रचना काल १५७६ ई. होना चाहिए। द्वितीय पाठ स्वीकार करने पर यह मानना पड़ेगा कि 'चैतन्यचन्द्रोदय' कवि कर्णपूर की चतुर्थ रचना है और 'गौरगणोद्देशदीपिका' तृतीय रचना। यदि किञ्चित् क्षणों के लिए 'गौरगणोद्देशदीपिका' को कवि कर्णपूर की तृतीय रचना स्वीकार कर लिया जाय ऐसी स्थिति में 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' में 'गौरगणोद्देशदीपिका' का उल्लेख होना चाहिये था, न कि गौरगणोद्देशदीपिका में 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' का। कारण सदैव परवर्ती रचना में पूर्ववर्ती रचना का उल्लेख होता है, पूर्ववर्ती में परवर्ती का उल्लेख होना कठिन ही नहीं, असम्भव है। 'गौरगणोद्देशदीपिका' परवर्ती रचना है। अतएव उसका रचना काल १५७६ ई. ही उचित प्रतीत होता है।

(२) प्रथम पाठ के अनुसार ग्रन्थ का रचना काल १५७६ ई के समर्थन में द्वितीय तर्क इस प्रकार है कि इस ग्रन्थ पर रूपगोस्वामी कृत 'राधाकृष्णगणोद्देशदीपिका' का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। रूपगोस्वामी ने राधा और कृष्ण के गणों का तत्त्वविवेचन पूर्वोक्त ग्रन्थ में किया है। उसी आधार पर कवि कर्णपूर ने चैतन्य के पार्षदों का तत्त्व-विवेचन किया है। रूपगोस्वामी कृत 'राधाकृष्णगणोद्देशदीपिका' का रचना काल १५५० ई. है।[2] इसलिए 'गौरगणोद्देशदीपिका' का रचना काल उसके पश्चात् १५७६ ई. ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। कारण, द्वितीय पाठ स्वीकार करने पर 'गौरगणोद्देशदीपिका' 'राधाकृष्णगणोद्देशदीपिका' से पूर्ववर्ती रचना हो जायेगी।

'गौरगणोद्देशदीपिका' के रचनाकाल के सम्बन्ध में पूर्वोक्त द्वितीय तर्क महत्त्वपूर्ण है। कारण, नवद्वीप और वृन्दावन के समस्त विद्वान् इस पक्ष में हैं कि 'राधाकृष्णगणोद्देशदीपिका' का निर्माण सर्वप्रथम रूपगोस्वामी ने

१. कविकर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ४८, ५६, १५०.

२. रूपगोस्वामी, राधाकृष्णगणोद्देशदीपिका, २५३ श्लोक.

वृन्दावन में किया। तत्पश्चात् उसी आधार पर यह परम्परा नवद्वीप में भी प्रचलित हुई। इस प्रभाव के फलस्वरूप कुछ नवद्वीपवासी वृद्ध आचार्यों ने कवि कर्णपूर से गौर पार्षदों का तत्त्व विवेचन लिखने के लिए अनुरोध किया। इस आग्रह के फलस्वरूप कवि कर्णपूर ने 'गौरगणोद्देशदीपिका' का निर्माण किया। यद्यपि 'गौरगणोद्देशदीपिका' में कवि कर्णपूर ने रूपगोस्वामी की 'राधाकृष्णगणोद्देशदीपिका' का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया है, किन्तु अप्रत्यक्ष संकेत अवश्य दे दिया है उनके उल्लेखानुसार—चैतन्य महाप्रभु, नित्यानन्द तथा अद्वैत प्रभु के जो सकल विख्यात परिकर है, महानुभाव गोपवंशियों का जो नाम समूह प्रसिद्ध है, उन सबका आदि विद्वान् स्वरूपादि महात्मागणों ने निज-निज ग्रन्थ में प्रकाश किया है। उन ग्रन्थों का अवलोकन कर तथा मथुरा-उत्कल-गौड निवासी साधु वैष्णवों के मुख से सुनकर, निज बुद्धि के द्वारा विवेचना कर, महानुभाव साधु व्यक्तियों के बार-बार अनुरोध से, प्रभुपरिकरों से शासन प्राप्त परमानन्द-दास नामक मैं इस ग्रन्थ को लिखता हूँ"।[1] कवि के इस कथन से स्पष्ट है कि 'गौरगणोद्देशदीपिका' के निर्माण के पूर्व उन्होंने इस प्रकार के सभी ग्रन्थों का न केवल भलीभाँति अवलोकन किया अपितु उन पर विचार विमर्श भी किया था। तत्पश्चात् उसे छन्दोबद्ध किया। यही कारण है कि 'गौरगणोद्देशदीपिका' में कवि की परिपक्वबुद्धि तथा सारग्रहणी प्रतिभा की झलक मिलती है। कवि ने बड़े साहस के साथ अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का खण्डन तथा अपने नवीन मत का प्रतिपादन किया है। यह महान् कार्य एक कम आयु वाले बालक से कदापि सम्भव नहीं हो सकता है। अतएव प्रथम पाठ के आधार पर 'गौरगणोद्देशदीपिका' का रचना काल १५७६ ई. ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। अधिकांश आधुनिक

---

१. ये विख्याताः परीवाराः श्रीचैतन्यमहाप्रभोः
नित्यानन्दाद्वैतयोश्च तेषामपि महीयसाम्।
गोपालानाञ्च पूर्व्वाणि नामानि यानि कानिचित्।
स्वस्वग्रन्थे स्वरूपाद्यैर्दर्शितान्यादिसूरिभिः।
विलोक्यान्यानि साधूनां मधुरोडनिवासिनाम्।
गौडीयानामपि मुखान्निशम्य स्वमनीषया।
विविच्याम्रेडितः कैश्चित् कैश्चित्तानि लिखाम्यहम्।
नाम्ना श्रीपरमानन्ददासः सेवितशासनः॥

कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका; ५

विद्वान् को भी 'गौरगणोद्देशदीपिका' का उपर्युक्त रचना काल ही स्वीकार्य है।[1]

'गौरगणोद्देशदीपिका' के कर्तृत्व और रचनाकाल की समस्या का समाधान करने के पश्चात् उसके वर्ण्यविषय की ओर दृष्टिनिक्षेप करना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में कृष्ण की व्रजलीला के परिकर चैतन्यलीला में जिस-जिस परिकर के रूप में अवतीर्ण हुए हैं, उनका तत्त्व विवेचन किया गया है। उदाहरणार्थ—चैतन्यमहाप्रभु–कृष्ण, अद्वैताचार्य–सदाशिव, नित्यानन्द अवधूत–बलराम, श्रीवास–नारद, रूपगोस्वामी–रूप-मञ्जरी तथा गदाधरकृष्ण की शक्ति राधा, अनुराधा तथा ललिता आदि के अवतार रूप में वर्णित है। अपने वास्तविक रूप में गौड़ीयवैष्णव सम्प्रदाय के अवतारवाद का इसमें समर्थन किया गया है, जिसका संकेत कवि कर्णपूर के 'चैतन्यचरितामृतम्' तथा 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' में प्राप्त होता है। वही अंकुर इस कृति में पूर्ण रूप से विकसित एवं पल्लवित हुए हैं।

रचना शैली तथा काव्यकौशल की दृष्टि से यह कृति विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। किन्तु दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से यह रचना अमूल्य है तथा पहले की कृतियों से अधिक स्पष्ट तथा विकसित प्रतीत होती है। कहीं-कहीं स्थलों पर 'चैतन्यचरितामृतम्' तथा 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' के दार्शनिक विचारों से इसमें असमानता भी दृष्टिगोचर होती है। इसका प्रमुख कारण है कि समय के व्यवधान से विचारों में आने वाला परिवर्तन है। चैतन्य सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों की यह कृति आधार शिला कही जा सकती है।

बृहत्कृष्णगणोद्देशदीपिका

'बृहत्कृष्णगणोद्देशदीपिका' नामक ग्रन्थ के रचयिता के रूप में कवि कर्णपूर का उल्लेख नरहरि चक्रवर्ती के 'भक्तिरत्नाकर' नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम प्राप्त होता है।[2] दुर्भाग्य से 'बृहत्कृष्णगणोद्देशदीपिका' की कोई भी हस्तलिपि तथा पुस्तक न प्राप्त होने के कारण उनके सम्बन्ध में कुछ

1. (a) Sen, D.C., Vaiṣṇava Literature of Mediaeval Bengal, p. 74.
   (b) De, S. K. the Early History or Vaiṣṇava Faith And Movement in Bengal, p. 35.
   (c) Krishnamachari, History of Classical Sanskrit Literature, p. 289.

२. नरहरि चक्रवर्ती, भक्तिरत्नाकर, पृ. ३१२.

प्रामाणिक साक्ष्य देने का दुस्साहस नहीं किया जा सकता है। केवल नरहरिचक्रवर्ती के उद्धरण तथा कृति के शीर्षक के आधार पर उसके वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में अनुमानबल से इतना ही कहा जा सकता है कि इसमें कृष्ण के परिकर वर्ग का तत्त्व विवेचन किया गया होगा। जिस प्रकार 'गौरगणोद्देशदीपिका' में गौराङ्ग महाप्रभु के पार्षदों का तत्त्व विवेचन किया गया है।

श्रीमद्भागवत की व्याख्या

कवि कर्णपूर ने श्रीमद्भागवत की टीका का सृजन भी किया है, ऐसा उल्लेख डा. विमान विहारी मजूमदार ने किया है।[1] बहुत सम्भव है कि डा. मजूमदार का उपर्युक्त कथन सत्य हो, क्योंकि चैतन्य सम्प्रदाय में 'श्रीमद्भागवत' का सर्वोच्च स्थान है। प्रायः सभी गोस्वामियों ने उस पर अपनी टीका सम्प्रदाय के मतानुसार प्रस्तुत की है। कवि कर्णपूर चैतन्य सम्प्रदाय के प्रसिद्ध गोस्वामी हैं। अतएव 'श्रीमद्भागवत' पर उन्होंने भी अपनी व्याख्या लिखी होगी।

संदिग्ध कर्तृत्ववाली रचनाएँ

चमत्कारचन्द्रिका

'चमत्कारचन्द्रिका'[2] नामक खण्ड काव्य के रचयिता के रूप में कवि कर्णपूर का नाम लिया जाता है। मुद्रित ग्रन्थ में आरम्भ से लेकर अन्त तक कोई ऐसा प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता है, जिसके आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सके कि यह रचना कवि कर्णपूर की है और न ही कवि कर्णपूर की अन्य कृतियों में इसका कोई उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न स्थलों से प्राप्त होने वाली कतिपय हस्तलिपियों में भी उसके रचयिता के नाम का उल्लेख नहीं मिलता है।[3] ऐसियेटिक सोसाइटी

---

१. डा० विमान विहारी मजूमदार, 'चैतन्यचरितेर उपादान', प्रथम संस्करण, पृ. १०२.

२. हरिदास (सम्पादक), वंगला अनुवाद सहित वंगलिपि में; नवद्वीप, १९३७ ई०

3. (a) Catalogue of Sanskrit and Prākṛa Manuscripts in the India office Library by. Julius Eggeling, Vol. VII. Ms. No. 3882/1177e.

(b) Varzeichnies Indischer Hands Chriften der Koniglichen

आफ बङ्गाल के पुस्तकालय से प्राप्त होने वाली एक हस्तलिपि में 'चमत्कारचन्द्रिका' के कर्ता के रूप में कवि कर्णपूर का उल्लेख मिलता है, जिसके आधार पर राजेन्द्रलाल मित्रा महोदय ने चमत्कारचन्द्रिका को कवि कर्णपूर कृत स्वीकार किया है।[1] मद्रास से प्राप्त होनेवाली दो हस्तलिपियों में से एक अपूर्ण है[2] तथा दूसरी में कर्ता के रूप में कवि-

---

Universitats—Bibliothek in Tübingen. Anhang: Indische Hands chriften der Koniglichen Oeffentlichen Bibliothek in Stuttgart. Von R. Roth. Tubingen. p. 9.

(c) A Oescriptive Catalogue of Asiatic Society of Bengal by H. P. Shastri. Ms. No. 5200/1579.

(d) A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Vangiya Sahitya Parishat by C. H. Chakravarti, p. 186.

(ङ) वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन, हस्तलिपि, सं० १२६.

१. आरम्भ— यत् कारुण्यं शुचिरसचमत्कारवारां निधींस्तान्
नृभ्योबाधागिरिवरभृतः स्पर्शयेत्तर्षयेन्नः ।
तत्सेवैकं पृषतमचिराल्लब्धमाशाक्षिदानैः
सोऽव्या + + र्दृशनवितते: कृष्णचैतन्यरूपः ।।

परिसमाप्ति वाक्य—सभ्रूविभङ्गकुटिलास्य सरोजसाधु-
माघन्मधुव्रतविलाससुसौरभाणि ।
सम्प्राप्य यानविवरेषु जुघूर्णुरेवं
प्रेष्ठालयः प्रतिपदं प्रमदोर्म्मिकुञ्जे ।।

पुष्पिका—इति श्रीकविकर्णपूरगोस्वामिविरचितचमत्कारचन्द्रिकायां चतुर्थकुतूहलं समाप्ता चेयं चमत्कारचन्द्रिका ।।

Mitra, R. L., Nohces of Sanskrit Manuscripts, Vol. VI, Ms. No. 2150.

२. A Terienmial Catalogue of Manuscripts Collected for the Government Oriental Manuscripts Library Madras. R. No. 2917.

कर्णपूर का उल्लेख मिलता है।[1] दूसरी ओर डा. डे की सूचना के अनुसार[2] ढाका विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से प्राप्त होने वाली पाँच हस्तलिपियों में से तीन हस्तलिपियों पर किसी भी कर्ता के नाम का उल्लेख नहीं मिलता है।[3] चौथी हस्तलिपि में, जो सर्वथा नवीन प्रतीत होती है, कवि कर्णपूर का उल्लेख उसके रचयिता के रूप में किया गया है।[4] इसके विपरीत पाँचवीं हस्तलिपि में रचयिता के रूप में विश्वनाथ चक्रवर्ती का उल्लेख मिलता है।[5] जिसके आधार पर डॉ० डे ने यह सम्भावना प्रकट की है कि 'चमत्कारचन्द्रिका' विश्वनाथ चक्रवर्ती की कृति है। विश्वनाथ चक्रवर्ती कविकर्णपूर के प्रसिद्ध टीकाकार हैं इन्होंने 'अलंकारकौस्तुभ' पर टीकाएँ लिखी हैं। बहुत सम्भव है, इसी समानता के आधार पर उसे कवि-कर्णपूर विरचित मान लिया गया हो। किन्तु मुद्रित पुस्तक विश्वनाथ चक्रवर्ती के नाम से प्रसिद्ध है। नवद्वीप और वृन्दावन की गोस्वामी परम्परा 'चमत्कारचंद्रिका' को विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत ही मानती चली आ रही है। अधुनिक विद्वान् डॉ० डे भी 'चमत्कारचन्द्रिका' को कवि-कर्णपूर की अपेक्षा विश्वनाथ चक्रवर्ती का ही कर्तृत्व स्वीकार करने के पक्ष में है, जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसका प्रमुख कारण है कि कवि कर्णपूर विरचित प्रत्येक कृति सैद्धान्तिक होने के साथ ही साथ सरल और नवीनता, सजीवता और रोचकता से सर्वथा परिपूर्ण है। किन्तु 'चमत्कारचन्द्रिका' केवल सैद्धान्तिक कृति प्रतीत होती है, उसमें कहीं भी सरसता नहीं प्रतीत होती है। प्राचीन कथा में कवि कहीं भी नवीनता, रोचकता और सजीवता का आधान नहीं कर पाया है।

प्राप्य ग्रन्थ चार कुतूहल में विभाजित है। प्रथम कुतूहल में ३७, द्वितीय में ३३, तृतीय में १० तथा चतुर्थ कुतूहल में ५५ श्लोक हैं। तृतीय कुतूहल में उपजाति छन्द का प्रयोग है, लेकिन अन्य कुतूहलों में छन्दों

---

1. Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Adyar library. Vol. V, 1951. Ms. No. 510/XXXIII B. 5.
2. De, S. K., the Early History of Vaiṣṇava Faith and Movement in Bengal, p. 458.
३. हस्तलिपि सं० २४१२, २४६५, २७७०.
४. वही, २३८७.
५. वही, २६५७.

की विविधता पाई जाती है । ग्रन्थ का वर्ण्य विषय राधा-कृष्ण की गुप्त प्रणय लीला है । ग्रन्थ आदि से लेकर अन्त तक कृष्ण की छल लीलाओं से परिपूर्ण है ।

कृष्ण कौतुक

'कृष्ण कौतुक'[1] नामक ग्रन्थ के रचयिता के रूप में कवि कर्णपूर का उल्लेख किया जाता है। सम्पादक की सूचना के अनुसार इस ग्रन्थ का सम्पादन ४०० वर्ष प्राचीन एक हस्तलिपि के आधार पर किया गया है। अनुमान के आधार पर सम्पादक महोदय ने इसे परमानन्ददास कवि कर्णपूर की कृति बताया है। किन्तु यह कृति कवि कर्णपूर विरचित है, इसमें सन्देह है । क्योंकि केवल 'परमानन्द' के आधार पर इसे कवि कर्णपूर विरचित नहीं कहा जा सकता है। हस्तलिपि पर ग्रन्थकर्ता के रूप में 'परमानन्द' का उल्लेख मिलता है। चैतन्य सम्प्रदाय में चैतन्यदेव के मतावलम्बी अनेक 'परमानन्द' नाम के महानुभाव व्यक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए—रूपगोस्वामी और सनातनगोस्वामी के भक्तिशास्त्र के आचार्य परमानन्द भट्टाचार्य, दूसरे महाप्रभु के सतीर्थ परमानन्दपण्डित, तीसरे महाप्रभु के साथी परमानन्दपुरी, चौथे श्रीरसिकानन्द प्रभु के शिष्य परमानन्द, पाँचवें श्रीनित्यानन्दप्रभु की शाखा में परमानन्दगुरु, छठवें महाप्रभु के समसामयिक परमानन्दगुप्त, सातवें जगदानन्द पण्डित के पितामह परमानन्द वैद्य, आठवें उपेन्द्रमिश्र के पुत्र परमानन्द मिश्र, नवें उत्कलवासी परमानन्दमहापात्र तथा दसवें परमानन्ददास (सेन) कवि कर्णपूर । प्रस्तुत कृति परमानन्ददास (सेन) कवि कर्णपूर विरचित नहीं है, इस पक्ष में एक सवल प्रामाणिक साक्ष्य दिया जा सकता है, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता ने मंगलाचरण के प्रथम श्लोक में कृष्ण की वन्दना करने के पश्चात् द्वितीय श्लोक में अपने गुरु श्रीकृष्ण की स्तुति की है।[2] कृष्ण से श्रीकृष्णभगवान् का सम्बन्ध यहाँ नहीं स्थापित किया जा सकता है। क्योंकि वे तप्तकाञ्चन वर्ण के नहीं हैं। दूसरे कृष्ण भगवान् की वन्दना कवि प्रथम श्लोक में पहले ही सम्पन्न कर चुका था। इससे स्पष्ट है कि पूर्वोक्त ग्रन्थ के निर्माता कवि परमानन्द के गुरु का नाम श्रीकृष्ण होगा, जिनका स्मरण उन्होंने ग्रन्थ के आरम्भ में

---

१. कृष्णदास (सम्पादक), मथुरा, १९६५.

२. तप्तकाञ्चनगौराङ्गं प्रसन्नवदनाम्बुजम् ।
श्रीकृष्णाख्यं गुरुं नित्यं नमामि शिरसा मुदा ॥ कृष्णकौतुकम् १।२.

किया है। परमानन्ददास कवि कर्णपूर के गुरु का नाम श्रीनाथ था, जो पहले ही सिद्ध किया जा चुका है। यदि यह कृति कवि कर्णपूर की होती, तब वह अपने गुरु श्रीनाथ का उल्लेख करते, न कि श्रीकृष्ण का। इससे यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि यह कृति कवि कर्णपूर की नहीं है। अपितु इसके कर्ता उपर्युक्त उल्लिखित अनेक परमानन्दों में से कोई अन्य ही परमानन्द होंगे, जिनके गुरु का नाम श्रीकृष्ण होगा।

चतुर्थ अध्याय

कवि कर्णपूर की दार्शनिक विचारधारा

कवि कर्णपूर एक उच्च कोटि के कवि होने के साथ ही, चैतन्य सम्प्रदाय के प्रमुख दार्शनिक हैं। उनकी दार्शनिक विचारधारा के सम्यक् अभिज्ञानार्थ उनकी कृतियों का दार्शनिक पक्ष विशेष महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः उनकी कृतियों का दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययन, न केवल उनकी दार्शनिक विचारधारा के प्रतिपादनार्थ उपादेय है, अपितु चैतन्यदर्शन के मूल सिद्धान्तों के आरम्भिक स्वरूप, उसके क्रमिक विकास तथा नवद्वीप एवं वृन्दावन की शाखा की दार्शनिक विचारधारा में विद्यमान मतभेदों के परिज्ञानार्थ अत्यधिक आवश्यक है।[1] इसका प्रमुख कारण है कि चैतन्य महाप्रभु ने अपने अभिमत मत के उद्घाटनार्थ किसी दार्शनिक ग्रन्थ अथवा प्रस्थानत्रयी पर किसी भाष्य का सृजन नहीं किया।[2] फलस्वरूप उनके नेतृत्व में उदित होने वाले दार्शनिक चिन्तन का वास्तविक स्वरूप अद्यावधि रहस्य का विषय है। वस्तुतः चैतन्य के दार्शनिक विचारों का स्वरूप उनके वृन्दावन के शिष्यों ने निर्धारित किया है।[3] उन्होंने चैतन्य के

---

१. चैतन्यमतावलम्बी अनुयायी दो—नवद्वीप एवं वृन्दावन—शाखाओं में विभक्त हैं। समस्त (गौड़ीय वैष्णव) साहित्यिक एवं दार्शनिक स्रोतों से प्राप्य साक्ष्यों के अनुसार दोनों शाखाओं की दार्शनिक विचारधारा में पर्याप्त मतभेद है। नवद्वीप की शिष्य मण्डली की उपासना का साध्य तत्त्व-चैतन्य हैं, जिन्हें भक्ति प्राबल्य के कारण ईश्वर रूप में प्रतिष्ठित करते हुए भी उन्होंने अपने मत के प्रकाशनार्थ किसी पृथक् दार्शनिक ग्रन्थ के प्रणयन में श्रम नहीं किया। इस शाखा के प्रमुख शिष्य—स्वरूपदामोदर गोस्वामी, मुरारिगुप्त, शिवानन्दसेन, कवि कर्णपूर, वृन्दावनदास, लोचनदास, जयानन्द एवं नरहरि सरकार आदि हैं। वृन्दावन की शिष्यमण्डली ने (साम्प्रदायिक लिप्सा के कारण) चैतन्य के स्थान पर कृष्ण को साध्य तत्त्व स्वीकार कर अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के विज्ञापनार्थ ग्रन्थों का निर्माण किया। वृन्दावन के षट्गोस्वामी—सनातनगोस्वामी, रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी, रघुनाथभट्ट, गोपालभट्ट तथा रघुनाथदास—इस शाखा के प्रमुख गोस्वामी हैं।

२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ. ४,११०, १११.

३. चैतन्य के नाम से एक नवीन सम्प्रदाय के संगठनार्थ कटिबद्ध होकर वृन्दावन

विचारों में कितना संशोधन किया है, कितना प्रक्षिप्त किया है तथा इस कार्य में उन्हें कितनी सफलता मिली है, इसका मूल्यांकन करना कठिन है।[1]

कवि कर्णपूर चैतन्य की नवद्वीप शाखा के सर्वाधिक उत्साही लेखक हैं। तुलनात्मक दृष्टि से वृन्दावन के शिष्यों की अपेक्षा कविकर्णपूर को चैतन्य तथा चैतन्य के अन्तरंग शिष्यों के निकट रहने का सौभाग्य अधिक मिला है।[2]

के आचार्यों ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों एवं भक्तिपरक कर्मकाण्ड के स्वरूप को स्थिर किया है। षट्गोस्वामियों द्वारा प्रवर्तित चैतन्यदर्शन का प्रमुख विशालकाय ग्रन्थ सनातन गोस्वामी विरचित 'बृहद्भागवतामृतम्' है; जिसका पूरक ग्रन्थ रूपगोस्वामी विरचित 'लघुभागवतामृतम्' तथा भक्ति के शास्त्रीय पक्ष की मीमांसार्थ 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' एवं 'उज्ज्वल-नीलमणि' है। 'इनके ही सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन जीवगोस्वामी ने अपने 'षड्सन्दर्भ' (तत्वसन्दर्भ, भागवतसन्दर्भ, परमात्मासन्दर्भ, कृष्णसन्दर्भ, भक्तिसन्दर्भ एवं प्रीतिसन्दर्भ) में किया है। चैतन्य सम्प्रदाय की उपासना पद्धति एवं नित्यकर्मों के अभिज्ञानार्थ गोपालभट्ट विरचित 'हरिभक्तिविलास' ग्रन्थ है। आगे चलकर वृन्दावन के अर्वाचीन आचार्य कृष्णदास कविराज के 'चैतन्यचरितामृतम्' में चैतन्यदर्शन का पूर्ण विकसित एवं परिष्कृत स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, जिसमें नवद्वीप और वृन्दावन की शिष्यमण्डली के पृथक्-पृथक् विचारों में समन्वय स्थापित करने के साथ ही अपनी मौलिक कल्पना का सहयोग लिया गया है। (कृष्णदास कविराज ने कवि कर्णपूर के जिन-जिन सिद्धान्तों का प्रयोग अपने ग्रन्थ में किया है, उनका उल्लेख उपसंहार ('चैतन्यसम्प्रदाय' में कवि कर्णपूर का स्थान) में किया जायेगा।

१. षट्गोस्वामियों की दार्शनिक विचारधारा की विस्तृत विवेचना के लिए डॉ० सुशील कुमार दे की पुस्तक The Early History of the Vaiṣṇava Faith And Movement in Bengal का अध्याय ५ (Theology And Philosophy. p. 170–320) द्रष्टव्य है।

२. कवि कर्णपूर के पिता शिवानन्दसेन एवं उनके गुरु श्रीनाथ स्वयं चैतन्य के अन्तरंग शिष्य थे। इसके अतिरिक्त चैतन्य के अभिन्न साथी अद्वैताचार्य, श्रीवास, स्वरूपगोस्वामी, मुरारिगुप्त आदि को कवि कर्णपूर ने स्वयं देखा, उनके मध्य उनका बाल्यकाल व्यतीत हुआ और उनके साथ विचार विनिमय करने का उन्हें अमूल्य अवसर मिला था। (कवि कर्णपूर, चैतन्य-चन्द्रोदयम्; १०।१७–१८. अन्तिम श्लोक)

अतएव चैतन्य के विचारों के सम्बन्ध में कविकर्णपूर का कथन कुछ सीमा तक सत्य के अधिक निकट होगा, ऐसी सम्भावना की जा सकती है। दूसरे जहाँ कहीं भी किसी साम्प्रदायिक मान्यता के कारण कवि कर्णपूर ने कोई परिवर्तन किया है, उन स्थलों पर स्पष्ट सङ्केत कर दिया है, जिससे इस तथ्य पर स्वतः प्रकाश पड़ जाता है कि यहाँ पर संशोधन किया गया है। उनकी आरम्भिक कृति 'चैतन्यचरितामृतम्' में उनकी दार्शनिक विचार-धारा का अर्धविकसित रूप ही दृष्टिगोचर होती है, किन्तु 'चैतन्य-चन्द्रोदयम्' में उनकी दार्शनिक विचारधारा का प्रौढ़ परिपक्व रूप समक्ष आता है। उनकी विचारधारा की उपयोगिता एवं यथार्थता का सबसे सबल प्रमाण है कि कृष्णदास कविराज ने चैतन्यदर्शन का निरूपण करते समय 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' को अधिकांश स्थलों पर प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है।[१] उनकी 'गौरगणोद्देशदीपिका' पूर्णतः दार्शनिक रचना है। इसके अतिरिक्त 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' सर्वथा गौड़ीय वैष्णव भक्ति रसशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर ही रचा गया है।

कवि कर्णपूर की दार्शनिक विचारधारा का मूलस्रोत

कविकर्णपूर की दार्शनिक विचारधारा का मूलस्रोत 'श्रीमद्भागवत',[२] 'विष्णुपुराण', 'कृष्ण-कर्णामृतम्', 'ब्रह्मसंहिता', नारदपञ्चरात्र, कपिल-पञ्चरात्र एवं 'हयशीर्षपञ्चरात्र' आदि वैष्णव ग्रन्थ हैं। अपने मत को प्रतिपादित करने के लिए उन्होंने उपर्युक्त ग्रन्थों से उद्धरणों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। कवि कर्णपूर ने वेदान्त दर्शन को सर्वोपरि स्थान देते हुए भी वेदान्त सूत्रों का अर्थ शङ्कराचार्य की भाँति लक्षणावृत्ति से न लेकर मुख्यार्थवृत्ति से लिया है।[३]

कवि कर्णपूर के चैतन्यदर्शन के मूलाधार विषयक विचार

चैतन्य सम्प्रदाय में कवि कर्णपूर प्रथम दार्शनिक हैं, जिन्होंने माध्वदर्शन को चैतन्यदर्शन का मूलाधार स्वीकार किया है। उनकी इस विचारधारा

१. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम् , २।६।१३३, २।१०।११६, २।११। ६, ८, ३७, २।१६।१०६; २।११।१३६, २।२४।२५६, ३।६।२५६.

२. चैतन्यदर्शन में ब्रह्मसूत्र के पृथक् भाष्य के स्थान पर 'श्रीमद्भागवत' को ही वेदान्त दर्शन का भाष्य बताकर (जीवगोस्वामी, तत्त्वसन्दर्भ, १।१८–२२) 'श्रीमद्भागवतपुराणममलम्' की घोषणा की गई है।

३. कवि कर्णपूर; चैतन्यचन्द्रोदयम् ; पृ० १२१.

का संकेत 'गौरगणोद्देशदीपिका' से प्राप्त होता है, जिसमें उन्होंने चैतन्य के दीक्षागुरु ईश्वरपुरी और उनके गुरु माधवेन्द्रपुरी का उल्लेख माध्वगुरु-परम्परा के अन्तर्गत किया है। यदि उपर्युक्त साक्ष्य के आधार पर यह स्वीकार कर लिया जाये कि चैतन्यदर्शन का मूलाधार माध्वदर्शन है तथा इस विचारधारा के प्रथम समर्थक कवि कर्णपूर हैं तो ऐसी स्थिति में कुछ असंगत्तियाँ अवरोधक रूप में उपस्थित होती हैं—

(१) कवि कर्णपूर ने 'गौरगणोद्देशदीपिका' के अतिरिक्त अपनी अन्य किसी भी कृति में चैतन्य दर्शन के साथ माध्वदर्शन के यत्किञ्चित् सम्बन्ध का उल्लेख नहीं किया है। यदि कविकर्णपूर की आस्था इस तथ्य में थी कि चैतन्यदर्शन का आधार माध्वदर्शन है, ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि उन्होंने इस तथ्य का उल्लेख अपनी अन्य कृतियों में क्यों नहीं किया ? दूसरी ओर कवि कर्णपूर की अन्य कृतियों से प्राप्त होने वाले अन्तरंग साक्ष्य इस तथ्य का स्पष्ट संकेत करते हैं कि चैतन्य की माध्व-सम्प्रदायी वैष्णवों में कोई श्रद्धा नहीं थी। 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' में चैतन्य की दक्षिण यात्रा का उल्लेख करते हुए उनका कथन है कि—'यद्यपि चैतन्य अपनी दक्षिण यात्रा के समय अनेक वैष्णवों और नारायण उपासकों से मिले, किन्तु किसी ने उन्हें प्रभावित नहीं किया।[1] यहाँ चैतन्य का वैष्णवों से आशय रामानुज और माध्वसम्प्रदायी वैष्णवों से ही प्रतीत होता है। इतना ही नहीं कवि कर्णपूर ने चैतन्य को विशेष रूप से अद्वैतप्रेमी उल्लिखित किया है।[2] 'चैतन्यचरितामृतम्' में कवि कर्णपूर ने ईश्वरपुरी विष्णुपुरी, माधवेन्द्रपुरी तथा केशवभारती के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है, किन्तु ऐसा उल्लेख नहीं किया है कि ये आचार्य माध्व सम्प्रदायी हैं।

(२) चैतन्य दर्शन के मूल सिद्धातों तथा माध्वदर्शन के मूलसिद्धान्तों में महान् अन्तर है।[3] माध्वदर्शन ९ प्रमुख सिद्धान्तों पर आधारित है, जो उसे विशुद्ध 'द्वैतवादी' प्रमाणित करता है।[4] इसके विपरीत चैतन्यमत का

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोयमम् ; पृ० १३७.

२. वही, ५।२१.

३. (अ) De. S. K., the Early History of the Vaiṣṇava Faith and Movement in Bengal. p. 16.

(ब) सत्येन्द्रनाथवसु—'श्रीगौड़ीयवैष्णवसम्प्रदाय', मासिक वसुमती पत्रिका; वर्ष १४, संख्या ३, पृ० ४५६, पौषमास, बंगाब्द १३४२.

४. बलदेवविद्याभूषण ने माध्वदर्शन के ९ सिद्धान्तों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

दार्शनिक सिद्धान्त 'अचिन्त्यभेदाभेद' कहलाता है।[1] अचिन्त्यभेदाभेद की दार्शनिक पृष्ठभूमि में माध्वसम्प्रदाय की किसी दार्शनिक मान्यता का अन्वेषण व्यर्थ है।

उपर्युक्त उल्लिखित दोनों ही असंगतियाँ माध्वदर्शन को चैतन्यमत का मूलाधार स्वीकार करने के विपक्ष में हैं। जहाँ तक प्रथम असंगति है, उसका समाधान किसी सीमा तक किया जा सकता है। क्योंकि कालक्रम के अनुसार 'गौरगणोद्देशदीपिका', 'चैतन्यचरितामृतम्' और 'चैतन्य-चन्द्रोदयम्' से बाद की रचना है।[2] 'चैतन्यचरितामृतम्' और 'गौर-गणोद्देशदीपिका' के मध्य ३४ वर्षों (१५४२ ई.–१५७६ ई.) तथा 'चैतन्य-चन्द्रोदयम्' और 'गौरगणोद्देशदीपिका' के मध्य (१५७२ ई. १५७६ ई.) ४ वर्षों का व्यवधान है। समय के साथ विचारों में भिन्नता अथवा परिवर्तन आ जाना कुछ असम्भव नहीं है। दूसरे 'चैतन्यचरितामृतम्' और 'चैतन्य-चन्द्रोदयम्' दोनों कवि कर्णपूर की साहित्यिक रचनाएँ हैं। उन्हें दार्शनिक अथवा साम्प्रदायिक कृति की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में कवि से यह अपेक्षा करना कि वह साहित्यिक कृति में भी सम्प्रदायगत समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत करे, असम्भव है। वस्तुतः साहित्यिक रचना में यदाकदा स्फुट रूप से दार्शनिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है। वहाँ नियमबद्धता नहीं रहती है। 'गौर-गणोद्देशदीपिका' अवश्य कवि कर्णपूर की विशुद्ध दार्शनिक अथवा साम्प्रदायिक रचना है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कवि ने इस तथ्य को स्पष्ट

श्रीमध्वः प्राह विष्णुं परतमखिलाम्नायवेद्यश्च विश्वं
सत्यं भेदश्च जीवान् हरिचरणजुषस्तारतम्यश्च तेषाम्।
मोक्षं विष्णवङ्घ्रिलाभं तदमलभजनं तस्य हेतु प्रमाणं
प्रत्यक्षादिजयञ्चेत्युदिशति हरिः कृष्णचैतन्यचन्द्रः॥

बलदेवविद्याभूषण, प्रमेयरत्नावली, १.५.

१. जीवगोस्वामी ने भगवत्सन्दर्भ की सर्वसंवादिनी टीका में 'अचिन्त्यभेदाभेद' दर्शन की व्याख्या इस प्रकार की है—तस्मात् स्वस्मादभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वात् अभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदो अंगीकृतो। तौ च अचिन्त्यौ। स्वमते तु अचिन्त्य भेदाभेदयवेव अचिन्त्यशक्तित्वात्॥

जीवगोस्वामी, भगवत्सन्दर्भ, सर्वसंवादिनी टीका, पृ० ३६, ३७.

२. कालक्रम के लिए अध्याय तृतीय द्रष्टव्य है।

कर दिया है कि 'गौरगणोद्देशदीपिका' (उस समय के) मनोनीत वयोवृद्ध जनों के अनुरोध पर निर्मित की गई है तथा उसमें गौड़ और वृन्दावन में प्रचलित सभी विचारधाराओं में समन्वय स्थापित किया गया है।[1] बहुत सम्भव है कि चैतन्य के परलोक गमन के ४०-४२ वर्षों के पश्चात् बंगाल में उनके क्रमशः क्षीण होते हुए प्रभाव को देखकर (उस समय के) वृद्धाचार्यों के मन में चैतन्यमत के भविष्य के सम्बन्ध में चिन्ता उत्पन्न हो गई हो। चतुःसम्प्रदाय की परम्परा से चैतन्यमत का पृथक्त्व उसे अशास्त्रीय सम्प्रदाय की संज्ञा न प्रदान कर दे, इस आशंका से उन्होंने चैतन्यमत को माध्वदर्शन का प्राचीन धरातल प्रदान करने के लिए कवि कर्णपूर को यह परामर्श दिया हो कि वह चैतन्यमत का माध्व सम्प्रदाय से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए माध्वगुरु परम्परा का निरूपण करे। 'सेवित-शासनः' इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि इस ग्रन्थ का प्रणयन करने के निमित्त उन्हें विशेष रूप से प्रेरित किया गया है। इसलिए कवि कर्णपूर ने 'गौरगणोद्देशदीपिका' में ही माध्वगुरु परम्परा का उल्लेख करके चैतन्यमत का सम्बन्ध माध्वदर्शन से स्थापित करने का प्रयास किया है। ऐसी स्थिति में अन्य कृतियों में माध्व गुरु परम्परा का उल्लेख करने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

द्वितीय समस्या का निराकरण अवश्य कठिन है। कारण यह कि चैतन्यदर्शन और माध्वदर्शन के मूल सिद्धान्तों में ईषत् साम्य भी दृष्टि-गोचर नहीं होता है। डॉ. दे एवं सत्येन्द्रनाथ वसु ने चैतन्यदर्शन का आधार माध्वदर्शन को नहीं स्वीकार किया है। डॉ. दे को इस तथ्य में भी सन्देह है कि ईश्वरपुरी, विष्णुपुरी एवं माधवेन्द्रपुरी आदि की पुरी उपाधि माध्वसम्प्रदायी आचार्यों की है अथवा नहीं ? क्योंकि इस सम्बन्ध में भी विद्वानों के दो मत हैं। प्रथम मत पुरी उपाधि को माध्वसम्प्रदायी आचार्यों की उपाधि स्वीकार करता है। द्वितीय मत शंकर सम्प्रदायी अद्वैतवादियों की उपाधि स्वीकार करता है। अतः विकल्प की स्थिति में यह निर्णय करना ही कठिन है कि पुरी उपाधि वस्तुतः किस सम्प्रदाय की है।[2] इसके अतिरिक्त डॉ. दे ने कवि कर्णपूर एवं बलदेवविद्याभूषण प्रदत्त माध्वगुरु

---

१. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ५.

२. De, S. K., the Early History of the Vaiṣṇava Faith And Movement in Bengal, p. 12–13.

परम्परा की ऐतिहासिकता में भी सन्देह व्यक्त किया है।[1] सत्येन्द्रनाथ वसु ने भी कवि कर्णपूर प्रदत्त गुरु-परम्परा की ऐतिहासिकता में संशय व्यक्त करते हुए, माध्वदर्शन के मूल सिद्धान्तों से चैतन्यदर्शन के पार्थक्य के आधार पर माध्वदर्शन को चैतन्यदर्शन का मूल आधार स्वीकार नहीं किया है।[2] डॉ. दे एवं वसु महोदय के युक्तिमूलक तर्कों से इस समस्या का निराकरण अवश्य हो जाता है कि चैतन्यदर्शन का मूल आधार माध्वदर्शन नहीं है। लेकिन इस समस्या का निराकरण नहीं हो पाया है कि कवि कर्णपूर ने ऐसा मिथ्या उल्लेख क्यों किया ?[3] वस्तुतः कवि कर्णपूर के इस प्रकार के उल्लेख के साथ अवश्य कोई गूढ़ साम्प्रदायिक कारण प्रच्छन्न है, जिसके रहस्य का उद्घाटन करना कठिन हो। इस सम्बन्ध में केवल दो सम्भावनाएँ की जा सकती हैं। प्रथम सम्भावना का उल्लेख प्रथम समस्या के निराकरण के अवसर पर किया जा चुका है।

द्वितीय सम्भावना के अनुसार माधवेन्द्रपुरी आरम्भ में अद्वैतवादी रहे होंगे,[4] कुछ समय पश्चात् अद्वैतवाद में भक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा न देखकर उन्होंने माध्व सम्प्रदाय में दीक्षा ग्रहण कर ली होगी। तदनन्तर वहाँ भी माधुर्यभक्ति की उपेक्षा देखकर उन्होंने एक नवीन विचारधारा अर्थात् माधुर्य भक्ति की प्रवर्तना की होगी, जिसे ईश्वरपुरी, अद्वैताचार्य, नित्यानन्द आदि से प्रोत्साहन एवं समर्थन प्राप्त हो गया होगा। तदनन्तर

---

१. De, S. K., the Early History of the Vaiṣṇava Faith And Movement in Bengal, p. 12.

२. सत्येन्द्रनाथ वसु, श्रीगौड़ीयवैष्णव सम्प्रदाय', मासिक वसुमतो, वर्ष १४, संख्या ३, पृ० ४५३–४५८, पौषमास, बंगाब्द, १३४२.

३. सत्येन्द्रनाथ वसु ने इस समस्या के निवृत्त्यर्थ उल्लिखित किया है कि—'यह अंश 'गौरगणोद्देशदीपिका' में प्रक्षिप्त है अथवा 'गौरगणोद्देशदीपिका' कवि कर्णपूर की रचना नहीं है। किन्तु उनका यह समाधान सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होता है। 'गौरगणोद्देशदीपिका' के कर्तृत्व के सम्बन्ध में अध्याय तृतीय द्रष्टव्य है। डॉ० दे इस सम्बन्ध में सर्वथा मौन हैं।

४. डॉ० दे भी इस पक्ष में हैं कि माधवेन्द्रपुरी, ईश्वरपुरी आदि दशनामी अद्वैतवादियों से सम्बन्धित थे तथा श्रीधराचार्य की परम्परा का अनुकरण करने वाले थे।

(De, S. K., the Early History of the Vaiṣṇava Faith And Movement in Bengal, p. 16.

उसी विचारधारा को चैतन्य ने विस्तृत धरातल पर प्रस्तुत किया होगा। कवि कर्णपूर के स्वयं के साक्ष्यों के अनुसार "माधवेन्द्रपुरी प्रेम भक्ति के प्रवर्तक तथा प्रीति, प्रेम, वत्सल एवं उज्ज्वल रस के साक्षात् अवतार थे। उन्हीं के शिष्य ईश्वरपुरी ने शृङ्गार रस का विस्तार किया। अद्वैतप्रभु ने दास्य एवं सख्य तथा रङ्गपुरी ने वात्सल्य रस का प्रकाश किया। चैतन्य ने ईश्वरपुरी को गुरु रूप में प्राप्त कर उसी प्रेमभक्ति का विस्तार किया।"[1] आरम्भ में माधवेन्द्रपुरी का सम्बन्ध माध्व सम्प्रदाय से रहा होगा। माधवेन्द्र-पुरी (चैतन्य के दीक्षा गुरु) ईश्वरपुरी के गुरु थे। इसलिए प्रस्तावना के लिए कवि कर्णपूर ने माध्वगुरु परम्परा का उल्लेख किया होगा।

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कवि कर्णपूर ने ही सर्वप्रथम माध्वदर्शन के साथ चैतन्यदर्शन का सम्बन्ध स्थापित किया। शनैः शनैः कवि कर्णपूर की इस विचारधारा के प्रति परवर्ती लेखक—मनोहरदास,[2] नरहरिचक्रवर्ती,[3] लालदास[4] आदि ने अपनी पूर्ण आस्था व्यक्त की।[5] किन्तु इस विचारधारा का प्रबल समर्थन बलदेव विद्याभूषण

---

१. (अ) श्रीमाल्लक्ष्मीपतिस्तस्य शिष्यो भक्तिरसाश्रयः।
तस्य शिष्यो माधवेन्द्रो यद्धर्मोऽयं प्रवर्त्तितः॥
कल्पवृक्षस्यावतारो व्रजधामनि तिष्ठतः।
प्रीतप्रेयोवत्सलतोज्ज्वलाख्यफलधारिणः॥
तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमानीश्वराख्यपुरी यतिः।
कलयामास शृङ्गारं यः शृङ्गारफलात्मकः॥
अद्वैतः कलयामास दाससख्ये फले उभे।
श्रीमान्रङ्गपुरी ह्येष वात्सल्ये यः समाश्रितः॥
ईश्वराख्यपुरीं गौरउररीकृत्य गौरवे।
जगदाप्लावयामास प्राकृता प्राकृतात्मकम्॥
कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, २२–२५.

(ब) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, १।६.

२. मनोहरदास, अनुरागावली, पृ. ११२.

३. नरहरि चक्रवर्ती, भक्तिरत्नाकर, पृ. २१२ पर ५।२१४६–२१६२.

४. लालदास, बंगालीभक्तमाल, पृ. ३८.

५. डा० विमानबिहारी मजूमदार ने गोपाल गुरु, विश्वनाथ चक्रवर्ती एवं देवकीनन्दन आदि लेखकों का भी उल्लेख किया है, जिन्होंने चैतन्यदर्शन के सन्दर्भ में माध्वगुरु परम्परा का उल्लेख किया है (चैतन्यचरितेर उपादान, द्वितीय संस्करण, पृ. ५४४)।

ने किया,[१] उनके भगीरथ प्रयत्नों के फलस्वरूप चैतन्य मत पुरी और वृन्दावन में 'गौड़माध्वेश्वर' सम्प्रदाय की संज्ञा से अभिहित किया जाने लगा।

कवि कर्णपूर के प्रमाणविषयक विचार

कवि कर्णपूर किसी भी प्रमाण को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं।[२] उनके मतानुसार हृदयस्थिति अन्धकार की कटुता का मार्जन करने वाली ईश्वर लीला को, बिना भगवान् की कृपा से उत्पन्न होने वाले ज्ञान विशेष से कोई भी व्यक्ति प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों के द्वारा अवगत नहीं कर सकता है।[३]

कवि कर्णपूर के जगद्विषयक विचार

कवि कर्णपूर की दार्शनिक विचारधारानुसार यह विश्व भ्रम मात्र है। यहाँ पवित्रापवित्र कुछ भी नहीं है। सत्य, शाश्वत एवं नित्य तत्त्व केवल आत्मा है, जिसमें नानात्व का अभाव है। पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि, वायु आदि पञ्च तत्त्व समस्त भूतों में समाहित हैं तथा आत्मा से उनका पार्थक्य नहीं है। सब एक हैं।[४] आत्मा के अनादि और शाश्वत होने के कारण उसका विनाश, भूत, भविष्य तथा वर्तमान में कदापि नहीं होता है। मृत्यु के उपरान्त प्रायः उपाधि से आत्मा को मुक्त समझ लिया जाता है।[५]

मिथ्या जगत के प्रयोजन को कवि कर्णपूर ने स्पष्ट किया है। उनके मतानुसार मिथ्याजगत का निर्माण ईश्वर अपने कौतुक के लिए माया शक्ति से करता है। किन्तु कवि कर्णपूर द्वारा निरूपित जगत् का मिथ्यात्व शंकराचार्य के जगत् मिथ्यात्व से सर्वथा भिन्न है। कवि कर्णपूर ने विश्व

१. बलदेव विद्याभूषण, प्रमेयरत्नावली, पृ. ९ एवं गोविन्दभाष्य (परिचयात्मक श्लोक)

२. चैतन्यदर्शन का निरूपण करते समय रूपगोस्वामी ने—'प्रधानत्वात् प्रमाणेषु शब्द एव प्रमाण्यते' कहकर शब्द प्रमाण की सत्ता स्वीकार की है (लघुभागवतामृतम्; पृ. १०)। जीवगोस्वामी ने उपर्युक्त कथन के औचित्य को सिद्ध करते हुए कहा है कि—तत्र पुरुषस्य भ्रमादिदोषचतुष्टत्वात् सुतरामलौकिकाचिन्त्यस्वभाववस्तु स्पर्शयोग्यत्वाच्च तत्प्रत्यक्षादीन्यपि सदोषाणि (तत्त्वसन्दर्भ ९, पृ. ४)

३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्; पृ. ७३, १११.

४. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २।७३–७५.

५. वही, ६।६१–६५.

का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए एक अत्यन्त रोचक कथा प्रसंग की अवतारणा की है। कवि के उल्लेखानुसार चैतन्य महाप्रभु अपने भक्तों के समक्ष एक आम्र बीज का रोपण करते हैं। कुछ ही क्षणों में बीज से अंकुर, पल्लव, शाखा तथा फल प्रस्फुटित होने लगते हैं। कुछ समय पश्चात् सभी कुछ गन्धर्वनगर की भाँति विलुप्त हो जाता है। चैतन्यमहाप्रभु प्रस्तुत उद्धरण से यह स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार यह सब मिथ्या और शैलूष की क्रीड़ामात्र है, उसी प्रकार विश्व तथा उसमें प्राप्त होने वाले फल माया कलित हैं। विश्व में जन्म लेना ईश्वर सेवा अथवा भजन द्वारा ही सार्थक हो सकता है। ईश्वर सेवा में सांसारिक बाधाएँ अवरोधक नहीं बन पाती हैं।[1]

चैतन्य सम्प्रदाय की वृन्दावन शाखा ने चैतन्यदर्शन का सम्बन्ध तत्त्व, अभिधेय तत्त्व एवं प्रयोजन तत्त्व 'श्रीमद्भागवत' का प्रतिपाद्य सम्बन्ध तत्त्व, अभिधेय तत्त्व एवं प्रयोजन तत्त्व स्वीकार किया है। नवद्वीप की शिष्य-मण्डली ने चैतन्य को मुख्य तत्त्व स्वीकार करते हुए पञ्च तत्त्व का निरूपण किया है। अतः सर्वप्रथम वृन्दावन के आचार्यों द्वारा प्रतिपाद्य सम्बन्ध तत्त्व आदि के सम्बन्ध में कवि कर्णपूर के विचारों का विवेचन किया जायेगा।

कवि कर्णपूर के सम्बन्ध तत्त्व विषयक विचार

कवि कर्णपूर ने सम्वन्ध तत्त्व के सम्बन्ध में अपने विचारों को 'चैतन्य-चन्द्रोदयम्' एवं 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में अत्यन्त सरलता एवं कुशलता-पूर्वक प्रतिपादित किया है।[2] उनके अनुसार मुख्य सम्वन्ध तत्त्व कृष्ण है। परमात्मा एवं ब्रह्म से परमब्रह्म कृष्ण का ही बोध होता है।[3] कृष्ण और ब्रह्म में वही अन्तर है, जो मणि और उसकी द्युति में।[4] ब्रह्म को निराकार निर्विशेष सिद्ध करने के लिए शंकराचार्य ने लक्षणावृत्ति का आश्रय लिया

१. वही, ६।२९–३४.

२. जीवगोस्वामी ने मुख्य सम्वन्ध तत्त्व कृष्ण को स्वीकार करते हुए ब्रह्म, परमात्मा एवं स्वयं भगवान् को कृष्ण का आविर्भाव विशेष कहा है (जीवगोस्वामी, भगवत्सन्दर्भ, नृ० ४९), उन्होंने ब्रह्म, परमात्मा और कृष्णतत्त्व का निरूपण तीन पृथक् सन्दर्भों—भगवत्सन्दर्भ, परमात्मा-सन्दर्भ तथा कृष्णसन्दर्भ में विस्तार पूर्वक किया है। अतः विस्तार के लिए वही द्रष्टव्य है।

३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १२१.

४. वही, आनन्दवृन्दावनचम्पू, ५।६७.

है, वह औचित्यपूर्ण नहीं है।[1] कवि कर्णपूर ने 'ब्रह्म' शब्द की व्याख्या 'विष्णुपुराण' के आधार पर करते हुए ब्रह्म शब्द का मुख्यार्थ 'बृहत्' अथवा 'बृंहण' (बलाधायक) लिया है।[2] अर्थात् ब्रह्म स्वरूप में, शक्ति में, शक्तियों की संख्या में तथा शक्तियों के कार्यों में सर्वाधिक बृहत् है। इस प्रकार मुख्यार्थ से ब्रह्म की सविशेषता सिद्ध होती है, किन्तु यहाँ पर एक प्रश्न विशेष विचारणीय है कि ब्रह्म को सविशेष एवं निर्विशेष सिद्ध करने वाली दोनों ही विरोधी श्रुतियाँ पायी जाती हैं।[3] अतः ऐसी विकल्पात्मक स्थिति में किस श्रुति को अधिक शक्तिशाली एवं प्रामाणिक स्वीकार किया जाये ? कवि कर्णपूर की विचारधारा में साकार एवं सविशेष स्वरूप का निरूपण करने वाली श्रुतियाँ ही ग्रहणीय हैं, क्योंकि वे अधिक शक्तिशाली हैं। अपने मत के समर्थन में उन्होंने 'हयशीर्षपञ्चरात्र' के निम्न साक्ष्य को प्रस्तुत किया है; यथा—

या या श्रुतिर्जल्पति निर्विशेषं सा साभिधत्ते सविशेषमेव ।
विचारयोगे सति हन्त तासां प्रायो बलीयः सविशेषमेव ।।[4]

ब्रह्म की सविशेषता एवं सगुणता के प्रतिपादनार्थ कवि कर्णपूर ने— 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते; 'आनन्देनैव जातानि जीवन्ति', 'आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' आदि श्रुति वचनों को उद्धृत कर ब्रह्म को

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्य चन्द्रोदयम् , पृ० १२१.

२. वही, ६।३६.

३. ब्रह्म का निर्विशेपत्व प्रतिपादित करने वाली श्रुतियाँ—"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्वस्थितम् महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न रोचति" (कठोपनिषद् , २।२२), अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्णः (श्वेताश्वेतरोपनिषद् , ३।१९) आदि है, जिनमें स्पष्ट रूप से निरूपित किया गया है कि ब्रह्म अशरीरी अर्थात् देहशून्य है। उसके हस्त, पाद, नेत्र नहीं है, किन्तु वह ग्रहण करता है, देखता है एवं सुनता है। यही श्रुतियाँ आगे चलकर ब्रह्म को सविशेष सगुण कहकर निरूपण करती हैं—तस्यैव "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुतं तनुं स्वाम्" (कठोपनिषद् , २।२२) अर्थात् यह ब्रह्म अनेक वेदों के अध्ययन, श्रवण अथवा यज्ञों द्वारा लभ्य नहीं है। वह जिसको वरण करता है, वही इसको प्राप्त कर सकता है। उसी के समक्ष अपना तनु अर्थात् शरीर या स्वरूप का प्रकाशन करता है।

४. कवि कर्णपूर, 'चैतन्यचन्द्रोदयम्', ६।३७.

अपादानकारक, करणकारक एवं कर्मकारक सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' एवं 'स ऐक्षत् सोऽकाभयत' ईक्षणं पर्यालोचनम्', 'कामः संकल्पः' आदि श्रुतियों से भी ब्रह्म का सविशेषत्व सिद्ध किया है।[१] इस प्रकार ब्रह्म का सविशेषत्व प्रमाणित करने के पश्चात् कवि कर्णपूर ने ब्रह्म का स्वरूप भी स्वीकार किया है। उनके मतानुसार यद्यपि ब्रह्म का प्राकृत स्वरूप नहीं है, वह चर्मचक्षुओं से दृष्टव्य नहीं है तथापि उसका अप्राकृत स्वरूप अवश्य है। ब्रह्म को सर्वथा निर्विशेष स्वीकार कर लेने पर शून्यवाद आ जाने की सम्भावना हो जायेगी।[२] अतः ब्रह्म शब्द अपने मुख्यार्थ में रहकर भगवान् का वाचक है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि कर्णपूर का ब्रह्म से अभिप्राय परमब्रह्म कृष्ण से ही है।[३] उनके मतानुसार अद्वयज्ञान तत्त्व की चित् शक्ति जब कोई क्रिया नहीं करती है, उस अवस्था में उसे अव्यक्त शक्तिक कहा जाता है। ऐसी स्थिति में वह सच्चिदानन्दमय तत्त्व किसी विशेषत्व को न प्राप्त कर सकने के कारण निर्विशेष ब्रह्म कहा जा सकता है। किन्तु निर्विशेष तत्त्व को परम तत्त्व की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। कारण, इसमें परमतत्त्व की स्वाभाविकी शक्ति होते हुए भी उस शक्ति का विकास नहीं होता है। इस अपूर्णता के कारण उसे पूर्ण तत्त्व या परमतत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है, किन्तु यह नित्य है तथा कृष्ण की अङ्ग कान्तिरूप है। अद्वैतवादी साधक परमतत्त्वकृष्ण तक पहुँचने की शक्ति से असमर्थ होने के कारण निर्विशेष ब्रह्म को ही परम तत्त्व स्वीकार कर लेते हैं।[४]

ब्रह्म का सविशेषत्व और स्वरूप निरूपण के पश्चात् कवि कर्णपूर ने 'आनन्दमयोऽभ्यसात्'—श्रुति के आधार पर उसका आनन्दमयत्व निर्विरोध स्वीकार किया है।[५] उसकी विचारधारा में सकल जन के अन्तःकरण का आकर्षण करना ही ब्रह्म या ईश्वर का असाधारण लक्षण है। ईश्वर सबको आनन्दित करता है, इसलिए वह आनन्दमय है। इस तथ्य को एक लौकिक दृष्टान्त देकर उन्होंने स्पष्ट किया है। दृष्टान्तानुसार स्वयं धनी व्यक्ति ही

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदय, पृ० १२१.

२. वही. पृ० १२१.

३. वही, पृ० १२१.

४. इसी प्रकार के विचार जीवगोस्वामी ने भी व्यक्त किये हैं. (भगवत्सन्दर्भ ९३, पृ० १५५)

५. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, अंक ८, पृ० १४५.

दूसरों को ज्ञानी बना सकता है। ईश्वर आनन्दमय है, इसलिए वह सम्पूर्ण भूतों को आनन्दित करता है।[1] किन्तु ब्रह्म के और जीवगत आनन्द में पार्थक्य है। जीव साधारण आनन्द से भी हतबुद्धि एवं अधीर हो जाता है। परन्तु ईश्वर आनन्द रूप और ज्ञान रूप दोनों होता है, अतएव उसके ज्ञान का आनन्द से विरोध नहीं होता है। वह सदा स्वाधीनानन्द और स्वाधीन-ज्ञान रहता है।[2] ब्रह्म का आनन्द चैतन्य रूप है। सत् और चित् आनन्द के विशेषण स्थानीय हैं। सत् शब्द सत्ता तथा चित् शब्द चेतनता का बोधक है। कवि कर्णपूर ने आनन्द के मूर्त्त और अमूर्त्त दो भेदों का उल्लेख करते हुए अमूर्त्त आनन्द का आश्रय मूर्त्तानन्द को निरूपित किया है, जो स्वयं भगवान् हैं।[3] अद्वैतवादी उसी को अमूर्त्त परमात्मा, ज्ञानरूप, निर्गुण स्वरूप तथा कूटस्थ ब्रह्म स्वीकार करते हैं।[4] कवि कर्णपूर की विचारधारा में मूर्त्त तथा अमूर्त्त आनन्द में तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म मूर्त्त है अथवा अमूर्त्त, इस विवाद से भी कोई लाभ नहीं है। जिससे परम आनन्द प्राप्त हो वही ईश्वर या ब्रह्म है।[5] इस मत के समर्थन में कवि कर्णपूर ने 'हयशीर्ष पञ्चरात्र' तथा 'कपिलपञ्चरात्र' को उद्धृत किया है। 'हयशीर्ष पञ्चरात्र' के अनुसार 'अमूर्त्त तथा मूर्त्त आनन्द में तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। जो भेद प्रतीत होता है, वह काल्पनिक है।[6] 'कपिलपञ्चरात्र' के अनुसार मूर्त्त तथा अमूर्त्त भेद से द्विधा भिन्न ब्रह्म ज्ञेय है। वह (ईश्वर) उभयात्मक अर्थात् मूर्त्तामूर्त्त स्वभाव वाला है।[7] कवि कर्णपूर के अनुसार ब्रह्मवादी 'अमूर्त्तानन्दमेव ब्रह्म' से ब्रह्म के निर्विशेषत्व को प्रमाणित नहीं कर सकते हैं। अतएव पञ्चरात्र में प्रतिपादित मत ही ग्रहणीय है। क्योंकि उसमें 'आनन्द ब्रह्मणों रूपम्' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' आदि समस्त श्रुतियों का समन्वय हो जाता है। रूप होने से ब्रह्म को मूर्त्त कहते हैं। ब्रह्म और ईश्वर में मणि और उसके तेज की भाँति अद्वितीय का उपादान किया जाता है। वासना के दोष से ही

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० ८, ६, १४५.
२. वही, पृ० ३८.
३. वही, ६।३८.
४. वही, ६।३६.
५. वही, ८।२१.
६. वही, ६।४०.
७. वही, ७।४१.

ब्रह्मवादी मूर्त्तानन्द स्वरूप ईश्वर को लीला विग्रही समझकर, अमूर्त्तानन्द ही ब्रह्म का स्वरूप स्वीकार कर लेते हैं।[१] ब्रह्म को मूर्त्त प्रमाणित करने के लिए कवि कर्णपूर ने पूर्वोक्त श्रुतियों के अतिरिक्त पुराण वाक्यों को भी उद्धृत किया है। यथा—'मित्र रूप परमानन्द सनातन पूर्ण ब्रह्म है।' पूर्ण ब्रह्म इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह रूपवान् है। निर्विशेष ब्रह्म अपूर्ण होता है।[२] इसी प्रसंग में कवि कर्णपूर ने सात्त्वत जनों के मत को उद्धृत किया है। सात्त्वत जनों के मतानुसार—'वासुदेव परदेवता है, वासुदेव नामक परमात्मा से संकर्षण रूप जीव उत्पन्न हुआ। संकर्षण को जीव इसलिए कहा गया है, क्योंकि वह जीवों को उत्पन्न करता हैं—'जीवं करोति इति जीवः।' वही आत्मा हैं। शब्द ब्रह्म और परब्रह्म उसके अक्षय शरीर हैं। उसी संकर्षण से जीव सृष्टि होती है। अतः सारांश रूप में कहा जा सकता है कि मूर्तानन्द ही कृष्ण है।'[३] ब्रह्म का सविशेषत्व एवं मूर्त्तानन्दत्व प्रमाणित करने के पश्चात् कवि कर्णपूर ने कृष्ण को परमब्रह्म रूप में प्रतिष्ठित किया है। उनके अनुसार कृष्ण में शक्ति का, शक्ति के कार्य का, कल्याणकारी गुण समूहों का, सौन्दर्य का, माधुर्य का, भगवत्ता का, ऐश्वर्य का, ब्रह्म के ब्रह्मत्व का रसत्व, अर्थात् आस्वाद्यत्व एवं रसिकत्व का पूर्णतम विकास है। पूर्णतम स्वरूप कृष्ण ही है, यह प्रमाणित करने के लिए कवि कर्णपूर ने निम्न प्रमाण प्रस्तुत किया है—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।।[४]

अर्थात् कृष्ण शब्द परमब्रह्म वाचक है। कृष् धातु 'भू' अर्थात् सत्ता वाचक तथा 'ण' प्रत्यय 'निर्वृत्ति' अर्थात् आनन्दवाचक है।[५] इन दोनों की जहाँ एकता है, वह 'कृष्ण' हैं। प्रस्तुत प्रसंग में एक शंका होती है कि

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १२२.

२. वही, पृ० १२२.

३. वही, पृ० १२२.

४. वही, पृ० १३४.

५. आनन्दवृन्दावनचम्पू में भी श्रीकृष्ण नाम की व्युत्पत्ति प्रस्तुत की गई है, यथा—कृषिः सत्तार्थः ण आनन्दार्थः, तेन च सत्तानन्दरूपतया कृष्ण इति मुख्यं नाम। कवि कर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू, पण्डित ओल्ड सीरिज; खण्ड ६२, ५।२, पृ० २५४.

परमब्रह्म शब्द से 'राम' पद का भी बोध होता है।[१] ऐसी स्थिति में परमब्रह्म शब्द से राम पद का ग्रहण किया जाये अथवा कृष्ण का ? प्रस्तुत शंका का समाधान कवि कर्णपूर ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक अपने नाटक में किया है। उनके मतानुसार 'राम' और 'कृष्ण' शब्द का परमब्रह्म रूप अर्थ समान है। किन्तु 'राम' का नाम सहस्रनाम के तुल्य है। सहस्रनाम की तीन आवृत्तियों से जो फल प्राप्त होता है वह कृष्ण नाम की एक ही आवृत्ति से प्राप्त हो जाता है। अतः 'कृष्ण' नाम 'राम' नाम की अपेक्षा श्रेष्ठ है।[२] इसलिए चैतन्यदर्शन में कृष्ण को परमब्रह्म शब्द से अभिहित किया गया है। यहाँ कृष्ण की प्रतिष्ठा स्वयं भगवान् रूप में हैं, अवतार रूप में नहीं। इसके प्रमाण में 'श्रीमद्भागवत' के 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' को उद्धृत किया गया है।[३]

कृष्ण के स्वरूप के सम्बन्ध में कवि कर्णपूर की आस्था कृष्ण के द्विभुज रूप में है।[४] उन्होंने 'चैतन्यचरितामृतम्'[५], 'चैतन्यचन्द्रोदय'[६] एवं 'आनन्द-वृन्दावनचम्पू'[७] में स्पष्टतया कृष्ण के द्विभुज रूप की प्रतिष्ठा की है। उनके मतानुसार ईश्वर का चतुर्भुज होना ऐच्छिक है, किन्तु द्विभुज रूप उनका स्वाभाविक स्वरूप है। इसके प्रमाण में उन्होंने अनेक पुराणवाक्य— 'नराकृतिपरं ब्रह्म', 'गूढं परं ब्रह्ममनुष्यलिङ्गम्' 'परमात्मा नराकृतिः' आदि को उद्धृत किया है।[८]

कृष्ण के स्वरूप निर्धारण के पश्चात् कवि कर्णपूर ने कृष्ण की अचिन्त्य और स्वाभाविक शक्तियों का निरूपण किया है। इन शक्तियों के स्वरूप एवं

---

१. रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दचिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥
उद्धृत—कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, ७।२१, पृ० १३४.

२. वही, पृ० १३४–१३५.

३. जीवगोस्वामी, कृष्णसन्दर्भ, पृ० ३०९–३१२.

४. कृष्णनाम के स्वरूप के सम्बन्ध में इसी प्रकार की विचारधारा वृन्दावन के आचार्यों की भी है, जिसका उल्लेख जीवगोस्वामी ने कृष्णसन्दर्भ में किया है। (वही, पृ० ३५९)

५. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ६।३६.

६. वही, चैतन्यचन्द्रोदयम्; पृ० २०.

७. वही, आनन्दवृन्दावनचम्पू, पण्डित ओल्ड सीरिज, खण्ड ९, ३।१,१६।३७.

८. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्; पृ० २०.

कार्यों के सम्बन्ध में कवि कर्णपूर और वृन्दावन के आचार्यों में कोई मतभेद नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि जीव गोस्वामी ने इन शक्तियों के दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष पर विशेष बल देते हुए उनके भेदोपभेद का सूक्ष्मविवेचन प्रस्तुत किया है।[1] कवि कर्णपूर ने उन्हीं सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने की चेष्टा की है। उन्होंने विशेषत: ह्लादिनी शक्ति[2] एवं योगमाया[3] के स्वरूप एवं कार्यों का निरूपण सरसता पूर्वक किया है।

कृष्ण द्वारा पृथ्वी पर अवतार ग्रहण करने के सम्बन्ध में कवि कर्णपूर की परिकल्पना है कि कृष्ण की लीला दो प्रकार की होती है—अप्रकट और प्रकट। अप्रकट लीला नित्य तथा गोलोक आदि नित्यसिद्ध धामों में सम्पन्न होती है। प्रकट लीला वृन्दावन मथुरा आदि धामों में विस्तार प्राप्त करती है।[4] कौतुकी कृष्ण लीलावश अपने स्वरूपमाधुर्यादि का अनुभव करने के लिए अवतार ग्रहण करते हैं; जिससे जगत् कृतार्थ हो जाता है; साथ ही भूभारहरणादि अनुषाङ्गिक कार्य भी पूर्ण हो जाते हैं।[5]

---

१. जीवगोस्वामी ने 'विष्णुपुराण' में उल्लिखित कृष्ण की तीन शक्तियों—परा, क्षेत्रज्ञा एवं अविद्या (विष्णुपुराण, ६।७।६१) को ही क्रमशः चित् शक्ति (अन्तरङ्गा), जीवशक्ति (तटस्था) तथा मायाशक्ति (वहिरङ्गा) की संज्ञा से अभिहित किया है (भगवत्-सन्दर्भ, पृ० ६५)। उनके अनुसार अचिन्त्यत्व और स्वाभाविकत्व इन शक्तियों की प्रमुख विशेषता है (वही, पृ० ६२–६३)। चित् शक्ति के ह्लादिनी, सन्धिनी एवं संवित् तीन उपभेद किये हैं। माया शक्ति की भी गुणमाया तथा जीवमाया नामक दो वृत्तियों का उल्लेख किया गया है। इन शक्तियों के भेदोपभेद एवं कार्यों का सूक्ष्मविवेचन जीवगोस्वामी ने भगवत्-सन्दर्भ तथा परमात्मा-सन्दर्भ में विस्तार पूर्वक किया है। अतः विस्तार के लिए वहीं द्रष्टव्य है।

२. कवि कर्णपूर, 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' (पण्डित ओल्ड सीरिज, खण्ड ९, १।१७१)

३. (अ) वही, २।३, २।२१, २।२३, १७।७.
(ब) वही, चैतन्यचन्द्रोदयम् , पृ० ५८, ५।१६.
(स) वही, पारिजातहरणम् , ११।२७.

४. कवि कर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू , १।१९९.

५. (अ) वही, १६।२२.
(ब) वही, चैतन्यचन्द्रोदयम् , १।५०.

उनकी लौकिक लीला अलौकिक लीला से अधिक सरस होती है।[1] अतएव प्रकट लीला में भक्तों को विशेष आनन्द प्राप्त होता है। साक्षात्कार सुख के समक्ष वे वैकुण्ठ सुख की उपेक्षा करते हैं। भक्त पराधीन कृष्ण भक्तों की इच्छा के अनुरोध से प्रकट लीला करते हैं।[2] लौकिक लीला अर्थात् प्रकट लीला को सम्पन्न करने के लिए योगमायाशक्ति लीला के सहायक परिकर वर्ग एवं धामादि का प्रकटन स्वयमेव कृष्ण की इच्छानुसार कर देती है।[3] कवि कर्णपूर ने भगवद्धाम-वृन्दावन, नित्यसिद्ध कान्ता-गोपीतत्त्व, मूर्तिमती ह्लादिनी शक्ति राधा एवं अन्य परिकर वर्ग का पूर्ण विवेचन 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के प्रथम स्तवक में प्रस्तुत किया है, जो साहित्यिक होने के साथ ही दार्शनिकता से परिपूर्ण है। इसी प्रकार गोलोक, ब्रह्मलोक आदि धामों का विस्तार १६वें स्तवक में किया है।

कवि कर्णपूर ने वृन्दावन के आचार्यों की[4] भाँति 'श्रीमद्भागवत' में निरूपित समस्त अवतारों का निरूपण नहीं किया है, अपितु चार युगावतारों का उल्लेख किया है। अर्थात् सत्युग, त्रेता, द्वापर, कलि आदि चार युग में कृष्ण ने क्रमशः शुक्ल, रक्त, कृष्ण एवं पीत वर्ण से अवतार ग्रहण किया है, ऐसा उल्लेख उन्होंने किया है।[5]

---

१. वही, १६।४२.
२. वही, १६।३८.
३. वही, १।१६८.
४. वृन्दावन के प्रमुख रूपगोस्वामी ने "श्रीमद्भागवत" प्रतिपादित अवतारों के आधार पर अवतारवाद की परिकल्पना की है। इस सन्दर्भ में उन्होंने पुरुषावतार (लघुभागवतामृतम्, पृ० २४–५०), लीलावतार (वही, पृ० ५०–६६); मन्वन्तरावतार (वही, पृ० ६६–१०१), शक्त्यावेशावतार (वही, पृ० १०१–१०८) तथा युगावतार (वही, पृ० १०८–२१६) आदि की पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है। इसके अतिरिक्त "श्रीमद्भागवत" के आधार पर कृष्ण के तीन स्वरूप—स्वयंरूप (वही, पृ० १४–१६), तदेकात्मरूप (वही, पृ० १७–१८) एवं आवेश रूप (वही, पृ० १८–१६) का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। तदनन्तर जीवगोस्वामी ने उसी आधार पर अपने षड्सन्दर्भ के 'कृष्णसन्दर्भ' में उनका विवेचन किया है (जीवगोस्वामी, कृष्णसन्दर्भ, पृ० ३०२–३५६)। इसी सम्बन्ध में कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति-राधा, गोपी तत्त्व, परिकर वर्ग एवं क्रीड़ा (वही, पृ. ३८२–४४८) तथा भगवत् धाम-गोलोक, परमव्योमादि-वैकुण्ठ, वृन्दावन, मथुरा, पृ० ३६३–३८२) आदि का निरूपण किया है।
५. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, २०.

कवि कर्णपूर कृष्ण में माधुर्यभाव का चरमोत्कर्ष स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार—भगवत्ता का सार माधुर्य है। भक्तपराधीन ईश्वर का ऐश्वर्यवेश भक्तों को सह्य नहीं होता है।[१] दृष्टान्त रूप में—कृष्ण के विश्वरूप का अवलोकन कर अर्जुन का सखाभाव एवं यशोदा का वात्सल्यभाव संकुचित हो गया था। इसी प्रकार चैतन्य के वराह एवं नृसिंह आवेश देख कर उनके भक्तों में आतंक भाव उत्पन्न हो गया था।[२]

कवि कर्णपूर की परकीयावाद में दृढ़ आस्था है। उनके परकीयावाद विषयक विचारों का उल्लेख 'कवि कर्णपूर के रसविषयक विचारों' के अन्तर्गत किया जायेगा।[३] अतएव यह प्रसंग वहीं द्रष्टव्य है।

कवि कर्णपूर के साधनतत्त्व अथवा अभिधेयतत्त्व विषयक विचार

चैतन्यदर्शन का साधन अथवा अभिधेयतत्त्व भक्ति है—भगवत्-सान्निध्य एवं तत्परिकर रूप में भगवत् सेवारूप जो साध्य वस्तु है, उसको प्राप्त करने के लिए अनेक शास्त्रविहित साधनों—ज्ञान, योग एवं भक्ति में से भक्ति मार्ग ही साधन रूप में चैतन्यदर्शन को अभीष्ट है। वस्तुतः भक्ति की आधारशिला पर ही चैतन्यदर्शन की प्रतिष्ठा हुई है। चैतन्यमहाप्रभु का सर्वस्व उनकी भक्ति ही था, यथा—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कविता वा जगदीशकामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भगवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥[४]

कवि कर्णपूर ने भगवत्प्राप्ति के समस्त साधनों में भक्ति को सर्वोपरि एवं सर्वश्रेष्ठ निरूपित किया है[५]। भक्ति को सिद्धि से भी गरीयसी कहकर उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है।[६] भक्ति के समक्ष अर्थ, काम, मोक्ष आदि तुच्छ हैं।[७] 'चैतन्यचरितामृतम्' से प्राप्त होने वाले साक्ष्यों के अनुसार

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदय, पृ० १५.
२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ७।८०–८४.
३. कवि कर्णपूर के महाकाव्यों में रस योजना, अध्याय—दशम, खण्ड—प्रथम।
४. यद्यपि महाप्रभु चैतन्य ने किसी ग्रन्थ का सृजन नहीं किया है तथापि भक्ति के अत्यधिक भावावेश में उन्होंने कुछ स्वरचित पद्यों का उच्चारण किया। उनका संकलन उनके शिष्य रूपगोस्वामी ने अपनी पद्यावली में 'चैतन्याष्टक' के नाम से किया है। प्रस्तुत पद उसी अष्टक का एक प्रसिद्ध पद है।
(रूपगोस्वामी, पदावली, ९४)
५. कवि कर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू, (पण्डित ओल्ड सीरिज, खण्ड ९)
६. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ. ५.
७. वही, २।१३, ६।८१, ७।३४.

भक्ति-कृपा का स्फुरण हो जाने के पश्चात् व्यक्ति मोक्ष की कामना को त्याग देता है।[१] अन्यत्र ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि मुरारिगुप्त के हृदय में अध्यात्मभावना का आग्रह विद्यामान होने के कारण चैतन्य उनसे संकुचित रहा करते थे।[२] कवि कर्णपूर के अनुसार भक्ति अमृत रस का सागर है। उसमें सन्तरण करने वाले साधक को कूपादि (अध्यात्मादि) के जल की आकांक्षा नहीं रहती है।[३] उनके अनुसार—'गोपीसुत भगवान् अध्यात्मज्ञानी प्राणियों को सरलता से सुलभ नहीं होते हैं। जिस प्रकार भक्तों को सुलभ होते हैं।[४] इसलिए ज्ञानादि मार्गों के रहते हुए भी भक्ति ही उन्हें परम अभीष्ट है।[५] कवि कर्णपूर के उल्लेखानुसार चैतन्य के जीवन का सर्वस्व भक्ति थी। उनमें कृष्णभक्ति की चरमाकाष्ठा प्रतिपादित करने वाली एक प्रसिद्ध कथा का उल्लेख कवि कर्णपूर ने किया है।[६] कवि कर्णपूर के मतानुसार भक्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार की शंका व्यर्थ है कि 'ज्ञान का फल ब्रह्म कैवल्य है और भक्ति से भी उसी की प्राप्ति होती है। ज्ञान-योग का शास्त्रकारों ने विवेचन किया है, भक्ति का नहीं। अतएव भक्ति के स्थान पर ज्ञान योग ही गृहीतव्य है।' वैष्णव विचारधारा में मुक्ति अथवा मोक्ष का तात्पर्य ब्रह्म कैवल्य की प्राप्ति नहीं है। अपितु मोक्ष अथवा मुक्ति से तात्पर्य भागवद्रूपता से है अर्थात् भगवान् के पार्षद का पद प्राप्त कर लेना ही मुक्ति है। इस मुक्ति के समक्ष ब्रह्म कैवल्य सालोक्यादि मुक्तियाँ तुच्छ हैं।[७]

कवि कर्णपूर ने भक्ति की चार प्रमुख विशेषताओं—चित्तप्रसादिनी, इन्द्रियशोधनी, मोक्षलघुता एवं आनन्ददायिनी[८] का उल्लेख करते हुए, उसके दो भेद—वैधी और रागानुगा को स्वीकार किया है। वैधी भक्ति को उन्होंने शास्त्रीय मार्ग तथा रागानुगाभक्ति को अनुराग का मार्ग कहा है। शास्त्रीय मार्ग में नियम की अपेक्षा रहती है। अनुराग का मार्ग शास्त्रीय

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , १२।६१.
२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम् , पृ. १६.
३. वही, १।५३.
४. वही, १।५५.
५. वही, पृ. ३७.
६. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , १२।३६–४३.
७. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम् , पृ. ५.
८. वही, २।१३.

बन्धन से मुक्त रहता है।[1] अतएव वह सर्वजन सुलभ है। यहाँ पर एक शंका उत्पन्न हो सकती है कि अनियत मार्ग से चलने वाले साधक को उसका गन्तव्य विलम्ब से प्राप्त होता होगा ? कवि कर्णपूर ने इस शंका का समाधान एक अत्यन्त सुन्दर दृष्टान्त देकर किया है। दृष्टान्तानुसार जंगली नदियों में नौका का मार्ग अनियत होने पर भी वह शीघ्र गन्तव्य स्थान को पहुँचा देती है। स्वभाव कुटिल नदियों का प्रवाह—अतिनिश्चित होने पर भी, वही नाव का मार्ग गन्तव्य स्थान तक शीघ्रता से पहुँचाने में असमर्थ रहता है।[2] अतः ऐसी शंका व्यर्थ है कि अनियत मार्ग से चलने पर गन्तव्य विलम्ब से मिलेगा। इस प्रकार कवि कर्णपूर ने रागानुगाभक्ति का समर्थन किया है। कवि कर्णपूर ने वैधी भक्ति एवं रागानुगाभक्ति के शास्त्रीय स्वरूप का निरूपण नहीं किया है। नवद्वीप शाखा के किसी आचार्य ने इस कार्य में अपनी अभिरुचि का परिचय नहीं दिया है।[3]

कवि कर्णपूर ने ६४ अंगों वाली साधनभक्ति[4] के अन्य अंगों की अपेक्षा नाम संकीर्तन के माहात्म्य को विशेष रूप से स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उद्घोषणा की है कि परम पुरुषार्थ का साधन विविध भक्ति-

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम् २।१९.

२. वही, ३।२०.

३. भक्ति के शास्त्रीय एवं दार्शनिक स्वरूप का निर्धारण वृन्दावन के आचार्य रूपगोस्वामी ने किया है। उन्होंने भक्ति का सामान्य स्वरूप निर्धारण (हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, १।१।११) करने के पश्चात् भक्ति के ६ विशेषणों (वही, १।१।१३) का उल्लेख किया है। तदनन्तर भक्ति के तीन भेद—साधनभक्ति, भावभक्ति एवं प्रेमभक्ति (वही, १।२।१) का उल्लेख करते हुए साधनभक्ति के दो भेद—वैधी और रागानुगा (वही, १।२।३–८२) के भेदोपभेद का विवेचन किया गया है। जीवगोस्वामी ने इन्हीं सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन 'भक्तिसन्दर्भ' एवं 'प्रीतिसन्दर्भ' में किया है। रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी द्वारा प्रवर्तित वैष्णव भक्तिरसशास्त्र का विस्तृत विवेचन डॉ० सुशीलकुमार दे ने अपनी पुस्तक The Early History of the Vaisnava Faith And Movement in Bengal के अध्याय ४ (The Devotionnal Sentiments, p. 123–170) तथा अपने एक शोध लेख—Bhakti Rasa sāśtra of Bengal Vaṣṇavism—Indian Hastorical Quarterly, Vol VIII, 1932, p. 643–688 में किया है।

४. रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, १।२।२४–४२.

योग प्रधान नाम संकीर्तन है।[१] अन्य स्थल पर उन्होंने नाम संकीर्तन को परम पुरुषार्थ स्वीकार कर लिया है।[२] कवि कर्णपूर ने नाम संकीर्तन के माहात्म्य को तीन प्रमुख कारणों से स्वीकार किया है। सर्वप्रथम, नाम संकीर्तन से अब्रह्मण दासी-पुत्र भी मुक्त हो जाता है।[३] द्वितीय, नाम संकीर्तन न करने से गंगास्नान का भी कोई लाभ नहीं रहता है।[४] तृतीय, नाम संकीर्तन रतिभाव को पुरस्कृत करने वाला है।[५] नाम संकीर्तन के माहात्म्य प्रतिपादनार्थ कवि कर्णपूर ने 'नारदीय पुराण' का निम्नवाक्य उद्धृत किया है :—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥[६]

कवि कर्णपूर के अनुसार उपर्युक्त प्रमाण-वाक्य में 'एव' शब्द की त्र्यावृति एवं 'केवल' पद का प्रयोग दृढ़ता प्रतिपादनार्थ किया गया है।[७] यहाँ पर एक शंका होती है कि भक्ति के विविध साधनों को त्यागकर केवल नाम संकीर्तन का अवलम्बन करने से फल प्राप्ति में न्यूनता होती होगी ?[८] कवि कर्णपूर के अनुसार इस प्रकार की शंका निर्मूल है। कारण, सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापर आदि युगों में मनुष्य समर्थ था। अतएव उसके लिए ध्यानादि समस्त साधन उचित थे। किन्तु कलियुग का प्राणी इतना समर्थ नहीं है कि वह समस्त साधनों को कुशलतापूर्वक अभिग्रहण कर सके। अतएव उसकी इस असमर्थता से अवगत होकर ईश्वर स्वयं नाम रूप से प्रकट हुए हैं अर्थात् ६४ अंगों वाली भक्ति से जो फल प्राप्त होता है, वही फल केवल संकीर्तन से प्राप्त हो जाता है।[९]

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ. ४.
२. वही, चैतन्यचरितामृतम्, ६।१.
३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ११।११.
४. वही, ११।१६.
५. वही, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ. ५.
६. (अ) वही, पृ. १८.
   (ब) वही, चैतन्यचरितामृतम्, ६।३.
७. वही, ६।४, ५.
८. वही, ११।३८.
९. वही, ११।३९.

६४ अंगों वाली साधन-रूपा वैधी भक्ति का अनुष्ठान करते-करते शनैः-शनैः उपासक का ऐश्वर्यज्ञान विलुप्त हो जाता है तथा शुद्ध भक्ति के साथ कृष्ण-सेवा लालसा जागृत हो जाती है। अर्थात् वैधी भक्ति रामानुगाभक्ति में परिवर्तित हो जाती है। रागानुगाभक्ति एक मात्र कृष्ण-सेवा तात्पर्यमयी है। रागानुगाभक्ति के दो प्रकार अर्थात्—बाह्य एवं अन्तर साधन अंश हैं। बाह्य साधन में साधक देह से अर्थात् यथावस्थित देह से श्रवण कीर्तनादि नवधाभक्ति अथवा ६४ अंगों वाली साधन भक्ति का अनुष्ठान करता है। अन्तरसाधन में साधक सिद्ध देह की भावना करते हुए अहोरात्र निरन्तर व्रज में श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की मानसी सेवा करता है। कवि कर्णपूर रागानुगाभक्ति के 'अन्तर' साधन को स्वीकार करते हैं।[1]

कवि कर्णपूर के प्रयोजनतत्त्व अथवा साध्यतत्त्व विषयक विचार

चैतन्यदर्शन का साध्यतत्त्व 'प्रेम' है, जिसे पञ्चम पुरुषार्थ की संज्ञा दी गई है। धर्म-वेत्ताओं द्वारा अभिहित धर्मार्थकाममोक्ष एवं पाँच प्रकार की मुक्तियाँ—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि एवं सायुज्य में उनकी आस्था नहीं है। कवि कर्णपूर के मतानुसार राधा-कृष्ण का प्रेम ही उपासनीय है। वही परम पुरुषार्थ है।[2] उन्होंने सभी भक्तियों, रसों एवं भावों में प्रेम को ही सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित किया है। प्रेमरस में सागर में तरंगों की भाँति समस्त रस और भाव डूबते-उतराते रहते हैं।[3] प्रेम अखण्ड रस है, अन्यान्य सभी रस खण्ड रस हैं। अखण्ड में खण्ड के धर्म पृथक्-पृथक् भासमान होते रहते हैं।[4] कवि कर्णपूर के मतानुसार इस प्रेम को प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही मुक्त जीव है। मुक्त जीव का लक्षण करते समय इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि—'इस अखण्ड प्रेम को प्राप्त करने के लिए जो प्रभुचरण में आसक्त है, अनुराग में नहीं; प्रेमातिशय पूर्ण भक्तियोग में प्रीति करता है, भोग में नहीं; ईश्वर की प्रणयलीला में श्रद्धा-बुद्धि रखता है, देह में नहीं; वही प्रकृतिसारजन मुक्त जीव है, वे नहीं जिन्हें अन्यान्य शास्त्रीय परिभाषाएँ मुक्त करती हैं।[5] अतएव इस प्रेम प्राप्ति के निमित्त सदैव व्रज की लीलाओं

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम् , पृ. ६०.
२. वही, पृ. १३१.
३. (अ) वही, ३।८.
(ब) वही, अलंकारकौस्तुभ, पृ. १४९.
४. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम् , ३।६.
५. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम् , ७।६.

का गान राधा-कृष्ण नामक तेज की उपासना वृन्दावन की क्रीड़ा श्रवण सत्संगति तथा व्रजवास करना चाहिए।[1]

विगत पृष्ठों में चैतन्य दर्शन के प्रतिपाद्य सम्बन्ध तत्त्व, अभिधेय तत्त्व एवं प्रयोजन तत्त्व के सम्बन्ध में कवि कर्णपूर के दार्शनिक विचारों पर दृष्टिपात किया गया है। जिसके निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में कवि कर्णपूर और वृन्दावन के आचार्यों के विचारों में कोई मौलिक मतभेद नहीं है। अन्तर केवल इतना ही प्रतीत होता है कि वृन्दावन के आचार्यों ने शास्त्रसम्पादन की इच्छा से उसका निरूपण सूक्ष्मता पूर्वक भेदोपभेद के साथ किया है। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में क्रमबद्धता एवं शास्त्रीयता विद्यमान है। कवि कर्णपूर ने उन्हीं सिद्धान्तों को काव्य के माध्यम से प्रसंगतः अभिव्यक्त किया है। अतएव उसमें सूक्ष्मता, क्रमबद्धता एवं पूर्णता नहीं दृष्टिगोचर होती है। सम्भवतः कवि कर्णपूर नवद्वीपशाखा के प्रथम गोस्वामी हैं, जिनकी कृतियों में सम्बन्ध तत्त्व, अभिधेय तत्त्व एवं प्रयोजन तत्त्व का निरूपण वृन्दावन के आचार्यों की शैली पर किया है। इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि कवि कर्णपूर के समय से नवद्वीप में भी वृन्दावन के आचार्यों की विचारधारा को शनैः-शनैः स्थान प्राप्त होने लगा था। क्योंकि कवि कर्णपूर के पूर्ववर्ती लेखक मुरारिगुप्त के महाकाव्य में सम्बन्ध तत्त्वादि का निरूपण इस शैली पर नहीं किया गया है। वहाँ चैतन्यतत्त्व की ही प्रमुखता विद्यमान है।

पञ्चतत्त्व निरूपण

जिस प्रकार वृन्दावन में कृष्ण को उपास्य स्वीकार कर सम्बन्ध तत्त्वादि का निरूपण किया गया है, उसी प्रकार नवद्वीप में परम चैतन्य को उपास्य मानकर कृष्ण की भाँति उनके परिकर वर्ग, धामादि का निरूपण किया गया है। नवद्वीप में उद्भूत होने वाली इस विचारधारा का आरम्भिक स्वरूप मुरारिगुप्त के महाकाव्य में परिलक्षित होता है।[2] किन्तु साम्प्रदायिक

१. वही, पृ. १२६.

२. चैतन्य के प्रथम चरित लेखक मुरारिगुप्त ने चैतन्य को कृष्ण का अवतार निरूपित किया है। उन्होंने दो प्रकार के अवतार, युगावतार और कार्यावतार (मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचरितामृतम्, १।४।१७), का उल्लेख करते हुए चैतन्य को कृष्ण का युगावतार निरूपित किया है (वही, १।४। १८–२६)। मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, भार्गव, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि आदि कार्यावतारों में चैतन्य का उल्लेख नहीं किया है (वही,

धरातल पर इस विचारधारा को प्रस्तुत करने का श्रेय कवि कर्णपूर को प्राप्त है। कवि कर्णपूर द्वारा प्रतिपादित इस विचारधारा ने नवद्वीप में अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की। इसके समक्ष नरहरि सरकार और लोचनदास का गौरनागर भाव (अर्थात् चैतन्य में नागरभाव तथा स्वयं को नागरी रूप में कल्पित करना) स्थिर न रह सका। आगे चलकर इसी सिद्धान्त को वृन्दावन के अर्वाचीन आचार्य कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्यचरितामृतम्' में मान्यता दी।

कवि कर्णपूर ने 'गौरगणोद्देशदीपिका' में चैतन्य एवं उनके पार्षदों का तत्त्व विवेचन स्वरूपदामोदर गोस्वामी कथित पञ्चतत्त्व के आधार पर किया है।[1] स्वरूपदामोदर के अनुसार कृष्ण भक्त रूप, भक्त स्वरूप, भक्तावतार, भक्ताख्य और भक्तिशक्तिक रूप से अवतार ग्रहण करते हैं। अर्थात् स्वयं भगवान् कृष्ण जब अवतीर्ण होते हैं, उस समय सर्वप्रथम वे निज स्वरूप से प्रकट होते हैं, तदनन्तर अपनी इच्छाशक्ति से—विलास (बलराम), अवतार (सदाशिव), भक्त (उद्धवादि) एवं शक्ति (माता, पिता, व्रजाङ्गनादि) आदि रूपों से भी आत्मप्रकट करते हैं। ये चारों रूप साधारणतया लीला में कृष्ण (मूलतत्त्व) से भिन्न प्रतीत होते हैं। परन्तु स्वरूपतः कृष्ण से अभिन्न हैं। कवि कर्णपूर ने उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर चैतन्य लीला के तत्त्वों का दार्शनिक विवेचन किया है। उनके अनुसार 'जिस प्रकार कृष्ण ने ब्रजलीला में पञ्चतत्त्वात्मक स्वरूप से अवतार ग्रहण किया था, उसी प्रकार कृष्ण ने चैतन्य रूप से नवद्वीप में अवतार लेते समय, स्वयं को भक्त रूप में प्रकट किया। तत्पश्चात् अपनी इच्छाशक्ति से निम्न

१।८।९–१०)। उनके मतानुसार चैतन्य हरि के अंश थे (वही, १।५।४), किन्तु स्वयं भगवान् नहीं (१।१५।१)।

१. स्वरूपदामोदर नवद्वीपशाखा के सबसे वयोवृद्धाचार्य हैं। चैतन्य की अन्तरंग लीला से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था, इस प्रकार की मान्यता चैतन्य के परवर्ती शिष्यों की है। स्वरूपदामोदर गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ में पञ्चतत्त्व का निरूपण किया है। इस प्रकार का उल्लेख कवि कर्णपूर कृत 'गौरगणोद्देशदीपिका' से प्राप्त होता है। स्वरूपगोस्वामी कृत ग्रन्थ के अप्राप्त होने के कारण मूल स्रोत का उल्लेख नहीं किया जा सकता है (इस सम्बन्ध में 'कवि कर्णपूर कृत महाकाव्यों के कथानक के मूल स्रोत' नामक अध्याय के प्रथम खण्ड में की गई टिप्पणी द्रष्टव्य है।

२. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ९–१०.

चार रूपों में आत्म प्रकट किया। भक्तस्वरूप या विलास रूप—नित्यानन्द, भक्तावतार—अद्वैत, भक्त—श्रीवास एवं भक्तिशक्ति—गदाधर है।[1] अर्थात् कृष्ण की नवद्वीप लीला में उपर्युक्त कथित पञ्चतत्त्व प्रमुख तत्त्व है।

चैतन्य तत्त्व

कवि कर्णपूर की दार्शनिक विचारधारानुसार चैतन्य स्वयं भगवान् हैं तथा भक्तरूप में अवतरित हुए हैं।[2] चैतन्य स्वयं कृष्ण ही हैं, इस तथ्य का स्पष्टीकरण उन्होंने अपनी आरम्भिक कृतियों में ही कर दिया है। 'चैतन्यचरितामृतम्' महाकाव्य में दो स्थलों पर चैतन्य को 'व्रजवरवधू प्राणनाथः' कहा गया है।[3] 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' की नमस्क्रिया में उनको कुलदेवता तथा स्वयंहरि के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है[4]। 'अलंकार-कौस्तुभ' के मंगलाचरण में चैतन्य को कृष्ण से अभिन्न निरूपित किया गया है।[5] 'गौरगणोद्देशदीपिका' में उन्होंने अपने मत की पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके कथनानुसार सत्ययुग में शुभ्रवर्ण एवं शुक्लनामधारण करने वाले, त्रेतायुग में रक्तवर्ण एवं मखभुक् नाम धारण करने वाले तथा द्वापर में श्याम होकर श्याम नाम से अभिहित किये जानेवाले भगवान् हो गौर रूप में गौराङ्ग नाम से कलियुग में अवतीर्ण हुए हैं।[6] कवि कर्णपूर के अनुसार चैतन्य परम उपास्य, परम ईश्वर, परम पुरुष एवं ईश हैं।[7] चैतन्य की स्वयं भगवत्ता सिद्ध करने के लिए उन्होंने 'चैतन्यचरितामृतम्' और 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' दोनों ग्रन्थों में बाल्यकाल से चैतन्य की अलौकिकता प्रकट करने वाली अनेक अलौकिक घटनाओं का उल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट है कि चैतन्य साधारण मानव नहीं थे। एक स्थल पर स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया गया है कि—'यह चैतन्य केवल ब्राह्मण बालक नहीं है। यह बालरूप देवाधिदेव है। हरि हरि भक्तियोग की शिक्षा द्वारा समस्त विश्व को पवित्र करने वाले इस सुवर्ण कान्ति वाले बालक के

---

१. कवि कर्णपूर, १०—११.
२. वही, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ. २३, २८.
३. वही, चैतन्यचरितामृतम्, १।८, १३.
४. वही, आनन्दवृन्दावनचम्पू, (पण्डित ओल्ड सीरिज, खण्ड ९, १।३)
५. वही, अलंकारकौस्तुभ, १।१.
६. वही, गौरगणोद्देशदीपिका, २०.
७. वही, चैतन्यचरितामृतम्, ८।१.

रूप में भगवान् ही ब्राह्मण वेश में अवतीर्ण हुए हैं।'[1] चैतन्य ईश्वर हैं, इसके समर्थन में उन्होंने प्रबल तर्क दिया है कि 'सकल जन के अन्तःकरण का आकर्षण करना ही ईश्वर का असाधारण चिह्न है। चैतन्य में परमेश्वर का यही लक्षण विद्यमान है। इन्होंने बाल्यकाल में सभी का चित्त आकृष्ट कर लिया है। समस्त जन को आकर्षित करने वाले—गाम्भीर्य, धैर्य, स्मृति, मति, रति, विद्या, माधुरी, स्निग्धता आदि गुण चैतन्य में बाल्यकाल से विद्यमान् हैं, जिससे सभी को इस (चैतन्य) के सम्बन्ध में विष्णुबुद्धि करनी पड़ रही है।"[2] अन्यत्र इसी प्रकार के विचार शची (माता) के मुख से अभिव्यक्त किये हैं—'प्रलय काल में इस समस्त विश्व को अपने शरीर में धारण करने वाले आप परात्पर पुरुष हैं। लोगों की यह कैसी विडम्बना है कि वे आपको मेरे गर्भ से अवतीर्ण कहा करते हैं।[3]

कवि कर्णपूर ने विष्णु के सुवर्णवर्ण, हेमाङ्ग, वराङ्ग, चन्दनाङ्ग आदि नाम चैतन्य में चरितार्थ किये हैं।[4] उन्होंने षड्भुज,[5] चतुर्भुज,[6] वराह,[7] नृसिंह,[8] बलराम[9] आदि का आवेश चैतन्य में निरूपित किया है। यद्यपि चैतन्य का आचरण एक भक्त की भाँति था तथापि यदा कदा अपने भक्तों पर कृपा करने हेतु अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन भी कर देते थे। कवि कर्णपूर ने चैतन्य में नाना स्वरूपों का प्राकट्य सिद्ध किया है। उनके मतानुसार—'आद्य व्यूह वासुदेव पहले द्वारकापुरी में गन्धर्व नृत्य का अवलोकन कर क्षुब्ध हो गये थे। अब वे श्रीचैतन्य-विग्रह में प्रविष्ट हुए हैं। एक ही समय नाना स्वरूप का प्राकट्य होने के कारण महाप्रभु को नानावतार कहा जाता है। जिस प्रकार श्याम अवतार पहले भगवान् कृष्ण में प्रविष्ट हुए थे। यह सब प्रभु की अघटन घटनापटीयसी योगमाया शक्ति के प्रभाव से

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, १।१४.
२. वही, पृ. ६, १।२१.
३. वही, १।५६.
४. वही, चैतन्यचन्द्रोदयम्, ८।१६.
५. वही, चैतन्यचरितामृतम्, ६।११८.
६. वही, ६।११९.
७. वही, ४।१५–२१.
८. वही, ७।८०–८५.
९. वही, ८।१६–२८.

होता है। यद्यपि युगावतारादि अन्यत्र वर्तमान रहते हैं तथापि चैतन्य स्वरूप में उनका प्रवेश अचिन्त्य शक्ति द्वारा होता है।[1] कवि कर्णपूर के उल्लेखानुसार चैतन्य स्वयं को कृष्ण स्वीकार करते थे, अद्वैताचार्य के प्रति चैतन्य के वचनों से यही अभिप्राय अभिव्यक्त होता है अर्थात् हे अद्वैत ! मेरे प्रणयिजनों में से कोई मेरे दास्य में, कोई मेरे सख्य में, कोई दास्य सख्य के मिश्रण भाव में, कोई राधामाधव निष्ठा में, कोई द्वारकानाथ के सख्य में श्रद्धा रखता है। जिस अवतार में, जिस भाव के साथ भक्त की श्रद्धा सम्बद्ध है वे सब वृन्दावनकारी मुझमें बद्ध हृदय हैं। अतएव मैं सबको उसी प्रकार के भावों को प्रदान करता हूँ।[2] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि कर्णपूर चैतन्य में कृष्ण भाव स्वीकार करते थे, जो सदैव वृन्दावन में राधा के साथ की गई क्रीड़ा का स्मरण करके दुःखी रहा करते थे। यहाँ पर एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि कृष्ण का वर्ण श्याम कहा गया है। अतएव चैतन्य रूप में अवतरित होने पर चैतन्य को कृष्ण वर्ण का होना चाहिये ? किन्तु चैतन्य का वर्ण गौर है। चैतन्य के गौरवर्ण के सम्बन्ध में कवि ने दो काव्यत्व पूर्ण सम्भावनाएँ प्रस्तुत की हैं। प्रथम सम्भावनानुसार—'सच्चिदानन्दमय, श्यामकान्ति कृष्ण ने पहले वृन्दावन में गौराङ्गी ब्रजबालाओं के साथ नृत्यविलास किया था, वही कृष्ण उनके निरन्तर गाढ़ालिंगन भेद से गौराङ्ग स्वरूप होकर नवद्वीप में अवतीर्ण हुए।'[3] अर्थात् कृष्ण दृढ़ परिरम्भ के कारण गौराङ्ग हो गये हैं। द्वितीय सम्भावनानुसार—कृष्ण राधिका की भावकान्ति को अन्तर तथा वाह्य में स्वीकार कर अब गौराङ्ग रूप में अवतीर्ण हुए हैं।[4] उपर्युक्त सम्भावनाओं का महत्व केवल काव्यत्व की दृष्टि से ही नहीं है अपितु कवि कर्णपूर एवं चैतन्य सम्प्रदाय के दार्शनिक विचारों के क्रमिक विकास की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। इस प्रकार की सम्भावनाओं ने चैतन्य में द्वयावतार अर्थात् राधाकृष्ण के सम्मिलित अवतार के सिद्धान्त को जन्म दिया है। चैतन्य के गौरवर्ण के सम्बन्ध में इस प्रकार की सम्भावनाएँ कवि कर्णपूर के समसामयिक बंगाली पदकर्ताओं और वृन्दावन के स्तोत्र काव्य

---

१. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, २८–३०.

२. वही, गौरगणोद्देशदीपिका, ३२–३४.

३. (अ) वही, १.

 (ब) वही, चैतन्यचरितामृतम्, १।१.

४. वही, गौरगणोद्देशदीपिका, २६.

में शनैः शनैः उद्‌भूत हो रही थीं। रूपगोस्वामी[1] ने चैतन्य के गौरवर्ण के सम्बन्ध में अपनी सम्भावनाओं को 'स्तवमाला' में इस प्रकार व्यक्त किया है—

अपारं कस्यापि प्रणयिजनवृन्दस्य कुतुकी
रसस्तोमं हृत्वा मधुरमुपभोक्तुं कमपि यः।
रुचं स्वमावव्रे द्युतिमिह तदीयां प्रकटयन्
स देवश्चैतन्याकृतिरतितरां नः कृपयतु ॥[2]

अर्थात् कौतूहलयुक्त होकर कृष्ण ने गोपियों में से किसी एक का अपरिसीम एवं अनिर्वचनीय रस समूह का अपहरण कर उसके उपभोगार्थ उसकी (राधा की) कान्ति को प्रकट कर अपनी श्याम कान्ति को आवृत कर लिया। इसी प्रकार की विचारधारा रघुनाथदास की 'स्तवावली'[3] में दिखाई देती है। उनकी सम्भावनानुसार 'किसी समय कृष्ण अपने सौन्दर्य के माधुर्य को दर्पण में देखकर स्वयं मुग्ध हो गये। उस सौन्दर्य का आस्वादन राधा की भाँति करने के लिए अपने स्वरूप को छिपाकर गौड़ में उत्पन्न हुए।'[4]

चैतन्य के गौरवर्ण के सम्बन्ध में कवि कर्णपूर, रूपगोस्वामी एवं

---

१. वृन्दावन के गोस्वामियों ने चैतन्य तत्त्व के निरूपणार्थ किसी पृथक् ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया है। उनके ग्रन्थों की नमस्क्रिया अथवा स्तोत्र काव्यों में चैतन्य के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गई है। रूपगोस्वामी ने 'दानकेलि-कौमुदी' और 'उज्ज्वलनीलमणि' की नमस्क्रिया में चैतन्य का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु, स्तवमाला, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, विदग्धमाधव आदि में चैतन्य का उल्लेख किया है।

२. रूपगोस्वामी, स्तवमाला, २१३.

३. रघुनाथदास विरचित स्तवावली में २ चैतन्याष्टक है तथा ३० कृष्णाष्टक हैं। प्रथमाष्टक रूपगोस्वामी के 'स्तवमाला' के चैतन्याष्टक के सदृश हैं। दूसरे अष्टक का नाम 'गौराङ्गस्तवकल्पद्रुम' है। यह अष्टक चैतन्य के पुरी जीवन पर प्रकाशनिक्षेप करता है।

४. गतिं दृष्ट्वा यस्य प्रमदगजवर्येऽखिलजना,
मुखञ्च श्रीचन्द्रोपरि दधति थूत्कारनिवहम्।
स्वकान्त्या यः स्वर्णाचलमधरयच्छीधूचवच-
स्तरङ्गैर्गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति ॥

रघुनाथदास, स्तवावली (गौराङ्गस्तवकल्पतरु), २।१.

रघुनाथदास द्वारा की गई सम्भावनाओं का बीज स्वरूपगोस्वामी के कड़चा की नमस्क्रिया में मिल जाता है, जिसके अनुसार 'राधाकृष्णप्रणय की चरमतम अवस्था अर्थात् महाभावस्वरूपा हैं, जिससे वह कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति हैं। वे एकात्मा होते हुए भी अनादिकाल से गोलोकधाम में पृथक्-पृथक् देह धारण करके विराजमान हैं। अब कलियुग में वही राधा एवं कृष्ण दोनों एकता को प्राप्त कर चैतन्य नाम से प्रकट हुए हैं। राधाभाव कान्ति-युक्त कृष्णस्वरूप चैतन्य को मैं नमस्कार करता हूँ।'[1] प्रस्तुत नमस्क्रिया से स्पष्ट है कि स्वरूपगोस्वामी को चैतन्य में राधाकृष्ण का सम्मिलित अवतार स्वीकार था।[2] किन्तु उनके उत्तरवर्ती कवि कर्णपूर, रूपगोस्वामी, रघुनाथ-दास आदि ने उसे सिद्धान्ततः स्वीकार नहीं किया, अपितु चैतन्य के गौर-वर्ण के सम्बन्ध में केवल मात्र सम्भावना प्रकट कर मौन हो गये। यदि वस्तुतः कवि कर्णपूर को चैतन्य में राधाकृष्ण का सम्मिलित अवतार स्वीकार होता, उस स्थिति में वे अपने इस सिद्धान्त के समर्थनार्थ अनेक युक्तियों और प्रमाणों को उद्धृत अवश्य करते। जिस प्रकार उन्होंने कृष्ण-तत्त्व एवं चैतन्य को कृष्ण सिद्ध करने के लिए श्रम किया है उसी प्रकार का प्रयास यहाँ भी दृष्टिगत होता। कवि कर्णपूर ने उपर्युक्त उल्लिखित दो श्लोकों के अतिरिक्त सर्वत्र चैतन्य को कृष्ण रूप में प्रतिष्ठित किया है। रूपगोस्वामी ने अपने अन्य ग्रन्थों तथा 'स्तवमाला' में ही चैतन्य को हरि का अवतार निरूपित किया है।[3] इसी प्रकार रघुनाथदास ने अपने एक

---

१. राधा-कृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्मा-
देकात्मानावपि भुवि पुरा देहभेदं गतौ तौ।
चैतन्याख्यं प्रकटमधुना तदद्वयं चैक्यमाप्तं
राधा-भाव-द्युति-सुवलितं नौमि कृष्णस्वरूपम्॥
रूपगोस्वामी, कड़चा, उद्धृत—कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, खण्ड प्रथम, पृ. ४.

२. स्वरूपगोस्वामी कृत 'कड़चा' के अप्राप्त होने के कारण उनके इस सिद्धान्त पर पूर्ण प्रकाश नहीं डाला जा सकता है। केवल इस नमस्क्रिया के आधार पर ही इस प्रकार का अनुमान किया गया है।

३. रूपगोस्वामी ने 'हरिभक्तिरसामृसिन्धु' में चैतन्य को हरिरूप में स्वीकार्य किया है (१।१।२)। 'विदग्धमाधव' में चैतन्य को कृष्ण का साक्षात् अवतार निरूपित किया है; यथा—

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ,
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।

अन्य ग्रन्थ 'मुक्ताचरितम्' में चैतन्य को एक अवतारमात्र निरूपित किया है, जो संसार में 'भक्तिरसामृत' के विस्तारार्थ शची के गर्भ से उत्पन्न हुये।[1] जीवगोस्वामी ने भी अपनी नमस्क्रिया में चैतन्य को कृष्ण का अवतार उल्लिखित किया है।[2] चैतन्य के गौर वर्ण के सम्बन्ध में कोई सम्भावना नहीं व्यक्त की है। वृन्दावन के षड्गोस्वामियों के प्रथम आचार्य सनातन गोस्वामी ने चैतन्य को कृष्ण का भक्तावतार निरूपित किया है[3] तथा प्रेमाभक्ति की अतिशयता के कारण उन (चैतन्य) के गोपी भाव की

हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः (१।२)।।

'स्तवमाला' में आरम्भ में तीन अष्टक चैतन्य महाप्रभु से सम्बन्धित प्राप्त होते हैं। प्रथमाष्टक के प्रथम श्लोक में चैतन्य को उपनिषदों का अन्त तथा गोपीतत्त्व का सार तत्त्व निरूपित किया है (१।१)। द्वितीयाष्टक में चैतन्य को कृष्ण सिद्ध किया गया है एवं उनका यज्ञ संकीर्तन बताया गया है (२।१)। तृतीयाष्टक में चैतन्य को मुकुन्द का साक्षात् अवतार एवं उनमें भक्ति की अतिशयता प्रतिपादित की गई है (३।१, २)।

१. निजं उज्ज्वलितं भक्तिसुधां अर्पयितुमक्षितो।
उदितं तम् शचिगर्भव्योम्नि पूर्णम् विधुं भजे।।

रघुनाथदास, मुक्ताचरितम्, ३, पृ. १.

२. अन्तःकृष्णं बहिर्गौरं दर्शितांगादिवैभवम्।
कलौ सङ्कीर्तनाद्यैः स्मः कृष्णचैतन्यमाश्रिताः।।

जीवगोस्वामी, भागवतसन्दर्भ, २.

३. (अ) स्वदयितनिजभावं यो विभाव्य स्वभावात्
सुमधुरमवतीर्णो भक्तरूपेण लोभात्।
जयति कानकधामा कृष्णचैतन्यनामा
हरिरिह यतिवेशः श्रीशचीसूनुरेषः।।

सनातनगोस्वामी, बृहद्भागवतामृतम्, १।१।३.

(ब) श्रीभगवत्प्रियतमावतार…निजनामसंकीर्तनप्रायभक्तिरसविस्तारकः।।

सनातनगोस्वामी, बृहद्भागवतामृतम् (टीका), पृ. ४–५.

(स) वन्दे श्रीकृष्णचैतन्यं भगवन्तं कृपामयम्।
प्रेमभक्ति वितानार्थं गौडेष्ववतार यः।।

सनातनगोस्वामी, वैष्णव-तोषणी, पृ. १.
वृन्दावन शोधसंस्थान, वृन्दावन, हस्तलिपि सं. २

सम्भावना प्रकट की है।[1]

इस प्रकार कवि कर्णपूर, सनातन गोस्वामी, रूपगोस्वामी, जीव-गोस्वामी और रघुनाथ के काव्यात्मक स्तोत्रों और स्तवों से प्राप्त होने वाले साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि इन आचार्यों ने चैतन्य को कृष्ण का अवतार स्वीकार किया है। किन्तु चैतन्य के गौरवर्ण के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनेक कल्पनाएँ एवं सम्भावनाएँ नवद्वीप और वृन्दावन में एक साथ शनैः शनैः उद्भूत हो रही थीं। चैतन्य के गौरवर्ण के सम्बन्ध में स्वरूपगोस्वामी का कथन नवद्वीप में केवल मात्र सम्भावना बनकर रह गई। किन्तु वृन्दावन में उसी के आधार पर अर्वाचीन आचार्यों ने चैतन्य में राधा और कृष्ण के सम्मिलित अवतार की प्रवर्तना कर दी। इस सिद्धान्त का पूर्ण विकसित एवं परिष्कृत रूप प्रदान करने का श्रेय कृष्णदास कविराज को है। उन्होंने अपने बंग भाषा में उपनिबद्ध 'चैतन्य-चरितामृतम्' में इस तथ्य का संकेत दिया है कि 'रामानन्दराय के सम्पर्क में आने के पश्चात् से चैतन्य में राधा भाव का उदय हुआ। उसी समय से चैतन्य जयदेव के प्रेमपूर्ण पदों का गायन पुरी में रामानन्द राय के साथ सदैव किया करते थे। नवद्वीप में चैतन्य का चरित ऐसा था मानों वह कृष्ण के अवतार हैं अथवा उनसे अभिन्न। चैतन्य अपनी अन्तिम लीला में सदैव राधा के मदनमहाभाव में निमग्न रहा करते थे। रामानन्दराय ने उनके समक्ष इस रहस्य का उद्घाटन कर दिया था कि आप राधा का रूप लेकर अपने माधुर्य के रसास्वादनार्थ यहाँ अवतीर्ण हुए हैं।[2]

प्रबोधानन्द सरस्वती ने इस सिद्धान्त का प्रत्यक्ष प्रयाग अपने 'चैतन्य-चन्द्रामृतम्' में किया है। उनके कथनानुसार—चैतन्य में राधा और कृष्ण दोनों एकीभूत हो गये हैं। उनकी कान्ति प्रस्फुटित स्वर्ण कमल जैसी है।[3]

---

१. यद्यपि श्रीचैतन्यदेवो भगवदवतार एव तथापि प्रेमभक्ति–विशेषप्रकाशनार्थम् स्वयमवतीर्णत्वात् तेन तदर्थम् स्वयं गोपीभावोऽपि व्यज्यते ॥
सनातनगोस्वामी, वृहद्भागवतामृतम् , (व्याख्या), १।१।१, पृ. ३.

२. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम् , २।८।२३१–२४२.

३. सिंहस्कन्धं मधुर मधुर स्मेर गण्डस्थलान्तं
दुर्विज्ञेयोज्ज्वलरस मयाश्चर्यनानाविकारम् ।
विभ्रत्कान्ति विकचकनकाम्भोजगर्भाभिरामा
मेकीभूतं बपुरवतु वो राधया माधवस्य ॥
प्रबोधानन्दसरस्वती, चैतन्यचरितामृतम् , १३.

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि चैतन्य में माधुर्यभाव की अतिशयता एवं गौरवर्ण के कारण आरम्भ में कवियों की यह सम्भावना एवं कल्पना थी कि चैतन्य में राधाकृष्ण दोनों एक साथ एकीभूत हो गये हैं। तदनन्तर शनैः शनैः इस विचारधारा ने वृन्दावन में एक सिद्धान्त का रूप ले लिया।

चैतन्यावतार का हेतु

चैतन्य को कृष्ण का अवतार निरूपित करने के पश्चात् यह जिज्ञासा सहज जाग्रत हो जाती है कि कृष्ण ने चैतन्य रूप से प्राकृत जगत् में अवतार क्यों लिया ? तथा इस अवतार से किन उद्देश्यों की पूर्ति हुई ? कवि कर्णपूर के कथनानुसार "ईश्वर की अलौकिक लीला की अपेक्षा उनकी लौकिक क्रीड़ा अधिक सरस और आकर्षक होती है। लीलावतारों के अनुकरण की कथाएँ विश्वसृष्टि आदि प्राचीन कथाओं की अपेक्षा नवीन तथा कोमल होती हैं। अतः नारद, ब्रह्मा एवं सनकादि ब्रह्मानन्द की अपेक्षा इन लौकिक क्रीड़ाओं में अधिक अनुराग रखते हैं।[1] लौकिक क्रीड़ाओं के साथ उनकी अलौकिक क्रीड़ा का कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता है।[2] अतः लौकिकता में आकर्षण होने के कारण ईश्वर प्राकृत जगत् में अवतार ग्रहण करता है। कवि कर्णपूर के अनुसार चैतन्यावतार का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य मात्र को दुःखों से निवृत्ति प्रदान करना,[3] अद्वैतवाद की भावना के स्थान पर नामसंकीर्तन प्रधान भक्ति योग का प्रचार करना,[4] पूर्वविनिष्ट भक्ति-योग को वैराग्य और हरिभक्ति की शिक्षा से पुनर्जीवित करना[5] तथा पृथ्वी पर प्रेमभक्ति का प्रकटन करना है।[6]

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण कारण चैतन्यावतार के सम्बन्ध में कवि कर्णपूर ने निरूपित किया है। उनके उल्लेखानुसार भक्त पराधीन कृष्ण अपने भक्तों की इच्छापूर्ति के लिए चैतन्य रूप में अवतीर्ण हुए। कृष्ण के भक्तावतार अद्वैताचार्य नवद्वीप में पहले ही अवतार ग्रहण

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम् , ३।२२.
२. वही, २।१८.
३. वही, चैतन्यचरितामृतम्, १७।७.
४. वही चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ. ४.
५. (अ) वही. ६।४३–४४.
   (ब) वही, चैतन्यचरितामृतम्, १२।८७–८८.
६. वही, १३।८५.

कर चुके थे। कलियुग की दीन दशा को देखकर अद्वैताचार्य ने भक्तिरस के पुनः प्रचारार्थ कृष्ण का आह्वान किया। भक्त की प्रार्थना को सुनकर कृष्ण गोलोक से चैतन्य रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुए।[1] सैद्धान्तिक रूप में कवि कर्णपूर चैतन्य को कृष्ण का अवतार स्वीकार करते हैं, अतएव उन्होंने उपर्युक्त उद्देश्यों का निरूपण किया है। किन्तु कवि कर्णपूर के पूरवर्ती लेखकों ने चैतन्य में राधाकृष्ण भाव की सम्मिलित उपासना के साथ उनके अवतार के प्रयोजन में संशोधन किया है। परवर्ती चैतन्य सम्प्रदाय के प्रतिनिधि लेखक कृष्णदास कविराज ने प्रेमभक्ति दान, युगधर्मनाम संकीर्तन की स्थापना आदि उद्देश्यों को चैतन्यावतार का बहिरंग हेतु निरूपित किया है।[2]

चैतन्यावतार का अन्तरंग हेतु उन्होंने स्वरूपगोस्वामी के कड़चा के आधार पर स्वीकार किया है। उनके अनुसार चैतन्य के अवतार का अन्तरंग हेतु 'स्वयं प्रेमास्वादन' करना है, जिसके लिए उन्हें (कृष्ण को) राधाभाव का अवलम्बन लेना पड़ा। राधाकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति तथा प्रेम की गाढ़तम अवस्था महाभाव की मूर्ति है। राधा और कृष्ण एकात्मा होते हुए भी अनादिकाल से गोलोक में पृथक्-पृथक् देह धारण करके एक-दूसरे के साथ विलास करते हैं। इसलिए कलियुग में एकता को प्राप्त करके एक नवीन रस के, जिसका आस्वादन दो पृथक् देहों से सम्भव नहीं था, आस्वादनार्थ राधाभाव को ग्रहण कर चैतन्य रूप में प्रकट हुए।[3] राधाभाव को ग्रहण करने से उनकी तीन वासनाओं की परितृप्ति हुई—

(१) राधा के प्रेम की महिमा का क्या स्वरूप है ?

(२) राधा अपने प्रेम के द्वारा कृष्ण के जिस अद्भुत माधुर्य का आस्वादन करती है, वह माधुर्य कैसा है ?

(३) कृष्ण के माधुर्य का आस्वादन करके राधा जिस सुख का अनुभव करती है, वह सुख कैसा है ?[4]

---

१. (अ) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम् , ६।७६–७७.
(ब) वही, चैतन्यचन्द्रोदयम्, १।५०.

२. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम् , १।३।१३–२२, ७२–८९.

३. स्वरूपगोस्वामी, कड़चा, उद्धृत कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, खण्ड प्रथम, पृ. ५.

४. श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवा-
स्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।

इस प्रकार वृन्दावन के अर्वाचीन आचार्यों के अनुसार चैतन्यावतार का प्रमुख हेतु उपर्युक्त तीन वाञ्छाओं की पूर्ति है। चैतन्यावतार के कारणों के सम्बन्ध में कवि कर्णपूर और वृन्दावन के आचार्यों के विचारों में परिलक्षित होने वाला यह पार्थक्य दो भिन्न मान्यताओं का द्योतक है। प्रथमतः कवि कर्णपूर की समसामायिक राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ इस प्रकार की थीं, जिसमें चैतन्य के लोकोपकारक व्यक्तित्व की अधिक आवश्यकता थी। अतएव कवि कर्णपूर ने ईश्वर के उसी लोकोद्धारक स्वरूप की प्रतिष्ठा चैतन्य के व्यक्तित्व में करते हुए उन्हें कृष्ण रूप में स्वीकार किया। अतः उनके द्वारा निरूपित प्रयोजन भी उसी मान्यता के पोषक हैं। कवि कर्णपूर के परवर्ती लेखकों ने जिस समय अवतार के प्रयोजन का निरूपण किया, उस समय परिस्थितियों में परिवर्तन हो चुका था। अतएव चैतन्य के लोकोपकारक व्यक्तित्व की उपेक्षा नहीं रह गई थी। इसलिए चैतन्य के व्यक्तित्व में शनैः शनैः शृंगारिक भावों की प्रतिष्ठा होने लगी। उनके भक्तों ने उनमें राधा भाव स्वीकार कर उसी आधार पर प्रयोजनों का निरूपण किया।

पञ्चतत्त्व के अन्तर्गत चैतन्यतत्त्व का पूर्ण विवेचन करने के पश्चात् अवशेष अन्य तत्त्वों का विवेचन किया जायेगा।

नित्यानन्द-तत्त्व

नित्यानन्द-तत्त्व चैतन्य सम्प्रदाय में अत्यन्त गूढ़तत्त्व है। कवि कर्णपूर की दार्शनिक मान्यतानुसार नित्यानन्द संकर्षण रूप बलराम के अवतार हैं।[1] अंश और अंशी में अभेद होने के कारण चैतन्य और नित्यानन्द में कोई भेद नहीं है। बाह्यान्तर केवल इतना है कि चैतन्य आद्यव्यूह-वासुदेव है तथा नित्यानन्द द्वितीय व्यूहसंकर्षण स्वरूप बलराम हैं।[2] कवि कर्णपूर की मौलिक उद्भावना के अनुसार चैतन्य के श्रेष्ठभ्राता विश्वरूप साक्षात् भगवान् संकर्षण के अवतार थे, किन्तु वे पहले से ही विवाहादि न करके संन्यास धर्म का अवलम्बन लेकर अपनी ज्योति को ईश्वरपुरी में स्थापित

सौख्यं चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभा-
त्तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः ॥ वही, पृ. ४.

१. (अ) कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ७।२३–२४.
(ब) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, १।१८.
२. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ५८, ५९.

कर अन्तर्धान् हो गये थे।[1] वही विश्वरूप नित्यानन्द अवधूत के रूप में प्रसिद्ध हुए। संकर्षण इनका तेज स्वरूप हैं।[2] नित्यानन्द-बलराम के अंश रूप एक स्वरूप का नाम शेषदेव भी है। यहाँ यह विष्णु की शय्या, वस्त्र एवं भूषण वलयादि रूप से लीला शक्ति के द्वारा कृष्ण की निगूढ़ लीला में सहायता करते हैं।[3] व्रजलीला में बलराम की दो पत्नी—वारुणी और रेवती थीं, वही चैतन्यलीला में वसुधा और जाह्नवी नाम से नित्यानन्द की पत्नी हुईं।[4] कवि कर्णपूर की उपर्युक्त विचारधारा का प्रत्यक्ष प्रभाव कृष्णदास कविराज के नित्यानन्द तत्त्व निरूपण में परिलक्षित होता है।[5]

अद्वैत तत्त्व

अद्वैताचार्य को कृष्ण का भक्तावतार निरूपित किया गया है।[6] अद्वैताचार्य में कल्याणकारी रूप की प्रतिष्ठा होने के कारण उन्हें शिव तथा सदाशिव का अवतार निरूपित किया गया है।[7]

श्रीवास तत्त्व

कवि कर्णपूर की दार्शनिक मान्यतानुसार श्रीवास चैतन्य के भक्ताख्यावतार हैं।[8] ये चैतन्य के नित्य और विशुद्ध भक्त हैं। चैतन्यलीला में नारद के अवतार रूप में प्रसिद्ध हैं।[9]

---

१. (अ) कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ६०.
   (ब) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोययम्, १।२५.
२. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ६१, ६२.
३. (अ) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोयमम्, ३।४५.
   (ब) कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ६५.
४. वही, ६५.
५. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, १।१।७–११.
६. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ११.
७. (अ) वही, ७६.
   (ब) कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ७।२६.
   (स) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ. ४६.
८. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ११.
९. (अ) वही, ९०.
   (ब) कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ७।३१, ६१, ७९, ८९.
   (स) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, १।१८.

गदाधर तत्त्व

कवि कर्णपूर ने स्वरूपगोस्वामी के अनुसार गदाधर को कृष्ण का भक्तशक्ति अवतार स्वीकार किया है।[१] इनके मतानुसार गदाधर कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति राधा के अवतार हैं। इनको ही स्वरूपगोस्वामी ने लक्ष्मी कहा है।[२] कवि कर्णपूर ने राधा की अनुगता ललिता, चन्द्रकान्ता एवं पूर्णानन्द का प्रवेश भी गदाधर में किया है।[३]

पञ्चतत्त्व का निरूपण करने के पश्चात् कवि कर्णपूर ने चैतन्य के पार्षदों और धाम का भी निरूपण किया है। उनके मतानुसार चैतन्य के वर्तमान पार्षद हरिदास, मुरारि, गंगादास, सनातन, रूप आदि कृष्णलीला में उनके नित्य सखा थे। कारण, जिस समय ईश्वर पृथ्वी पर अवतरित होता है, उसके नित्य परिकर लीला रस की पुष्टि के लिए ईश्वर के साथ अथवा पहले अवश्य अवतरित होते हैं।[४] चैतन्य लीला में कृष्ण के पार्षदों का तत्त्व निरूपण उन्होंने सर्वप्रथम 'गौरगणोद्देशदीपिका' में किया है। चैतन्य के समस्त पार्षदों का तत्त्व विवेचन विस्तार भय से नहीं किया जा रहा है। अतः कुछ मुख्य भक्तों का उल्लेख किया जाता है। कवि कर्णपूर की दार्शनिक मान्यतानुसार चैतन्य के पिता जगन्नाथ मिश्र और उनकी पत्नी शची कृष्ण लीला के नन्द और यशोदा हैं।[५] कृष्ण के माता-पिता रोहिणी एवं वसुदेव चैतन्य लीला में पद्मावती और मुकुन्द हैं।[६] चैतन्य की पत्नी लक्ष्मी, जानकी और रुक्मिणी का सम्मिलित रूप हैं।[७] कृष्ण के गुरु सान्दीपनि चैतन्य लीला में चैतन्य के संन्यास गुरु केशव भारती हैं।[८] कृष्ण लीला के वृषभानु राजा चैतन्य लीला में पुण्डरीकाक्ष विद्यानिधि पण्डित नाम से अवतरित हुए हैं।[९] तृतीय व्यूह प्रद्युम्न रघुनन्दन

---

१. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ११.

२. वही, १४६–१५३.

३. वही, १५४–१५६.

४. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम् , पृ० ८, १४१.

५. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ३७.

६. वही, ४०.

७. वही, ४५.

८. वही, ५२.

९. वही, ५४.

पण्डित हैं।[1] चतुर्थव्यूह अनिरुद्ध वक्रेश्वर पण्डित हैं।[2] मुरारिगुप्त रामलीला के हनुमान, पुरन्दर—अंगद तथा गोविन्दानन्द—सुग्रीव का विग्रह है।[3] परमानन्दपुरी—उद्धव तथा सार्वभौम भट्टाचार्य—वृहस्पति हैं।[4] कृष्ण के प्रियनर्मसखा अर्जुन तथा पाण्डव अर्जुन दोनों का सम्मिलित विग्रह रामानन्दराय हैं।[5] स्वरूपगोस्वामी—विशाखा, सनातनगोस्वामी—लवङ्ग-मञ्जरी, रूपगोस्वामी—रूपमञ्जरी, जीवगोस्वामी—इन्दिरा, गोपाल-भट्ट—अनङ्गमञ्जरी, रघुनाथभट्ट—रागमञ्जरी तथा रघुनाथदास—रस मञ्जरी के अवतार हैं।[6]

चैतन्यलीला में कृष्ण के धाम के सम्बन्ध में कवि कर्णपूर का विचार है कि वृन्दावन, जिसको साधुजन गोलोक, श्वेत द्वीप और परमधाम संज्ञा से अभिहित करते हैं, वही नवद्वीप धाम है जहाँ पर कृष्ण ने अवतार ग्रहण कर अपनी लीला सम्पन्न की।[7]

वैष्णव भक्त के लक्षण

कवि कर्णपूर के अनुसार वैष्णव भक्त होने के लिए किसी जाति विशेष, शिक्षा विशेष तथा धनवान् होने की आवश्यकता नहीं है।[8] ईश्वर की कृपा असीम है, उसे केवल प्रेमभक्ति एवं सेवा से प्राप्त किया जा सकता है। इस तथ्य को उन्होंने विदुर के गृह में कृष्ण द्वारा उच्छिष्ट भोजन ग्रहण करनेवाली प्रसिद्ध पौराणिक कथा का दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है।[9] 'चैतन्यचरितामृतम्'[10] में कवि कर्णपूर ने 'हरिभक्ति विलास'[11] का निम्न प्रसिद्ध पद उद्धृत किया है—

१. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ७०.
२. वही, ७१.
३. वही, ९१-९२.
४. वही, ११८, ११९.
५. वही, १२०.
६. वही, १६०, १६९, १८०, १८१, १८२, १८४, १८५-१८६.
७. वही, १८.
८. (अ) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, २।१९.
(ब) कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १६।४.
९. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, ८।१४.
१०. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १७।१५.
११. गोपालभट्ट, हरिभक्तिविलास, १०।९१.

न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ॥

कवि कर्णपूर के अनुसार ईश्वर से भी अधिक महत्त्व उनके भक्तों का है।[1] अतः ईश्वर प्राप्त्यर्थ उनके भक्तों का आदर करना चाहिए।

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्; ६।७१, ८०, १००–१०२; ७।६८; ८।३–६, ८.

पञ्चम अध्याय

महाकाव्यों का कथानक और मूलस्रोत

संस्कृत-साहित्य के प्रायः समस्त कवियों एवं नाटककारों ने अपने काव्य का उपजीव्य इतिहास-पुराण को बनाया है। इतिहास-पुराण में भी कवियों की अभिरुचि विशेषतः 'रामायण' व 'महाभारत' की ओर अधिक रही है। कवि कालिदास, माघ, भारवि एवं श्रीहर्ष जैसे लब्धख्याति विद्वानों के काव्य पूर्वोक्त कथन के ज्वलन्त प्रमाण हैं। 'महाभारत' की लोकप्रियता की पुष्टि के लिए निम्न उद्धरण पर्याप्त है; यथा—

सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः॥[1]

अर्थात् समस्त भूतों को प्राणदान देने वाले मेघ की भाँति 'महाभारत' समस्त कवियों का अक्षय उपजीव्य है।

काव्य का ऐतिहासिक आधार न केवल संस्कृत कवियों को विशेष प्रिय रहा है, अपितु संस्कृत-साहित्य के काव्यलक्षण विधायकों ने भी सत्य और कल्पना के अद्भुत समन्वय की मनोहरता को ध्यान में रखते हुए काव्यकथानक के लिए इतिहासोद्भववृत्त को प्रधानता दी है। प्रसिद्ध आलंकारिक दण्डी[2] और विश्वनाथ[3] ने एक स्वर में स्वीकार किया है कि काव्य का कथानक इतिहास प्रसूत हो। ऐतिहासिक कथानक की लोकप्रियता का मुख्य कारण है कि इतिहासोद्भववृत्त काव्य का कथानक बनकर नव्य, भव्य, विश्वसनीय एवं प्रभविष्णु हो जाता है। कथानक की ऐतिहासिकता लोगों में काव्य के प्रति विश्वास उत्पन्न करा देती है।

संस्कृत साहित्य की पूर्वोक्त प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए कविकर्णपूर ने अपने दोनों महाकाव्यों—'चैतन्यचरितामृतम्' एवं 'परिजात-हरणम्' के लिए ऐतिहासिक कथानक का चयन किया है। अतएव प्रस्तुत अध्याय के प्रथम खण्ड में 'चैतन्यचरितामृतम्' तथा द्वितीय खण्ड में

---

१. महाभारत, आदिपर्व, १।९२.

२. इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्॥ दण्डी, काव्यादर्श, १।१५.

३. इतिहासोद्भवं वृत्तम् अन्यद्वा सज्जनाश्रयम्॥
विश्वनाथ, साहित्यदर्पण ६।३१८.

'पारिजातहरणम्' के कथानक के मूल स्रोत एवं मूल कथानक में कविकृत परिवर्तनों के औचित्य पर विचार विमर्श किया जायेगा।

प्रथम खण्ड

'चैतन्यचरितामृतम्' के कथानक का मूलस्रोत

'चैतन्यचरितामृतम्' का कथानक इतिहास प्रसिद्ध चैतन्यप्रभु का जीवन-चरित है। वस्तुतः बंगाल की पुण्यभूमि 'नवद्वीप' में अवतीर्ण चैतन्य-प्रभु के व्यक्तित्व में प्रबल आकर्षण तथा नेतृत्व में विलक्षण सम्मोहन होने के कारण अनजान में ही बंगाल में उनकी प्रतिष्ठा ईश्वर रूप में हो गई थी। चैतन्य महाप्रभु के लोकोपकारी एवं धर्मनिष्ठ व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर अनेकानेक भक्त कवियों ने उनके जीवनचरित को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया, जिनमें 'मुरारिगुप्त'[1], स्वरूपदामोदरगोस्वामी,[2] कवि कर्णपूर[3], वृन्दावनदास,[4] लोचनदास,[5] जयानन्द,[6] कृष्णदास कविराज[7] आदि प्रमुख हैं। चैतन्यमहाप्रभु के जीवनचरित को सर्वप्रथम संस्कृत-भाषा में छन्दोबद्ध करने का प्रयास मुरारिगुप्त ने किया है,[8] इन्होंने चैतन्य के तिरोधान के कुछ ही वर्षों के उपरान्त अपने ग्रन्थ का प्रणयन करके चैतन्य-भक्तों के सन्तप्त हृदयों को सान्त्वना दी। किन्तु चैतन्य के परलोकगमन के ६ वर्षों के पश्चात् छन्दोबद्ध किया गया कवि कर्णपूर का 'चैतन्यचरितामृतम्'

---

१. मुरारिगुप्त विरचित काव्य 'कड़चा' नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें महाप्रभु के जीवन चरित्र को महाकाव्य के लक्षणों की उपेक्षा करते हुए सूत्रशैली में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु मुद्रित पुस्तक के सम्पादक (श्रीमृणालकान्त-घोष) ने इसे 'श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्' महाकाव्य की संज्ञा से अभिहित किया है।

२. स्वरूपदामोदरगोस्वामीकृत ग्रन्थ भी 'कड़चा' नाम से प्रसिद्ध है।

३. चैतन्यचरितामृतम् महाकाव्य तथा चैतन्यचन्द्रोदयम् नाटक।

४. चैतन्यभागवत।

५. चैतन्यमङ्गल।

६. वही।

७. चैतन्यचरितामृतम् महाकाव्य।

८. पूर्वोल्लिखित अधिकांश कवियों ने चैतन्य-चरित को वंग भाषा में छन्दोबद्ध किया है। किन्तु मुरारिगुप्त और कवि कर्णपूर ने अपने ग्रन्थों का प्रणयन संस्कृतभाषा में किया है।

सर्वप्रथम चैतन्य के ऐतिहासिक चरित को क्रमबद्ध एवं सुसंगठित रूप में प्रकाश में लाया है। चैतन्यचरित को काव्यबद्ध करते समय कवि कर्णपूर ने मुरारिगुप्त विरचित 'श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्' को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है, इस रहस्य का उद्घाटन उन्होंने स्वयं किया है—

आशैशवं प्रभुचरित्रविलासविज्ञैः केचिन्मुरारिरितिमंगलनामधेयैः।
यद्यद्विलासललितं समलेखि तज्ज्ञैस्तत्तद्विलोक्य विलिलेख शिशुः स एषः॥
बद्धाञ्जलिः शिरसि निर्भरकाकुवादैर्भूयो नमाम्यहमसौ स मुरारिसंज्ञम्।
तं मुग्धकोमलधियं ननु यत्प्रसादाच्चैतन्यचन्द्रचरितामृतमक्षिपीतम्॥[1]

कवि कर्णपूर प्रदत्त उपर्युक्त साक्ष्य से स्पष्ट है कि उनके काव्य (चैतन्य-चरितामृतम्) के कथानक का मूल स्रोत मुरारिगुप्त विरचित 'श्रीकृष्ण-चैतन्यचरितामृतम्' है। कवि कर्णपूर द्वारा मुरारिगुप्त का अनुसरण करने का प्रमुख कारण है कि उस समय तक चैतन्य के जीवन से सम्बद्ध ग्रन्थों का प्रणयन प्रचुरमात्रा में नहीं हो पाया था, केवल मुरारिगुप्त का ग्रन्थ ही इस दिशा में पथप्रदर्शक था। द्वितीय, कवि कर्णपूर महाकाव्य की रचना के समय किशोर थे। महाकाव्योचित् प्रौढ़ प्रतिभा तथा आत्मविश्वास के अभाव में, चैतन्य-चरित को बिना किसी सुदृढ़ आधार के क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करने में कवि सर्वथा असमर्थ था। भावुकता में महाकाव्य ऐतिहासिकता से दूर भी जा सकता था। अतएव इस त्रुटि से महाकाव्य को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने अपने महाकाव्य का आधार मुरारिगुप्त का काव्य बनाया। तृतीय, मुरारिगुप्त चैतन्य महाप्रभु के बाल्यकाल के अभिन्न मित्र एवं सहपाठी थे। उन्होंने चैतन्य के जीवन की प्रत्येक घटना का प्रत्यक्ष अवलोकन तथा उन (चैतन्य) की भक्ति परक अनुभूतियों की उत्कटता का स्वयं अनुभव किया था। चैतन्य की कृष्ण भक्ति से अभिभूत होकर उन्होंने रामभक्ति को त्याग कर चैतन्य अभिमत को स्वीकार किया था। अतएव उनके द्वारा वर्णित घटनाएँ कपोलकल्पित न होकर अधिक विश्वसनीय होंगी, ऐसी सम्भावना अधिक औचित्यपूर्ण प्रतीत होती है। इसलिए कवि कर्णपूर द्वारा मुरारिगुप्त का अनुसरण करना स्वाभाविक था।

'चैतन्यचरितामृतम्' का कथानक

'चैतन्यचरितामृतम्' के २० सर्गों में चैतन्य महाप्रभु का सम्पूर्ण जीवन-वृत्तान्त वर्णित है। प्रथम सर्ग से लेकर दशम सर्ग पर्यन्त जीवन का पूर्वार्द्ध

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्', २०।४२, ४३.

अर्थात् जन्म से लेकर संन्यास ग्रहण से पूर्व तक का वृत्तान्त तथा एकादश सर्ग से लेकर विंशति सर्ग पर्यन्त उनके जीवन का उत्तरार्द्ध अर्थात् संन्यास ग्रहण से लेकर मृत्युपर्यन्त तक का चरित उपनिबद्ध है। इस प्रकार कथासूत्र दो भागों में विभक्त है। महाकाव्य के प्रथम सर्ग में मङ्गलाचरण में चैतन्यदेव की स्तुति के उपरान्त उनके तिरोभाव के कारण कवि के विषाद युक्त उद्‌गारों की मार्मिक अभिव्यञ्जना की गई है। प्रथम कथासूत्र द्वितीयसर्ग से आरम्भ होता है, जिसमें सर्वप्रथम 'नवद्वीपपुरी' वर्णन के उपरान्त प्रमुख नवद्वीपवासियों का नामतः उल्लेख किया गया है। सर्ग के अवशेष भाग में चैतन्य के पिता जगन्नाथ मिश्र का नीलाम्बर चक्रवर्ती की सुकन्या शची के साथ परिणय, शची की आठ कन्याओं की मृत्यु के पश्चात् विश्वरूप एवं विश्वम्भर का जन्म[1], विश्वम्भर की अनेक अलौकिक क्रीड़ाएँ यथा भाण्ड भाञ्जन[2], शची एवं जगन्नाथ का विश्वम्भर के नूपुर शून्य चरणों में नूपुर ध्वनि श्रवण,[3] चैतन्य की उद्दण्डता पर जगन्नाथ का क्रोध,[4] विश्वम्भर की अलौकिकता के सम्बन्ध में भविष्यवाणी,[5] विश्वम्भर द्वारा शची को एकादशी व्रत का उपदेश,[6] विश्वरूप का संन्यास ग्रहण, जगन्नाथ मिश्र की मृत्यु आदि घटनाओं का हृदयस्पर्शी वर्णन किया गया है। तृतीय सर्ग में विष्णु पण्डित, सुदर्शन पण्डित एवं व्याकरणाचार्य गङ्गादास की छत्रछाया में विश्वम्भर का विद्याध्ययन, विश्वम्भर और लक्ष्मी का पूर्वराग एवं परिणय, विश्वम्भर का अध्यापनार्थ पूर्वी बंगाल गमन, सर्पदंशन से लक्ष्मी की अकस्मात् मृत्यु, विष्णुप्रिया के साथ उनके पुनर्विवाह आदि घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है। चतुर्थ सर्ग में पिता जगन्नाथ मिश्र के श्राद्ध निमित्त विश्वम्भर का गया गमन, ईश्वरपुरी से मन्त्रदीक्षा ग्रहण, नवद्वीप प्रत्यावर्तन के पश्चात् (माघ मास के आरम्भ से) उन (चैतन्य) के दिव्योन्माद एवं संकीर्तन आदि व्यापक कार्यक्रमों का वर्णन

---

१. चैतन्य महाप्रभु का पिता प्रदत्त नाम विश्वम्भर था, जो उनके अलौकिक गुणों के आधार पर प्रदान किया गया था। संन्यासग्रहणोपरान्त उनका नामकरण 'श्रीकृष्णचैतन्य' किया गया था।

२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २।६८–८५.

३. वही, २।८६–८९.

४. वही, २।१०३.

५. वही, २।१०४–१०७.

६. वही, २।१०८–११४.

किया गया है। प्रस्तुत स्थल से विश्वम्भर के जीवन में अकस्मात् क्रान्तिकारी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगता है। उनके नवीन व्यक्तित्व का सृजन यहीं से प्रारम्भ हो जाता है, जिसने बङ्गाल के भक्ति आन्दोलन का नेतृत्व किया था। पञ्चम सर्ग से लेकर अष्टम सर्ग पर्यन्त विश्वम्भर की भक्तिपरक चेष्टाओं—दिव्यमूर्च्छा, भक्ति विह्वल होकर नृत्यगायन, विलाप आदि करने का वर्णन किया गया है। विश्वम्भर के यह कार्यकलाप ज्येष्ठ-मास से प्रारम्भ होकर पौषमास अर्थात् आठ मास क्रमबद्ध रूप से चलते रहते हैं। पूर्वनिर्दिष्ट चेष्टाओं में विश्वम्भर का मुरारिगुप्त के गृह में सर्वप्रथम वराह आवेश,[1] विश्वम्भर के अनुरोध पर श्रीवासाचार्य आदि द्वारा उन (विश्वम्भर) का महाभिषेक,[2] नित्यानन्द अवधूत से विश्वम्भर का समागम,[3] नित्यानन्द के समक्ष विश्वम्भर द्वारा षड्भुज, चतुर्भुज तथा द्विभुज रूप का प्रदर्शन,[4] तत्पश्चात् उन (विश्वम्भर) का नृसिंहावेश[5] और अन्त में बलराम आवेश[6] का वर्णन किया गया है। पूर्वोल्लिखित चेष्टाओं के पश्चात् विश्वम्भर में कृष्णभाव के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। नवम और दशम सर्ग में चैतन्य के अनुरोध पर श्रीवासाचार्य द्वारा कृष्ण की वृन्दावन-लीला का विस्तृत शृङ्गारिक चित्रण किया गया है।

एकादश सर्ग में पुनः कथासूत्र में द्वितीय महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। सर्ग का आरम्भ विश्वम्भर और श्रीवासाचार्य आदि भक्तों की कृष्णलीला अभिनय से होता है, जिसमें कलियुग में हरिनाम माहात्म्य पर प्रकाश-निक्षेप किया जाता है। सर्ग के अवशेष भाग में विश्वम्भर का कोटवा जाकर केशव भारती से संन्यास ग्रहण करने का वर्णन किया गया है।[7] संन्यासग्रहणोपरान्त उन्हें 'श्रीकृष्णचैतन्य' नाम से अभिहित किया जाता है। संन्यासग्रहणोपरान्त राढ़ देश होते हुए चैतन्य का (अद्वैताचार्य के गृह) शान्तिपुर प्रत्यावर्तन,[8] नवद्वीपवासियों का उनके

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ५।१५–२१.
२. वही, ५।४०–६०.
३. वही, ६।१०५–११७.
४. वही, ६।१२१–१२२.
५. वही, ७।८०–८५.
६. वही, ८।१९–२८.
७. वही, ११।४७–५६.
८. वही, ११।५७–६२.

दर्शनार्थ शान्तिपुर के लिए प्रस्थान,[1] चैतन्य द्वारा नीलाचल (जगन्नाथपुरी) वास का दृढ़संकल्प, (यात्रा के आरम्भ में सर्वप्रथम) रेमुणा जाकर गोपीनाथदेव का दर्शन,[2] कटक में साक्षीगोपाल का दर्शन,[3] मार्ग में नित्यानन्द द्वारा उनके संन्यास दण्ड का भञ्जन,[4] याजनगरी तथा कमलपुर[5] का भ्रमण आदि घटनाएँ क्रमबद्ध रूप में उपनिबद्ध हैं। एकादश सर्ग के उत्तरार्द्ध से द्वितीय कथासूत्र नवद्वीपपुरी से हटकर नीलाचल पर केन्द्रीभूत हो जाता है। द्वादश सर्ग में नीलाचल पहुँचकर चैतन्यदेव का सर्वप्रथम सार्वभौम भट्टाचार्य के गृह में आतिथ्य ग्रहण करना, सार्वभौम भट्टाचार्य के वेदान्त दर्शन विषयक विचारधारा का दृढ़तापूर्वक खण्डन करने के उपरान्त भक्तिमार्ग का समर्थन करना,[6] (प्रस्तुत प्रसंग में) चैतन्य द्वारा 'श्रीमद्भागवत' के दो श्लोकों को उद्धृत कर, उनका ९ प्रकार से विभिन्न अर्थ करना,[7] सार्वभौमभट्टाचार्य के समक्ष चैतन्य द्वारा चतुर्भुज रूप का प्रदर्शन,[8] चैतन्य के ईश्वरत्व से अभिभूत सार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा उन (चैतन्य) की स्तुति में दो श्लोक प्रेषित करना[9] आदि घटनाएँ छन्दोबद्ध हैं। अवशिष्ट सर्ग में चैतन्य की दक्षिणयात्रा प्रारम्भ होती है। यात्रा के प्रारम्भ में सार्वभौम भट्टाचार्य चैतन्य से अनुरोध करते हैं कि वे अपनी दक्षिणयात्रा के अवसर पर भवानन्दराय के सुपुत्र रामानन्दराय से अवश्य साक्षात्कार करें, क्योंकि वह परम वैष्णव हैं।[10] चैतन्य सर्वप्रथम कूर्मक्षेत्र जाकर कूर्मनामक ब्राह्मण के गृह में आतिथ्य ग्रहण करते हैं।[11] यहीं पर कवि कर्णपूर ने वासुदेव नामक ब्राह्मण की 'विलापमाला' का उल्लेख किया है।[12] तदनन्तर नृसिंह क्षेत्र होते हुए चैतन्य गोदावरीतट का

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ११।६३–६४.
२. वही, ११।७०–७८.
३. वही, ११।७९.
४. वही, ११।८०–८१.
५. वही, ११।८२–८४.
६. वही, १२।१०–२७.
७. वही, १२।८०–८१.
८. वही, १२।३३.
९. वही, १२।८६–८८.
१०. वही, १२।९८–९९.
११. वही, १२।१००–१०५.
१२. वही, १२।१०६–११४.

प्राकृतिक सौन्दर्य अवलोकन करते हुए अपनी अग्रिम यात्रा आरम्भ करते हैं।[१] इस समय गोदावरी तट पर उनका रामानन्दराय से समागम नहीं होता है। त्रयोदश सर्ग में चैतन्य कावेरिकावेष्टित श्रीरङ्ग क्षेत्र पहुँचकर त्रिमल्लभट्ट के साथ चातुर्मास्य व्यतीत करते हैं।[२] यहाँ पर कवि कर्णपूर ने गोपालभट्ट का उल्लेख नहीं किया है। श्रीरङ्ग क्षेत्र से दक्षिण की ओर प्रस्थान करते समय उनका साक्षात्कार श्रीरामभक्त ब्राह्मण से होता है।[३] वहाँ से चैतन्य सेतुबन्ध रामेश्वरम् की ओर उन्मुख होते हैं। मार्ग में चैतन्य द्वारा सप्तोच्छिततालवृक्ष का उद्धार वर्णित है।[४] पूर्वोक्त यात्रा के अवसर पर चैतन्य का सेवक पाखण्डियों द्वारा दिग्भ्रान्त कर दिया जाता है।[५] किन्तु चैतन्य के व्यक्तित्व से पराभूत होकर पाखण्डी 'कृष्ण-दास' सेवक को बन्धनमुक्त कर देते हैं।[६] रामेश्वरसेतुबन्ध होते हुए चैतन्य पुनः श्रीरङ्गदेव के दर्शन करते हुए गोदावरी के तट पर रामानन्दराय से साक्षात्कार करते हैं तथा उनके विचारों से प्रभावित होकर उनके साथ चातुर्मास्य व्यतीत करते हैं।[७] इस आवासकाल में चैतन्य, रामानन्दराय के भक्तिविषयक विचारों से अवगत होते हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में कवि कर्णपूर ने रामानन्दराय विरचित दो वैराग्यपरक तथा एक भक्तिपरक गीत का उल्लेख भी किया है।[८] गोदावरी से महाप्रभु जगन्नाथपुरी लौट आते हैं। यहाँ से उनकी जगन्नाथमहाप्रभु की नियमित सेवा प्रारम्भ हो जाती है। पुरी में जगन्नाथ महाप्रभु के स्नानमहोत्सव के उपरान्त उनकी गूढ़लीला से

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १२।११८–१३४.

२. वही, १३।३–४.

३. वही, १३।५–१५.

४. वही, १३।१७, १८.

५. वही, १३।२०–२६.

६. वही, १३।२७–३०.

७. वही, १३।३१–४९.

८. रामानन्दराय विरचित तीन श्लोक—वैराग्यजेज्जनयति······ताम्यति ब्राह्मणोऽपि (१३।३९), 'नानोपचारकृतपूजनमार्त···भक्ष्यपेये' (१३।४२), एवं 'पहिल हि राग···प्रेमकऐछनरीति' (१३।४६) को कवि कर्णपूर ने अपने महाकाव्य में उद्धरण रूप में दिया है। उपर्युक्त श्लोकों में द्वितीय श्लोक रूपगोस्वामी विरचित 'पद्यावली' (पद संख्या १३) तथा तृतीय पद्य 'पदकल्पतरु' (पद्य सं० ५७६) में रामानन्दराय के नाम से संकलित है।

दुःखी होकर चैतन्यमहाप्रभु अलालनाथ के दर्शनार्थ चले जाते हैं।[1] वहाँ से जगन्नाथ पुरी आकर वे पुनः गोदावरी तट पर रामानन्दराय के निकट चातुर्मास्य व्यतीत करने के पश्चात् हेमन्त ऋतु में रामानन्दराय के साथ पुरी आ जाते हैं।[2] सर्ग के शेष भाग में चैतन्य प्रभु के साथ गजपति प्रतापरुद्र का समागम, शिखि नामक ब्राह्मण का वृतान्त, माधवेन्द्रपुरी के शिष्य परमानन्दपुरी के साथ गौड़ीयभक्तों का पुरी आगमन तथा उनके साथ महाप्रभु का समागम आदि का वर्णन किया गया है। चैतन्य और गजपति प्रतापरुद्र का मिलाप इस सर्ग की सर्वाधिक प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है।

महाकाव्य के अन्तिम सात सर्गों में से चतुर्दश सर्ग से लेकर अष्टादश सर्ग पर्यन्त नीलाचल में अवस्थित महाप्रभु चैतन्य के भक्तिपूर्ण जीवन के क्रिया-कलापों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। संन्यासग्रहणोपरान्त महाप्रभु चैतन्य के जीवन के २० वर्षों का अधिकांश समय जगन्नाथपुरी में ही व्यतीत हुआ था। जगन्नाथमहाप्रभु की रथयात्रा के अवसर पर प्रतिवर्ष गौड़ीयभक्त चैतन्य के दर्शनार्थ नीलाचल आते थे। कवि कर्णपूर के उल्लेखानुसार गौड़ीयभक्तों के आगमन का वृत्तान्त इतना रोचक और विस्तृत है, जिसका शत वृहस्पति भी वर्णन नहीं कर सकते हैं। इसलिए उन्होंने अपने महाकाव्य में एक वर्ष की रथ यात्रा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इस महोत्सव में जगन्नाथप्रभु की स्नान, दोल एवं रथयात्रा से पूर्व चैतन्य और उनके भक्त गुण्डिचाभवन का मार्जन एवं प्रक्षालन कार्य सम्पादित करते हैं। तदनन्तर रथ के समक्ष चैतन्य, अद्वैताचार्य आदि भक्तों का भक्तिविभोर होकर नृत्य करना तथा अन्य क्रीड़ाओं का आकर्षक वर्णन किया गया है। इसी अवसर पर नरेन्द्र सरोवर के निकट सनातन, रूप एवं अनुपम तीनों भ्राताओं का चैतन्य के साथ मिलाप वर्णित है।[3] अवशिष्ट

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १३।५७–५८.

२. वही, १३।६०–६१.

३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १७।८।२४ (सनातन और रूप वृन्दावन की षट्गोस्वामी परम्परा के प्रमुख गोस्वामी हैं। प्राप्त सूत्रों के अनुसार गौड़ के शासक हुसैनशाह की राज्य सभा में सनातन साकेरमल्लिक नाम मन्त्री तथा रूप दविर खाँ नाम से प्रमुख मुंशी पद पर आसीन थे। रामकेलिग्राम में चैतन्य से मिलने के पश्चात् दोनों भ्राता राजकार्य से वैराग्य लेकर चैतन्य की शरण में आये। चैतन्य ने दीक्षा देकर दोनों भ्राताओं को

दो सर्गों (१९ वें एवं २० वें) में महाप्रभु चैतन्य की गौड़देश एवं वृन्दावन यात्रा का उल्लेख किया गया है। महाप्रभु चैतन्य वृन्दावन यात्रा की उत्कण्ठा लेकर नीलाचल से प्रस्थान करते हैं, किन्तु भुवनेश्वर, कटक, चित्रोपला, भद्रेश्वर, उत्कल, गौडदेश में नवद्वीप, कुमारहट्ट, शान्तिपुर तथा गोपीनाथश्री होते हुए पुनः नीलाचल लौट आते हैं। कवि कर्णपूर ने गौड़देश की पूर्वोक्त यात्रा का विस्तृत वर्णन किया है। नीलाचल से पुनः चैतन्यमहाप्रभु वृन्दावन के लिए पूर्व उदाहृत मार्ग से प्रस्थान करते हैं। वृन्दावन यात्रा के पश्चात् चैतन्यमहाप्रभु २० वर्षों तक नीलाचल में धर्म-परायण जीवन व्यतीत करने के पश्चात् अपनी लीला का संवरण कर लेते हैं। कवि कर्णपूर ने इन बीस वर्षों में घटित होने वाली घटनाओं पर प्रकाश न डालेकर उनका संकेत मात्र कर दिया।

कवि कर्णपूर कृत 'चैतन्यचरितामृतम्' के कथानक का सर्गानुसार विश्लेषण करने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की अभिरुचि चैतन्यमहाप्रभु के जीवन के उत्तरार्द्ध की अपेक्षा पूर्वार्द्ध में अधिक रही है। इसीलिये उन्होंने पूर्वार्द्ध जीवन की प्रत्येक घटना का विस्तृत एवं स्पष्ट वर्णन किया है। चैतन्य महाप्रभु के जीवन के उत्तरार्द्ध की तीन प्रमुख घटनाओं—गजपति प्रतापरुद्र से महाप्रभु का मिलाप, सनातन, रूप एवं अनुपम से उनका समागम तथा उन (चैतन्य) की वृन्दावन यात्रा का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन हुआ, जो सम्पूर्ण तथ्य पर प्रकाशनिक्षेपण करने में सर्वथा असमर्थ हैं। इसके अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं की उपेक्षा की गई है।[1] मुरारिगुप्त विरचित 'श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्' के साथ कवि कर्णपूर कृत 'चैतन्यचरितामृतम्' के कथानक का तुलनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि कवि कर्णपूर ने प्रथम सर्ग से लेकर एकादश सर्ग पर्यन्त मुरारिगुप्त का अनुसरण किया है। अग्रिम सर्गों में वर्णित

क्रमशः सनातनगोस्वामी और रूपगोस्वामी नाम से अभिहित किया तथा वृन्दावन जाकर कृष्णभक्ति काव्य का सृजन करने की प्रेरणा दी। सनातन एवं रूप के साथ चैतन्य के मिलाप का वृत्तान्त कृष्णदास कविराज विरचित 'चैतन्यचरितामृतम्' में विस्तार पूर्वक वर्णित है।

१. कवि कर्णपूर कृत 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' नाटक में चैतन्यमहाप्रभु के जीवन का उत्तरार्द्ध अत्यधिक स्पष्ट एवं क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। सम्भवतः कवि ने महाकाव्य में होने वाली अपनी असावधानी का संशोधन नाटक में किया है।

ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में दोनों कवियों में पर्याप्त क्रमभेद एवं वृतान्तभेद उपलब्ध है। सम्भवतः एकादश सर्ग के पश्चात् की घटनाओं का वर्णन कवि कर्णपूर ने चैतन्य के किसी अन्तरंग सखा अथवा अपने पिता (शिवानन्दसेन) से सुनकर किया होगा। क्योंकि कवि कर्णपूर से पूर्व केवल मुरारिगुप्त का 'श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्' तथा स्वरूपदामोदर कृत 'कड़चा' ही चैतन्यचरित को लिपिबद्ध रूप में प्रस्तुत करता है, जिसमें स्वरूपदामोदर का कितना अनुसरण किया होगा ? इस सम्बन्ध में एक भी प्रामाणिक साक्ष्य प्रस्तुत करना कठिन ही नहीं असम्भव सा प्रतीत होता है। क्योंकि वर्तमान समय में उसकी कोई भी हस्तलिपि प्राप्त नहीं है, जिसके आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके।[1] साथ ही यह तथ्य भी कुछ सन्दिग्ध सा प्रतीत होता है कि कवि कर्णपूर ने स्वरूपदामोदर का अनुसरण किया होगा ? कारण, यदि कवि कर्णपूर ने स्वरूपदामोदर का अनुसरण किया होता, तो वे अवश्य ही उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते, जिस प्रकार उन्होंने मुरारिगुप्त के प्रति अपना आभार प्रकट किया है। अतएव यह सम्भावना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होती है कि कवि कर्णपूर ने एकादश सर्ग के उपरान्त की घटनाएँ अपने पिता (शिवानन्दसेन) से श्रवण करने के पश्चात् छन्दोबद्ध किया हो।[1] ये घटनाएँ उन्हें मुरारिगुप्त द्वारा वर्णित घटनाओं से अधिक विश्वसनीय प्रतीत हुई होंगी।[2] इसलिए उन्होंने प्रस्तुत स्थल पर मुरारिगुप्त का अनुसरण करने की

---

१. स्वरूपदामोदर गोस्वामी विरचित 'कड़चा' के अस्तित्व का अभिज्ञान इतस्ततः प्राप्त होने वाले प्रसंगों से होता है। स्वरूपदामोदर के नाम से कुछ उद्धरण कवि कर्णपूर कृत 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' में—'हेलोद्धूलित··· दयाभूयादमन्दोदया' (८।१०), गौरगणोद्देशदीपिका में 'स्वरूपचरणैरक्तं तत्त्व निरूपणे' (६) तथा कृष्णदास कविराज विरचित 'चैतन्यचरितामृतम्' में 'राधाकृष्णप्रणयविकृतिः', 'श्रीराधायाः प्रणयमहिमाकीदृशो' (१।१।५,६) प्राप्त होते हैं। पूर्वोल्लिखित उद्धरणों के आधार पर यह सम्भावना है कि स्वरूपदामोदर ने किसी ग्रन्थ का सृजन किया हो। यह ग्रन्थ काल गर्भ में विलुप्त हो जाने के कारण अप्राप्त है। दुर्भाग्यवश इसकी कोई हस्तलिपि किसी पुस्तकालय में सुरक्षित नहीं है।

२. महाप्रभु चैतन्य की दक्षिण यात्रा से सम्बद्ध घटनाओं की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक साक्ष्य नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि इस यात्रा के समय चैतन्य के साथ कोई आप्त अभिजन नहीं था। अतएव

अपेक्षा अन्य स्रोत का अवलम्बन लिया होगा। इस तथ्य को स्वयं कवि कर्णपूर ने स्वीकार किया है कि उन्होंने चैतन्यचरित को इतस्ततः से श्रवण किया था।[1]

मूलस्रोत से कथानक का पार्थक्य

कवि कर्णपूर ने एकादश सर्ग पर्यन्त मुरारि गुप्त का अनुसरण किया है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनका महाकाव्य मुरारि गुप्त द्वारा उदाहृत घटनाओं का लेखामात्र है तथा उसमें कवि की मौलिक प्रतिभा एवं कल्पना शक्ति का अभाव है। वस्तुतः मुरारिगुप्त का अनुसरण करते हुए भी अनेक स्थलों पर मूलस्रोत से कथानक का पार्थक्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह पार्थक्य दो प्रकार का है—

(१) ऐतिहासिक घटनाओं में।

(२) वर्णन शैली अथवा साहित्यक दृष्टिकोण में।

प्रथमतः मुरारिगुप्त एवं कवि कर्णपूर के महाकाव्य के कथानक में कुछ ऐतिहासिक तथ्यों में पार्थक्य है। इन ऐतिहासिक परिवर्तनों का प्रथम कारण यह है कि मुरारिगुप्त का ग्रन्थ चैतन्य के तिरोभाव के कुछ ही वर्षों पश्चात् प्रकाश में आ गया था। अतएव शीघ्रता के कारण उसमें कई घटनाएँ भ्रमपूर्ण किंवा अस्पष्ट थीं, जो बाद में चैतन्य सम्प्रदाय में चर्चा का विषय बन गई थीं। तदनन्तर कवि कर्णपूर ने संदिग्ध एवं अस्पष्ट घटनाओं को वयोवृद्धजनों से परामर्श लेने के पश्चात् संशोधितरूप में प्रस्तुत किया है। उत्तरवर्ती चरित लेखकों ने कवि कर्णपूर द्वारा संशोधित घटनाओं को ही विशेष महत्त्व दिया है।

ऐतिहासिक घटनाओं में परिवर्तन का द्वितीय कारण है कि जिस समय मुरारिगुप्त ने अपने महाकाव्य का निर्माण कार्य आरम्भ किया था, उस समय तक सम्पूर्ण बङ्गाल में चैतन्य की प्रतिष्ठा ईश्वर रूप में नहीं हो पाई थी तथा चैतन्य सम्प्रदाय का सङ्गठन भी पूर्ण रूप से नहीं हो पाया था।

चैतन्य के प्रत्येक चरितलेखक द्वारा वर्णित घटनाओं में इस सम्बन्ध में मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

१. यद्यद्दृष्टं श्रुतमपि च यत्तस्य लीलाविलास-
स्तत्तत् प्राणैरतिशयमहामूढचित्ताय यन्मे।
भूयो भूयः कथितमिति यत् यद्धृतं तत्रतत्र
क्षुद्रोऽयं तत् कथयति कियत्तत् कृपाया वशः सन्॥

कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १।१०.

मुरारिगुप्त ने चैतन्य को केवल ईश्वर रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। किन्तु चैतन्य के तिरोभाव के पश्चात् शनैः शनैः उनके भक्तों ने चैतन्य सम्प्रदाय का संगठन किया तथा चैतन्य को कृष्ण का अवतार सिद्ध करने के लिए उनके जीवन चरित में अनेकानेक अलौकिक घटनाओं की सृष्टि करना प्रारम्भ कर दिया। इसलिए मुरारि गुप्त की अपेक्षा कवि कर्णपूर कृत महाकाव्य में अलौकिक घटनाओं की शृङ्खला अधिक प्राप्त होती है, जो कई स्थलों पर अविश्वसनीय प्रतीत होने लगती है। चैतन्य सम्प्रदाय की विचार-धारा के क्रमिक विकास के अभिज्ञानार्थ कवि कर्णपूर कृत यह परिवर्तन विशेष महत्त्वपूर्ण है, यथा—

(१) मुरारिगुप्त के 'श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्' से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि चैतन्य के अलौकिक व्यक्तित्व का प्रस्फुटन शैशवकाल के पश्चात् शनैः शनैः होता है, जिसके कारण वह भावाविष्ट होकर अनेक प्रकार से प्रवचन देते हैं। मुरारिगुप्त ने इस प्रकार की अलौकिक घटनाओं का निरूपण करते समय उनके कारणों का भी निर्देश कर दिया है। जिससे जनसाधारण का उन घटनाओं के प्रति विश्वास दृढ़ हो जाये, यथा—

जनस्य भगवद्ध्यानात् कीर्त्तनात् श्रवणादपि।
हरेः प्रवेशो हृदये जायते सुमहात्मनः॥
तस्यानुकारं चक्रे स तत्तेजस्तत्पराक्रमम्…… ।
……भक्तदेहो भगवतो ह्यात्माचैव न संशयः॥[1]

यहाँ पर कवि कर्णपूर का दृष्टिकोण मुरारि गुप्त से पृथक् प्रतीत होता है। उन्होंने चैतन्य का अलौकिक व्यक्तित्व जन्म से ही स्वीकार किया है, अर्थात् उनको स्वयं भगवान् कृष्ण का साक्षात् अवतार स्वीकार किया है। अतएव उनके जीवन से सम्बद्ध घटनाओं की अवतारणा करते समय उन्होंने उसके प्रमाणीकरण के लिए किसी युक्तिमूलक तर्क का उल्लेख नहीं किया है। क्योंकि ईश्वर के सम्बन्ध में तर्क देना औचित्यपूर्ण नहीं है।[2] मुरारि गुप्त ने चैतन्य को ईश्वर रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए सर्वप्रथम चैतन्यावतार के कारण को स्पष्ट किया है। उनके उल्लेखानुसार एक बार

१. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्, १।८।२–७.

२. सम्भवतः उत्तरवर्ती लेखकों ने कवि कर्णपूर का ही अनुकरण किया है जिसके फलस्वरूप वृन्दावनदास, लोचनदास एवं कृष्णदास कविराज ने चैतन्य महाप्रभु को जन्मकाल से ही स्वयं कृष्ण रूप में स्वीकार किया है।

नारद ने पृथ्वी को म्लेच्छों के अत्याचारों से पीड़ित देखकर, उसे समस्त यन्त्रणाओं एवं अभिशापों से मुक्ति देने के लिए औषधि रूप हरिनाम का वितरण करने के लिए विष्णु से नवद्वीपवासी जगन्नाथ मिश्र के पुत्र रूप में अवतरित होने के लिए अनुरोध किया। साथ ही विष्णु की सहायता के लिए रुद्र से भी अवतार ग्रहण करने के लिए आग्रह किया।[1] तदनन्तर, मुरारिगुप्त ने विष्णु के अवतारों, अंशावतारों तथा चैतन्यलीला में उनके पार्षदगणों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।[2] इसके अतिरिक्त पृथ्वी पर ईश्वर के दो अवतारों—युगावतार एवं कार्यावतार—का उल्लेख किया है।[3] कवि कर्णपूर कृत महाकाव्य के आरम्भ में इस प्रकार की दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत नहीं की गई है। उन्होंने निर्विरोध भाव से चैतन्य को 'व्रजवधूप्राणनाथ' अर्थात् कृष्ण स्वीकार कर लिया है।[4] दूसरी ओर महाकाव्य की दृष्टि से इस प्रकार के परिवर्तन उपयुक्त प्रतीत होते हैं, क्योंकि चैतन्यलीला के साथ चैतन्यसम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन कथानक की एकसूत्रता में अवरोधक सिद्ध होता है।

(२) चैतन्य के माता-पिता की अवस्था का निरूपण करते समय कवि कर्णपूर का दृष्टिकोण मुरारिगुप्त से पृथक् प्रतीत होता है। मुरारिगुप्त ने चैतन्य के माता-पिता को निर्धन चित्रित किया है। उनके उल्लेखानुसार निर्धन दम्पत्ति को पुत्र (चैतन्य) का जातकर्म महोत्सव ब्राह्मणों को केवल ताम्बूल, चन्दन, माल्य एवं गन्ध ही प्रदान कर सम्पन्न कराना पड़ा था।[5] इसके अतिरिक्त (मुरारिगुप्त के अनुसार) चैतन्य की पूर्वी बंगाल की यात्रा का उद्देश्य भी धनार्जन करना था।[6] कवि कर्णपूर को अपने इष्ट देवता के माता-पिता को निर्धन चित्रित करना अभीष्ट नहीं था। अतएव उन्होंने मुरारिगुप्त से पृथक् दृष्टिकोण अपनाकर अनेक ऐसी घटनाओं की सृष्टि की है, जिससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि जगन्नाथ मिश्र सम्पन्न व्यक्ति थे। उदाहरणार्थ—पुत्रोत्पत्ति की प्रसन्नता में जगन्नाथ मिश्र द्वारा समस्त अर्जित धन का वितरण कर देना,[7] शिशु चैतन्य का स्वर्ण निर्मित

---

१. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्, १।२।२२–२६, १।३।१–२३.

२. वही, १।४।२–१६.

३. वही, १।४।१७–३३.

४. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १।८, १३.

५. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्, १।५।२६.

६. वही, १।११।५.

७. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २।४३.

कङ्कणकिङ्कणी, प्रवालमुक्ता, मणिहार आदि आभूषणों को धारण करना,[1] चैतन्य की पूर्वी बङ्गाल की यात्रा का उद्देश्य धनार्जन न होकर अध्यापन कार्य होना[2] तथा चैतन्य का गया से नवद्वीप प्रत्यावर्तन के अवसर पर शची द्वारा नर्तकों, वादकों एवं ब्राह्मणों को धन प्रदान करना[3] आदि ऐसे ही प्रसङ्ग हैं, जिससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि कवि कर्णपूर को चैतन्य के माता-पिता को श्रीसम्पन्न व्यक्ति के रूप में देखना अभिप्रेत था।[4]

(३) चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव के पूर्व शची के गर्भधारण प्रसङ्ग का उल्लेख करते हुए मुरारिगुप्त का कथन है कि जिस समय शची ने चैतन्य को गर्भ में धारण किया था, उस समय ब्रह्मादि देवगण उन (शची) की स्तुति करने आये।[5] कवि कर्णपूर ने इस घटना का उल्लेख नहीं किया है, अपितु चैतन्य के आविर्भाव की अलौकिकता के प्रकटनार्थ शची द्वारा त्रयोदश मास पर्यन्त गर्भधारण करने की घटना का वर्णन किया है।[6]

(४) मुरारि गुप्त के उल्लेखानुसार बाल्यकाल में विश्वम्भर अर्थात् चैतन्य का अद्वैताचार्य से कोई परिचय नहीं था। गया से नवद्वीप प्रत्यावर्तन के उपरान्त वे श्रीवासाचार्य के साथ अद्वैताचार्य के निवास स्थान शान्तिपुर गये थे। वहीं उनका अद्वैताचार्य के साथ प्रथम साक्षात्कार हुआ था।[7] इस स्थल पर कवि कर्णपूर ने मुरारिगुप्त का अनुसरण नहीं किया है। अपितु अन्य किसी स्रोत का अवलम्बन लेकर द्वितीय घटना की अवतारणा की है। उनके कथनानुसार श्रीवासाचार्य के गृह में चैतन्य के

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २।६५.

२. वही, ३।६५.

३. वही, ४।७५.

४. चैतन्य के चरित लेखक वृन्दावनदास (चैतन्यभागवत, १।२।२३८–२४०), लोचनदास (चैतन्यमङ्गल, आदिखण्ड, पृ. ४३–४४) एवं जयानन्द (चैतन्यमङ्गल, नदियाखण्ड, पृ. ४७) ने भी चैतन्य के माता-पिता को निर्धन वर्णित किया है।

५. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्, १।५।६–१५.

६. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २।२४.

७. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्, २।५।१–२३.

महाभिषेक से किञ्चित् क्षण पूर्व उनका साक्षात्कार अद्वैताचार्य से होता है।[1]

(५) चैतन्य महाप्रभु की प्रथम पत्नी (लक्ष्मी) की मृत्यु के कारण के सम्बन्ध में मुरारिगुप्त और कवि कर्णपूर के विचारों में पर्याप्त पार्थक्य है। मुरारिगुप्त के अनुसार इन्द्र की सभा में नृत्योत्सव के अवसर पर पद-स्खलन हो जाने के कारण किसी अप्सरा को नरसुता होने का अभिशाप मिला था। वही अप्सरा पृथ्वी पर लक्ष्मी के रूप में अवतीर्ण हुई थी और शापावधि समाप्त होने पर पुनः स्वर्गलोक चली गई।[2] कवि कर्णपूर ने पूर्वोक्त घटना का उल्लेख नहीं किया है, अपितु उनके मतानुसार लक्ष्मी मानवी न होकर देवी थी, जो किसी गुप्त उद्देश्य से पृथ्वी पर अवतीर्ण हुई थी तथा उद्देश्य पूर्ति के पश्चात् अदृश्य हो गई।[3]

(६) मुरारिगुप्त के महाकाव्यानुसार चैतन्य का पुनर्विवाह सनातन पण्डित की पुत्री विष्णुप्रिया के साथ निश्चित होता है, किन्तु अधिवास के दिवस चैतन्य विवाह के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हैं। तदनन्तर विवाह की अस्वीकृति से सनातन पण्डित और उनकी पत्नी को विवादग्रस्त देखकर पुनः चैतन्य विवाह के लिए स्वीकृति दे देते हैं।[4] कवि कर्णपूर ने अपने महाकाव्य में विष्णुप्रिया और चैतन्य के पुनर्विवाह प्रसङ्ग में इस प्रकार की घटना का उल्लेख नहीं किया है।

(७) चैतन्य की गया यात्रा का वर्णन करते समय मुरारिगुप्त ने उनके साथ किसी साथी का उल्लेख नहीं किया है।। किन्तु कवि कर्णपूर के उल्लेख से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि चैतन्य के पिता के श्राद्ध निमित्त अपनी माता की भगिनी के पति के साथ गया गये थे।[5] इस

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ५।२४–३१ (उपर्युक्त प्रसंग में वृन्दावन-दास ने एक अन्य घटना का रहस्योद्घाटन किया है। उनके मतानुसार अद्वैताचार्य का गृह शान्तिपुर के अतिरिक्त नवद्वीप में भी था, जहाँ चैतन्य के ज्येष्ठ भ्राता विश्वरूप प्रायः आया करते थे। शची माता की आज्ञा से चैतन्य विश्वरूप को अद्वैत के गृह से बुलाने जाया करते थे। इस प्रकार अद्वैत और चैतन्य का परिचय बाल्यकाल से ही था। चैतन्यभागवत, २।२२।९२–१०२)

२. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्, १।१२।१३–१७.

३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ३।१२४, १२५.

४. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्, १।१३।१८–३०, १।१४।१–२.

५. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ४।२१.

सम्बन्ध में चैतन्य के अन्य चरित लेखकों में भी पर्याप्त पार्थक्य पाया जाता है।[1]

(८) चैतन्य के जीवन में नवीन अलौकिक घटना की सृष्टि करने के उद्देश्य से कवि कर्णपूर ने उपनिबद्ध किया है कि गया से नवद्वीप प्रत्यावर्तन के अवसर पर चैतन्य सर्वप्रथम शची को प्रणाम करते हैं। उसी समय अकस्मात् कांस्य, वंशी, मुरज आदि वाद्यों की मनोहर ध्वनि होने लगती है।[2] मुरारिगुप्त के महाकाव्य ने इस प्रकार की घटना का कोई संकेत नहीं दिया गया है। सम्भवतः प्रस्तुत स्थल पर चैतन्य की अलौकिकता का प्रकाश करना कवि कर्णपूर की दृष्टि में विशेष महत्त्वपूर्ण रहा होगा। कारण, गया से नवद्वीप प्रत्यावर्तन के उपरान्त ही चैतन्य के जीवन में सहसा महान् परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगता है, जिसका पूर्वाभास देना उचित ही प्रतीत होता है।

(९) चैतन्य की दक्षिणदेश की यात्रा के सम्बन्ध में मुरारिगुप्त और कवि कर्णपूर के कथानक में ही पार्थक्य नहीं है; अपितु इस सम्बन्ध में प्रायः सभी चरित्र लेखकों में मतभेद विद्यमान है। यह मदभेद होना स्वाभाविक भी है। कारण, चैतन्य की दक्षिण यात्रा के समय नित्यानन्दादि कोई भी अन्तरंग मित्र उनके साथ नहीं था।[3] अतएव वास्तविक तथ्य रहस्यमय है। इस सम्बन्ध में चरित्र-लेखकों ने निज कल्पना का आश्रय लिया है।

(१०) कवि कर्णपूर कृत 'चैतन्यचरितामृतम्' में कुछ ऐसी भी घटनाएँ उपनिबद्ध हैं, जो मुरारिगुप्त के काव्य में विद्यमान नहीं हैं। सम्भवतः इन घटनाओं के सृष्टिकर्ता स्वयं कवि कर्णपूर ही रहे होंगे। उदाहरणार्थ— चैतन्यमहाप्रभु के महाभिषेक का विस्तृत वर्णन सर्वप्रथम कवि कर्णपूर कृत 'चैतन्यचरितामृतम्' में ही उपलब्ध है। वर्णनानुसार चैतन्य महाप्रभु अपने

---

१. वृन्दावनदास के अनुसार चैतन्य गया अपने अनेक शिष्यों के साथ गये थे (चैतन्यभागवत, १।१२।११), जयानन्द के मतानुसार चैतन्य अपने अनुयायियों के साथ गया गये थे (चैतन्यमङ्गल, आदिखण्ड, पृ. ३२), लोचनदास के उल्लेखानुसार चैतन्य ब्राह्मणों के साथ गया गये थे (चैतन्य-मङ्गल, आदिखण्ड, पृ. ५५) तथा कृष्णदास कविराज ने इस तथ्य पर कोई प्रकाश नहीं डाला है।

२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ४।७२–७३.

३. कवि कर्णपूर के उल्लेखानुसार कृष्णदास नामक सेवक चैतन्य की सेवा में उनके साथ गया था (चैतन्यचरितामृतम्, १३।२३)।

ऐश्वर्य भाव को प्रकट करने के उपरान्त श्रीवास को आज्ञा देते हैं कि उनका महाभिषेक किया जाये। फलस्वरूप श्रीवास पण्डित अपने कनिष्ठ भ्राताओं और नवद्वीपवासियों के सहयोग से उनका महाभिषेक सम्पन्न करते हैं। महाभिषेकोपरान्त ही चैतन्य का ईश्वरत्व जनसाधारण के दृष्टिपथ पर आ जाता है। अभिषेक के अवसर पर ही चैतन्य शची (माता) पर कृपाभाव प्रकट करने के लिए उनके मस्तक का चरणों से स्पर्श करते हैं।[1] पूर्वोक्त घटना का सर्वप्रथम उपनिबन्ध कवि कर्णपूर ने ही किया है।[2]

(११) कवि कर्णपूर ने कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं की उपेक्षा भी की है। जो चैतन्य के जीवन से अत्यधिक सम्बद्ध थी। उदाहरणार्थ—जगन्नाथ और माधव नामक नीच ब्राह्मणों के उद्धार का कथा प्रसङ्ग चैतन्य सम्प्रदाय में अत्यधिक प्रसिद्ध रहा है। इस घटना का वर्णन सर्वप्रथम शिवानन्दसेन ने अपने एक पद्य में किया है,[3] तदनन्तर मुरारिगुप्त[4] तथा अन्य उत्तरवर्ती लेखकों ने उसका उल्लेख किया।[5] आश्चर्य है कि कवि कर्णपूर ने सर्वाधिक प्रसिद्ध कथा को अपने महाकाव्य में स्थान नहीं दिया।[6]

---

१. कवि कर्णपूर (चैतन्यचरितामृतम्, ५।४०।६०)।

२. कवि कर्णपूर ने उपर्युक्त घटना का उपनिबन्धन 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' नाटक में भी किया है। यहाँ उन्होंने शची के ऊपर किये गये अनुग्रह का कारण भी स्पष्ट किया है। उल्लेखानुसार शचीमाता अज्ञानवश श्रीवासाचार्य आदि चैतन्य के अनुयायियों पर मिथ्या दोषारोपण करतीं थीं कि उन्होंने चैतन्य को विरक्त बनाया है। शची के इस अपराध को क्षमा करने के लिए चैतन्य ने उन पर कृपाभाव किया। (कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम् प्रथम अंक, पृ. २२)

३. अखिल भुवन…जगाइ माधाइ छिल तारा प्रेमे उद्धारिल हेन जीव विलात्तल दया दास शिवानन्द वले केन रैनु माया भोले प्रभु मोरे देइ पद छाया॥ मृणालकान्तघोष (सम्पादक), गौरपदतरङ्गिणी (द्वितीय संस्करण), १।३।२५.

४. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्, २।१३।१७.

५. (अ) वृन्दावनदास, चैतन्यभागवत, २।१३।३१–२३०.
(ब) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, १।५।१८३; २।१।१८५.
(स) लोचनदास, चैतन्यमङ्गल, मध्य खण्ड, पृ. २६–३०.

६. कवि कर्णपूर ने अपनी इस त्रुटि का संशोधन 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' नाटक में

कवि कर्णपूर का मुरारिगुप्त से वर्णनशैली में पार्थक्य

कवि कर्णपूर कृत 'चैतन्यचरितामृतम्' और मुरारिगुप्त के 'श्रीकृष्ण-चैतन्यचरितामृतम्' की वर्णन शैली में भी पर्याप्त पार्थक्य परिलक्षित होता है। कवि कर्णपूर का 'चैतन्यचरितामृतम्' संस्कृत महाकाव्य परम्परा में रचा गया है। इसके विपरीत मुरारिगुप्त का ग्रन्थ 'कड़चा' नाम से अभिहित किया गया है। इसमें महाप्रभु के जीवन चरित को सूत्र रूप में छन्दोबद्ध किया गया है। अतएव उसमें संस्कृत काव्य लक्षण विधायकों द्वारा निर्धारित किये गये महाकाव्य के लक्षण प्राप्त नहीं होते हैं। कवि कर्णपूर ने मुरारिगुप्त के काव्य से कथानक लेकर उसे महाकाव्य रूप में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। कवि ने महाकाव्य के लक्षण पूर्ति निमित्त—प्रकृति वर्णन, ऋतु वर्णन, वस्तु वर्णन आदि की योजना की है, किन्तु उनका कथानक के साथ अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। यथा—महाप्रभु के आविर्भाव कालीन सुखद वातावरण की अवतारणा करते समय बसन्त ऋतु[1], गया से नवद्वीप प्रत्यावर्तन के उपरान्त ग्रीष्म ऋतु,[2] सप्तसर्ग में महाप्रभु के नृत्योत्सव पर वर्षाऋतु[3] तथा महाप्रभु की दक्षिण यात्रा के प्रसङ्ग में शरदऋतु[4] का वर्णन कथा प्रसङ्ग में सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है। काव्यत्व के दृष्टिकोण से यह वर्णन अत्यधिक उच्चकोटि के न होते हुए भी कवि काव्यात्मक प्रतिभा के सूचक हैं। वर्णन संक्षिप्त तथा सरल होने के कारण प्रभावशाली भी हैं।

महाप्रभु के जीवन चरित का वर्णन करते समय कवि कर्णपूर को जहाँ कहीं भी अपनी काव्य प्रतिभा प्रदर्शित करने का सुअवसर मिला है, उन्होंने उस स्थल को मार्मिक एवं सरस बनाने का प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ-प्रथम सर्ग के आरम्भ में मङ्गलाचरण समापन करने के पश्चात् महाप्रभु के तिरोभाव के कारण अपने शोकोद्गारों को अभिव्यक्त करके कवि ने उस स्थल को सर्वाधिक अनुभूति प्रधान एवं मार्मिक बना दिया है, जिससे कवि के साथ सहृदय की समवेदना जागृत हो जाती है। द्वितीय सर्ग में कथासूत्र

किया है। वहाँ इस घटना का वर्णन स्पष्टतया किया गया है। (कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, अंक प्रथम, पृ. १२)

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २।२५—३१.

२. वही, ५।३२—३५.

३. वही, ७।४०—४६.

४. वही, १३।६—७.

आरम्भ करने से पूर्व नवद्वीप नगरी का सुन्दर चित्र अङ्कित किया गया है। चैतन्य और लक्ष्मी के दाम्पत्य जीवन का मर्यादित शृङ्गारिक वर्णन तथा चैतन्य के विलक्षण सौन्दर्य का उपनिबन्धन कवि ने अपने कल्पना-वैचित्र्य से किया है। इस प्रकार के कलात्मक एवं भावात्मक वर्णन मुरारिगुप्त के काव्य में दुर्लभ हैं। इसी प्रकार जगन्नाथ मिश्र और लक्ष्मी की मृत्यु पर चैतन्य और शची का विलाप करुण रस की पूर्ण अभिव्यक्ति करता है। वस्तुतः यह स्थल अत्यधिक मार्मिक बन पड़ा है।

महाप्रभु चैतन्य की गया यात्रा के प्रसङ्ग में कवि कर्णपूर की वर्णना-शक्ति विशेषतः स्फुरित हुई है। मार्ग में दृष्टिगोचर होने वाले दर्शनीय स्थलों, सरोवर, सूर्यास्त, वनस्थली आदि का स्निग्ध वर्णन किया गया है। कुछ दृश्य सरल होते हुए भी हृदय-स्पर्शी हैं।

कवि कर्णपूर की मौलिकता के प्रतीक महाकाव्य में नियोजित नवम और दशम सर्ग हैं, जिसमें कवि ने विस्तारपूर्वक कृष्ण और गोपाङ्गनाओं की वृन्दावन लीला का ललित वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णन केवल मुरारिगुप्त के काव्य में ही नहीं, अपितु चैतन्य के समस्त चरित लेखकों के काव्य में दुर्लभ हैं। उपर्युक्त सर्गों में उज्ज्वल रस का चित्रण करते समय कवि ने वन-विहार, जलक्रीड़ा, मदिरापान, सुरतक्रीड़ा, सूर्यास्त, चन्द्रोदय आदि का सरस वर्णन किया है। वृन्दावन-लीला की यह योजना महाकाव्य के कथानक में अवरोध अथवा शिथिलता न उत्पन्न कर दे, इसलिए उसका सम्बन्ध चैतन्य के दिव्योन्माद के साथ स्थापित किया गया है। अर्थात् चैतन्य भक्ति की चरमकाष्ठा पर पहुँचकर स्वयं को कृष्ण समझकर अपनी वृन्दावन लीला का स्मरण करते हैं। यह स्थल महाकाव्य में सबसे अधिक सरस और काव्यत्व से पूर्ण है।

कवि कर्णपूर कृत 'चैतन्यचरितामृतम्' ही प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें जगन्नाथ महाप्रभु की रथयात्रा एवं गुण्डिचा यात्रा का विस्तृत साहित्यिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि मुरारिगुप्त ने इस कथा प्रसङ्ग को अपने काव्य में स्थान दिया है तथापि काव्यत्व के दृष्टिकोण से उसका विशेष महत्त्व नहीं है। 'चैतन्यचरितामृतम्' में यह प्रसङ्ग अत्यधिक भव्य और कलात्मक बन पड़ा है। प्रस्तुत स्थल पर कवि की भाषा, छन्द और भावों में अपूर्व सामञ्जस्य पाया जाता है। षोडश सर्ग से लेकर अष्टादश सर्ग पर्यन्त यह प्रसङ्ग वर्णित है।

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कवि कर्णपूर ने अपने महाकाव्य का कथानक मुरारिगुप्त के काव्य से लिया, उसमें भी

केवल एकादश सर्ग तक ही उनका अनुकरण किया है। इन एकादश सर्गों में भी कई स्थलों पर ऐतिहासिक घटनाओं में परिवर्तन के चिह्न परिलक्षित होते हैं। वर्णन शैली एवं साहित्यिक दृष्टिकोण में पर्याप्त मौलिकता है। यही कारण है कि मुरारिगुप्त के काव्य का केवल ऐतिहासिक महत्त्व है। किन्तु कवि कर्णपूर कृत 'चैतन्यचरितामृतम्' का महत्त्व ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टिकोण से है।

द्वितीय खण्ड

'पारिजातहरणम्' महाकाव्य के मूल-स्रोत

'पारिजातहरणम्' की कथा पुराणों पर आश्रित है। यह कथा 'महाभारत' के खिल भाग 'हरिवंश-पुराण' में विस्तारपूर्वक वर्णित है। यद्यपि 'विष्णु-पुराण' एवं 'भागवत-पुराण' में भी 'पारिजातहरण' का प्रसङ्ग प्राप्य है तथापि वहाँ इसकी कथा अत्यन्त संक्षिप्त है।

हरिवंशपुराण

'हरिवंश-पुराण' में 'पारिजातहरण' से सम्बद्ध दो कथाएँ साथ-साथ पल्लवित हुई हैं। प्रथम कथानुसार[१]—नरकासुर के वधोपरान्त कृष्ण सत्यभामा के साथ स्वर्गपुरी जाकर देवमाता अदिति को छत्र-कुण्डल समर्पित करते हैं। छत्र-कुण्डल पाकर अत्यधिक प्रसन्न अदिति कृष्ण को अनेक आशीर्वाद देने के उपरान्त सत्यभामा को सदैव तरुणी रहने का आशीर्वाद देती हैं। इन्द्र आदि देवगण कृष्ण और सत्यभामा का यथोचित आदर सत्कार करते हैं। तदनन्तर द्वारकापुरी प्रत्यावर्तन के अवसर पर सत्यभामा की दृष्टि अकस्मात् पारिजात वृक्ष पर पड़ती है। सत्यभामा के अनुरोध पर कृष्ण बलात् पारिजात वृक्ष को उखाड़कर गरुड़ पर रख लेते हैं। नन्दनवन के रक्षकों की सूचना पाकर आये हुए इन्द्र को द्वन्द्व युद्ध में पराजित कर कृष्ण पारिजात वृक्ष के साथ द्वारकापुरी सकुशल लौट आते हैं।

'हरिवंश-पुराण' में द्वितीय कथा इस प्रकार वर्णित है[२]—रुक्मिणी के उपवासव्रत का उद्यापन कार्य करने के लिए कृष्ण सपरिवार रैवतक पर्वत पर जाते हैं। वहाँ एक दिन कृष्ण रुक्मिणी के साथ वार्तालाप में व्यस्त थे, उसी अवसर पर सहसा नारद का आगमन हुआ। कृष्ण के विधिवत् आदर

---

१. हरिवंश-पुराण, ६४।४८–७३.

२. वही, ६५ वें अध्याय से लेकर ७५ वें अध्याय पर्यन्त।

सत्कार से सन्तुष्ट नारद ने पारिजातपुष्प उन्हें उपहार में दिया। कृष्ण ने समीपवर्तिनी रुक्मिणी की मौन याचना पर पारिजातपुष्प उन्हें समर्पित कर दिया। रुक्मिणी ने आदरपूर्वक पुष्प को अपने केशों में सजा लिया। दुर्भाग्यवश वहाँ पर सत्यभामा तथा कृष्ण की अन्य पत्नियों की दूतियाँ उपस्थित थीं, उन्होंने अपनी-अपनी प्रिय रानियों को समस्त घटना से अवगत कराया। अन्य रानियों की अपेक्षा सत्यभामा सपत्नी के इस सौभाग्य का उदय सहन न कर सकी।

सत्यभामा के स्वाभिमानी स्वभाव से चिरपरिचित कृष्ण ने नारद एवं रुक्मिणी को परस्पर किसी वार्तालाप में व्यस्त देखकर अकस्मात् सत्यभामा के कोप भवन में प्रवेश किया। सत्यभामा की दीनावस्था से अत्यन्त दुःखी कृष्ण ने उनका क्रोध चाटुकारता से अपनोदित करने का प्रयास किया। किन्तु मानिनी सत्यभामा की उपेक्षा से लज्जित होकर उन्होंने पारिजात वृक्ष लाकर देने की प्रतिज्ञा की।

दौत्यकार्य के लिए कृष्ण की ओर से प्रेषित नारद ने स्वर्गपुरी पहुँचकर इन्द्र के सम्मुख द्वारकापुरी में घटित होने वाली समस्त घटना का उल्लेख किया तथा सत्यभामा के धर्मकार्य की सिद्धि के लिए उनसे पारिजात वृक्ष की याचना की। इन्द्र ने अत्यधिक औचित्यपूर्ण शब्दों में पारिजात वृक्ष को पृथ्वी पर भेजने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। इन्द्र को समझाते हुए नारद ने उन्हें कृष्ण का द्वितीय शौर्य युक्त सन्देश दिया, जिसके श्रवण मात्र से इन्द्र का क्रोध उद्दीप्त हो उठा। उन्होंने कृष्ण को युद्ध के लिए आह्वान किया। तदनन्तर इन्द्र की मूर्खता से अत्यधिक संतप्त बृहस्पति ने युद्ध शान्ति के लिए कश्यप व अदिति के निकट प्रस्थान किया। कश्यप द्वारा आराधित शिव ने प्रसन्न होकर युद्ध शान्ति के लिए वरदान दिया। दूसरी ओर कृष्ण और इन्द्र, जयन्त और प्रद्युम्न, प्रवर और सात्यकि तथा ऐरावत और गरुड़ में भयङ्कर युद्ध प्रारम्भ हो गया। रात्रि में पारियात्र पर्वत की अभ्यर्चना से प्रसन्न होकर कृष्ण ने उसे वरदान दिया। तदनन्तर कृष्ण की स्तुति से प्रसन्न होकर शिव ने कृष्ण को अभीष्ट वरदान देकर उन्हें दैत्यों का विनाश करने का उत्तरदायित्व सौंपा। प्रातः काल इन्द्र और कृष्ण में पुनः युद्ध प्रारम्भ हो गया। प्रलय की सम्भावना से ब्रह्मा ने कश्यप और अदिति को युद्ध शान्त कराने के लिए प्रेषित किया। कश्यप और अदिति का परामर्श इन्द्र और कृष्ण दोनों को ही स्वीकार करना पड़ा। इन्द्र के अनुरोध पर कृष्ण ने अमरावती को अलंकृत किया। वहाँ अदिति एवं शची ने सत्यभामा का यथोचित आदर-सत्कार किया तथा

प्रस्थान वेला में बहुमूल्य उपहार देकर उन्हें अनुगृहीत किया। पारिजात वृक्ष को लेकर कृष्ण सत्यभामा के साथ द्वारकापुरी लौट आये तथा पारिजात वृक्ष को उन्होंने सत्यभामा के उद्यान में स्थापित कर दिया।

विष्णुपुराण

'विष्णुपुराण'[1] में उल्लिखित 'पारिजातहरण' की कथा का साम्य 'हरिवंशपुराण' की पूर्वोक्त प्रथम कथा से स्पष्ट परिलक्षित होता है। पार्थक्य केवल इतना है कि 'हरिवंशपुराण' की प्रथम कथानुसार सत्यभामा पारिजात वृक्ष को कौतूहलवश द्वारकापुरी ले जाना चाहती थी। किन्तु 'विष्णुपुराण' में सत्यभामा शची के अखर्व गर्व को चूर्ण करने के लिए पारिजात वृक्ष को द्वारकापुरी ले जाने की इच्छुक थी। कारण, स्वर्ग में शची ने अभिमानवश सत्यभामा का यथोचित सम्मान नहीं किया। अपना श्रृङ्गार पारिजातपुष्प से किया, किन्तु सत्यभामा को मृत्युलोक का समझकर पारिजातपुष्प नहीं दिया।[2] शची का यह व्यवहार सत्यभामा को अत्यधिक अपमानजनक प्रतीत हुआ। वस्तुतः, पारिजात वृक्ष का जन्म समुद्र से होने के कारण उस पर केवल शची का ही नहीं अपितु सबका समान अधिकार था।[3] इसी अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए उन्होंने कृष्ण को पारिजातहरण के लिए प्रेरित किया।

भागवतपुराण

'भागवतपुराण'[4] के दशम स्कन्ध के उत्तरार्ध में उपनिबद्ध 'पारिजात-हरण' की कथा का 'विष्णु-पुराण' तथा 'हरिवंश-पुराण' की प्रथम कथा से साम्य दृष्टिगोचर होता है। 'विष्णु-पुराण' से उसका केवल इतना ही पार्थक्य है कि वहाँ पर 'पारिजातहरण' का कारण 'हरिवंश-पुराण' की पूर्वोक्त प्रथम कथा की भाँति सत्यभामा का कौतूहल है। द्वितीय, वहाँ पर 'हरिवंश-पुराण' (की प्रथम कथा) की भाँति कृष्ण और इन्द्र का द्वन्द्व युद्ध

---

१. विष्णुपुराण, ३०।१–८०.

२. शची च सत्यभामायै पारिजातस्य पुष्पकम्।
न ददौ मानुषीं मत्वा स्वयं पुष्पैरलंकृता ॥ वही, ३०।२९.

३. इत्युक्ते तैरुवाचैतान् सत्यभामाति कोपिनी।
का शची पारिजातस्य को वा शक्रस्सुराधिपः ॥
सामान्यस्सर्वलोकस्य यद्येषोऽमृतमन्थने।
समुत्पन्नस्तरुः कस्मादेको गृह्णाति वासवः ॥ वही, ३०।४५, ४६.

४. श्रीमद्भागवतपुराण, ६५वें अध्याय से लेकर ६७ अध्याय पर्यन्त।

न होकर 'विष्णु-पुराण' की भाँति समस्त देवताओं के साथ कृष्ण का युद्ध वर्णित है। इस कथा में एक नवीनता भी दृष्टिगोचर होती है। यहाँ युद्ध में सत्यभामा भी सक्रिय भाग लेती है। वह अपने वाणों से कुबेर को पराजित कर देती है तथा इन्द्र को वज्र धारण करते ही सावधान करती है कि 'यदि आपको प्रलय अभीष्ट है तब अवश्य ही स्वेच्छापूर्वक वज्रप्रहार कीजिये'।[१] सत्यभामा की कटूक्ति सुनने के पश्चात् इन्द्र लज्जित होकर वज्र रख देते हैं।

'पारिजातहरण' से सम्बद्ध सभी मुख्य कथा स्रोतों को देखने के पश्चात् यह तथ्य स्वतः सिद्ध हो जाता है कि कवि कर्णपूर ने अपने 'पारिजात-हरणम्' (महाकाव्य) के कथानक के लिए 'हरिवंश-पुराण' की द्वितीय कथा का आश्रय लिया है। वस्तुतः जितनी रोचकता, सरसता एवं नाटकीयता 'हरिवंश-पुराण' की द्वितीय कथा में है, उतनी अन्य पुराणों की कथाओं में नहीं। कवि कर्णपूर ने इसी लोकप्रिय कथानक को अपने कला-नैपुण्य से सर्वथा नव्य एवं भव्य बनाकर प्रस्तुत किया है। इस कार्य के लिए उन्होंने कहीं पर घटनाओं का संकोच किया है और कहीं पर विस्तार। इतस्ततः नूतन घटनाओं की उद्भावना भी की है। परन्तु नवीन उद्भावना करते समय कवि अत्यन्त सावधान रहा है, जिससे नूतन कल्पना काव्यगत रस संगति के साथ इतिहासगत मुख्य वस्तु तत्त्व के किसी प्रकार भी भिन्न नहीं लगने पायी है। कथानक में इस प्रकार के परिवर्तनों को आनन्दवर्धन ने सर्वथा औचित्यपूर्ण तथा आदरणीय बताया है। उनके मतानुसार भी—'विभावानुभाव तथा सञ्चारी भाव की उचित योजना द्वारा सुन्दर (ऐतिहासिक अथवा कल्पित) कथानक से युक्त प्रबन्ध ही रस का व्यञ्जक होता है। उसमें मनोनीत रस की प्रतिकूल घटनाओं का त्याग अनुकूल घटनाओं की कल्पना भी की जा सकती है।'[२]

मूल स्रोत से कथानक का साम्य एवं पार्थक्य

'पारिजातहरणम्' (महाकाव्य) का सम्पूर्ण कथानक १८ सर्गों में

---

१. श्रीमद्भागवतपुराण, १०।६७।१८–२३.

२. विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥
इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितम् ।
उत्प्रेक्ष्याऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥
आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३।१०, ११.

विभक्त है। कवि ने काव्य का आरम्भ द्वारकापुरी के अलंकृत वर्णन से किया गया है। पुरी वर्णन के उपरान्त कृष्ण के शासन-प्रबन्ध, विवाह तथा नारद के आगमन का वर्णन किया गया है, जिसमें कवि की अपनी नवीनता और मौलिकता अन्तर्निहित है। उपर्युक्त वर्णन किसी भी (विष्णु, भागवत एवं हरिवंश) पुराण में उपलब्ध नहीं है। अपितु वहाँ पर कथा का प्रारम्भ रुक्मिणी के उपवास व्रत के उद्यापन कार्य से होता है। व्रत सम्बन्धी दानादि से ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करने के उपरान्त जैसे ही कृष्ण रुक्मिणी के साथ उनके भवन में वार्तालाप प्रारम्भ करते हैं, उसी समय नारद मुनि का आगमन होता है। 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में इस प्रकार के व्रतादि का उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि इस व्रत का मुख्य कथा के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, अपितु व्रत के विधि-विधान के वर्णन से काव्य में नीरसता एवं शिथिलता आ जाने की अधिक सम्भावना प्रतीत होती है। अतएव कवि कर्णपूर ने इस प्रसंग की नितान्त उपेक्षा की है।

'हरिवंश-पुराण' में कृष्ण पारिजातपुष्प को नारद से आशीर्वाद रूप में प्राप्त करने के उपरान्त पार्श्ववर्तिनी रुक्मिणी को समर्पित कर देते हैं। प्रस्तुत स्थल पर नारद पारिजातपुष्प के माहात्म्य का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं।[१] सत्यभामा आदि सपत्नियों के मन में ईर्ष्या की अग्नि प्रज्वलित करने के लिए रुक्मिणी की अत्यधिक प्रशंसा करते हैं।[२] महाकाव्य में पारिजातपुष्प के माहात्म्य का इतना विशद वर्णन नहीं किया गया है। कारण, 'पारिजातहरणम्' एक प्रबन्ध काव्य है, उसका उद्देश्य केवल इति-वृत्तमात्र का कथन न होकर जीवन के ऐसे प्रसंगों का समावेश करना है, जो हृदय को स्पर्श करनेवाले हों, जिससे हृदय में नाना भावों का रसात्मक अनुभव हो। पारिजात माहात्म्य का इतना विस्तृत उल्लेख न तो हृदयस्पर्शी है और न ही मुख्य कथा के साथ उसका कोई सम्बन्ध प्रतीत होता है। अपितु पूर्वोक्त वर्णन से कथानक की गत्यात्मकता अवश्य अवरुद्ध हो जाती। सहृदय की रससमाहितचित्त वृत्ति भी खण्डित होकर मुख्य कथावस्तु से दूर चली जाती। अतएव कवि ने इस नीरस प्रसङ्ग को त्याग कर अपनी सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया है।

'हरिवंश-पुराण' में सत्यभामा के क्रोध को प्रदीप्त करने वाली उसकी विश्वस्त दूतियाँ हैं। कवि कर्णपूर ने इस स्थल पर एक नवीन उद्भावना

१. हरिवंशपुराण, ६५।२०–३५.
२. वही, ६५।३६–४३.

की है, जो सर्वथा औचित्यपूर्ण प्रतीत होती है तथा जिससे कथावस्तु की ऐतिहासिकता की हानि नहीं होती है। पारस्परिक कलह के बीजारोपण करना नारद के चरित्र की प्रमुख विशेषता है। नारद की इसी चारित्रिक विशेषता को ध्यान में रखकर कवि ने महाकाव्य में नारद द्वारा इस घटना की सूचना सत्यभामा को दिलवाई है। दूतियों की सूचना पर किञ्चित् क्षणों के लिए अविश्वास भी किया जा सकता है; किन्तु महामुनि नारद के वचनों को कौन मिथ्या मान सकता है? इधर नारद पारस्परिक कलह का बीजारोपण करने के पश्चात् सत्यभामा के क्रोध को उद्दीप्त कर देते हैं तथा उन्हें मौनव्रत धारण करने का उपदेश देकर कृष्ण से कल्पवृक्ष माँगने के लिए प्रेरित करते हैं।

'हरिवंश-पुराण' में वर्णित कृष्ण अन्तर्यामी हैं, ज्ञान चक्षुओं से ही सत्यभामा के क्रोध से अवगत होकर तत्काल उनके मानमोचनार्थ (उनके) भवन की ओर प्रस्थान करते हैं।[1] इसके विपरीत महाकाव्य में सत्यभामा के तीव्र ज्वर के कारण दारुणावस्था का सरस वर्णन किया गया है। सत्यभामा के कोपज्वर को शान्त करने के निमित्त सखियाँ कर्पूर, चन्दन, कमलवलय, धारागृह आदि सभी सम्भावित उपायों का आश्रय लेने के उपरान्त कृष्ण को उन (सत्यभामा) की दीन अवस्था से अवगत कराती हैं। प्रस्तुत स्थल पर कवि कर्णपूर को कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य तथा उनके अन्तःपुर का अल्पवर्णन करने का सुअवसर प्राप्त हो गया है। 'हरिवंश-पुराण' में कृष्ण को अन्तर्यामी बताकर उनके अलौकिक चरित को प्रदर्शित किया गया है। प्रस्तुत स्थल पर कवि कर्णपूर ने उनके अलौकिकत्व का उद्घाटन न करके उन्हें एक सर्वथा मानवीय रूप में प्रस्तुत किया है। सत्यभामा के क्रोध का पूर्वाभास न होने के कारण सहसा उनकी दारुणावस्था को सुनकर कृष्ण का सम्भ्रमित हो जाना, घबराहट में (सत्यभामा) के अन्तःपुर का मार्ग विस्मृत हो जाना तथा कौस्तुभ मणि एवं वनमाला का स्खलन हो जाना[2] आदि क्रियाकलाप सत्यभामा के प्रति उनके अनुरागातिशय को व्यक्त करते हैं। इतना सरस, स्वाभाविक

---

१. हरिवंशपुराण, ६६।१, ४.

२. सद्यः श्रुतप्रियतमापरमाहितेन तेनाद्य सम्भ्रमभरातिवशीकृतेन ।
तद्वेश्मनः स्मृतिविघ्नौ पदवीं तदानीं ज्ञाता मुहुः परिचितापि चिरेणचिह्नैः ॥
आपादपद्मवलिताम्बरवैजयन्तीमुद्दामधारितविबोधितया तदानीम् ।
अंसे निवेशयति शार्ङ्गिणि शीर्णसूत्रस्थ[illegible] क्षिතितले किल कौस्तुभोऽपि ॥

एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन 'हरिवंश-पुराण' में खोजने पर भी दुर्लभ है।

'हरिवंश-पुराण' में सत्यभामा के कोप का वर्णन विच्छित्तिविहीन है। महाकाव्य में कवि कर्णपूर ने उसका वर्णन परम्परागत आलंकारिक शैली में किया है। मानिनी नायिका के मानमोचनार्थ सामदानादि सभी उपायों का रोचक वर्णन किया गया है।[1]

'हरिवंश-पुराण' में सत्यभामा कोप का कारण पूछने पर कृष्ण को शठ, दुष्ट, वञ्चक, चौर आदि कटूक्तियों से अत्यधिक अपमानित करती हैं।[2] इसके विपरीत 'पारिजातहरणम्' में सत्यभामा कृष्ण के किसी अपराध का उल्लेख न कर केवल मौन रहती हैं। 'हरिवंश-पुराण' में सत्यभामा स्वयं अपने क्रोध का हेतु बतलाती हैं, महाकाव्य में नीतिनिपुणा दासी कृष्ण को सत्यभामा के कोप से अवगत कराती हैं। साथ ही प्रार्थना करती हैं कि वे सत्यभामा के क्रोध को अपनोदित करने के लिए पारिजात वृक्ष प्रदान करें।[3] यहाँ पर कवि कर्णपूर की मौलिकता एवं नवीनता स्पष्ट परिलक्षित होती है। 'हरिवंश-पुराण' की अपेक्षा महाकाव्य में सत्यभामा का चरित्र

क्लिश्यत्पदं गलदशेषविभूषमुच्चैः स्विद्यत्कपोलदलमुद्यदुदारवेगम्।
तृष्यन्मुखाम्बुजमथ स्त्रत्रीक्षणान्तं तत्राततान गतमाकुलितं मुकुन्दः॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ४।१५–१७.

१. आनन्दनच्युतिसुधानिधिरप्यकाण्डे
कान्ते भगवद्वदनपार्वंगशर्वरीशः।
धत्ते तुलां तुहिनसङ्गमदूषितस्य
किं देवि ! सम्प्रति सरोरुहकोरकस्य॥
सद्यो निवेदय दयामयि ! किं निमित्त-
मुज्जृम्भते सपदि तापभरो भवत्याः।
त्वामादृशीं यदवलोकयतोऽनुवेल-
मुद्वेल्लिता मदसवः सततं भवन्ति॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ४।३५, ४०.

२. नाहं त्वां कितवं धूर्तमज्ञासिषमदिरदम्।
अद्य ज्ञातोऽसि तत्पक्षचञ्चलो जनवञ्चकः॥
स्वरवर्णेङ्गिताकारैर्निगूढो देवयत्नतः।
चौरज्ञातोऽसि यत्पक्षवाङ्मात्रमधुरशठः॥
हरिवंश-पुराण, ६७।२५, २६.

३. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ४।४६–५१.

अधिक उदात्त एवं स्पृहणीय प्रतीत होता है। एक उच्चवंशीया महिषी के लिए यह शोभनीय नहीं प्रतीत होता है कि वह पति के अल्पापराध करने पर उसे 'शठ, वञ्चक, चोर' आदि शब्दों से लज्जित करे। महिषी के स्वभाव में समुद्र-सी गम्भीरता, उच्चकोटि की शालीनता, उदात्तता एवं सौम्यता अपेक्षित है। महाकाव्य में कवि ने सत्यभामा के शील, मुग्धत्व तथा गाम्भीर्य की रक्षा की है। 'हरिवंश-पुराण' की सत्यभामा मानिनी, प्रगल्भा एवं स्पष्टवादिनी हैं; किन्तु महाकाव्य की सत्यभामा मानिनी होते हुए भी प्रगल्भा एवं वाचाल नहीं हैं, अपितु प्रियवादिनी एवं अल्पभाषिणी हैं।

'हरिवंश-पुराण' की भाँति महाकाव्य में भी कृष्ण के चिन्तनमात्र से नारद समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। किन्तु इस स्थल पर कवि कर्णपूर ने अपनी कल्पनाशक्ति से नारद के शारिरिक सौन्दर्य, उदात्त गुणों एवं स्पृहणीय चरित्र का काव्यात्मक चित्रण किया है। यहाँ पर कवि कर्णपूर पर महाकवि माघ का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। 'शिशुपालवधम्' में नारद के आगमन का ऐसा ही चित्रण किया गया है।

'हरिवंश-पुराण' की कथानुसार नारद कृष्ण की विधिवत् अभ्यर्चना से सन्तुष्ट होकर स्वर्गपुरी में आयोजित होने वाली महादेव की पूजा में सम्मिलित होने की उत्सुकता प्रकट करते हैं। कारण, इन्द्र ने नारद को पहले से ही पारिजातपुष्प देकर उत्सव के लिए निमन्त्रित किया था। प्रस्तुत स्थल पर नारद पुनः सत्यभामा के समक्ष पारिजात वृक्ष का माहात्म्य, उसके अन्य नामों की सार्थकता तथा कश्यप द्वारा अदिति की प्रसन्नता के लिए पारिजात वृक्ष की सृष्टि से सम्बद्ध समस्त घटना का विस्तारपूर्वक उल्लेख करते हैं।[1] इसके अतिरिक्त नारद पारिजात वृक्ष से सम्बद्ध अदिति, इन्द्राणी एवं रोहिणी द्वारा किये गये अनेक दानों एवं व्रतों का संकेत करते हैं, जिसको सुनकर कृष्ण नारद के द्वारा अपना सन्देश इन्द्र के निकट प्रेषित करते हैं कि—'धर्म में तत्पर रहने वाली अदिति, शची आदि देवियों ने धर्मार्थ उत्तम वृक्ष का व्रतपालन पूर्वक दान किया था तथा नारद ने पुनः उसे आपको लौटा दिया था। इस बात को सुनकर मेरी पत्नियाँ भी पुण्य, दान, धर्म एवं मेरी प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए उसका दान करना चाहती हैं। अतएव पुण्यकर्म को सम्पन्न करने के लिए पारिजात

१. हरिवंश-पुराण, ६७।५७–७२.

वृक्ष प्रदान करने की कृपा कीजिये'[1]। महाकाव्य में यह प्रसंग भिन्न प्रकार से वर्णित है। इस स्थल पर कवि कर्णपूर ने पारिजात वृक्ष माहात्म्य, अदिति आदि द्वारा विहित व्रतदानादि नीरस प्रसंगों का परित्याग कर कथानक को गति प्रदान की है। कृष्ण के प्रति नारद की उत्कट भक्ति-भावना अभिव्यञ्जित कर काव्य को और अधिक सरस बना दिया है। इन्द्र के प्रति कृष्ण का सन्देश भी 'हरिवंश-पुराण' से सर्वथा भिन्न है। यहाँ कृष्ण पारिजात वृक्ष की याचना धर्मार्थ सिद्धि के लिए न करके मानिनी प्रिया के मानमोचनार्थ करते हैं।[2] पारिजात वृक्ष की याचना का निमित्त धार्मिक कृत्य को न बनाकर प्रिया के प्रति प्रगाढ़ प्रेम को ही मूल कारण बनाना शृङ्गार प्रधान काव्य के लिए सर्वथा औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। कारण, इस प्रकार की घटनाएँ मुख्य रस के उत्कर्ष की वृद्धि में सहायक सिद्ध होती हैं। इसलिए कवि ने इस स्थल पर पौराणिक कथा का परित्याग कर अभीष्ट रसानुकूल नूतन कल्पना कर ली है।

'हरिवंश-पुराण' की कथानुसार कृष्ण के सन्देश श्रवणोपरान्त नारद उनको पारिजात वृक्ष की याचना न करने के लिए परामर्श देते हैं। क्योंकि पूर्व समय में इन्द्र शिव की पारिजातवृक्ष की याचना को भी अस्वीकृत कर चुके थे, जिसके फलस्वरूप शिव ने मन्दराचल पर उपपारिजात (वृक्ष) की सृष्टि की थी।[3] नारद द्वारा वर्णित 'उपपारिजात वृक्ष माहात्म्य' सुनने के पश्चात् कृष्ण पुनः अपनी परिश्रुति भङ्ग करने में असमर्थता व्यक्त करते हुए नारद को द्वितीय शौर्ययुक्त सन्देश देते हैं—'यदि याचना करने पर इन्द्र ने पारिजात वृक्ष न दिया, ऐसी अवस्था में शची के आलिङ्गन से लिप्त अङ्गराग वाले इन्द्र के वृक्ष को अपनी गदा से चूर्ण कर दूंगा।'[4] महाकाव्य में कवि ने शङ्कर द्वारा 'उपपारिजात' (वृक्ष) सृष्टि की कथा का परित्याग कर दिया है। वहाँ कृष्ण के विनम्र एवं उग्र वचनों को सुनकर नारद केवल इतना ही कहते हैं—'इन्द्र पारिजात वृक्ष नहीं देगें, इसलिए आप अपनी विजयवाहिनी सुसज्जित कीजिये।'[5]

---

१. हरिवंश-पुराण, ६२।५–७.

२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , ६।३०–३७.

३. हरिवंश-पुराण, ६८।१२–१८, २९.

४. वही, ६८।३९.

५. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , ६।५६, ५७.

'हरिवंश-पुराण' में नारद कृष्ण का सन्देश लेकर एकाकी ही महेन्द्र भवन को प्रस्थान करते हैं। महाकाव्य में नारद पर्वत के साथ वीणा वादन करते हुए स्वर्गपुरी को अपनी यात्रा प्रारम्भ करते हैं। दृष्टिपथ पर आने वाले जलपूर्णकलश एवं शुभ पक्षियों के कलरव का वर्णन कवि ने अपने धार्मिक विश्वास के आधारपर किया है। नारद के मित्र पर्वत की कल्पना कवि की अपनी सूझबूझ का परिचायक है। कारण, दो व्यक्तियों के साथ चलने पर यात्रा सुखद हो जाती है, आपस की वार्त्ता में यात्रा का श्रम कष्ट-कर नहीं प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर कवि को अपना वर्णन कौशल दिखाने का सुअवसर मिल गया है। नारद और पर्वत के वार्तालाप के माध्यम से उन्होंने मार्ग में पड़ने वाले वन, हिमालय, पर्वत, नदी, सरोवर, आश्रम एवं अमरावती का स्निग्ध चित्रण किया है। कुछ श्लोक तो काव्यत्व की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर तथा रसपूर्ण हैं। यह वर्णन कवि की अपनी प्रतिभा के परिचायक हैं।

'हरिवंश-पुराण' में महेन्द्र भवन में आयोजित होने वाले महोत्सव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। किन्तु महाकाव्य में इस प्रसङ्ग का त्याग किया गया है। क्योंकि यह प्रसङ्ग मुख्य कथा 'पारिजातहरण' से किसी भी रूप में सम्बद्ध नहीं है, न हि मुख्य कथा को आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध होता है इसलिए उसका त्याग ही औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। 'हरिवंश-पुराण' में महोत्सव सम्पन्न हो जाने के उपरान्त नारद इन्द्र के निकट विष्णु के दूत रूप में द्वारकापुरी में घटित होनेवाली समस्त घटना का आदि से लेकर अन्त तक विस्तारपूर्वक उल्लेख करते हुए पारिजात वृक्ष को पृथ्वी पर भेजने की याचना करते हैं।[1] इन्द्र, कृष्ण की याचना का आदर करते हुए भी स्वर्गीय वस्तु को पृथ्वी पर भेजकर उसके माहात्म्य को तुच्छ नहीं करना चाहते हैं। तदनन्तर इन्द्र अन्य प्रकार से भी अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं।[2] नारद इन्द्र के कथन का समर्थन करते हुए उनको कृष्ण का द्वितीय शौर्ययुक्त सन्देश देते हैं, जिसे सुनकर इन्द्र की क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठती है।[3] इन्द्र, नारद को कृष्ण द्वारा किये गये अनेक पूर्व अपराधों तथा कृष्ण के प्रति किये गये अनेक उपकारों का स्मरण दिलाते हुए बिना युद्ध के पारिजात वृक्ष न देने की घोषणा करते

१. हरिवंश-पुराण, ६६।२०–३६.
२. वही, ६६।४२–७३.
३. वही, ७०।६, १२.

हैं।[1] नारद पुनः इन्द्र के समक्ष कृष्ण की पौराणिक महत्ता का प्रतिपादन करते हैं।[2] किन्तु इन्द्र पारिजात वृक्ष देने को प्रस्तुत नहीं होते हैं।[3] महाकाव्य में नारद मुनि स्वर्गपुरी में एक दूत रूप में इन्द्र से निवेदन करते हैं—'मानिनी सत्यभामा को प्रसन्न करने के लिए कृष्ण ने शीघ्र ही पारिजात वृक्ष ला देने की प्रतिज्ञा सभा में की है'[4]। 'यदि आपने विनम्र याचना पर पारिजात वृक्ष नहीं दिया तो ऐसी स्थिति में असुरों का विनाशक वज्र अपने हाथों में धारण कीजिये'[5]। महाकाव्य में भी इन्द्र, कृष्ण की कृतघ्नता और धृष्टता को धिक्कारते हैं[6] तथा युद्ध का निमन्त्रण स्वीकार कर लेते हैं।[7] 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में यह प्रसङ्ग 'हरिवंश-पुराण' की भाँति ही वर्णित होने पर भी उसमें विस्तार नहीं है। 'हरिवंश-पुराण' में इन्द्र विष्णु के समस्त अवतारों की चर्चा करते हुए उनके असंख्य अपराधों का उल्लेख करते हैं। इसके विपरीत महाकाव्य में सभी बातें संक्षिप्त एवं मार्मिक हैं, जो सहृदय के हृदय पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती हैं।

'हरिवंश-पुराण' में इन्द्र का नकारात्मक सन्देश सुनकर कृष्ण नारद को पुनः अमरावती प्रेषित करते हैं।[8] महाकाव्य में कृष्ण पुनः नारद द्वारा कोई सन्देश इन्द्र के निकट प्रेषित नहीं करते हैं, अपितु इन्द्र की कटूक्तियों को सुनकर अपने निपुण मन्त्रियों से इस विषय पर परामर्श करने तथा

---

१. हरिवंश-पुराण, ७०।१३–५०.

२. वही, ७१।२–४४.

३. वही, ७१।४६–५३.

४. घनमानपिनद्धमानसायाः प्रणयिन्याः प्रसभं विनोदनाय।
अचिरेण सुरद्रुमं प्रदातुं स्फुटमङ्गीकृतवानहं सभायाम्॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ७।४२.

५. विनयेन मयापि याच्यमानो यदि दर्पान्न ददासि पारिजातम्।
असुरेन्द्रविमर्ददृष्टसारा तदुदाराशनिरर्प्यतां स्वपाणौ॥
वही, ७।४८.

६. गिरिराजसुतापि यत्प्रसूनं लभते याचनया चिरात्कथञ्चित्।
तमसौ तरुमीहतेऽपहर्तुं किमसाध्यं समुदेति धृष्टतायाः॥
वही, ७।५६.

७. वद नारद ! मद्गिरा मुरारिं स्वायमायातु स योद्धुमुद्धतश्रीः।
ज्वलिते मम वज्रवाडवाग्नौ नरवीराः शलभा भवन्तु सर्वे॥ वही, ७।६१.

८. हरिवंश-पुराण, ७२।१०, ११.

पुनः अपनी विवेक बुद्धि से तर्क-वितर्क करने के पश्चात् युद्ध करने का दृढ़ सङ्कल्प करते हैं।[1] सेनापति को तत्काल युद्ध के लिए सेना सुसज्जित करने का आदेश देते हैं।[2]

'हरिवंश-पुराण' में कृष्ण की ओर से युद्ध का सन्देश पाकर इन्द्र बृहस्पति से विचार-विनिमय करते हैं। इन्द्र की अदूरदर्शिता पर दुःखी होकर बृहस्पति कश्यप के निकट समस्त घटना का उल्लेख करते हैं। युद्ध शान्ति के लिए कश्यप द्वारा आराधित शिव भविष्यवाणी करते हैं 'युद्ध में कृष्ण विजयी होने के कारण पारिजातवृक्ष अवश्य प्राप्त कर लेंगे। पूर्व-काल में तपस्या से उद्दीप्त तेजवाले महर्षि देवशर्मा (की पत्नी में इन्द्र का अनुचित अनुराग होने के कारण) का कोप ही इन्द्र की वर्तमान पराजय का कारण होगा'।[3] महाकाव्य में कवि कर्णपूर ने पूर्वोक्त प्रसङ्ग की नितान्त उपेक्षा की है। सम्भवतः प्रासाङ्गिक कथाओं की बहुलता कथानक की एकसूत्रता में अवरोधक होती है अथवा इन्द्र की पराजय का कारण महर्षि का अभिशाप उपनिबद्ध होने से कृष्ण के शौर्य का अतिशयत्व सूचित न होता। कारण, जिसकी पराजय निश्चित है, उस पर विजय प्राप्त करना प्रचण्ड प्रताप का द्योतक नहीं है, अपितु अपने से विशाल शत्रु पर विजय प्राप्त करना अधिक गौरव का सूचक है। कृष्ण के अप्रतिम शौर्य व प्रताप का उत्कर्ष प्रदर्शित करने के लिए कवि ने इन्द्र के अभिशाप का उल्लेख नहीं किया है।

'हरिवंश-पुराण' में कृष्ण युद्धार्थ सेना के साथ प्रस्थान न करके प्रद्युम्न, सात्यकि और सत्यभामा के साथ नन्दनवन पहुँच जाते हैं। इसके विपरीत 'पारिजातहरणम्' (महाकाव्य) में कृष्ण अपनी चतुरङ्गिणी सेना के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं। महाकाव्य में इस प्रकार का परिवर्तन करने में कवि का गूढ़ उद्देश्य अन्तर्निहित है। सम्पूर्ण महाकाव्य में यही एक ऐसा उपयुक्त स्थल है, जिसमें कवि की काव्य प्रतिभा को प्रस्फुटित होने का अवसर मिला है। कवि की प्रौढ़ वर्णना शक्ति इसी स्थल पर अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई है। सेना की साज-सज्जा, कृष्ण के रथारूढ़ होने तथा अश्व-गजादि के स्वभाव का सूक्ष्म चित्रण कवि ने किया है। कृष्ण के साथ उनके मित्र अर्जुन की कल्पना कवि की अपनी सूझ है। अर्जुन के मुख

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ८।२.

२. वही, ८।४.

३. हरिवंश-पुराण, ७२।६२–६४.

से सुमेरू पर्वत के नैसर्गिक सौन्दर्य का वर्णन करते समय एक भी दृश्य कवि के दृष्टि पथ से ओझल नहीं होने पाया है। कई उपमाएँ एवं उत्प्रेक्षाएँ अत्यधिक सरस एवं हृदयस्पर्शी हैं। सेना द्वारा नदीसन्तरण करने का दृश्य भी अत्यन्त स्वाभाविक एवं सजीव है। इसके अतिरिक्त सूर्यास्त, अन्धकार, चन्द्रोदय, वनविहार, जलक्रीड़ा, मदिरापान तथा षड्ऋतुओं का वर्णन कर कवि ने महाकाव्य में रोचकता एवं सरसता का आधान किया है। साथ ही संस्कृत काव्यलक्षण विधायकों द्वारा निर्धारित किये गये महाकाव्य के लक्षणों का निर्वाह भी इस परिवर्तन से हो गया है। पूर्वोक्त वर्णन का महाकाव्य में अष्टम सर्ग से लेकर द्वादश सर्गपर्यन्त उपनिबन्धन किया गया है, जिसका 'हरिवंश-पुराण' में कोई उल्लेख नहीं है। 'हरिवंश-पुराण' में वर्णित इन्द्र-कृष्ण युद्ध में स्वर्ग के समस्त देवगण कृष्ण के विरुद्ध युद्ध करने में अपनी असहमति प्रकट कर देते हैं। केवल इन्द्र का अभिन्न मित्र प्रवरसेन, जो महान् अस्त्रवेत्ता होने के साथ ही ब्रह्मा के वरदान से अवध्य हो चुका था, इन्द्र के सौहार्द्र का ऋण चुकाने के लिए युद्ध में सक्रिय भाग लेता है।[1] 'पारिजातहरणम्' में उल्लिखित इन्द्र का व्यक्तित्व 'हरिवंश-पुराण' से भिन्न प्रतीत होता है। अमरावती पर उनका प्रचण्ड शासन होने के कारण सभी देवता इच्छा न रहते हुए भी इन्द्र की आज्ञा से युद्ध में सम्मिलित होते हैं।[2]

'पारिजातहरणम्' (महाकाव्य) में कृष्ण युद्ध से पूर्व इन्द्र को पूर्व निर्णय पर पुनः विचार करने के लिए सात्यकि को दूत रूप में उनके समीप प्रेषित करते हैं। इन्द्र को युद्धार्थ प्रस्तुत देखकर सात्यकि पुनः कृष्ण की महिमा, वीरता एवं शौर्य से उन्हें परिचित कराते हैं। किन्तु, इन्द्र अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ संकल्प रहते हैं। युद्ध के पूर्व सात्यकि को इन्द्र के निकट प्रेषित करना सर्वथा औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। कारण, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण युद्ध के पक्ष में नहीं थे, अपितु अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के निमित्त केवलमात्र पारिजातवृक्ष के अभिलाषी थे।

'हरिवंश-पुराण' में इन्द्र और कृष्ण युद्ध करते हुए पारियात्र पर्वत पर पहुँच जाते हैं। वहीं पर रात्रि में युद्ध स्थगित हो जाता है।[1] कृष्ण पारियात्र पर्वत की विनम्रता से प्रभावित होकर उसे 'शाणपाद' नवीन अभिधान से

---

१. हरिवंश-पुराण, ७३।३६, ४०.

२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १४।४०.

अभिहित करते हैं।[१] गङ्गा एवं शिव की स्तुति तथा वहीं पर विल्वोदकेश्वर की स्थापना करते हैं।[२] प्रातःकाल पुनः युद्ध आरम्भ होते ही ब्रह्मा, कश्यप, अदिति, देवगण, मुनि, साध्य, नासत्य, अश्विनीकुमार, आदित्य, रुद्र एवं वसुगण उपस्थित हो जाते हैं।[३] महाकाव्य में इस प्रसङ्ग का कोई उल्लेख नहीं है, अपितु कवि ने नवीन घटना की उद्भावना की है। दोनों ओर की सेनाएँ वीरतापूर्वक सुमेरू पर्वत पर युद्ध करती हैं। कभी देवसेना पराजित होती है, कभी कृष्ण की मानवीय सेना। जय-पराजय के लिए उत्तरोत्तर कौतूहल बढ़ता जाता है। युद्ध का वर्णन कवि ने बड़ा ही सजीव किया है। प्रत्येक श्लोक वीर और रौद्र रस के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

'हरिवंश पुराण' में कृष्ण एवं इन्द्र के भयानक युद्ध से समस्त सृष्टि विक्षुब्ध हो जाती है। प्रलय की आशङ्का से प्रशङ्कित मुनिगण जगत्कल्याण की कामना से मन्त्रों का उच्चारण करने लगते हैं।[४] ब्रह्मा दोनों में सन्धि कराने के लिए अदिति और कश्यप को प्रेषित करते हैं। अदिति के ममत्व से प्रभावित होकर दोनों युद्ध का परित्याग कर आलिङ्गन पाश में बद्ध हो जाते हैं[५] तथा अपना-अपना अपराध स्वीकार कर लेते हैं।[६] कुछ दिवस स्वर्ग में व्यतीत करने के उपरान्त कृष्ण सत्यभामा के साथ पारिजातवृक्ष लेकर द्वारका आ जाते हैं। इसके विपरीत महाकाव्य में अपनी-अपनी सेना को पलायन करते हुए देखकर इन्द्र व कृष्ण आमने-सामने आ जाते हैं। अपनी पराजय की आशङ्का से इन्द्र वज्र धारण कर लेते हैं।[७] कृष्ण, इन्द्र को वज्र धारण करते देखकर स्वयं भी चक्र धारण कर लेते हैं।[८] कृष्ण के हस्त में चक्र देखकर विकल ब्रह्मा तत्काल उपस्थित होकर उनसे चक्र न चलाने की विनम्र प्रार्थना करते हैं।[९] प्रस्तुत स्थल पर ब्रह्मा अपनी स्तुति

१. हरिवंश-पुराण, ७४।१५–१६.
२. वही, ७४।१७–१२.
३. वही, ७४।१–१२.
४. वही, ७५।११–१९.
५. वही, ७५।२०–२६.
६. वही, ७५।२८, २९.
७. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १५।४१.
८. वही, १५।४२.
९. वही, १५।४५.

में कृष्ण के अव्यक्त, अनन्त एवं अलौकिक दार्शनिक स्वरूप पर प्रकाश-निक्षेप करते हैं। कृष्ण के उदात्त चरित का चित्रण करने में कवि को अभूतपूर्व सफलता मिली है। कृष्ण की विनम्रता उस स्थल पर अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, जहाँ पर वे ब्रह्मा की स्तुति के अनन्तर स्वयं स्वर्गवासियों से क्षमा याचना करते हैं।[1] कृष्ण के मार्मिक वचनों को सुन-कर स्वर्गवासियों का हृदय पश्चात्ताप से सिक्त हो उठता है। कवि ने इस स्थल पर इन्द्र के चरित्र का मनोवैज्ञानिक चित्रण करने का सफल प्रयास किया है। इन्द्र अपनी मूर्खता का स्मरण कर तथा कृष्ण की उदार वाणी का श्रवण करने के उपरान्त कुछ भी कह पाने में असमर्थ हो जाते हैं। नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं, कण्ठ स्वर अवरुद्ध हो जाता है। अपराधी इन्द्र के संकेत पर बृहस्पति कृष्ण के महान् चरित की स्तुति करते हुए उनसे इन्द्रपुरी चलने का अनुरोध करते हैं।[2] इस प्रकार के वर्णन 'हरिवंश-पुराण' में खोजने पर भी दुष्प्राप्य हैं।

महाकाव्य में 'हरिवंश-पुराण' से एक सर्वथा नवीन घटना प्राप्त होती है। वहाँ युद्ध क्षेत्र में वीरगति प्राप्त सैनिकों को पुनः जीवित करने के लिए अमृत जल से सिञ्चन किया जाता है। तत्पश्चात् कृष्ण, इन्द्र के साथ ऐरावत पर आरूढ़ होकर यादव सेना के साथ स्वर्गपुरी प्रस्थान करते हैं। प्रस्तुत स्थल पर पुनः कवि कर्णपूर ने स्वर्गपुरी का वर्णन किया है, जिसका 'हरिवंश-पुराण' में कोई उल्लेख नहीं है। यह वर्णन भी कवि की अपनी मौलिकता की देन है। स्वर्गपुरी में कृष्ण के दर्शनार्थ देवबालाओं की उत्कण्ठा एवं संभ्रम का सजीव एवं सूक्ष्म चित्रण किया गया है। इस

---

१. फलार्थिभिर्निर्भरभक्तिभावितैः समर्च्यते यत्प्रतिमापि मानवैः।
मदोद्धतं युद्धमकारितैरहो सदोन्मदान् मूढधियो धिगस्तु नः॥
अधीशितारो जगतां सुतोत्तमाः क्षमध्वमेतं मम दोषमुद्धतम्।
विधेर्विधानाद् विरुणद्धि कस्य वा न मानसं मोहमहातमःस्थितिः॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् १६।१५, १६.

२. अत्र त्रपा सम्मदपूर्णमानसो यदा न शेके गदितुं शतक्रतुः।
उवाच वाचस्पतिराशुमाधवं तदेङ्गितज्ञो गुणगुम्फिता गिरः॥
कृतापराधः प्रसरत्त्रपाभरो हरिर्न शक्नोति मुकुन्द ! भाषितुम्।
अथास्य यच्चेतासि चित्रितं वचस्तदिङ्गितज्ञेन मया निवेद्यते॥
वही, १६।२१, २२.

प्रकार का वर्णन पुराण में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। कृष्ण की प्रस्थान वेला का भी कवि ने अत्यधिक मार्मिक व हृदयस्पर्शी चित्र अंकित किया है। कृष्ण की भावी वियोग की आशंका से समस्त स्वर्गलोक अवसाद में निमग्न हो जाता है। उसके साथ ही सहृदय का हृदय भी समवेदना से द्रवीभूत हो जाता है। प्रस्थान वेला में इन्द्र कृष्ण को बहुमूल्यरत्नाभूषणों के साथ ही शरीर से अभिन्न यश की भाँति प्रिय पारिजातवृक्ष समर्पित कर देते हैं। वरुण अपना छत्र, मरुत अपना वीर्य, यक्ष अपना अक्षयकोष, यम दीर्घायु तथा शेषनाग रत्नराशि कृष्ण को उपहार में देते हैं। इन्द्र नृत्यगीत में अत्यधिक दक्ष किन्नर युगलों को कृष्ण की सेवा में समर्पित करते हैं। इस प्रकार का वर्णन भी 'हरिवंश-पुराण' में उपलब्ध नहीं है।

'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में कवि कर्णपूर की सर्वाधिक नवीन एवं आकर्षक उद्भावना, कृष्ण एवं सत्यभामा की स्वर्ग से द्वारकापुरी के लिए विमान-यात्रा है, जिसके माध्यम से उन्होंने सम्पूर्ण आर्यावर्त का एक मनोमोहक चित्र चित्रित कर दिया है। साथ ही दक्षिणापथ पर एक विहंगम दृष्टि निक्षेप करते हुए महाराष्ट्र एवं विदर्भ की भी झलक प्रस्तुत की है। इस विमान-यात्रा के पूर्वार्द्ध में कवि कर्णपूर का कविहृदय प्राकृतिक दृश्यों में विशेष रूप से रमा है। प्रकृति के प्रभावोत्पादक दृश्य-चित्रों को अंकित कर उन्होंने अपनी अभूतपूर्व वर्णनाशक्ति का परिचय दिया है। दूसरी ओर यात्रा के उत्तरार्द्ध में दृष्टिपथ पर अवतरित होने वाले प्रसिद्ध नगरों, तीर्थों एवं दर्शनीय स्थलों के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक वैशिष्ट्य का उल्लेख कर उन्होंने अपनी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का विकास किया है। 'हरिवंश-पुराण' में इस प्रकार के वर्णनों का संकेत भी नहीं मिलता है। यह वर्णन कवि की अपनी मौलिकता के परिचायक हैं। महाकाव्य के अन्तिम सर्ग में कवि कर्णपूर ने कृष्ण के सुखी दाम्पत्य जीवन, षड्ऋतुओं तथा उनके राज्य की राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक सुव्यवस्था का वर्णन किया है, जिसका 'हरिवंश-पुराण' से कोई सम्बन्ध नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन के सिंहावलोकन से स्पष्ट है कि यदि कवि कर्णपूर ने अपने महाकाव्य का कथानक अवश्य प्राचीन आख्यान से लिया है, किन्तु अपने सृष्टि नैपुण्य से उसमें नवीनता का संचार करने का प्रयास पग-पग पर किया है। कवि की सुन्दर भावव्यञ्जना, उदात्त एवं कोमल कल्पना, प्राञ्जलपदविन्यास, प्रसादपूर्ण, लालित्ययुक्त एवं परिष्कृत शैली तथा शृंगार

रस के मर्यादित चित्रण के कारण उनका 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य उत्तरवर्ती कवियों में विशेष लोक-प्रिय एवं आदरणीय रहा है।[१]

---

१. कवि कर्णपूर के उत्तरवर्ती अनेक कवियों ने अपने महाकाव्य अथवा नाटक के कथानक के लिए 'पारिजातहरणम्' की कथा का अवचयन किया है। सम्भवतः इन कवियों पर कवि कर्णपूर का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव रहा होगा। 'पारिजातहरण' के कथानक पर उपनिबद्ध ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

(अ) नारायण विरचित 'पारिजातहरणम्' काव्य (यमकबन्ध), इसका प्रकाशन पूना से हुआ है।

(ब) तन्जौर के नायक राजा रघुनाथ विरचित 'पारिजातहरणम्' काव्य (१७वीं शताब्दी)

(स) गोपालदास विरचित 'पारिजातहरणम्' नाटक (गोपालदास, प्रसिद्ध ग्रन्थ 'छन्दोमञ्जरी' के रचयिता गंगादास के पिता थे, इनका समय १७वीं शताब्दी है।)

(द) कवि चन्द्रराय अथवा दिवाकर विरचित 'पारिजातहरणम्' नाटक (१६वीं शताब्दी)

(य) काञ्ची के कुमारतात्याचार्यविरचित 'पारिजातहरणम्' नाटक (१७वीं शताब्दी)।

(र) शेषकृष्ण का 'पारिजातहरणम् चम्पू' (काव्यमाला से प्रकाशित नं० १४)

(ल) मिथिला के उमापति उपाध्याय रचित 'पारिजातहरणम्' नाटक (उमापति उपाध्याय मिथिला के राजा हरिहर के सभाकवि थे।)

षष्ठ अध्याय

महाकाव्यों पर पूर्ववर्ती एवं समसामयिक कवियों का प्रभाव

कवि पर पूर्ववर्ती एवं समसामयिक कवियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। राजशेखर ने इस प्रभाव को 'हरण' की संज्ञा प्रदान की है। 'हरण' के औचित्य को स्पष्ट करने के लिए उन्होने प्राचीन आचार्यों के मत का उल्लेख किया है; यथा—'पुराणकविक्षुण्णे वर्त्मनि दुरापमस्पृष्टं वस्तु, ततश्च तदेव संस्कर्तुं प्रयतेत इत्याचार्याः" अर्थात् काव्यमार्ग का प्राचीन कवियों ने सम्यक् अभ्यास किया है, अतः उनसे असम्पृष्ट वस्तु असम्भव है। कवियों का कर्तव्य है कि वे प्राचीन कवियों से अभ्यस्त वस्तु का ही संस्कार करें।[1] कवि कर्णपूर से पूर्व आदि कवि वाल्मीकि से लेकर १६ वीं शताब्दी पर्यन्त अनेकानेक महाकवियों की उत्कृष्ट काव्यकृतियों से संस्कृत साहित्य समृद्ध हो चुका था। वस्तुतः १६वीं शताब्दी तक तो संस्कृतवाङ्मय के प्रत्येक क्षेत्र में नूतन सर्जना समाप्तप्राय हो चुकी थी। अतः सर्वतोभावेन मौलिक उद्भावना के लिए किसी क्षेत्र में कोई अवकाश नहीं था। साथ ही पूर्ववर्ती कवियों और समसामयिक कवियों की रचनाओं के अध्ययन से उन भावों की छाया अध्येता कवि कर्णपूर पर अवश्य पड़ी होगी। फलतः निजकाव्यकृतियों के सृजन के अवसर पर पूर्ववर्ती एवं समसामयिक कवियों के प्रभाव की उपेक्षा करना कवि के लिए असम्भव-सा था। कवि कर्णपूर अपने पूर्ववर्ती कवियों में वाल्मीकि, कालिदास, भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष तथा समसामयिक कवियों में मुरारिगुप्त से सर्वाधिक प्रभावित प्रतीत होते हैं।[2] उपर्युक्त कवियों के प्रभाव को कवि कर्णपूर ने किस सीमा तक ग्रहण किया है? इसकी विवेचना करने के पूर्व कवि कर्णपूर पर अपने पूर्ववर्ती युग की साहित्यिक गतिविधियों का क्या प्रभाव पड़ा? यह जानना आवश्यक प्रतीत होता है।

---

१. राजशेखर, काव्यमीमांसा, अध्याय १२, पृ० ६२.

२. प्रस्तुत अध्याय में केवल कवि कर्णपूर कृत महाकाव्यों पर जिन कवियों की काव्यकृतियों का प्रभाव परिलक्षित होता है, उन पर विचार किया जायेगा। कवि कर्णपूर की अन्य कृतियों पर पड़ने वाले प्रभाव का प्रसंगवश उल्लेख कर दिया गया है।

पूर्ववर्ती युग की साहित्यिक गतिविधियाँ एवं कवि कर्णपूर पर उनका प्रभाव

कविकुलगुरु कालिदास के महाकाव्य—'रघुवंशम्' एवं 'कुमारसम्भवम्' के पश्चात् से ही उत्तरकालीन महाकाव्यों में परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगत होने लगते हैं। कालिदास के पूर्वोक्त दोनों महाकाव्य एक भिन्न प्रकार के महाकाव्य हैं, जिनकी तुलना न तो 'रामायण' व 'महाभारत' से की जा सकती हैं और न ही 'किरातार्जुनीयम्', 'शिशुपालवधम्' अथवा 'नैषधीयचरितम्' से। 'महाभारत' एवं 'रामायण' आकर से सद्यः निःसृत हीरे के सदृश हैं। कालिदास के महाकाव्य तराशे हुए स्वर्णजटित हीरे के सदृश दैदीप्यमान हैं। सहृदय कवि ने अपनी प्रतिभा एवं सृष्टि नैपुण्य से ऐतिहासिक कथानकों के अरुचिकर एवं अनावश्यक अंश का परित्याग कर रससमाहित चित्तवृत्ति से उसे रसपूर्ण कृति बना दिया है।[1] किन्तु कालिदासोत्तर महाकाव्यों में यह विशेषता उपलब्ध नहीं होती है। परवर्ती युग के आदर्श कवि—भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष आदि ने महाकवि बनने के उन्माद में अपने महाकाव्यों को आलङ्कारिक मान्यताओं पर सफल सिद्ध किया है। अतएव कवियों ने काव्य लक्षणों में परिगणित वर्ण्यविषयों—ऋतु, सरोवर, उद्यान, नदी, वन, जलक्रीड़ा, वनक्रीड़ा, सुरतक्रीड़ा, मद्यपान, राजनैतिक गोष्ठी आदि को किसी न किसी प्रकार महाकाव्य में लाने का प्रयत्न तथा उनके वर्णन में अपनी कलाचातुरी दिखाने का श्रम किया है। फलतः प्रबन्ध कल्पना का सौष्ठव आकाशकुसुमवत् दुर्लभ हो गया है। भारवि एवं माघ की सहज प्रतिभा को आच्छादित करने वाली कृत्रिमता अन्य कवियों के लिए आदर्श बन गई। पूर्वोक्त कवियों के आदर्श का अनुसरण करनेवाले सहज प्रतिभा से शून्य कवि अपने अभाव को काव्य रचना की समस्त युक्तियों, व्युत्पत्तिजन्य निपुणता, छन्द-अलङ्कारादि के ज्ञान से प्रच्छादित करने लगे। दर्शन, आयुर्वेद, पशुविज्ञान, सङ्गीत, कामशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि विभागों में अधिक उन्नति होने के कारण तत्कालीन कवि उपर्युक्त विषयों में पारङ्गत होकर रचना में प्रयासपूर्वक अपनी अभिज्ञता का विज्ञापन करने लगे। चित्रबन्ध और द्व्यार्थक

---

१. तत्र इतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत् तदेमां भङ्क्त्वाऽपि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्। न हि कवेरिति वृत्तमात्रनिर्वहणेन किञ्चित् प्रयोजनम्॥

आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३।११ का० की वृत्ति, पृ० ३६८.

(राघवपाण्डवीय जैसे) काव्यों में उस युग के साहित्यिकों की विशेष रुचि थी। यद्यपि कालिदास ने भी इस प्रकार के साहित्यिक जनसमुदाय की रुचि को सन्तुष्ट करने के लिए 'रघुवंशम्' के नवम सर्ग में यमक विधान किया है। किन्तु उत्तरकालीन कवियों में यह प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन प्रबल होती गई। 'भट्टिकाव्य' में तो स्पष्ट शब्दों में घोषणा की गई है कि उनका काव्य 'विद्वत्प्रियता' के लिए रचा गया है।[1] व्याख्या के अभाव में उसका रसास्वादन नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में साहित्य वर्ग विशेष के लिए सीमित था। कवियों ने अपने काव्य-शिखर का निर्माण कला की उच्चतम पराकाष्ठा पर किया था, जहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति का पहुँचना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव था। परिणामस्वरूप काव्य का आलोचक पण्डित वर्ग भी महाकाव्यों का मूल्याङ्कन करते समय यह ध्यान रखने लगा कि कवि ने आलङ्कारिकों द्वारा निर्धारित समस्त नियमों का पालन किया है अथवा नहीं ? राजशेखर ने इसी आधार पर कवियों के रचना कवि, शब्द कवि, अर्थ कवि, अलङ्कार कवि, उक्ति कवि, मार्ग-कवि, रस कवि, शास्त्रार्थ कवि आदि आठ प्रकार निरूपित किये है ?[2] काव्य के प्रति इन बदलती हुई विचारधाराओं का व्यापक प्रभाव महाकाव्यों के साथ ही मुक्तक काव्यों पर भी परिलक्षित होता है। शृङ्गार रस की मुक्तक रचनाओं की उत्प्रेरकशक्ति भावातिरेक वात्स्यायन के कामसूत्रों एवं कोक के रतिरहस्यों के आत्यन्तिक प्रभाव से विलुप्त हो गई। स्तोत्रकाव्यों में भी कवि की वाणी स्वतन्त्रभावोद्‌गार का क्षेत्र त्यागकर रूढ़वादी भावों एवं शैली का अनुकरण करने लगी। नीति एवं विनोद की काव्य रचनाओं में भी अनुकरण प्रवृत्ति स्थिर रही। अनेक लक्षणों द्वारा आचार्यों ने काव्य को नियमसूत्रों में इस प्रकार नियन्त्रित कर दिया था कि उसकी सीमाओं का उलङ्घन करने का साहस किसी भी कवि में नहीं था। साहित्य जगत की इन बदलती हुई प्रवृत्तियों और विचारधाराओं का प्रभाव १६वीं शताब्दी के कवि कर्णपूर पर न पड़ा हो, ऐसा असम्भव है।

कवि कर्णपूर का प्रथम महाकाव्य 'चैतन्यचरितामृतम्' चैतन्यमहाप्रभु

---

१. व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हतादुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया ॥ भट्टिकाव्य, २२।३४.

२. काव्यकविः पुनरष्टधा। तद्यथा, रचनाकविः, शब्दकविः, अर्थकविः, अलंकारकविः, उक्तिकविः, रसकविः, मार्गकविः, शास्त्रार्थकविरिति ॥
राजशेखर, काव्यमीमांसा, अध्याय पञ्चम, पृ० १७.

के प्रति भक्ति भावना से प्रेरित होकर रचा गया एक मौलिक 'चरितकाव्य' है। किन्तु उसे महाकाव्य की श्रेणी में परिगणित कराने के लिए उसमें कवि कर्णपूर को जलक्रीड़ा, वनक्रीड़ा, सुरतक्रीड़ा, मद्यपान आदि का वर्णन करना पड़ा है। 'चैतन्यचरितामृतम्' के अध्ययन से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि यह अंश आलङ्कारिकों को सन्तुष्ट करने के लिए नियोजित किया गया है। यदि महाकाव्य में पूर्वोक्त वर्णन न भी किया जाता, उस अवस्था में भी कथावस्तु में किसी प्रकार की शिथिलता का आभास न होता। इसी प्रकार यमकबन्ध और श्लेषबन्ध के अन्य वैचित्र्य—गोमूत्रिका, मुरजबन्ध, चक्रबन्ध, एकाक्षर, द्वयाक्षर, असंयोग, निरोष्ठ्य, प्रतिलोमानुपाद आदि का प्रयोग कवि कर्णपूर ने भक्तिरस प्रधान महाकाव्य में केवल बौद्धिक जनों की पिपासा को तृप्त करने के लिए किया है। उस युग की मान्यता थी कि कवि न केवल साहित्यिक प्रतिभा से सम्पन्न होगा अपितु दर्शन, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, सङ्गीतशास्त्र, नाट्यशास्त्र, छन्दशास्त्र आदि का भी परिपक्व ज्ञान उसको होगा। कवि कर्णपूर के 'चैतन्यचरितामृतम्' में उज्ज्वलरस (नवम एवं दशम सर्ग) के वर्णन में कामशास्त्र तथा पञ्चदश एवं षोडश सर्ग में चैतन्य के नृत्य का वर्णन करने में सङ्गीतशास्त्र एवं नृत्यशास्त्र का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' (अष्टादश से लेकर विंशति सर्ग पर्यन्त) में तो इसका चरमोत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय का प्रत्यक्ष प्रभाव कवि कर्णपूर के 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' पर दृष्टिगत होता है।

कवि कर्णपूर पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

वाल्मीकि

आदि कवि वाल्मीकि की अमर कृति 'रामायण' संस्कृत के प्रायः सभी कवियों की किसी न किसी रूप में प्रेरणादात्री रही है। यद्यपि कवि कर्णपूर ने अपने काव्यकथानक का चयन 'रामायण' से नहीं किया है तथापि कई स्थलों पर उनका भावसाम्य महाकवि वाल्मीकि से प्रतीत होता है; यथा—वाल्मीकि ने चन्द्रोदय का वर्णन करते हुए उपनिबद्ध किया है कि—'कपि प्रमुख हनुमान् ने शंख की-सी कान्ति वाले तथा क्षीर एवं मृणाल के समान वर्णवाले चन्द्रमा को आकाश में इस प्रकार उदित एवं प्रकाशित होते देखा मानों किसी सरोवर में हंस सन्तरण कर रहा हो।'[1] सम्भवतः आदि कवि

१. शंखप्रभं क्षीरमृणालवर्णमुद्गच्छमानं व्यवभासमानम्।
दर्दर्शचन्द्रं स कपिप्रवीरः पोप्लूयमानं सरसीव हंसम्॥
वाल्मीकि, रामायण, सुन्दरकाण्ड, २।५८.

के पूर्वोक्त वर्णन से प्रभावित होकर कवि कर्णपूर ने भी चन्द्र की कल्पना हंस से की हो; यथा—'कलंकरूपी शैवाल को पृष्ठ भाग में सुशोभित किये हुए एवं अल्पतर किरणरूपी मृणालों का सञ्चयन करता हुआ चन्द्ररूपी हंस पूर्व दिशारूपी सरोवर के मध्य से (स्नानान्तर) शनैः शनैः निकल रहा है।'[1] प्रस्तुत स्थल पर वाल्मीकि और कवि कर्णपूर की प्रतिभा का वैशिष्ट्य पृथक् रूप से प्रतिभासित हो रहा है। वाल्मीकि ने चन्द्र की हंसरूप में सम्भावना प्रकट करते हुए उत्प्रेक्षा की सृष्टि की है। कवि कर्णपूर ने आदिकवि वाल्मीकि की कल्पना को और अधिक आकर्षक बनाकर चन्द्र और हंस में अभेद स्थापित करते हुए साङ्ग रूपक की योजना की है जिसमें चन्द्र के समस्त अंगों को उपमेय रूप में तथा हंस के समस्त अंगों को उपमान रूप में प्रस्तुत किया है। दोनों ही कवियों की कल्पना का आधार चन्द्र की हंस रूप में प्रतीति है।

इसी प्रकार वाल्मीकि ने एक स्थल पर रात्रि का वर्णन करते हुए रात्रि की नारी से उपमा दी है; यथा—'ज्योत्स्नादुकूल से आवेष्टित रात्रि, श्वेतसाड़ी से प्रच्छन्न अङ्गवाली सुन्दरी नारी के समान शोभा पा रही है, उदित चन्द्रमा उसका सौम्य मुख एवं विकीर्ण तारावली उसके उन्मीलित नयन हैं।'[2] कवि कर्णपूर ने भी रात्रि की कल्पना रमणी रूप में की है; यथा—'विस्तृत आकाश की साड़ी धारण किये हुए, कुमुद सौरभ से सुसज्जित अंगों वाली, चञ्चल चकोर रूपी नेत्रों वाली, उल्लसित होते हुए तारों के विमल भूषणों से श्रीसम्पन्न, चन्द्रमुखी रात्रि रूपी रमणी शीघ्र ही आनन्द का विस्तार करने लगी'।[3] वाल्मीकि ने रात्रि की उपमा नारी से

---

१. अंकशैवलविभूषितपृष्ठो बिभ्रदल्पतरभानुमृणालम्।
पूर्वदिक्तटसरोवरमध्यादुन्ममज्ज शनकैः शशिहंसः॥
कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १०।१४.

२. रात्रिः शशाङ्कोदितसौम्यवक्त्रा तारागणोन्मीलितचारुनेत्रा।
ज्योत्स्नांशुकप्रावरणा विभाति नारीव शुक्लांशुकसंवृताङ्गी॥
वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा काण्ड, ३०।४६.

३. स्फीताम्बरा चलचकोरविशालनेत्रा
तारोलसद्विमलभूषणसंहितश्रीः।
चन्द्रानना: कुमुदसौरभसम्भृताङ्गी
सम्मोदमाशु रजनीरमणी वितेने॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १२।१६.

दी है। कवि कर्णपूर ने रात्रि की प्रतीति रमणी रूप में करने के लिए रूपक का निबन्धन किया है। दोनों की ही कल्पना में रात्रि का मुख चन्द्र है। वाल्मीकि ने तारों की उपमा नेत्रों से दी है, कवि कर्णपूर ने चञ्चल चकोर को नेत्र रूप में रूपित किया है। वाल्मीकि की कल्पना में रात्रि का आञ्चल ज्योत्स्ना है, किन्तु कवि कर्णपूर ने विस्तृत आकाश को परिधान रूप में कल्पित किया है। दोनों कवियों के वर्णन में समता और विभिन्नता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। सम्भवत: कवि कर्णपूर ने इस स्थल पर वाल्मीकि का अनुसरण न किया हो। क्योंकि चिन्तन प्रणाली की एकता मनुष्य जाति का स्वभाव है, जिसके फलस्वरूप एक ही विषय के प्रति कभी-कभी एक ही प्रकार का भाव अनेक कवियों में स्फुरित हो जाते हैं। यद्यपि उन कवियों में देश-काल आदि का बहुत बड़ा व्यवधान भी रहा है। लोकश्रुति भी है कि 'महापुरुषों के विचार प्रायः समान ही होते हैं'।[1]

कालिदास

कवि कर्णपूर, कालिदास की काव्य प्रतिभा से अनेक स्थलों पर प्रभावित प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार रेखाओं और रंगों के अद्भुत संमिश्रण से अद्वितीय चित्र की सृष्टि हो जाती है, उसी प्रकार कालिदास के प्रभाव और कवि कर्णपूर की प्रतिभा के संयोग से अनेक सुन्दर स्थलों की सृष्टि (कवि कर्णपूर के) महाकाव्यों में हुई है। 'रघुवंशम्' के त्रयोदश सर्ग में 'पुष्पक-विमान' यात्रा का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार की विमान यात्रा का वर्णन 'पारिजातहरणम्' के सप्तदश सर्ग में कवि कर्णपूर ने किया है। यद्यपि पूर्वोक्त वर्णन की प्रेरणा स्वयं कालिदास को वाल्मीकि 'रामायण' से मिली है, किन्तु वहाँ पर आदिकवि वाल्मीकि ने सामान्यतया तद्‌तद् दृश्यों और स्थलों का संक्षिप्त वर्णन कर दिया है। कालिदास ने इस यात्रा को अपनी मौलिक साहित्यिक प्रतिभा से अत्यन्त मनोहारि बनाकर सहृदयों के हृदयों को रसाप्लावित कर दिया है। कवि कर्णपूर ने पूर्वोक्त यात्रा के माध्यम से प्रकृति-चित्रण के साथ ही साथ समस्त आर्यावर्त और दक्षिण-पथ की एक हल्की-सी झलक देने का भी प्रयास किया है। इसीलिए यात्रा के पूर्वार्द्ध में उनकी चित्तवृत्ति प्रकृति-वर्णन में अवश्य रमी है, किन्तु यात्रा के उत्तरार्द्ध में उनकी दृष्टि देश एवं स्थान वर्णन की ओर प्रमुखतः रही है। इस प्रकार के वर्णन की प्रेरणा

---

१. 'महात्मानां हि संवादिन्यो बुद्धय एकमेवार्थमुपस्थापयन्ति।'

राजशेखर, काव्यमीमांसा, अध्याय १२, पृ० ६२.

भी सम्भवतः कवि कर्णपूर को कालिदास से मिली होगी। क्योंकि 'रघुवंशम्' में रघु की दिग्विजय के माध्यम से कालिदास ने सम्पूर्ण भारत का एक पूर्ण (भौगोलिक) चित्र प्रस्तुत किया हैं। इसी प्रकार उन्होंने 'मेघदूत' में मेघ को अलकापुरी का मार्ग निर्देशन करते हुए सम्पूर्ण मध्यभारत एवं उत्तरभारत का चित्र अङ्कित किया है, जो अत्यधिक जनप्रिय रहा है। कवि कर्णपूर ने यात्रावर्णन के माध्यम से दोनों ही प्रयोजनों में सफलता प्राप्त की है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में कई स्थलों पर उनका भाव साम्य कालिदास से प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ समुद्र का वर्णन उदात्त अलङ्कार के माध्यम से करते हुए कालिदास ने उल्लिखित किया है कि—'आदिपुरुष विष्णु तीनों लोकों का संहार करने के पश्चात् यहीं योगनिद्रा में शयन करते हैं एवं इनकी नाभि से उद्भूत कमल से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा सदैव इन (विष्णु) की स्तुति करते हैं।'[1] कवि कर्णपूर ने भी इसी प्रकार का वर्णन उदात्त अलंकार के माध्यम से किया है; यथा—'तीनों लोकों का अपनी इच्छा से संहार करने के उपरान्त आदिपुरुष विष्णु शेषनाग की शैय्या पर यहीं योग निद्रा में प्रसन्न होकर शयन करते हैं।'[2] प्रस्तुत स्थल पर कालिदास और कवि कर्णपूर दोनों के ही वर्णन में भाव साम्य, शब्द साम्य एवं अलंकार साम्य स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार समुद्रतटीय वायु का वर्णन करते समय कालिदास ने एक अत्यधिक सरस उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की है; यथा—'हे सुलोचने समुद्र तट की वायु तुम्हारे मुख पर केतकी का पराग छिड़क रहा है, मानों वह यह जान गया है कि मैं तुम्हारे अधरों को चूमने ही वाला हूँ एवं अब अधिक शृङ्गार की प्रतीक्षा नहीं करूँगा।'[3] यद्यपि समुद्र तटवर्ती वायु का वर्णन करते समय कवि कर्णपूर कालिदास जैसी उदात्त कल्पना नहीं प्रस्तुत कर पाये हैं तथापि केतकी

---

१. नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते॥
कालिदास, रघुवंशम्, १३।६.

२. संहृतत्रिभुवनो निजेहया पन्नगेशफणमध्यमास्थितः।
अत्र संस्वपिति योगनिद्रया मुदितश्चिरतरं परः पुमान्॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १७।७४.

३. वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते सम्भावयत्याननमायताक्षि।
मासक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव विम्बाधरबद्धतृष्णम्॥
कालिदास, रघुवंशम्, १३।१६.

कुसुम से सुगन्धित मन्द मृदुल वायु का वर्णन करना उन्हें स्मरण रहा है।[१] स्वच्छजलवाली मन्दाकिनी का वर्णन करते हुए कालिदास ने एक सुन्दर उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की है; यथा—'दूर होने के कारण मन्दाकिनी कितनी पतली दिखायी दे रही है। चित्रकूट पर्वत के नीचे बहती हुई ऐसी प्रतीत हो रही है, मानों पृथ्वीरूपी नायिका के कण्ठ में मौक्तिकावली पड़ी हो।'[२] कालिदास की पृथ्वी रूपी नायिका के कण्ठगत मौक्तिकावली के रूप में मन्दाकिनी की कल्पना का साम्य लेकर कवि कर्णपूर ने चन्दन, अमृत एवं चन्द्रमा के सदृश कान्तिवाली देवगङ्गा की कल्पना अम्बर लक्ष्मी के कण्ठ को सुशोभित करने वाली हीरे की माला से की है।[३] यमुना और गंगा के संगम का वर्णन कालिदास और कवि कर्णपूर दोनों ही कवियों ने किया है। किन्तु इस स्थल पर कालिदास की उत्प्रेक्षाएँ एवं उपमाएँ काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से कला के उच्चतम शिखर का स्पर्श करती हैं। कवि की सहृदयता गंगा और यमुना के पवित्र संगम में स्नान कर और भी दिव्य हो गई है। किन्तु इस स्थल पर कवि कर्णपूर की प्रतिभा कालिदास से प्रभावित होते हुए भी केवल गंगा और यमुना के संगम की पवित्रता का प्रतिपादन कर मौन हो गई है। अपनी यात्रा के प्रसंग में राम सीता को उस स्थल का दर्शन कराते हैं, जहाँ पर उन्होंने स्मृतिचिह्न के रूप में (सीता का) नूपुर भूमि पर पड़ा पाया था।[४] इस स्थल पर उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति की सुन्दर योजना हुई है। 'पारिजातहरणम्' में कृष्ण सत्यभामा को उस स्थल का स्मरण दिलाते हैं, जहाँ पर उन्होंने पारिजात वृक्ष के लिए प्राणों की

---

१. केतकीकुसुमगन्धबान्धवो लालयन् मृदुतरङ्गसंहतिः ।
शीकरप्रकरसङ्गशीतलो मन्दमन्दमयमेति मारुतः ॥

कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् ; १७।७५.

२. एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी ।
मन्दाकिनी भाति नागोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥

कालिदास, रघुवंशम् , १३।४८.

३. प्रेयसि ! क्षणमवेक्ष्यतां पुरश्चन्द्रचन्दनसुधासमद्युतिः ।
हीरहाररुचिमम्बरश्रियः सन्तनोति दिविषत्तरङ्गिणी ॥

कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , १७।४६.

४. सैषा स्थली तत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥

कालिदास, रघुवंशम् , १३।२३.

बाजी लगाकर देवताओं के साथ युद्ध किया था[1]। प्रस्तुत स्थल पर दोनों कवियों में साम्य न होने पर भी वर्णन शैली में पर्याप्त साम्य है।

रघु की दिग्विजय के प्रसंग में कालिदास ने कामरूप देश का वर्णन किया है। कवि द्वारा प्रस्तुत उपमा से स्पष्ट है कि कामरूप प्राचीन काल से ही कालागुरु के लिए प्रसिद्ध रहा है।[2] कवि कर्णपूर ने भी कामरूप देश का वर्णन करते हुए उसे कालागुरु के लिए प्रसिद्ध बताया है।[3] दक्षिण दिशा में सूर्य का तेज मन्द हो जाता है, इस भौगोलिक सत्य को दोनों ही कवियों ने अपनी काव्य भाषा में प्रस्तुत किया है। कालिदास के वर्णनानुसार—'दक्षिण दिशा में जाकर अखण्ड प्रतापी सूर्य का प्रताप भी मन्द पड़ जाता है, परन्तु रघु का तेज इतना प्रखर था कि वहाँ के पाण्ड्यराज इन (रघु) के समक्ष स्थिर न रह सके[4]।' कवि कर्णपूर ने इसी तथ्य को द्वितीय प्रकार से प्रस्तुत किया है; यथा—'रघुवंशी राम के वियोग की साक्षिणी, दक्षिण दिशा, नेत्रों को सन्तोष देने वाली है, (इसीलिए) उसके दर्शनार्थ उत्सुक सूर्य (वहाँ) मन्दता को धारण कर लेता है[5]।' यहाँ पर एक ही सत्य को दो भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है, जिसमें दोनों की मौलिकता पृथक्-पृथक् अवभासित हो रही है।

बाँसों में वायु भर जाने से वेणुध्वनि के समान जो ध्वनि निःसृत होती है, उसका वर्णन कवि कालिदास ने अनेक स्थलों पर किया

---

१. अत्र फुल्लशतपत्रलोचने ! कल्पपादपकृते सुरैः समम् ।
युद्धमुद्धतगुणं पणीकृत-प्राणमुन्नतहृदां बभूव नः ॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , १७।५२.

२. चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन्प्राग्ज्योतिषेश्वरः ।
तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः ॥ कालिदास, रघुवंशम् , ४।८१

३. देश एष वरभूषणं भुवः कामरूप इति विश्रुतः प्रिये ।
यद्भवैरगुरुसारसौरभैर्मोदमञ्चति चिरं जगत्त्रयी ॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , १७।५४.

४. दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥
कालिदास, रघुवंशम् , ४।४९.

५. श्रीरघूद्वहवियोगसाक्षिणी दक्षिणा दिगियमक्षितोषिणी ।
यद्विलोकनविनोदशालिना भानुनापि बत मान्द्यमुह्यते ॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , १७।६६.

है[1]। कवि कर्णपूर ने भी इसी प्रकार से गुञ्जरित बाँसों की मधुर ध्वनि का वर्णन कई स्थलों पर किया है[2]।

'कुमारसम्भवम्' में कालिदास ने श्लेषोपमा के माध्यम से कैलास-पर्वत का वर्णन किया है; यथा—'भ्रमण करते हुए शिव स्फटिक निर्मित पर्वतों में श्रेष्ठ कैलाश पर जा पहुँचे। कैलाश शिव के समान ही प्रतीत होता है। क्योंकि शिव अपने माहात्म्य से समस्त आकाश में व्याप्त है एवं कैलाश के भी चारों ओर आकाश है। सोम कहलाने वाले शिव इस पर्वत पर विराजमान हैं एवं सोम अर्थात् चन्द्रमा शिव के मस्तक पर सुशोभित है, अतएव दोनों ही सोम को धारण करने वाले हैं। कैलास पर्वत पर भोगी अथवा कामी अद्भुत सम्भोग करते हैं तथा शिव के (अंगों के) ऊपर सर्प लिपटे रहते हैं। इसलिए दोनों ही भोगी हैं। कैलास पर्वत पर अनेक प्रकार की विभूति-रत्नमणि आदि विद्यमान हैं। शिव के शरीर पर विभूति अर्थात् भस्म सम्भृत है। इसलिए दोनों ही विभूतिधारी हैं।[3] कवि कर्णपूर ने उपर्युक्त वर्णन से प्रेरणा लेकर सुमेरु पर्वत का चित्र श्लेषोपमा के माध्यम से उपस्थित किया है; यथा—'सुमेरु पर्वत विष्णु की भाँति वनमाला से उल्लसित है एवं शिव की भाँति विभूति से विभूषित है। कलि के ताप से विकल जनता इस (सुमेरु) का आश्रय लेकर आनन्द प्राप्त करती है[4]।' वनमाला एवं विभूति में श्लेष होने के कारण वनमाला का विष्णुपक्ष में माला विशेष से एवं सुमेरु पर्वत के पक्ष में वृक्षों की पंक्तियों से तात्पर्य होगा। इसी प्रकार विभूति का शिव पक्ष में भस्म एवं सुमेरु पर्वत पक्ष में रत्नादि सम्पत्ति से आशय है। इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में कालिदास के पूर्वोक्त श्लोक का प्रभाव अवश्य है, किन्तु कवि कर्णपूर की मौलिकता का अस्तित्व विलुप्त नहीं हुआ है।

---

१. (अ) कालिदास, रघुवंशम्, २।१२, ४।७३.
   (ब) कालिदास, कुमारसम्भवम्, १।८.

२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १०।३२.

३. पिनाकिनापि स्फटिकाचलेन्द्रः कैलासनामा कलिताम्बरांशः।
   धृतार्धसोमोऽद्भुतभोगिभोगो विभूतिधारी स्व इव प्रपेदे॥

   कालिदास, कुमारसम्भवम्, ६।३९.

४. हरिमिवोल्लसितं वनमालया हरमिवोदितभूतिविभूषितम्।
   श्रयति सौख्यममुं जनताश्रिता विकलिता कलितापशतैरपि॥

   कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १०।२५.

भारवि

भारवि का प्रभाव कवि कर्णपूर के 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में विशेष रूप से परिलक्षित होता है। भारवि ने अपने 'किरातार्जुनीयम्' के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है। कवि कर्णपूर ने 'पारिजातहरणम्' के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'श्री' शब्द का प्रयोग किया है। 'किरातार्जुनीयम्' के अष्टम और नवम सर्ग में जल-क्रीड़ा, कामक्रीड़ा, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, प्रसाधन, पानगोष्ठी आदि का वर्णन किया गया है। कवि कर्णपूर ने भी 'चैतन्यचरितामृतम्' के नवम एवं दशम सर्ग तथा 'परिजातहरणम्' के एकादश एवं द्वादश सर्ग में पूर्वोक्त वर्णन किया है। किन्तु इसे भारवि का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्राचीन काव्य परम्परा के अनुसार इस प्रकार के वर्णन महाकाव्य के लिए आवश्यक हैं। हाँ, इन वर्णनों में उक्ति साम्य अवश्य दृष्टिगोचर होता है, जिसे भारवि का प्रभाव कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ—भारवि ने रतिक्रीड़ा का वर्णन करते समय उल्लिखित किया है—'मदन सुरत के समय विपरीत हो जाता है'।[1] 'चैतन्यचरितामृतम्' में सुरतक्रीड़ा के प्रसंग में इसी उक्ति का भावसाम्य पाया जाता है; यथा—कामदेव राधाकृष्ण के चरित में विपरीतता को उत्पन्न कर रहा है।[2] प्रिय के वचनों को सुनने में नायिका की तन्मयता का वर्णन करते हुए भारवि का कथन है—'नायिका प्रिय के वार्तालाप में तन्मनस्क होकर अपलक दृष्टि से उनका मुख देखने लगी। उसकी नीवी शिथिल हो गई, किन्तु उसे वह सम्हालना भूल गई। पल्लव सदृश उसका कर पुष्पों पर उचित स्थान पर नहीं पड़ रहा था, किन्तु उसको यह भी ज्ञात न हो सका'।[3] नायिका की इसी तन्मयता का वर्णन कवि कर्णपूर ने दोनों महाकाव्यों में किया है। सर्वप्रथम 'चैतन्यचरितामृतम्' में कवि

---

१. आदृता नखपदैः परिरम्भाश्चुम्बितानि घनदन्तनिपातैः।
सौकुमार्यगुणसम्भृतकीर्तिर्वाम एव सुरतेष्वपि कामः॥
भारवि, किरातार्जुनीयम्, ९।४९.

२. किं भ्रमात् किमु मदात् कुतुकात् किं किं स्वविक्रमपरीक्षणतो वा।
काम एष विदधे बत राधाकृष्णयोर्विनिमयं चरितानाम्॥
कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १०।६६.

३. प्रियेऽपरा यच्छति वाचमुन्मुखी निबद्धदृष्टिः शिथिलाकुचोच्चया।
समादधे नांशुकमाहितं वृथा विवेद पुष्पेषु न पाणिपल्लवम्॥
भारवि, किरातार्जुनीयम्, ८।१५.

कर्णपूर ने वर्णित किया है—'माधव के परिहास वचन सुनने में तन्मय नायिका मुखकमल के समीप सूँघने के लिए आये हुए भ्रमर को देखकर भी हाथ से न हटा सकी[१]।' इसी प्रकार 'परिजातहरणम्' में कृष्ण के मुख दर्शन में तन्मय नायिका स्तनाँचल के स्खलित हो जाने पर पुनः-पुनः कबरी का ही स्पर्श करती रही[२]। भारवि ने 'प्रणयक्रीड़ा' के प्रसंग में नायक द्वारा (नायिका के) नेत्रों से पुष्पराग निकालने का वर्णन किया है; यथा—'प्रिय के द्वारा (नायिका के) नेत्रों में पड़े हुए पुष्पराग को मुख वायु द्वारा निकालने में असमर्थ हो जाने पर, उसके प्रति अत्यधिक उत्कण्ठित होकर उन्नत एवं पीन कुचों वाली नायिका ने अपने उन्नतपयोधरों से प्रिय के वक्षस्थल को ताड़ित किया।'[३] भारवि ने उपर्युक्त स्थल पर नायिका की प्रगल्भता का वर्णन किया है। कवि कर्णपूर ने पूर्वोक्त प्रणयक्रीड़ा के उपनिबन्धन द्वारा नायिका की प्रगल्भता के स्थान पर नायक की चतुरता का प्रकाशन किया है, यथा—'नायिका द्वारा नूतन नीपपराग पड़ जाने की आशंका से अपने नेत्रों को निमीलित कर लेने पर चतुर नायक ने उसके सुन्दर मुख का आदरपूर्वक चुम्बन कर लिया[४]।'

चन्द्रोदय का वर्णन करते समय भारवि ने दो स्थलों पर चन्द्र की कलश रूप में परिकल्पना की है। सर्वप्रथम उदयकालीन चन्द्र की पाण्डुता एवं अरुणिमा को प्रदर्शित करने के लिए उसमें स्वर्ण-कलश की सम्भावना प्रकट की है; यथा—'कुङ्कुम के सदृश अरुण एवं पयोधर के तुल्य गौर तुषारांशु, अपने किरणपुंजों से गगनमण्डल को उद्भासित करते हुए शनैः शनैः

---

१. घ्रातुमागतमवेक्ष्य मुखाब्जं चञ्चरीकमपरा रभसेन।
श्रोतुमेव न निरासकराभ्यां माधवस्य परिहासवचांसि ॥
कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ६।४०.

२. मुरजिद्वदनावलोकिनी तरुणी काचन चञ्चलेक्षणा।
स्खलितस्तनशैलतोऽम्बरे कम्बरीमेव मुहुः परामृशत् ॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ११।२५.

३. व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी ॥
भारवि, किरातार्जुनीयम्, ८।१६.

४. नवनीपपरागशङ्कया प्रणयिन्या नयने निमीलिते।
दीयतोऽथ चुचुम्ब सादरं चतुरश्चारुतरं तदाननम् ॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ११।३७.

पूर्वीय समुद्र से मानों-स्वर्ण कलश के समान ऊपर उठ आये[1]।' तदनन्तर भारवि ने श्वेतकान्ति से सुशोभित चन्द्र की रजत-कलश से उपमा दी है; यथा—'राका-रमणी ने कामदेव का अभिषेक करने के लिए, किरणरूप जलराशि से परिपूर्ण एवं कमल चिह्न से सुशोभित चन्द्रमा को रजत-कलश के समान उठा लिया।'[2] कवि कर्णपूर ने भी चन्द्रोदय का वर्णन करते समय चन्द्र की कलश रूप में कल्पना की है; यथा—'निर्मल अमृत जल से परिपूर्ण एवं कान्ति से दैदीप्यमान कामदेव का मंगल-कलशरूपी चन्द्रमा उदित होकर आकाश को अलंकृत कर रहा है।'[3] प्रस्तुत स्थल पर दोनों ही कवियों के उपमान एवं उपमेय एक हैं। भारवि ने उत्प्रेक्षा और उपमा से उसका वर्णन किया है और कवि कर्णपूर ने रूपक अलंकार के माध्यम से उसका पृथक् चित्र चित्रित किया है।

भारवि ने त्रयोदश एवं चतुर्दश सर्ग में शिव द्वारा प्रेषित वनेचर और अर्जुन के उत्तर-प्रत्युत्तर का वर्णन किया है। कवि कर्णपूर ने ('पारिजातहरणम्' के) त्रयोदश सर्ग में कृष्ण द्वारा प्रेषित सात्यकि एवं इन्द्र के उत्तर-प्रत्युत्तर का वर्णन किया है। भारवि ने अन्तिम चार सर्गों में शिव और अर्जुन के युद्ध का वर्णन किया है। कवि कर्णपूर ने (पारिजातहरणम् के) चतुर्दश एवं पञ्चदश सर्ग में कृष्ण और इन्द्र के मध्य होने वाले युद्ध का वर्णन किया है। भारवि ने पञ्चम सर्ग में हिमालय और इन्द्रनील पर्वत का वर्णन विस्तार पूर्वक किया है। कवि कर्णपूर ने उसी परम्परा में नवम एवं दशम सर्ग में सुमेरु पर्वत का वर्णन किया है। 'किरातार्जुनीयम्' में भारवि का सर्वाधिक प्रिय अलंकार 'अर्थान्तरन्यास' है। 'पारिजातहरणम्' में कवि कर्णपूर का भी सर्वाधिक प्रिय अलंकार—'अर्थान्तरन्यास' है। कई स्थलों पर दोनों में भावसाम्य भी पाया जाता है। भारवि ने वर्षा और शरद् ऋतु के सन्धिकाल का वर्णन अर्थान्तरन्यास अलंकार के माध्यम से

---

१. दीपयन्नथ नभः किरणौघैः कुङ्कुमारुणपयोधरगौरः।
हेमकुम्भ इव पूर्वपयोधेरुन्ममज्ज शनकैस्तुहिनांशुः॥
भारवि, किरातार्जुनीयम्, ६।२३.

२. संविधातुमभिषेकमुदासे मन्मथस्य लसदंशुजलौघः।
यामिनीवनितया ततचिह्नः सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः॥ वही, ६।३२.

३. पीयूषनिर्मलजलप्रकरेण पूर्णः कान्तिप्रवालपटलं सकलं दधानः।
कन्दर्पमङ्गलमहाकलशः सितांशुरुद्यन्नभःस्थलमलङ्कृतमाततान॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १२।१४.

किया है; यथा—'मदमत्त मयूरों का कलकूंजन, राजहंसों के मधुर स्वर के साथ तथा कुमुदों के वन कदम्बपुष्प की वृष्टि के साथ अनुपन शोभा धारण करने लगे क्योंकि उत्कर्ष गुणों का संयोग अतुलनीय गुणों का पोषक होता है[1]।' भारवि का उपर्युक्त भाव किञ्चित् परिवर्तन के साथ कवि कर्णपूर की निम्न उक्ति में विद्यमान है; यथा—'कोयलों का मधुर कुंजन मदमत्त मयूरों की केकाध्वनि से मिलकर द्विगुणित रुचिरना को धारण करने लगा, क्योंकि गुणों का संयोग अतुलनीय गुणों का वर्द्धक होता है[2]।'

माघ

'पारिजातहरणम्' पर माघ के 'शिशुपालवधम्' की रचनाशैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। 'शिशुपालवधम्' के प्रथम सर्ग में कृष्ण के समीप सन्देशवाहक के रूप में आगत नारद के व्यक्तित्व, आदर-सत्कारादि का भव्य वर्णन किया गया है। उसी प्रकार 'पारिजातहरणम्' के प्रथम सर्ग में नारद के आगमन का वर्णन किया गया है। 'शिशुपालवधम्' में नारद के आकाशमार्ग से पृथ्वी पर उतरने के समय कवि ने अनेकानेक क्लिष्ट उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं द्वारा अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। 'पारिजात-हरणम्' के षष्ठसर्ग में भी इसी प्रकार से नारद के आकाशमार्ग से पृथ्वी पर आने का काव्यात्मक वर्णन किया गया है। प्रस्तुत स्थल पर कवि कर्णपूर माघ से प्रभावित अवश्य प्रतीत होते हैं, किन्तु माघ का वर्णन अत्यधिक विस्तृत एवं अतिशयोक्तिपूर्ण है। इसके विपरीत कवि कर्णपूर कृत वर्णन संक्षिप्त, सरल एवं स्वाभाविक प्रतीत होता है। 'शिशुपालवधम्' के तृतीय सर्ग में (१–१३) कृष्ण का आलंकारिक वर्णन किया गया है। 'पारिजातहरणम्' के चतुर्थ सर्ग में कृष्ण का ऐसा ही वर्णन उपलब्ध होता है। 'शिशुपालवधम्' के तृतीय सर्ग में द्वारकापुरी का विदग्धतापूर्ण वर्णन किया गया है। 'पारिजातहरणम्' के प्रथम सर्ग में द्वारकापुरी का भव्य वर्णन किया गया है। 'शिशुपालवधम्' में कवि माघ ने रैवतक पर्वत का आलंकारिक वर्णन किया है। उसी प्रकार कवि कर्णपूर ने सुमेरु पर्वत का

---

१. समदशिखिरुतानि हंसनादैः कुमुदवनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या ।
श्रियमतिशयिनीं समेत्य जग्मुर्गुणमहतां महते गुणाय योगः ।।
भारवि, किरातार्जुनीयम्, १०।२५.

२. परपुष्टकुटुम्बिनीरुतैः सहितमत्तमयूरनिस्वनाः ।
अधिकं रुचिरत्वमूहिरे गुणयोगो हि गुणाय भूयसे ।।
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ११।१८.

वर्णन किया है। एक-दो स्थलों पर किञ्चित् भावसाम्य भी प्रतीत होता है; यथा—'रैवतक पर्वत का वर्णन करते हुए माघ ने एक स्थल पर उपनिबद्ध किया है—सेना के भार से आक्रान्त रैवतक, हाथियों द्वारा क्रीड़ा में तोड़े जाते हुए वृक्षों के शब्दों द्वारा मानों कृष्ण को उच्चस्वर में उपालम्भ दे रहा है कि—हे हरि ! आप तो सर्वत्र पर्वतों के उद्धारकर्ता के रूप में विख्यात हैं, तब अत्यन्त भार से बोझिल मुझको क्यों नीचे की ओर ले जा रहे हैं ?'[1] कवि कर्णपूर ने भी सेना के भार से आक्रान्त सुमेरु पर्वत का वर्णन इसी प्रकार किया है; यथा—'कृष्ण की सेना के भार से आक्रान्त सुमेरु पर्वत, मदमत्त हाथियों के उदीर्ण गर्जन, अश्वों की हिनहिनाहट, ऊँटों के निनाद एवं फैलते हुए मंगलमृदंगों की ध्वनि से तथा गंगा के जलरूपी अश्रुओं को छोड़ता हुआ मानों दुःख से क्रन्दन कर रहा है[2]।' रैवतक पर्वत और सुमेरु पर्वत दोनों ही कृष्ण की सेना से आक्रान्त हैं। एक उपालम्भ दे रहा है तो दूसरा क्रन्दन कर रहा है। उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग दोनों ही कवियों ने कुशलता पूर्वक किया है। सेना प्रयाण का दृश्य 'शिशुपालवधम्' एवं 'पारिजातहरणम्' दोनों ही में विद्यमान है। सेना प्रयाण के अवसर पर हाथियों, अश्वों एवं ऊँटों के स्वभाव तथा अश्वारोहण का वर्णन दोनों ही कवियों ने स्वभावोक्ति अलंकार के माध्यम से किया है। 'शिशुपालवधम्' में शिशुपाल कृष्ण के निकट अपना दूत प्रेषित करते हैं। इसी प्रकार 'पारिजातहरणम्' में कृष्ण नारद एवं सात्यकि को दूत रूप में इन्द्र के निकट प्रेषित करते हैं। 'शिशुपालवधम्' में सात्यकि के उत्तर का वर्णन किया गया है। 'पारिजातहरणम्' में इन्द्र के उत्तर को उपनिबद्ध किया गया है। 'शिशुपालवधम्' में दूत के प्रत्युत्तर का वर्णन प्राप्त होता है, 'पारिजातहरणम्' में भी दूत के प्रत्युत्तर का वर्णन किया गया है। 'शिशुपालवधम्' में अष्टादश सर्ग से लेकर विंशति सर्ग पर्यन्त कृष्ण एवं शिशुपाल

---

१. धरस्योद्धर्ताऽसि त्वमिति ननु सर्वत्र जगति
प्रतीतस्तत्किं मामतिभरमधः प्रापिपयिषुः ।
उपालब्धेवोच्चैर्गिरिपतिरिति श्रीपतिमसौ
बलाक्रान्तः क्रीडद्द्विरदमथितोर्वीरुहरवैः ॥ माघ, शिशुपालवधम्, ५।६६.

२. मत्तेभव्रजगर्जितैरुपचितैर्हेषारवैर्वाजिना
मुञ्चन्मङ्गलसन्मृदङ्गनिनदैरुष्ट्रावलीनर्दितैः ।
गंगावारिविराजिताश्रुरकरोदाक्रन्दमत्युच्चकैः
श्रीभर्तुर्बलभारभङ्गुरतनुर्दुःखादिवक्ष्माधरः ॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ६।६०.

के युद्ध का वर्णन किया गया है। 'पारिजातहरणम्' में त्रयोदश से लेकर पञ्चदश सर्ग पर्यन्त इन्द्र और कृष्ण के युद्ध का वर्णन किया गया है। चतुर्दश सर्ग (१४।१६-७१) में माघ ने कृष्ण के दार्शनिक स्वरूप का उल्लेख किया है। उसी प्रकार कवि कर्णपूर ने 'पारिजातहरणम्' के पञ्चदश सर्ग (१५।४२-५२) में कृष्ण के दार्शनिक स्वरूप पर प्रकाश निक्षेप किया है। माघ ने अपने महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'श्री' शब्द का प्रयोग किया है। कवि कर्णपूर ने भी 'पारिजातहरणम्' के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'श्री' शब्द का प्रयोग किया है।

माघ के साथ कवि कर्णपूर का कई स्थलों पर भाव साम्य भी दृष्टिगोचर होता है। कृष्ण की मितभाषिता का उल्लेख करते हुए, एक स्थल पर माघ ने उपनिबद्ध किया है—'इस प्रकार अर्थगौरव से समन्वित वचन बोलने के पश्चात् कृष्ण मौन हो गये। महान् व्यक्ति स्वभाव से ही स्वल्पभाषी होते हैं[1]।' माघ की उपर्युक्त उक्ति का साम्य कवि कर्णपूर की इस उक्ति में देखा जा सकता है; यथा—'कृष्ण विनय एवं नीति से युक्त वचन इन्द्र से कहने के उपरान्त मौन हो गये। (क्योंकि) साधु चित्तवृत्ति वाले जन अधिक वाचाल नहीं होते हैं[2]।' प्रस्तुत स्थल पर दोनों ही कवियों ने कृष्ण की मितभाषिता का वर्णन अर्थान्तरन्यास अलंकार के माध्यम से किया है। अतएव भाव साम्य एवं अलंकार साम्य दोनों ही विद्यमान हैं। इसी प्रकार एक स्थल पर माघ ने उल्लिखित किया है—'महान् जनों की सहायता प्राप्त कर लेने वाला अति क्षुद्र व्यक्ति भी अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेता है। पर्वतों से निःसृत होने वाली क्षुद्र नदियाँ भी विशाल (गंगा आदि) नदियों से मिलकर समुद्र तक जा पहुँचती हैं[3]।' कवि कर्णपूर ने इसी भाव को अर्थान्तरन्यास अलंकार से किञ्चित् भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया है; यथा—'कोई (आरोहक) हाथी पर चढ़ने के उपरान्त शीघ्र ही कूदकर मतवाले हाथी पर चढ़ गया। निजशक्ति से विहीन कौन व्यक्ति सत्सहायता

---

१. यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ।। माघ, शिशुपालवधम्, २।१३.

२. मुरारिरुद्यद्विनयो नयोर्जितं वचस्तदानीमिदमाह वासवम् ।
अथाललम्बे खलु मौनमञ्जसा न साधुवृत्ता बहुभाषिणः क्वचित् ।।
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १६।१८.

३. बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ।। माघ, शिशुपालवधम्, २।१००

को प्राप्त कर, अपने अभीष्ट को सुखपूर्वक प्राप्त नहीं कर लेता है।[1]" इसी प्रकार रति-क्रीड़ा के अवसर पर नायिका द्वारा दीपक बुझाने का वर्णन दोनों कवियों ने किया है। माघ के अनुसार—'द्वारकापुरी के अन्तःपुरों में कुलाङ्गनाएँ रतिकाल के समय लज्जा से दीप को बुझाकर गवाक्षों के मार्ग से प्रविष्ट होती हुई वैदूर्यमणियों में प्रतिबिम्बित होती हुई बिलाव के नेत्रों के समान, भयंकर चन्द्रकिरणों से भयभीत हो जाती हैं।[2]' कवि कर्णपूर ने इसी प्रसंग को प्रकारान्तर से वर्णित किया है; यथा—'प्रिय द्वारा अंगवसन का हरण कर लिये जाने पर (कोई) नायिका गृह के गवाक्षमार्ग से भीतर प्रविष्ट होती हुई रत्नकिरणों को दीपक समझकर उसका आच्छादन करने के लिए उत्सुक हो गई, किन्तु अपने ही प्रतिबिम्ब द्वारा अतिशय लज्जित हुई।[3]' प्रस्तुत स्थल पर माघ ने विषम अलंकार की योजना द्वारा नायिका की लज्जा का चित्रण किया है। कवि कर्णपूर ने उसी भाव को भ्रान्तिमान् अलंकार के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

संस्कृत साहित्य में कुछ प्रसंग ऐसे प्राप्त होते हैं, जिनका वर्णन प्रायः सभी कवियों ने अपने महाकाव्यों में किया है। उदाहरणार्थ—कालिदास ने 'रघुवंशम्' (७।५–१५) में अज-इन्दुमती एवं 'कुमारसम्भवम्' (७–५६–६२) में शिव-पार्वती के नवविवाहित दम्पति के दर्शनार्थ पुरवासिनी सुन्दरियों की उत्कण्ठा एवं तन्मयता का अत्यधिक सूक्ष्म वर्णन किया है। कालिदास से प्रेरणा लेकर माघ ने 'शिशुपालवधम्' (१३।३०–४८) में कृष्ण के दर्शनार्थ इन्द्रप्रस्थवासिनी कुलाङ्गनाओं की उत्कण्ठा एवं शृंगारिक हाव-भाव का विदग्ध वर्णन किया है। तदनन्तर उसी के आधार पर श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरितम्' (१५।७४–९०) में कुण्डिनपुरवासिनी ललनाओं की दर्शनोत्कण्ठा एवं सम्भ्रम आदि का अतिरंजित वर्णन किया गया है।

---

१. आरुह्य कश्चन करेणुमथ प्लुतेन द्रागारुरोह मदमत्तमपि द्विपेन्द्रम्।
हीनः स्वशक्तिविभवैरपि सत्सहायमासाद्य साधयति को न सुखादभीष्टम्॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ८।२४.

२. रतौ ह्रियाया यत्र निशम्य दीपाञ्जालागताभ्योऽधिगृहं गृहिण्यः।
बिभ्युर्बिडालेक्षणभीषणाभ्यो वैदूर्यकुड्येषु शशिद्युतिभ्यः॥
माघ, शिशुपालवधम्, ३।४५.

३. प्रेयसा परिहृते तनुचेले दीप इत्यभिनिरीक्ष्य पिधित्सुः।
यत्र रत्नकिरणान् प्रति बाला सत्रपाजनि चिरं प्रतिबिम्बैः॥
कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ६।८०.

पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव से प्रभावित होकर कवि कर्णपूर ने इस प्रकार के वर्णन की परम्परा का निर्वाह 'पारिजातहरणम्' (१६।५०–६०) महाकाव्य में किया है। वहाँ कृष्ण और सत्यभामा के दर्शनार्थ स्वर्गवासिनी सुन्दरियों की उत्कण्ठा का वर्णन किया गया है। इस प्रसंग में कुछ दृश्यों पर दृष्टिपात अप्रासङ्गिक न होगा।

राजप्रसादों के गवाक्षों से झाँकती हुई सुन्दरियों का चित्रण करते हुए कवि कालिदास ने वर्णित किया है—'अत्यधिक कौतूहलवाली उन स्त्रियों के मदिरापान से गन्धयुक्त तथा चञ्चल नेत्ररूप भ्रमर वाले मुखों से व्याप्त अवकाश वाले गवाक्ष कमलों से अलंकृत-से हो गये।[1] माघ ने भी गवाक्षों से झाँकती हुई सुन्दरियों का चित्रण किया है; यथा—'कृष्ण को देखने की इच्छा से स्वर्णनिर्मित मन्दिरों के गवाक्षों में प्रकाश्यमान रमणी का मुख-कमल उदयाचल की गुफा के मध्य अवस्थित चन्द्रमण्डल के सदृश सुशोभित होने लगा।[2]' इसी प्रकार कवि कर्णपूर ने भी गवाक्षों से झाँकती हुई सुन्दरियों का वर्णन कर पूर्वपरम्परा का अनुकरण किया है; यथा—'गवाक्षों से झाँकती हुई सुन्दरियों की मुखकान्तियाँ, सुमेरु-कानन के वृक्षों के दलों के अन्तराल से सुमुल्लसित होनेवाली चन्द्रकिरणों के सदृश प्रतीत हो रही है[3]।' प्रस्तुत प्रसंग में स्खलित अम्बर वाली सुन्दरियों का चित्रण प्रायः सभी कवियों ने किया है। सर्वप्रथम कालिदास ने इस परम्परा का सूत्रपात किया है; यथा—'गवाक्ष के मध्य से देखती हुई दूसरी स्त्री ने द्रुतगमन से खुली हुई नीवी को नहीं बाँधा। किन्तु नाभि में प्रविष्ट होती हुई कङ्कण की कान्ति वाले हाथ से वस्त्र को पकड़कर खड़ी रही।[4]' माघ ने इस प्रकार की

१. तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्॥
कालिदास, रघुवंशम्, ७।११.

२. अधिरुक्ममन्दिरगवाक्षमुल्लसत्सदृशो रराज मुरजिद्दिदृक्षया।
वदनारविन्दमुदयाद्रिकन्दराविवरोदरस्थितमिवेन्दुमण्डलम्॥
माघ, शिशुपालवधम्, १३।१५.

३. मृगीदृशामाननबिम्बकान्तिभिर्विरेजिरे चारुगवाक्षराजयः।
दलान्तराणीव सुमेरुकानने समुल्लसच्चन्द्रमसः करोत्करैः॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १६।५८.

४. जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्यवासः॥
कालिदास, रघुवंशम्, ७।९.

नायिका का चित्र इस प्रकार अंकित किया है; यथा—'कृष्ण को देखने में स्थिर दृष्टिवाली किसी दूसरी रमणी ने (सुख की परवशता से सरक कर) नीचे की ओर गिरते हुए वस्त्र को कङ्कण में जड़े गये इन्द्रनीलमणि के बड़े टुकड़े की प्रभा से सघन की गई सूक्ष्म रोमपंक्तिवाले हाथ से पकड़ लिया।'[1] श्रीहर्ष ने इसी दृश्य को और शृंगारिक बनाकर चित्रित किया है; यथा—'नल को देखने के लिए उत्कण्ठित, अतएव वायु से आधा हटाये गये भी स्तनाच्छादक वस्त्र को नहीं जानती हुई, नगरवासिनी किसी स्त्री ने चलते (शिविर से बाहर निकलते) हुए नल के गमन को सफल बनाने के लिए मानों स्तन के द्वारा मंगलरूप घट को सामने रख दिया।'[2] कवि कर्णपूर ने इसी दृश्य को अत्यन्त सरलतापूर्वक चित्रित किया है; यथा—'कृष्ण के दर्शन से उत्पन्न होने वाले कौतूहल के कारण मानों मन की उत्सुकता का प्रकाश करती हुई किसी कलावती सुन्दरी ने नितम्ब पर से स्खलित होते हुए वस्त्र को हाथ से नहीं पकड़ा।'[3] इसी प्रकार देखने की अहमहमिका में मेखला अथवा टूटते हुए हारों से गिरते हुए मोतियों का वर्णन प्रायः सभी कवियों के काव्य में पाया जाता है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम कालिदास द्वारा प्रस्तुत चित्र द्रष्टव्य है; यथा—'शीघ्रता से उठी हुई किसी स्त्री की आधी गुँथी हुई तथा शीघ्र चलने से पग-पग पर गिरती हुई मेखला का (गवाक्ष के निकट पहुँचने पर) अँगूठे में बाँधा हुआ केवल धागा ही अवशेष बचा[4]।' श्रीहर्ष ने इसी भाव को और सुन्दरतापूर्वक वर्णित किया है, यथा—'सखी को (देखो ! ये नल आ रहे हैं इस प्रकार) नल को दिखलाती हुई किसी स्त्री

---

१. बलयार्पितासितमहोपलप्रभाबहुलीकृतप्रतनुरोमराजिना।
हरिवीक्षणाक्षणिकचक्षुषान्यया करपल्लवेन 'गलदम्बर' दधे॥
माघ, शिशुपालवधम्, १३।४४.

२. अजानती काऽपि विलोकनोत्सुका समीरधूतार्द्धमपि स्तनांशुकम्।
कुचेन तस्मै चलतेऽकरोत् पुरः पुराङ्गना मङ्गलकुम्भसम्भृतिम्॥
श्रीहर्ष, नैषधीयचरितम्, १५।७४.

३. मुरद्विषद्वीक्षणजातकौतुकात् प्रकाशयन्तीव मनः समुत्सुकम्।
चकार काचिन्न करं कलावती नितम्बबिम्बस्खलितेऽपि वाससि॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १।५३.

४. अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रसनातदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा॥
कादिास, रघुवंशम्, ७।१०.

ने अंक से शीघ्र उठाये गये हाथ के कंकण में अटक कर टूटे हुए तथा (नल के देखने की उत्सुकता के कारण) अज्ञात हारों (के स्वच्छ मोतियों) से क्षण मात्र के लिए खीलों को विखेरा।[1] कवि कर्णपूर ने इसी दृश्य को भिन्न प्रकार से चित्रित किया है; यथा—'कृष्ण को देखने के लिए भवन से एकाएक शीघ्रतापूर्वक भागती हुई किसी रमणी का हार टूट गया, जिससे सखियों ने टूटे हुए मोतियों से उसकी मार्ग पद्धति का अनुमान किया।[2]

उपर्युक्त वर्णन के अतिरिक्त रमणियों द्वारा शीघ्रता के कारण आधे किये गये श्रृंगार आदि का भी कवियों ने ललित वर्णन किया है। तुलनात्मक दृष्टि से कालिदासकृत वर्णन न केवल काव्यात्मक दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट है, अपितु मन के सहज मनोभावों को भी अभिव्यञ्जित कर देते हैं। माघ एवं श्रीहर्ष के वर्णनों में श्रृंगारिक हावभावों का अतिरंजित वर्णन किया गया है। कवि कर्णपूर ने यद्यपि यह वर्णन पूर्ववर्ती परम्परा के प्रभाव के फलस्वरूप किया है तथापि उसमें श्रृंगारिक हाव-भाव का प्राधान्य नहीं है। कवि का ध्यान केवल देवनारियों की उत्कण्ठा एवं सम्भ्रम का चित्र अंकित करने की ओर रहा है, जिसमें उसे सफलता मिली है।

कवि कर्णपूर का समसामयिक साहित्यिक वातावरण एवं उसका प्रभाव

१६ वीं शताब्दी में बंगाल, चैतन्य की भक्तिधारा में सर्वतोभावेन निमग्न हो चुका था। चैतन्य के बढ़ते हुए प्रभाव के फलस्वरूप उनको ही केन्द्रबिन्दु बनाकर संस्कृत भाषा में अनेकानेक उच्चकोटि के साहित्यिक ग्रन्थों का सृजन हो रहा था, दूसरी ओर जनभाषा बंगला में अनेक स्फुट पदों और चरितकाव्यों की रचना हो रही थी। चैतन्य की भक्ति भावना से अत्यधिक प्रभावित कवि कर्णपूर ने दोनों ही भाषाओं को अपनी भावाभिव्यक्ति का साधन बनाया। संस्कृत में उन्होंने चैतन्य सम्बन्धी साहित्य का सृजन किया और मातृभाषा बंगला में स्फुट पदों की रचना की। कवि कर्णपूर की समस्त साहित्य साधना चैतन्य महाप्रभु से प्रभावित है साथ ही कवि कर्णपूर

---

१. सखीं नलं दर्शसमानयाऽङ्कतो जवादुदस्तस्य करस्यकङ्कणे।
विषज्य हारैस्त्रुटितैरतर्कितैः कृतं कयाऽपि क्षणलाजमोक्षणम्॥
श्रीहर्ष, नैषधीयचरितम्, १५।७५.

२. विलोकितुम् माधवमुद्गतद्युति द्रुतं व्रजन्त्या भवनान्नतभ्रुवः।
उदारहारच्युतमौक्तिकोत्करैः सखीजनः पद्धतिमन्वमीयत॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १६।५७.

पर अपने पिता शिवानन्दसेन का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। अनेक सिद्धान्तों की विवेचना करते समय उन्होंने अपने पिता का उल्लेख किया।[1] कवि कर्णपूर विरचित 'गौरगणोद्देशदीपिका' भी एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ है, जिसका उद्देश्य ही गौड़ीय सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की व्याख्या करना था। उसमें भी गौड़ीय सम्प्रदाय की नवद्वीप शाखा के प्रमुख आचार्य स्वरूपदामोदर गोस्वामी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। कवि कर्णपूर ने स्पष्ट शब्दों में पञ्चतत्त्व का निरूपण करते समय स्वरूपदामोदर गोस्वामी के प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन किया है।[2] 'गौरगणोद्देशदीपिका' पर रचना शैली की दृष्टि से रूपगोस्वामी की 'राधाकृष्णगणोद्देशदीपीका' का प्रभाव स्पष्ट है। 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' बाणभट्ट और सुबन्धु की गद्यशैली से प्रभावित होते हुए भी अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की पूर्ण व्याख्या भी करता है। 'अलंकार कौस्तुभः' पर भामह से लेकर भोजदेव आदि सभी प्राचीन एवं अर्वाचीन आलंकारिकों का प्रभाव देखा जा सकता है, किन्तु उस पर समसामयिक चैतन्य सम्प्रदायी मान्यताओं का प्रभाव भी स्पष्ट है।[3] कृष्णमिश्र विरचित 'प्रबोधचन्द्रोदयम' की रचनाशैली पर उपनिबद्ध 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' भी चैतन्यसम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। वस्तुतः १६ वीं शताब्दी का युग ही चैतन्य का युग था। भक्ति आन्दोलन अपनी चरमकाष्ठा पर था। अतः कवि कर्णपूर की काव्यप्रतिभा पर चैतन्यसम्प्रदाय का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

समसामायिक कवि मुरारिगुप्त और उनका कवि कर्णपूर पर प्रभाव

चैतन्य के अभिन्न मित्र एवं कवि कर्णपूर के समसामायिक कवि मुरारिगुप्त, चैतन्य के प्रथम चरित लेखक हैं। चैतन्यसम्प्रदाय में कवि कर्णपूर सर्वाधिक मुरारिगुप्त से ही प्रभावित प्रतीत होते हैं। 'चैतन्यचरितामृतम्' महाकाव्य के अन्तिम सर्ग में कवि कर्णपूर ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि उन्होंने मुरारिगुप्त के काव्य से अपने महाकाव्य का कथानक लिया है।[4] उस विषय पर विगत अध्याय (पञ्चम) में प्रकाश डाला जा चुका है। कवि कर्णपूर ने मुरारिगुप्त से केवल अपने काव्य का कथानक ही नहीं

---

१. कवि कर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, ६३, १७२.

२. वही, ६.

३. प्रस्तुत प्रसंग का विस्तृत विवेचन दशम अध्याय के प्रथम खण्ड में किया जायेगा।

४. कविकर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २०।४३.

लिया है, अपितु कई स्थलों पर उनका भावसाम्य तथा शब्दसाम्य भी मुरारिगुप्त से प्रतीत होता है। स्पष्टीकरण के लिए कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं। यथा—

मुरारिगुप्त—

अथ प्रभाते विमलेऽरुणेऽर्के स्वयंकृतस्नानविधिर्यथावत्।
हरिः समभ्यर्च्चर्य पितॄन् सुरादीन् नान्दीमुखश्राद्धमथाऽकरोद्द्विजैः॥[1]

कवि कर्णपूर—

अथ प्रभाते विमलार्कभूषिते स्वयं कृतस्नानविधिर्यथाविधि।
प्रभुः पितॄनर्च्चयितुं यथा तथा नान्दीमुखश्राद्धमथाऽकरोदसौ॥[2]

मुरारिगुप्त—

गुरौ स भक्तिं परिदर्शयन् स्वयं फल्गुषु चक्रे पितृदेवतार्चनम्।
प्रेतादिशृङ्गे पितृपिण्डदानं ब्रह्माङ्गुलीरेणुयुतेषु कृत्वा॥[3]

कवि कर्णपूर—

अथ स फल्गुनदीप्लवने यथाविधि विधाय पितॄन् समतर्पयत्।
शवमहीभृति पिण्डमदादथो करुणतोऽरुणतोऽप्यरुणेक्षणः॥[4]

मुरारिगुप्त—

अथ तस्य पदद्वयं हरिः पितुरालिङ्ग्य सगद्गद्स्वरम्।
अवदत् पितराशु मां प्रभो! परिहाय क्व भवान् गमिष्यति॥[5]

कवि कर्णपूर—

पितुः पदं वक्षसि दुःखितात्मना निधाय तेपे नितरां कृपावता।
पितः क्व मां प्रोज्झय सुदीनमेककं शिशुं कथं हन्त भवान् गमिष्यति॥[6]

मुरारिगुप्त—

स प्रोवाच नमन् भूमौ विस्मितो दृश्य ईश्वरः।
नाहं वेद्मि स्वरूपं ते भगवान् वनजेक्षण॥

---

१. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्, १।१०।३.
२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ३।४८.
३. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्, १।१६।१.
४. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ४।६२.
५. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्, १।८।१६.
६. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २।११८.

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
इति गीतोक्तवचसा वदन्तं स पुनः पुनः ॥[1]

कवि कर्णपूर—

तच्छ्रुत्वा भुवि निपतन् सभीतभीतो
नो विद्मो वयमिह ते स्वरूपमेतत् ।
आत्मानं स्वयमेवमात्मनैव वेत्थे-
त्यूचेऽसौ प्रतिवचनैश्च गीतयोक्तैः ॥[2]

मुरारिगुप्त—

भगवन् मथुरां द्वारावतीं गत्वातिदुःखितम् ।
मां ज्ञात्वा देहि मे प्रेमभक्तिं तं प्राह स प्रभुः ॥[3]

कवि कर्णपूर—

द्वारावतीं च मथुरां च सदैव गत्वा ।
मां दुःखिनं क्षणमवेक्ष्य दरस्व नाथ ॥[4]

मुरारिगुप्त—

स्नातं मया सुरनदीपयसि प्रकामं
श्रीवैष्णवाङ्घ्रिरजसाङ्गमलङ्कृतञ्च ।
तत्पादपद्मवरछत्रमसुं मयाद्य
मूर्द्ध्नि प्रयच्छ कुरु दास्यपदेऽभिषेकम् ॥[5]

कवि कर्णपूर—

स्नातं मया सुरनदीपयसि प्रकामं,
श्रीवैष्णवाङ्घ्रिरजसाऽङ्गमलंकृतञ्च ।
श्रीमन् ! त्वदीय पादपद्मयुगातपत्रं,
मूर्ध्नि प्रयच्छ कुरु दास्यपदेऽभिषेकम् ॥[6]

---

१. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्, २।२।१८–१९.
२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ५।१९.
३. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्, २।३।१६.
४. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ६।८.
५. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्, २।४।१९.
६. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ६।३९.

मुरारिगुप्त—

नाहं स कृष्णो वचसा सुखी भवेत् ,
यो मे प्रयच्छन्तु सुपेयमद्भुतम् ।
मल्लोऽयमित्यङ्गुलिना द्विजैकं ,
क्षिपन् सुदूरे प्रहिणोत् पृथिव्याम् ॥[1]

कवि कर्णपूर—

नाहं स कृष्णो वचसा योऽसौ शीघ्रं सुखी भवेत् ।
तदानयानय भृशं मधूनद्य समर्पय ॥
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन द्विजैकं प्राक्षिपत् प्रभुः ।
आरादेव पपाताऽसौ मल्लोऽपि वलवत्तरः ॥[2]

मुरारिगुप्त—

त्वं शुको वाथ प्रह्लाद इति मे निश्चितामतिः
किं वा त्वं भगवान् साक्षादीश्वरः सर्वकारणः ।
तत् श्रुत्वा व्यथितो नाथः प्रशंसां स्वां महामतिः
रुरोद द्विगुणं प्रेमवारिधारापरिप्लुतः ॥[3]

कवि कर्णपूर—

तथा दृष्ट्वा नाथं निरवधि रुदन्तं समवद-
च्छुको वा प्रह्लादस्त्वमिति बहुधाविस्मितमना :
प्रशंसां स्वां श्रुत्वा द्विगुणविकलोऽसौ पुनरपि ।
प्रकामं चक्रन्दायमपि पुनराहाऽतिचकितः ॥[4]

कवि कर्णपूर के महाकाव्य में पूर्वोक्त उद्धरणों के अतिरिक्त अन्य स्थल भी प्राप्य हैं, जिन्हें विस्तारभय से उद्धृत नहीं किया जा रहा है। प्रस्तुत उद्धरणों में कवि कर्णपूर का मुरारिगुप्त के साथ, भव्यसाम्य, शब्दसाम्य, अलंकारसाम्य एवं छन्दसाम्य स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहा है। किन्तु पूर्वोक्त कथन का यह आशय कदापि नहीं है कि कवि कर्णपूर का महाकाव्य मुरारिगुप्त के काव्य की अनुकृतिमात्र है। इस सम्बन्ध में कवि कर्णपूर को

---

१. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैतन्यचर्तामृतम्, २।१४।७.
२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ८।२६।२७.
३. मुरारिगुप्त, श्रीकृष्णचैन्यचरितामृतम्, २।१८।१२, १३.
४. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ११।४३, ४४.

मौलिकताओं का उद्घाटन विगत अध्याय (पञ्चम) के प्रथम खण्ड में किया जा चुका है।

उपर्युक्त विवेचन के सिंहावलोकन के पश्चात् निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कवि कर्णपूर पर अपने पूर्ववर्ती एवं समसामयिक कवियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। किन्तु कवि ने अपनी मौलिकता को सर्वत्र अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया है। कई स्थलों पर कवि ने अपनी काव्यचातुरी से प्राचीन कवियों के भावों एवं विचारों को सर्वथा अभिनव रूप प्रदान किया है, जिससे वहाँ नूतन सर्जना का आभास होने लगता है। कहीं-कहीं पर प्राप्त होने वाला साम्य याद्दच्छिक ही है।

सप्तम अध्याय

वस्तु-वर्णन

प्रबन्धकाव्य का वास्तविक काव्यसौन्दर्य वस्तुवर्णन में अन्तर्निहित है। सम्भवतः इसीलिए प्रसिद्ध आलंकारिक दण्डी ने वस्तुवर्णन को आवश्यक समझते हुए सर्गबन्ध रचना में वन, पर्वत, नदी, सरोवर, पुर, विवाह, यात्रा, सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय आदि के वर्णन को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।[1] तदनन्तर उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने इस परम्परा का निर्वाह करते हुए उसे उचित सम्मान दिया।[2]

वस्तुवर्णन कविप्रतिभा का रमणीय उपहार है अथवा व्युत्पत्तिजन्य बहुज्ञता का प्रतिफल। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी आलंकारिक मौनावलम्बी हैं। केवल 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर द्वारा उद्धृत आपराजित नामक आलंकारिक के कथन से इस समस्या पर अप्रत्यक्ष रूप से यत्किञ्चित् प्रकाश पड़ जाता है। आपराजित के अनुसार—'यस्तु सरिदद्रिसागरपुरतुरगरथादिवर्णने यत्नः, कविशक्तिख्यातिफलो' अर्थात् वस्तुवर्णन 'कवि की शक्ति की प्रसिद्धि है।[3] राजशेखर प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों को ही शक्ति का कर्तृत्व स्वीकार करते हैं—'शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते' अर्थात् प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों ही शक्ति-जन्य हैं।[4] अतएव वस्तुवर्णन में दोनों का ही यथोचित सहयोग विद्यमान रहता है। वस्तुतः प्रतिभा अथवा व्युत्पत्ति दोनों में से किसी एक के अभाव में सहृदयों को चमत्कृत करने वाली विच्छित्ति एवं सरसता का आधान उस (वस्तुवर्णन) में नहीं हो पाता है। सम्पूर्ण चित्र अपूर्ण-सा रहता है। उसमें अनुभव-वैचित्र्य एवं रसप्रवणता का अभाव रहता है। अस्तु, निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों के 'मणि-

---

१. दण्डी, काव्यादर्श, १।१६–१८.

२. (क) भोजदेव, शृंगारप्रकाश, खण्ड २, पृ० ४७६.

(ख) विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ६।३२२.

३. राजशेखर, काव्यमीमांसा, अध्याय ६, पृ० ४५.

४. वही, पृ० ११.

कांचन' संयोग द्वारा ही वस्तुवर्णन की काव्यात्मकता का आस्वादन किया जा सकता है।

वस्तुवर्णन महाकाव्य में सरसता, रमणीयता एवं सौन्दर्य का आधार अवश्य होता है, किन्तु अत्यधिक विस्तृत, प्रकृत रस के प्रतिकूल अथवा आलङ्कारिक चमत्कार का साधन होने पर वह रसास्वादन में अवरोधक भी बन जाता है। कविकृत वस्तुवर्णन सरस, संक्षिप्त एवं रसानुकूल ही हो इसका समर्थन राजशेखर ने करते हुए आपराजित के मत का उल्लेख किया है; यथा—

मज्जनपुष्पावचयनसन्ध्याचन्द्रोदयादिवाक्यमिह ।
सरसमपि नातिबहुलं प्रकृतरसानन्वितं रचयेत ॥[1]

वस्तुवर्णन की सार्थकता उसके रसात्मक होने पर ही निर्भर करती है। यद्यपि नदी, उपवन, चन्द्र आदि जड़ पदार्थ हैं तथापि उनका वर्णन रसात्मक हो सकता है। इस सम्बन्ध में राजशेखर के विचार विशेष आदरणीय हैं। उनके अनुसार रस वस्तुनिष्ठ न होकर कवि वचन में होता है। यह तो कवि की अनुभूति—सामर्थ्य पर निर्भर करता है कि वह किसी वस्तु को किस रूप में अनुभूत करता है। असत्कवि तो विप्रलम्भ में भी रस की उपेक्षा कर देता है।[2] राजशेखर ने अपने इस मत को पाल्यकीर्ति एवं अवन्तिसुन्दरी के कथन से पुष्ट किया है।[3] साथ ही नदी, पर्वत, समुद्र, नगर अश्व आदि के वर्णन में रसः स्थिति को सिद्ध किया है।[4] राजशेखर की उपर्युक्त विचारधारा से भोजदेव भी सहमत हैं।[5]

---

१. राजशेखर, काव्यमीमांसा, अध्याय ६, पृ० ४५.

२. कुकविर्विप्रलम्भेऽपि रसवत्तां निरस्यति ।
अस्तु वस्तुषु वा मूकविवाचि रसःस्थितिः ॥
राजशेखर, काव्यमीमांसा, अध्याय ६, पृ० ४६

३. वही, ४६.

४. वही, ३५–४६.

५. पुरोपवनराष्ट्रादि समुद्राश्रमवर्णनैः ।
देशसम्पत्प्रबन्धस्य रसोत्कर्षाय कल्पते ॥
ऋतुरात्रिन्दिवार्केन्दूदयास्तमयवर्णनैः ।
कालः काव्येषु सम्पन्नो रसपुष्टिं नियच्छति ॥
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवाः ।
विवाहाश्च चेष्टाः काव्ये रसावहाः ॥
भोजदेव, सरस्वतीकण्ठाभरणम्, ५।१३०–१३३.

अस्तु, प्रस्तुत अध्याय में कवि कर्णपूर कृत वस्तुवर्णन की इन्हीं विशेषताओं का उद्घाटन किया जायेगा।[1]

पुरी वर्णन

संस्कृत काव्य की प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए कवि कर्णपूर ने 'चैतन्यचरितामृतम्' में नवद्वीप तथा 'पारिजातहरणम्' में 'द्वारकापुरी' का वर्णन किया है। 'चैतन्यचरितामृतम्' में कवि कर्णपूर की काव्य प्रतिभा विकास के प्रथम सोपान पर अधिष्ठित थी। उनका लोक-पर्यवेक्षण भी सीमित था। अतएव वे 'आनन्दवृन्दावन' चम्पू के वृन्दावन की भाँति 'नवद्वीप' का भव्य, कलात्मक एवं आलङ्कारिक चित्र प्रस्तुत नहीं कर सके हैं, किन्तु कृष्ण के अवतार चैतन्य महाप्रभु की पुण्यलीलास्थली नवद्वीप की गरिमा, धनाढ्यता एवं पवित्रता का सम्पूर्ण चित्र सहृदयों के समक्ष उपस्थित कर देने के लिए आकुल अवश्य प्रतीत होते हैं। नवद्वीप का जो चित्र उन्होंने अङ्कित किया है, वह आलङ्कारिक और उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा का परिचायक न होने पर भी, पवित्र भावनाओं से ओतप्रोत होने के कारण सुन्दर प्रतीत होता है। कवि की कल्पना में स्वर्ग से भी गरीयसी एवं भाग्यवती पृथ्वी का सौभाग्योदय धनरत्नादि को धारण करने से न होकर 'नवद्वीप' को धारण करने से हुआ है।[2] अतएव अनेक प्रकार से संचित किये गये पुष्पों की एक राशिभूत 'नवद्वीप' को धारण करने के कारण रोमाञ्चित पृथ्वी के रोमांकुरों के रूप में वृक्षों की सम्भावना स्वाभाविक प्रतीत होती है।[3] इसी प्रकार कृष्णरूप चैतन्य के चरण कमलों के सौरभ का आघ्राण करने के लिए धूर्जटि शिव के जटाजूट में निवास करने वाली सुरधुनी गङ्गा का भगवान् शङ्कर के मौलिशिखर पर स्थित चन्द्रलेखारूप शफरी का परित्याग कर 'नवद्वीप' में आ जाना आश्चर्यजनक

---

१. वस्तुवर्णन के प्रसंग में वनविहार, जलक्रीड़ा, मदिरापान एवं रतोत्सव का वर्णन नहीं किया गया है। तद्‌तद् विषयों का यथोचित विवेचन रस-निरूपण के अवसर पर किया जायेगा।

२. इयं मही भाग्यवती महीयसी दिवोपि दिव्यादपि निर्मलैर्गुणैः।
महान्ति रत्नानि यदा दधात्ययो दधौ नवद्वीपमतीवदुर्लभम् ॥
कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २.१.

३. अनेकधा सञ्चितभाग्यसञ्चयं समस्तमेकत्र विधाय सर्वतः।
महीरुहैरुत्पुलकेयमुत्सुका दधौ नवद्वीप इति प्रथां किमु ॥ वही, २.२.

नहीं प्रतीत होता है।[1] 'चैतन्यचरितामृतम्' में कवि नवद्वीप की सम्पन्नता; नगरवासियों की उच्चकोटि की चारित्रिक श्रेष्ठता एवं निकटवर्तिनी गङ्गा का ८ श्लोकों में वर्णन करने के उपरान्त हो गया है। किन्तु 'पारिजात-हरणम्' में उनकी कल्पना का विस्तार स्वर्णाट्टालिकाओं के अभ्रभेदी चारु-शिखरों[2], हीरक जटित भित्तियों पर प्रतीयमान प्रतिबिम्बों[3], इन्द्रनीलमणि विरचित मन्दिरों के शिखरों पर ताण्डवोत्सव मनाते हुए शिखण्डियों[4], गगनचुम्बी प्रासादों की उन्नत पताकाओं[5], अन्तःपुरों में विलास करती हुई चपल कामिनियों एवं स्वर्ण सोपानों वाले सरोवरों[6] से लेकर नगर की आपण वीथिकाओं[7] तक के वर्णन में हुआ है। कविकृत द्वारकापुरी का यह वर्णन माघ और श्रीहर्ष से प्रभावित होते हुए भी उनकी भाँति अत्यधिक अतिरंजित अथवा विशद नहीं है और न ही उन (कवि कर्णपूर) की कल्पना बहुज्ञता, पाण्डित्य-प्रदर्शन अथवा दार्शनिक क्लिष्टता की ओर उन्मुख हुई है। अपितु २० श्लोकों के कुलक में उन्होंने उपमा, मालोपमा,

---

१. आप्लाव्य या धूर्जटिसज्जटातटीं कपालमालाच्छटया समन्विताम्।
शशांकलेखा प्रतिबिम्बरूपिणीमलब्धपूर्वां शफरीं समासदत्॥
सेयं नवद्वीपभुवो महीयसीं शीभामिवाधाय तदन्तवासिनी।
प्रभोः पदाम्भोज युगस्य सौरभप्राप्त्यैवभूतोत्कलिकाकूलीकृता॥
कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २।५, ८.

२. विचित्रचामीकरचारुशृङ्गकैर् विराजमानैर्भवनैर्वलत्त्विषः।
अवापि न क्वापि यदीयसम्पदस्तुलानुलापोऽपि सुवर्णभूभृता॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १।१०.

३. समन्ततो हीरकहर्म्यभित्तिषु प्रतायमानप्रतिबिम्बसम्पदम्।
नितम्बिनीं स्वामपि केलिकौतुकी विवेद विद्वानपि यत्र न प्रियः॥
वही, १।२.

४. हरिन्मणिश्यामलमन्दिरे स्फुरन्मृदङ्गधीरध्वनिभिर्विनोदितैः।
सदैव यत्राविरकारि कौतुकात् शिखण्डिभिस्ताण्डवडम्बरोत्सवः॥ वही, १।३.

५. समुल्लसत्फेनसमानकान्तिभिस्तरङ्गितैर्धीरसमीरसङ्गमात्।
अनापि यत्रोपरि वेश्मचामरैः सुरापगातुङ्गतरङ्गभङ्गिमा॥ वही, १।४.

६. सुवर्णसोपानशतेनसङ्गतैर्विराजितैः सारसहंसकूजितैः।
सरोरुहोद्भासितचारुवारिभिः सरोवरैर्दूरितवैकृता च या॥ वही, १।१६.

७. अतिस्फुटस्फाटिककुट्टिमोपरि प्रकामविन्यस्तसमस्तवस्तुभिः।
यदापणैश्चेतसि मौक्तिकार्थिनामकारिकाचैरपि मौक्तिकभ्रमः॥
कविकर्णपूर, पारिजातहरणम्, १।६.

श्लेषोपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक एवं भ्रान्तिमान् अलङ्कारों के आश्रय से द्वारकापुरी का हृदयग्राही चित्र चित्रित किया है। माघ की कल्पना में जो द्वारकापुरी समुद्र के जल को भेदकर ऊपर उठी हुई वडवाग्नि की ज्वाला के समान प्रतीत होती है[१] वही द्वारकापुरी कवि कर्णपूर की कोमल कल्पना में अशेष सौन्दर्यशालिनी होने के कारण जगत्त्रयी के शिरोविभूषा के रूप में सुशोभित है।[२] साथ ही पृथ्वी की शिरोविभूषा, समस्त सम्पदाओं का निधान एवं लक्ष्मी की निकेतनरूपा होने के कारण द्वारकापुरी को देखकर विद्वान् उसे ब्रह्मा की शिल्पकला का नवीन यश स्वीकार करते हैं।[३]

माघ ने द्वारकापुरी को पृथ्वी की प्रतिकृति के समान चित्रित किया है।[४] कवि कर्णपूर ने द्वारकापुरी की उपमा पुरारि की पुरी से श्लेष से दी है, जिससे द्वारकापुरी का ऐश्वर्य ध्वनित होता है, यथा—

सदाशिवावस्थितिसौख्यशालिनी कुमारसंचारविराजितद्युतिः।
मुदा सदा नन्दिगणैर्विभूषिता पुरी पुरारेरिव या बभौ भुवि॥[५]

अर्थात् सदाशिव की स्थिति होने के कारण पुरारि की पुरी आनन्ददायिनी है। द्वारकापुरी में सदैव मङ्गल की स्थिति रहती है, अतएव वह आनन्ददायिनी है। पुरारि की पुरी कुमार (कार्तिकेय) के (इतस्ततः) विचरण करने से द्युतियुक्त है। द्वारका नगरी छोटे-छोटे बालकों के सञ्चरण करने से कान्तियुक्त है। पुरारि की पुरी नन्दिगणों से सदैव विभूषित रहती है। द्वारकापुरी गायों से सुशोभित रहती है। इसलिए द्वारकापुरी पुरारि की पुरी के समान है।

---

१. मध्ये समुद्रं ककुभः पिशङ्गीर्या कुर्वती काञ्चनवप्रभासा।
तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास॥
माघ, शिशुपालवधम्, ३।३३.

२. मुदा विनिर्माय जगत्त्रयीमिमामुदारचेताः सरसीरुहासनः।
अशेषसौन्दर्यविशेषशालिनीं शिरोविभूषामिव यामकल्पयत्॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १।२०.

३. शिरोविभूषा भुवनस्य सम्पदां निधानमुद्दामनिकेतनं श्रियः।
यशो नवं शिल्पकलासु वेधसो विलोक्य याऽमन्यत विज्ञमानवैः॥ वही, १।१२.

४. कृतास्पदा भूमिभृतां सहस्रैरुदन्वदम्भः परिवीतमूर्तिः।
अनिर्विदा या विदधे विधात्रा पृथ्वी पृथिव्याः प्रतियातनेव॥
माघ, शिशुपालवधम्, ३।३४.

५. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १।५.

अन्यत्र द्वारकापुरी की समृद्धि और सम्पन्नता का चित्रण करने के लिए कवि ने सबसे उपयुक्त अलङ्कार व्यतिरेक का आश्रय लिया है। यथा—द्वारकापुरी के लिए समस्त उपमानों का सर्वथा अभाव सिद्ध करते हुए कवि ने उपनिबद्ध किया है कि गन्धवती, शिवपुरी एवं स्वर्ग से द्वारकापुरी की साम्यकथा भी नहीं चल सकती हैं। ऐसी स्थिति में पृथ्वी पर उसकी तुलना कहाँ से प्राप्त हो सकती है।[1] द्वारकापुरी के मरकतमणिनिर्मित भवनों में विलास करती हुई कामिनियों की उपमा बादलों में सञ्चरण करनेवाली तडिल्लता से दी है। दूसरी ओर चपलचपलाओं के उन्मादपूर्ण हावभाव और कटाक्षों का रोचक वर्णन किया है—

सदोन्मदाभिः प्रमदाभिरंजसा सुविभ्रमैराहृतचित्तवृत्तयः।
गुणानुरुद्धा इव यत्र नागरा विषेहिरे जातु न हातुमन्तिकम्॥[2]

अर्थात् अत्यधिक मदमत्त प्रमदाओं के सुन्दर विभ्रम एवं विलास से आहृतचित्तवृत्ति वाले नागर जन गुणानुरुद्ध की भाँति उनके सामीप्य को क्षणमात्र के लिए नहीं त्यागते हैं।

द्वारकापुरी की आपणवीथिका का वर्णन कवि कर्णपूर ने माघ के अनुकरण पर किया है। अन्तर केवल इतना है कि माघ की द्वारिकापुरी में हाट में एकत्रित किये गये स्थिर कान्तिवाले रत्नों को नालिकाओं से आये हुए चञ्चल जल से चुराता हुआ समुद्र रत्नाकरत्व को प्राप्त कर लेता है।[3] किन्तु कवि कर्णपूर की परिकल्पना में द्वारकापुरी के आपण में ही रत्नाकर का मोह हो जाता है, यथा—

महामहार्घानतिरम्यरूपिणो मणीननेकान् विनिधाय संहितान्।
विलोकयन्तो वणिजो यदापणे चिरेण रत्नाकरमोहमूहिरे॥[4]

आपणवीथिका वर्णन के प्रसङ्ग में कवि कर्णपूर ने एक अत्यन्त आकर्षक दृश्य का वर्णन कर अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति एवं मौलिक उद्भावना का परिचय दिया है। यथा—

---

१. न गन्धवत्या न पुरा पुरद्विषो न राजधान्या सुरभूपतेरपि।
अकारि यत्साम्यकथा कथं भवेत् क्षितौ पुनर्यत्तुलनाऽपि कर्हिचित्॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १।१९.

२. वही, १।१८.

३. वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः।
लोलैरलोलद्युतिभाञ्जि मुष्णन् रत्नानि रत्नाकरतामवाप॥
माघ, शिशुपालवधम्, ३।३८.

४. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १।८.

वणिग्वधूनां मधुराधरस्फुरन्मनोहरेष्वीक्षितभाषितादिषु ।
दृढ़ं समुत्कण्ठितचित्तवृत्तयोविदुर्जना यत्र न कृत्यमात्मनः ।।[१]

प्रस्तुत स्थल पर द्वारकापुरी के आपण में क्रय-विक्रय हेतु आई हुई वणिक् वधुओं और उनके रसिक प्रशंसकों का वर्णन किया गया है। रसिक (ग्राहक) आपण में उपस्थित वणिक् वधुओं के मधुर अधर सञ्चालन, कुटिल कटाक्षों एवं मृदुल वाणी आदि को देखने-सुनने में इतने तल्लीन हैं कि वे अपने कृत्य कार्य को नहीं समझ पाते हैं। अर्थात् क्रय-विक्रय को विस्मृत कर उन्हीं में समुत्कण्ठितचित्तवृत्तिवाले हो जाते हैं। कविकृत इस वर्णन का सत्यानुभव नित्यप्रति के लोकजीवन से भी किया जा सकता है। इसी प्रकार हट्टपथ के समीप से जाते हुए क्षुधार्त्तजनों की चित्तवृत्ति का कवि ने कुशलतापूर्वक अङ्कन किया है, यथा—

सुघोपमप्राज्यनवाज्यसौरभैर्घरट्टसंघट्टनघोषणैरपि ।
क्षुधामृतामध्वनि रुद्धचेतसां यथा समाश्वासितमास मानसम् ।।[२]

अर्थात् हट्टपथ से जाते हुए पथिक क्षुधा से व्याकुल हैं, लेकिन नवीन पिघलाये जाते हुए घृत की सुधा के समान सुगन्ध तथा (सत्तू आदि पीसने वाली) घरट्ट की घर्घर ध्वनि से उन्होंने क्षुधा से रुद्ध हृदयों को (कञ्चित्) सान्त्वना दी।

सूर्यास्त-वर्णन

सूर्यास्त का वर्णन कविसम्प्रदायसिद्ध प्रसिद्ध प्रतीकों—सूर्य और कमलिनी, भ्रमर और नलिनी तथा चक्रवाक और चक्रवाकी का आश्रय लेकर उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलङ्कारों के माध्यम से किया गया है। वर्णन परम्परागत शैली में उपनिबद्ध होते हुए भी माघ और श्रीहर्ष की अतिरंजितशास्त्रीयबहुज्ञता, पौराणिकव्युत्पत्ति, श्लेष और यमक की क्लिष्टता से शून्य होने के कारण सरल, स्वाभाविक एवं काव्यत्व से परिपूर्ण हैं। दिवसभर तपनत्व का विस्तार करने के पश्चात् सूर्य अस्ताचल की ओर गमनशील हो जाता है। इस सम्बन्ध में कवि ने एक अत्यन्त सरल परिकल्पना प्रस्तुत की है—(सम्भवतः) सूर्य रतिभूमि पर गोप-वधुओं को उपस्थित देखकर यह विचार करने लगता है कि 'यहाँ पर तो अब निधुवनोन्नति अर्थात् शृंगार विलास होगा (अतएव अब यहाँ से चला जाना ही उचित है), इसलिए वह अपनी किरणों को समेट कर जा रहा

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १।७.

२. वही, १।६.

है[1]।' भारवि की कल्पना में भी 'सूर्य केलिक्रीड़ा से निवृत्त सुरांगनाओं के मन को रमण करने की इच्छा से कलुषित-सा जानकर उनका प्रिय सम्पादन करने की इच्छा से अस्तोन्मुखी हो जाता है।'[2] सूर्य एकाकी न जाकर अपनी किरणों को भी साथ क्यों ले जाता है? इस प्रश्न का उत्तर कवि की निम्न उत्प्रेक्षा से सहज ही प्राप्त हो जाता है, यथा—

सर्वतः प्रसृमरास्तपतो मे निर्भरं य इह ते यदि हेयाः।
कीदृशैरहह तद्भवितव्यं कर्षतीति किरणान् नु पतंगः॥[3]

अर्थात् (चलते समय) सूर्य विचार करता है कि 'जिन किरणों ने हमारे तपनत्व का विस्तार सर्व दिशाओं में किया है, उन्हें इस प्रकार त्याग कर चल देना कैसा होगा?' (अर्थात् औचित्यपूर्ण नहीं होगा, मानों) इसीलिए वह शनैः शनैः अपने किरण जाल का आकर्षण करने लगता है।

सूर्य के अस्तोन्मुखी होते ही आकाश आरुणिमाभा से रंजित हो जाता है। सन्ध्याकालीन इसी लालिमा का वर्णन कवि ने रूपक अलंकार से किया है, यथा—

वियदङ्गनविद्रुमस्थली दिवसाशोकविलोलपल्लवम्।
चरमाचलकुम्भिकम्बलो विमलोऽलक्ष्यत भानुमण्डलः॥[4]

सूर्य के लोहितवर्ण होने के कारण कवि ने वर्णसाम्य के आधार पर उस पर विद्रुमस्थली, अशोक-पल्लव एवं कम्बल का आरोप किया है। प्रस्तुत उपमान रक्तिमाकाश की तद्रूप नयनाभिराम शोभा को प्रत्यक्ष उपस्थित कर देते हैं।

शनैः शनैः सूर्य की सर्वत्र विस्तृत लालिमा में संकोच होने लगता है और वह एक बिम्ब रूप में समाहित होकर पश्चिम दिशा को अलंकृत करने लगती है। सूर्य के उसी लोहित बिम्ब का कवि ने वाच्योत्प्रेक्षा के माध्यम

---

१. इत्थमुत्थितवती रतिभूमो वीक्ष्य गोकुलवधूर्दिननाथः।
वर्द्धतां निभुवनोन्नतिरासामित्यपास्तपाटमास्तमियाय॥
कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १०।३.

२. वीक्ष्य रन्तुमनसः सुरनारीरात्तचित्रपरिधानविभूषाः।
तत्प्रियार्थमिव यातुमथास्तं भानुमानुपपयोधि ललम्बे॥
भारवि, किरातार्जुनीयम्, ९।१.

३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १०।४.

४. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम, ११।७५.

से वर्णन किया है, यथा—

चन्द्रमाः स्वपिति तावकगेहे कीदृशी त्वमिति वादशमाय।
वारुणीदिगवलाऽरुणमर्कं लौहपिण्डमिव तप्तमधत्तु॥[1]

यहाँ पर कवि ने सूर्य में तप्त लौहपिण्ड की सम्भावना की है। स्त्रियाँ प्रायः सतीत्व की परीक्षा अग्निप्रवेश द्वारा देती हैं। कवि ने उसी सत्य के आधार पर यह उत्प्रेक्षा की है तथा उत्प्रेक्षा के माध्यम से वारुणी दिशा को एक अबलानारी के रूप में चित्रित किया है। चन्द्रमा दिवस में उसके गृह में शयन करता है, इसलिए अन्य लोग उसके चरित्र पर आक्षेप करते हैं कि परपुरुष तुम्हारे गृह में शयन करता है, तुम कैसी पतिव्रता हो? (मानों) इसीलिए अपने सतीत्व की पतिव्रता का प्रमाण देने के लिए वह तप्त-लौहपिण्ड (सूर्य) को धारण करती है। प्रस्तुत उत्प्रेक्षा प्रभावोत्पादक बन पड़ी है। क्षणभर में समस्त दृश्य नेत्रों के समक्ष प्रत्यक्ष हो उठता है। प्रकृति और लोकजीवन के समन्वय की मनोहारिता का आस्वादन हो जाता है।

सूर्य के अस्त होते ही कमलिनी गतरसा हो जाती है। भ्रमर पूर्व अनुराग के कारण गुन-गुन शब्द करते हुए निमीलित कमलिनियों पर पुनः-पुनः गिर कर अपना अत्यादर प्रकट करने लगते हैं। किन्तु कुमुद्विनी को प्रसन्न करने वाली रात्रि को भ्रमर का यह व्यवहार अरुचिकर प्रतीत होता है, फलस्वरूप वह सहजवैरवती हो जाती है।[2] शनैः शनैः चंचल स्वभाव का चंचरीक नलिनी के सहज अनुराग को विस्मृत कर कुमुदिनी की चाटुकारता में उपस्थित हो जाता है। कवि की दृष्टि में भ्रमर की यह अस्थिर चित्त-वृत्ति स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। क्योंकि रसिकजन एक ही रस का निरन्तर आस्वादत करते-करते वैराग्ययुक्त रस का आस्वादन करने लगते हैं, उसी प्रकार मधुपान से मत्त भ्रमर नूतन रस की स्पृहा में कमलिनी का परित्याग कर कुमुदिनी का आश्रय लेता है।[3] नित्य नूतन रस के लुब्धक भ्रमर का वर्णन करते हुए कवि की उक्ति है—

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १०।५.

२. अपतता क्वचनापि च निर्यता मदकलालिकुलेन समस्ततः।
सहजवैरवती च बभूव सा कुमुदिनीमुदिनीरजनी तदा॥ वही, ४।३६.

३. अविरतं नलिनी मधुमाधुरी मदमदा अपि पुष्पलिहो मुहुः।
कुमुदिनीमभजन्निरतस्पृहा नवरसा वरसाधुजनाः खलु॥
वही, ४।३८.

नवविकासपराऽपि कुमुद्वती मधुकरैः सुतरां परिबोधिता।
बलवता दयितेन यथा भवेत् प्रियतमायतमानविरामतः ॥[1]

अर्थात् नूतन रस की स्पृहा में भ्रमर नवयौवना अर्धविकसित कुमुदिनी के चारों ओर चक्कर काटने लगता है, ऐसा प्रतीत होता है मानों वह उसे जगा रहा है। कवि ने भ्रमर के इस व्यवहार की साम्यता शक्तिशाली प्रियतम के व्यवहार से स्थापित की है। प्रिय भी विश्राम करती हुई प्रियतमा की बलपूर्वक निद्रा भंग कर देता है उसी प्रकार भ्रमर भी कुमुदिनी को प्रबोधित कर रहा है। प्रस्तुत वर्णन शृंगार रस का व्यंजक होने के कारण रसोद्वर्धक है।

अस्तोन्मुखी सूर्य से कमलिनी का वियोग तो होता ही है, साथ ही चक्रवाक दम्पति को भी वियोगाग्नि में दग्ध होना पड़ता है। इसलिए अस्ताचल पर दुपहरियाँ के पुष्प सदृश कान्तिवाले सूर्य को देखकर भावी-वियोग की वेदना उनके हृदयों को पीड़ित करने लगती है।[2] सूर्यास्त के इस अवसादपूर्ण दृश्य का वर्णन करते समय कवि सहसा दार्शनिक बन जाता है। कवि विचार धारा में सूर्य के अस्तगत होते ही नलिनी का निमीलित हो जाना, विष्णुपद का मलीन हो जाना एवं चक्रवाकी का विरहाकुलित हो जाना उचित ही है, क्योंकि तेजस्वी जनों की विपत्ति सभी कुछ करा सकती है।[3] साथ ही विधि के विधान को कौन रोक सकता है? नहीं तो जो सूर्य जगत् का नेत्र, विमलता का स्वामी एवं समस्त कान्तियों का आधार था, वह इस प्रकार गिरता?[4] अन्त में कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सम्भवतः हर्ष और विषाद का चिर साहचर्य है। तभी सूर्यास्त से कमलिनी मुकुलित हो जाती और कुमुदिनी प्रफुल्लित। सूर्य का ताप ध्वस्त हो जाता है, लेकिन अन्धकार विस्तृत होने लगता है। मदमुदित चकोरी का नाद

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ४।३७.

२. चरमाचलबन्धुजीवकस्तबकस्तोमरुचौ दिवाकरे।
हृदयानि रथाङ्गपक्षिणामनुदद् भाविवियोगवेदना ॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ११।७३.

३. मिहिरेऽस्तगते निमीलिता नलिनीविष्णुपदं मलीमसम्।
विरहाकुलिता च चक्रिणी तनुते किं न विपन्महौजसाम् ॥ वही, ११।७७.

४. नयनं जगतामधीशितुर्विमलानामवलम्बनं रुचाम्।
निपपात तथापि भास्करो विधियोगः किल केन वार्यताम् ॥ वही, ११।७६.

काम को उद्दीप्त करने लगता है। दिशाओं का मुख अधिक मनोज्ञकान्ति को धारण करने लगता है।[1]

अन्धकार-वर्णन

सूर्यास्त होते ही सर्पणशील अन्धकार शनैः शनैः आकाशमण्डल को आच्छादित कर लेता है। कवि की कल्पना में यह अन्धकार सर्पों का निःश्वास है।[2] अन्धकार की सघनता वस्तुज्ञान एवं दिशाज्ञान दोनों का सर्वथा विलुप्तीकरण कर देती है। अतएव तिमिराच्छन्न दिशाओं के सम्बन्ध में केवल कवि प्रतिभोत्थित संशय अथवा सम्भावना ही व्यक्त की जा सकती है। संस्कृत कवियों ने प्रायः प्रगाढ़ान्धकार वर्णन के लिए सन्देह और उत्प्रेक्षा का आश्रय लिया है। कवि कर्णपूर के अन्धकार वर्णन में भी उत्प्रेक्षा एवं सन्देह जैसे उपयुक्त अलंकारों का प्राधान्य है।[3]

सर्वत्र विस्तृत निविड़ अन्धकार में कहीं कुछ दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। कालिमा की प्रच्छदपट से आच्छादित होने के कारण सभी दिशाएँ एक में समाहित प्रतीत होती हैं। प्रस्तुत वस्तुःस्थिति का कवि ने सन्देह अलंकार के माध्यम से सुन्दर चित्र चित्रित किया है, यथा—

> दिग्गजाः किम् परस्परक्ताः किं पुनर्दिगचलाश्चलपक्षाः।
> इत्थमूहितविकारविशेषं ध्वान्तमत्र न ममौ जगदण्डे ॥
> किं तमालतरुभिर्जगदेतन्निर्मितं ननु किमंजनपुंजैः।
> रंजितं नु हरकण्ठमयूखैः किन्वभूदिहदिगन्तरलोपः ॥

अर्थात् क्या सकल दिग्गज परस्पर संयुक्त हो गये हैं अथवा क्या सकल दिग्पर्वत परस्पर पक्षसंचालन करने लगे हैं ? अथवा क्या तमालतरु के द्वारा जगत् का निर्माण किया गया है ? अथवा क्या अंजनपुंज से जगत् रंजित हो गया है ? अथवा क्या नीलकण्ठ (महादेव) की कण्ठकिरणों ने दिगन्तर का लोप कर दिया है।

---

१. मुकुलितनलिनानि प्रोल्लसत्कैरवाणि प्रसृमरतिमिराणि ध्वस्तसूर्यातपानि।
मदमुदितचकोरीनादसान्द्राणि कामं दधुरधिकमनोज्ञां कान्तिमाशामुखानि ॥
वही, ११।८१.

२. द्योतितानि विरचय्य तथान्यद्वीपवर्त्तिनी दिवाकररत्ने।
अभ्यपूरि जगदुच्चतमिस्रं श्वासधूमपटलैर्भुजगानाम् ॥
कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , १०१६.

३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम., १।७, ८.

उत्प्रेक्षावैचित्र्य से अन्धकार का वर्णन करने में कवि को अपूर्व सफलता मिली है। अन्धकार में मृगमद के चूर्ण की सम्भावना प्रकट करते हुए कवि की कल्पना है कि—

सम्मदादिव परस्परमाशाथोंषितो मृगमदोत्करचूर्णैः।
मन्मथोन्मथितमुग्धवधूनां रञ्जयन्ति पुरकेलिवनान्तम् ॥[1]

अर्थात् दिग्वधुओं ने (मानों) प्रसन्न होकर अन्धकाररूप मृगमद के चूर्ण द्वारा मदनोन्मत्त गोपवधुओं के अग्रवर्त्ति केलिकानन के मध्यदेश को अनुरंजित कर दिया है। केलिक्रीडा के लिए गोपवधुओं का मनोवांछित अन्धकार है। उस अन्धकार को प्रदान कर दिशाओं ने उन पर उपकार किया है।

अन्धकार की कृष्णिमा एवं सान्द्रता कवि की वाच्योत्प्रेक्षा में और अधिक स्निग्ध एवं कोमल हो गई है, जो शूद्रक की "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि"[2] का स्मरण करा देती है, यथा—

आलिम्पन्निव निर्भरं दशदिशः कालागुरूणां रसै-
रातन्वन्निव भूषणं त्रिजगतां सान्द्रेन्द्रनीलोत्पलैः।
तल्पं संपरिकल्पयन्निव दिवंस्तापिच्छवल्लीदलैः।
प्रत्याशं च समुल्ललास तरसा गाढान्धकारोत्करः ॥[3]

अर्थात् प्रत्येक दिशा में व्याप्त प्रगाढ़ान्धकार कालागुरू के रस से दशो दिशाओं को लीप-सा रहा है, नील कमलों से जगत् के लिए आभूषण-सा बना रहा है तथा तापिच्छावली के दलों से दिवस के (विश्राम के) लिए सुन्दर तल्प की रचना-सा कर रहा है।

चन्द्रोदय-वर्णन

अन्धकार के पश्चात् यथाक्रम चन्द्रोदय का वर्णन किया गया है। चन्द्रोदय के वर्णन में विशेषतः रूपक, उत्प्रेक्षा एवं समासोक्ति का आश्रय लिया गया है। तिग्मद्युति के (तपनत्व विस्ताररूप कार्य से) वैराग्य ले लेने के अनन्तर ही जगत् अन्धकाररूपी सागर में निमग्न हो जाता है, किन्तु (उसी समय) शीघ्र ही चन्द्रमा अपने (किरण रूप) करों से संसार का

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १०।११.
२. शूद्रक, मृच्छटिक, १।३४.
३. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १७।८३.

उद्धार करने के लिए आ पहुँचता है। वस्तुतः तेजस्वी व्यक्तियों के लिए कोई कार्य अशक्य नहीं होता है।[1]

उदित होते हुए चन्द्र की किरण ईषत् पाण्डु वर्ण की होती हैं। साथ ही चन्द्र के उदीयमान होते ही कमलिनियों के नेत्र मुकुलित एवं कुमुदिनी दल विकसित हो जाते हैं। सम्पूर्ण सुमेरु एक दिव्य आभा से अवलोकित हो उठता है। कवि ने सम्पूर्ण दृश्य को एक श्लोक में उपस्थित करने का प्रयास किया है, यथा—

उद्भासयन्नथ नभः कनकावदातैस्तेजोभिरब्जविनिमीलनसिद्धमन्त्रः।
आनन्ददयन् कुमुदकाननमुद्धनश्रीः शीतद्युतिः कनकशैलमलंचकार ॥[2]

अर्थात् कमलिनी (के नेत्रों) को मुकुलित करने वाला सिद्धमन्त्र चन्द्र स्वर्णिम आभा से कान्तिमान् किरणों से गगनमण्डल को उद्भासित एवं कुमुदवन को आनन्दित करते हुए अपनी उद्धत श्री से कनकाचल को अलंकृत करने लगा। यहाँ पर उदित चन्द्र की पाण्डुता की समता स्वर्णिम पीत कान्ति से स्थापित की गई है एवं चन्द्र पर कमलिनी को निमीलित करने वाले सिद्धमन्त्र का आरोप किया गया है। उपमा और रूपक के वैचित्र्य से सुन्दर दृश्य उपस्थित किया गया है।

उदीयमान चन्द्र की पाण्डुता क्रमशः ईषत् रक्तिमा का स्पर्श करने लगती है। चन्द्र की लालिमा का चित्र कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से प्रस्तुत किया है, यथा—

उद्यत्तमालदलभासिनभोवकाशे रेजुर्निशाकरकरप्रकरास्तदानीम्।
विस्तारिता इव हरिन्मणिवेदिकायामुद्दामकुंकुमरसाः कुसुमायुधेन ॥[3]

अर्थात् आकाशमण्डल स्निग्धतमाल दल की भाँति सघन कालिमा से आच्छादित है, उस पर उदीयमान चन्द्र की ईषत् रक्त किरणें इतस्ततः पड़ रही हैं, मानों कुसुमायुध ने मरकतमणि की वेदिका पर उद्दामकुंकुमरस विकीर्ण कर दिया हो। प्रस्तुत स्थल पर कवि की यह सम्भावना अत्यधिक सुन्दर एवं उपयुक्त प्रतीत होती है। क्योंकि चन्द्रोदय के बाद ही कामोत्सव

---

१. तिग्मद्युतौ विरतिभाजि यदन्धकार-वारांनिधौ निरवधौ जगदाममज्ज।
द्रागुद्यता तदुदधारि करोत्करेण शीतांशुना किमुरुधामभृतामशक्यम् ॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १२।१२.

२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १२।१.

३. वही, १२।६.

मनाया जाता है। अतएव उत्सव की भूमिका के रूप में कामदेव द्वारा कुंकुम रस विकीर्ण करना स्वाभाविक ही है।

अन्यत्र कवि ने इसी लालिमा को उत्प्रेक्षा माला से अभिव्यक्त किया है, यथा:—

शोणाम्बुजैरिव वियद्वरुणालयस्य रक्तांशुकैरिव निशामणिमेखलायाः।
काश्मीरपंकनिकरैरिव दिग्वधूनामुद्भासितं भुवनमिन्दुमहः प्रतानैः॥[1]

उदित होते हुए चन्द्र की किरणें जगत् को आकाशरूपी वरुणालय के रक्तकमलों के, रात्रि (रूपी नायिका) की मणिनिर्मित मेखला की रक्त-किरणों एवं दिग्वधुओं के केशरपंक से (मानों) उद्भासित-सी कर रही हैं। यहाँ पर चन्द्र की रक्तकिरणों में शोणाम्बुज, रक्तांशु एवं कश्मीर-पंक की सम्भावना की गई है, जो सुन्दर प्रतीत होती है।

शनैः शनैः चन्द्र की लालिमा श्वेतमा में परिवर्त्तित हो जाती है। चन्द्र की कामोद्दीपकता कवि सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। संयोग शृङ्गार में चन्द्र सुप्तकाम को जाग्रत कर कामियों का मित्रवत् प्रिय सम्पादन करता है। किन्तु विप्रलम्भ शृङ्गार में चन्द्र वियोगियों को विशेषतः पीड़ित करता है। अतएव चन्द्र के प्रति वियोगी जनों की क्या धारणा है? यह निम्न श्लोक की उत्प्रेक्षा से स्पष्ट है, यथा—

विभ्राजमानघनकान्तिसमुज्जिहानज्वालाशतो विततनीव्रकलंकधूमः।
आदीपयन् वियदुदारवनीमनेकां दावानलो विधुरमानि वियोगिनीभिः॥[2]

अर्थात् जिस प्रकार धूमादि कलंक से विहीन होकर अग्नि अपनी स्पष्ट ज्वालाओं के साथ सुशोभित होती है, उसी प्रकार चन्द्र (आकाश के अन्धकार रूप कलङ्क को दूर कर) समस्त किरणों के साथ सुशोभित हुआ। किन्तु वियोगी स्त्रियों ने चन्द्र को आकाशरूपी कानन को दग्ध करनेवाला दावानल माना। वियोगी स्त्रियों द्वारा चन्द्र को दावानल रूप में सम्भावित करना सर्वथा औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि दावानल कानन को दग्ध करती है और चन्द्र वियोगी जनों को दग्ध करता है।

चन्द्र की दर्पण एवं रात्रि की रमणी रूप में कल्पना संस्कृत कवियों में अत्यधिक प्रसिद्ध रही है। कवि कर्णपूर को यह उपमेय और उपमान अत्यधिक प्रिय प्रतीत होते हैं। उन्होंने चन्द्रोदय के वर्णन प्रसङ्ग में कई स्थलों पर चन्द्र की दर्पण एवं रात्रि की रमणी रूप में कल्पना की है।

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १२।७.

२ वही, ११।६.

'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में भी उन्होंने 'शोभादेवी के दर्पण' से चन्द्र की उपमा दी है; यथा—'दर्पण इव शोभा देव्याः[1] ।'

'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में चन्द्र को दर्पण रूप में कल्पना 'समासोक्ति' अलङ्कार के माध्यम से अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रकट हुई है; यथा—

संगार्थिनी ललितमन्मथवल्लभस्य रात्रिर्वियद्विमलतल्पतले निषण्णा ।
संवीक्षितुं मुखमुदारतरं दधार प्रोद्दामदर्पणमिषेण शशांकबिम्बम् ॥[2]

यहाँ पर प्रस्तुत रात्रि पर अप्रस्तुत नायिका के व्यवहार का आरोप स्पष्टतः प्रतीत हो रहा है। रात्रि अपने प्रियवल्लभ कामदेव (मन को मथने वाले कामदेव के समान प्रियवल्लभ) के साथ समागम की इच्छा से आकाशरूपी विमल तल्प (आकाश के समान विमल तल्प) पर लेटकर अपने सुन्दर मुख को देखने के लिए सुन्दर दर्पण के मिष चन्द्रविम्ब को धारण कर रही है। यहाँ पर श्लिष्ट विशेषणों के साम्य से नायिका के व्यवहार की प्रतीति हो रही है। कवि कर्णपूर कृत चन्द्र और रात्रि का यह वर्णन सरल, सरस एवं शृङ्गाररसोद्दीपक होने के कारण सुन्दर प्रतीत होता है। अन्यत्र वर्तुलाकार पूर्ण चन्द्र के लिए अत्यन्त ललित कल्पना कवि ने की है, जो उनकी सौन्दर्यानुभूति की परिचायक है। यथा—

ताराभिरामगजमौक्तिकपंक्तिहारहृद्येन निर्मलगुणोत्करगुम्फितेन ।
वक्षःस्थले ललितभासि निशारमण्या माणिक्यनायकदशापि सुधाकरेण ॥[3]

यहाँ पर निशा को एक ऐसी सुन्दरी के रूप में चित्रित किया गया है, जिसके वक्षःस्थल को माणिक्य से सुशोभित गजमुक्ताओं का निर्मलगुणों से गुम्फितहार अलंकृत कर रहा है। वस्तुतः माणिक्य की उपस्थिति से हार की सौन्दर्यवृद्धि के साथ ही रमणी के वक्षःस्थल का सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। अतएव आकाश पर सघन विकीर्णतारों की कल्पना गजमुक्ताओं के रूप में की गई है, जो किरणों के जाल से एक-दूसरे से गुम्फित हो गये हैं। हार के सौन्दर्य को द्विगुणित करने वाला मध्यावस्थित माणिक्य नायक की दशा चन्द्रमा को प्राप्त हो रही है। इसी कमनीय हार को निशा रमणी

---

१. कविकर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू (पण्डित न्यू सीरिज, खण्ड २), १७।३२, पृ० ४४४.

२. कविकर्णपूर, पारिजातहरणम्, १२।१०.

३. वही, १२।८.

ने धारण किया हुआ है। कवि की कोमल कल्पना का सौन्दर्य रूपक के माध्यम से और अधिक चमत्कृत हो गया है।

पूर्ण चन्द्र का ललित वर्णन करने के उपरान्त कवि शोभाविहीन कमलिनो और प्रफुल्लित होती हुई कुमुदिनी को देखकर दार्शनिक बन जाता है। कवि की भावुकता चरमसीमा पर पहुँचकर विश्व का शाश्वत सत्य सामने रख देती है—

शीतद्युतिद्युतिनिरस्तसमस्तशोभा-
सर्वस्वमंबुजवनं तरसा विहाय।
श्रीरध्युवास कुमुदेषु मुदा तदानीं
निःस्वेषु कः प्रणयगर्हितमादधाति ।।[1]

अर्थात् जिन अम्बुजवनों को समस्त शोभासर्वस्व को चन्द्र ने हरण कर लिया था, उनको त्याग कर लक्ष्मी कुमुदवनों में निवास करने लगी (उचित भी है, क्योंकि) निर्धन लोगों से कौन प्रणय करता है। कवि का उक्त कथन उनके लोकपर्यविक्षण एवं सांसारिक अनुभव को प्रकट करता है। कवि ने जीवन के इस सत्य को काव्य के माध्यम से अत्यन्त सरलता के साथ प्रस्तुत किया है, जो सहृदयों को प्रभावित करता है। चन्द्रोदय के प्रसङ्ग में इस तरह के दार्शनिक भाव भारवि ने भी अभिव्यक्त किये हैं; यथा—'पंकज श्री रात्रि के राग से उदास होकर प्रफुल्लता का त्याग करते हुए कमलों को छोड़कर नक्षत्रमण्डित आकाश मण्डल में चली गई। सब लोग सुरक्षित स्थान में निवास करने के अभिलाषी होते हैं।[2]

इस सम्बन्ध में माघ के भाव भी दृष्टव्य हैं, यथा—'यह कमल ही (केवल) लक्ष्मी के नित्य निवास का स्थान है, उसका भी उस लक्ष्मी ने सायंकाल त्याग कर दिया (देवताओं का भी ऐसे नित्योपकारी का आपत्तिकाल में त्याग कर कृतघ्न बन जाना) आश्चर्य है, अथवा चञ्चल स्वभाववाली स्त्री के विषय में यह आश्चर्यजनक नहीं है।[3]

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १२।१३.

२. रात्रिरागमलिनानि विकासं पंकजानि रहयन्ति विहाय।
स्पष्टतारकमियाय नभः श्रीर्वस्तुमिच्छति निरापदि सर्वः ।।
भारवि, किरातार्जुनीयम्, ९।१६.

३. निलयः श्रियः सततमेतदिति प्रथितं यदेव जलजन्म तया।
दिवसात्यया तदपि मुक्तमहो चपलाजनं प्रति न चोद्यमदः ।।
माघ, शिशुपालवधम्, ९।१६.

प्रभात-वर्णन

कवि ने प्रभातवर्णन की ओर अपनी विशेष अभिरुचि का ज्ञापन नहीं किया है। 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में प्रभातवर्णन के प्रसंग का उल्लेख भी नहीं किया गया है। 'चैतन्यचरितामृतम्' के दशमसर्ग के अन्तिम श्लोकों में प्रभात का यत्किंचित् वर्णन किया गया है। यहाँ पर कवि की कल्पना का आधार प्रदीप, सूर्य, भ्रमर एवं कमल है, उनकी ओर उसकी दृष्टि गई है। निशावसान की स्निग्ध वेला में कृष्ण अपनी प्रिया के साथ रति श्रान्त परिरम्भ किये सोये हुए हैं। मन्द-मन्द प्रवाहित होने वाली प्रभातकालीन वायु के झोंकों से रति प्रदीप की शिखा दोलायमान हो रही है। कवि की सम्भावना में प्रदीप शिर सञ्चालन करता हुआ सहर्ष यह बता रहा है कि इस प्रकार का काम-संग्राम त्रिभुवन में नहीं हुआ है।[1]

निशावसान को सूचित करने वाली कवि की यह उत्प्रेक्षा सुन्दर प्रतीत होती है। निशावसान के पश्चात् ही स्निग्ध ऊषा का आगमन होता है। मधुर अरुणिमा से अनुरंजित प्राची दिशा एवं रात्रि भर रति प्रकोष्ठ को प्रकाशित करने वाले रति प्रदीपों की मलिन कान्ति दोनों ही दृश्य कवि की उत्प्रेक्षा में एक साथ अभिव्यक्त हो उठे हैं। यथा—

अयमयमुदितोऽहं वर्त्तसे किन्विदानी—
मिति परिणतकोपालोहितस्तिग्मभानुः।
अथ रजनिविरामे प्रेयरन् जालरन्ध्रे
करमिव किमु नैशं नाशयामास दीपं ॥[2]

अर्थात् रजनी के विरामकाल में अथवा प्रभातकाल में 'मैं उदित हो रहा हूँ, फिर भी तुम विद्यमान हो' मानों यह कहते हुए सूर्य ने अत्यधिक कोप से लोहितांग होकर अपनी किरणरूपी कर का प्रसारण करके रात्रि प्रदीप का विनाश कर दिया। लालिमा की क्रोध से समता स्वाभाविक प्रतीत होती है, क्योंकि क्रोध का वर्ण रक्त कवि सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है।

सूर्य की किरणों का स्पर्शलाभ होते ही कमलिनी प्रफुल्लित हो जाती

---

१. मदनरणविरामे कान्तयोः श्रान्तिभाजोरलसभरविभुग्नं सुप्तयो रात्रिशेषे।
नहि नहि नहि कुत्रोप्येवमस्तीति हर्षादिव विधुरति शीर्षं वम्नधृतःप्रदीपः ॥
कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १०।७६.

२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १०।७७.

है। कमलिनी के दलों में रात्रिपर्यन्त बन्दी रहने वाला भ्रमर स्वतन्त्र हो जाता है। किन्तु फिर भी वह कमलिनी के आसपास भ्रमण करता रहता है। भ्रमर की इस मदता का कविकृत वर्णन रमणीय प्रतीत होता है, यथा—

वपुरतुलपरागैर्धूषरं नास्ति शक्ति—
र्लवमपि निजपक्षक्षेपणे घूर्णसीव।
परिकलितमिदं तत् कोऽपि ते नास्ति दोषो
मधुकर कमलिन्या एव कोऽपि प्रभावः॥[1]

अर्थात्—हे मधुकर! अत्यधिक पराग से तुम्हारा शरीर धूसर वर्ण का हो गया है, (रात्रिपर्यन्त बन्धनयुक्त रहने के कारण) तुम्हारे में किंचित् मात्र भी शक्ति नहीं है, फिर भी तुम अपने पक्षों को फैलाकर घूर्णमान हो रहे हो। वस्तुतः इसमें तुम्हारा दोष नहीं है। यह एक मात्र किसी कमलिनी का ही प्रभाव है।

ऋतु-वर्णन

षड्ऋतु की परम्परा का निर्वाह दोनों महाकाव्यों में किया गया है। किन्तु वर्षा ऋतु की हरीतिमा, शरद् की निर्मलता एवं वसन्त की मादकता ने कवि को अधिक प्रभावित एवं आकर्षित किया है। अतएव प्रमुख रूप से इन तीनों ऋतुओं का वर्णन ही महाकाव्यों में विशेष रुचिकर व रमणीय प्रतीत होता है।

वर्षा-ऋतु

वर्षा-ऋतु का वर्णन करते समय कवि ने सर्वप्रथम निदाघ की प्रचण्डता से तप्त पृथ्वी को नवीन जीवन प्रदान करने वाली सुधास्यन्दिनी जलधारा का वर्णन किया है, जो कवि की कल्पना में मेघों के अश्रु रूप में प्रतीत होती है; यथा—

विकसत्कदम्बनवगन्धरसैरतिचारुवासितवतीः ककुभः।
परिरभ्य हर्षभवमश्रुभरं जलदोद्गमः क्षणवशादमुचत्॥[2]

अर्थात् विकसित कदम्बों की नूतन सुगन्ध से सुरभित दिशाओं का आलिंगन करके मेघ अत्यधिक आनन्दातिशय से अश्रुमोचन कर रहा है। यहाँ पर मेघ के व्यवहार में नायक के व्यवहार की प्रतीति हो रही है।

---

१. कवि कर्णपूर चैतन्यचरितामृतम्, १०।७९,

२. वही, ७।४१.

जिस प्रकार कोई नायक बहुत दिवसों के पश्चात् नायिका से मिलने के उपरान्त उसका आलिंगन करता है उस समय प्रेमातिशय के कारण स्वतः अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं उसी प्रकार यहाँ मेघ दिशाओं से ग्रीष्म के बाद मिल रहा है, अतएव अश्रुमोचन करना स्वाभाविक है।

वर्षा-ऋतु कामोद्दीपक होती है। अतएव कवि ने कुछ वर्णन परम्परागत किये हैं, यथा—'नवीन मेघों के ऊर्जित गर्जन और केलिरत शिखण्डियों की केकाध्वनि को सुनकर मानवती कामिनियों का मान खण्डित हो गया और वे प्रिय के समीप जाने के लिए उत्सुक हो गईं।'[1] केतकी की कामोद्दीपकता का वर्णन उत्प्रेक्षा से करते हुए कवि का कथन है कि—'प्रत्येक वन वनवारि और केतकी की पंक्तियों से सुशोभित है; मानों तीनों जगत् को जीतने वाले ऊर्जित तेज वाले कामदेव की कांचनशस्त्रिका प्रस्फुटित हो गई है।[2]

कवि कर्णपूर ने वर्षाऋतु के प्रसंग में सलिलभार से बोझिल अतएव मन्द-मन्द गमन करने वाले श्यामवर्णवाले बादलों की समता युद्ध में विचरने वाले मदमत्त हाथियों से प्रदान की है; यथा—

इन्द्रनीलमणिनील-विग्रहावारिदाः सलिलभारमन्थराः।
सञ्चरन्ति वियति प्रसादिनः पश्य संयति मतङ्गजा इव ॥[3]

अर्थात् इन्द्र नीलमणि के समान नीलवर्ण के, जल से भरे हुए बादल आकाश में वैसे ही विचर रहे हैं, जैसे युद्ध क्षेत्र से प्रसन्न मतवाले हाथी। यहाँ वर्षाकालीन मेघों का दृश्यचित्र कवि ने उपमा अलंकार के माध्यम से प्रस्तुत किया है। वारिद उपमेय और मतंगज उपमान है। उपमा वाचक 'इव' शब्द है। नीलत्व और मन्थरता साधारण धर्म है। वारिद इन्द्रनील मणि के समान श्याम एवं सलिलभार से मन्थर गति वाले हैं। अतएव धीरे-धीरे आकाश पर विचर रहे हैं। कवि ने इस प्रकार के बादलों का साम्य रणक्षेत्र में धीरे-धीरे विचरते हुए हाथियों से स्थापित कर अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय देने के साथ ही संस्कृत साहित्य की प्राचीन परम्परा का अनुमोदन भी किया है। संस्कृत के प्रायः सभी कवियों ने

---

१. नववारिदगर्जमूर्जितं निनदं कौतुकिनां च केकिनाम्।
उपलभ्य न का नितम्बिनी कृतकोपापि ययौ प्रियान्तिकम् ॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ११।१३.

२. प्रतिवनं वनवारिविराजिता रुरुचिरे वरकेतकराजयः।
स्फुटजगद्विजयोर्जिततेजसो रतिपतेरिव काञ्चनशस्त्रिकाः ॥ वही, १८।२६.

३. वही, १७।४५.

वर्षाऋतु के वर्णन-प्रसङ्ग में बादलों की उपमा हाथियों से दी है। सर्वप्रथम आदि कवि वाल्मीकि ने इस परम्परा का सूत्रपात करते हुए 'रामायण' में दो स्थलों पर बादलों की उपमा हाथियों से दी, यथा—'गिरिराज के शिखरों की-सी आकृति वाले मेघ युद्धस्थल में उदीर्णनाद करते हुए मतवाले हाथियों की भाँति गर्जना कर रहे हैं। चमकती हुई बिजलियाँ इन मेघरूपी गजराजों पर पताका के समान एवं बगुलों की पंक्तियाँ माला के समान सुशोभित हैं।'[1] अन्यत्र—'विद्युत् रूपी पताकाओं से अलंकृत एवं समुदीर्ण गर्जना करने वाले इन बादलों के रूप युद्ध के लिए उत्सुक गजराजों के समान प्रतीत हो रहे हैं।'[2] कालिदास ने आदिकवि की कल्पना को अपनी प्रतिभा से और अलंकृत कर पुनः बादलों की उपमा हाथी से दी है; यथा—'देखो प्रिये! जल की फुहारों से भरे हुए बादलों के मतवाले हाथी पर चढ़ा हुआ, विद्युत्पताका को फहराता हुआ एवं बादलों की गरज के नगाड़े बजाता हुआ यह कामियों का प्रिय पावस राजाओं का-सा ठाट बनाकर आ पहुँचा है।[3]

कालिदास के पश्चात् भारवि ने यद्यपि ऋतुवर्णन के प्रसङ्ग में मेघ की उपमा गजराजों से नहीं दी है। किन्तु इसी प्राचीन उपमा के आधार पर उन्होंने हाथियों की समता मेघ से देकर अपनी विदग्धता का परिचय दिया है।[4] माघ ने बादलों की कल्पना हाथी के रूप में करके प्राचीन परम्परा का निर्वाह किया है; यथा—"श्रावण मास में, आकाश में हाथियों के समूह के समान श्याम वर्ण के ऊँचे और नवीन बादलों को देखकर कौन ऐसी

---

१. विद्युत्पताकाः सबलाकमालाः शैलेन्द्रकूटाकृतिसन्निकाशाः।
गर्जन्ति मेघाः समुदीर्णनादा मत्ता गजेन्द्रा इव संयुगस्थाः॥
बाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा., २८।२०.

२. तडित्पताकाभिरलंकृतानामुदीर्णगम्भीरमहारवाणाम्।
विभान्ति रूपाणि बलाहकानां रणोत्सुकानामिव वारणानाम्॥
बाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा., २८।३१.

३. ससीकराम्भोधरमत्तकुञ्जरस्तडित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः।
समागतो राजवदुद्धतद्युतिर्घनागमः कामिजनप्रियः प्रिये॥
कालिदास, ऋतुसंहार, २।१.

४. सिन्दूरैः कृतरुचयः सहेमकक्ष्याः स्रोतोभिस्त्रिदशगजा मदं क्षरन्तः।
सादृश्यं ययुररुणांशुरागभिन्नैर्वर्षद्भिः स्फुरितशतह्रदैः पयोदैः॥
भारवि, किरातार्जुनीयम्, ७।८.

रमणी थी, जो अपने अनन्य प्रेमी प्रियतम को एकान्त में नहीं चाहने लगी तथा उसके साथ अभिसार नहीं करने लगी।'[1]

वस्तुतः बादलों की हाथी रूप में कल्पना अत्यधिक सुन्दर तथा नैसर्गिक प्रतीत होती है। दोनों में वर्णसाम्य के साथ ही साथ स्वभाव साम्य प्राप्त होता है। सम्भवतः इसी कारण कवियों को यह उपमा अत्यधिक प्रिय प्रतीत हुई, जिसके कारण प्रायः सभी कवियों ने इसका उपनिबन्धन किया। आदि कवि के वर्णन में सरलता और स्वाभाविकता विद्यमान है। कालिदास के वर्णन में सरलता और स्वाभाविकता के साथ ही साथ वर्षा की राजा रूप में कल्पना में उनकी उदात्त प्रतिभा की मौलिकता प्रतिभासित होती है। माघ के वर्णन में वाल्मीकि और कालिदास जैसी स्वाभाविकता के स्थान पर विदग्धता की छाया है। उन्होंने यमक और अतिशयोक्ति के माध्यम से वर्षाऋतु की कामोद्दीपकता को स्पष्ट किया है। कवि कर्णपूर के वर्णन में कालिदास जैसी सरलता और स्वाभाविकता है। प्रसादगुण ने उसके सौन्दर्य को द्विगुणित कर दिया है।

शरदृऋतु

शरदृऋतु का चित्रण करने में कवि ने अपनी विशेष सहृदयता एवं सुरुचि का परिचय दिया है। वर्षाऋतु के पश्चात् शरदृऋतु का आगमन होता है। इस दृश्य को कवि ने अत्यन्त रसिकता के साथ उपमा अलंकार के माध्यम से चित्रित किया है; यथा—

> वर्षाशरन्मध्यगतः स कालः परिष्वजन्तीं शरदं चुचुम्बे।
> कान्ताद्वयान्तः शयितो विलासी पार्श्वाविवृत्ताविव वीतनिद्रः ॥[2]

अर्थात् जिस प्रकार दो प्रियाओं के मध्य शयन करने वाला विलासी पुरुष निद्राभंग के समय उसी कान्ता का चुम्बन करता है, जो उस समय उसका आलिंगन करती है। उसी प्रकार वर्षा और शरद् के मध्यगत समय ने अपना आलिंगन करने वाली शरदृऋतु का ही चुम्बन किया। कवि का मन्तव्य यहाँ वर्षा के पश्चात् शरद् के आगमन को चित्रित करना है। कविकृत यह वर्णन शृंगारिक भावों को पुष्ट करने के कारण रसवत् कहा जा सकता है।

---

१. गजकदम्बकमेचकमुच्चकैर्नभसि वीक्ष्य नवाम्बुदमम्बरे।
अभिससार न वल्लभमङ्गना न चकमे च कमेकरसं रहः ॥

माघ, शिशुपालवधम्, ६।२६.

२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १३।६.

शरदृतु के आगमन मात्र से ही निर्मल आकाश में विमल चन्द्र सुशोभित हो जाता है। पंकविहीन जल वाले सरोवरों की शोभा विकसित कमलों एवं हंसों के मधुर स्वर से द्विगुणित हो जाती है। शरदृतु की इन विशेषताओं को कवि ने बड़ी ही सरल समासरहित शैली में अभिव्यक्त किया है; यथा—

विमलं वियदुज्ज्वलः शशी विशदं वारि विकासि पंकजम् ।
समदाः परितः पतत्त्रिणः शरदाकारि जगन्मुदावृतम् ।।
मदमांसहंसनादिता विकसत्पंकजरेणुरंजिताः ।
रुचिरा वनराजयस्तदा मदयन्ति स्म मनो विनोदिनाम् ।।[1]

उपर्युक्त वर्णन स्वाभाविक होने के कारण प्रभावशाली प्रतीत होते हैं।

कवि कर्णपूर को शरदृतु को नारी रूप में चित्रित करना विशेष प्रिय प्रतीत होता है। उन्होंने अपने दोनों महाकाव्यों में शरद् की कल्पना नारी रूप में की है। सर्वप्रथम 'चैतन्यचरितामृतम्' में उनकी शरदंगना का सौन्दर्य द्रष्टव्य है; यथा—

ततो नवोत्फुल्लसरोरुहास्या नवोत्पलाक्षी गतपंकजाला ।
सुजीवना तत्करुणाप्तिकामा दासीव भेजे शरदीश्वरं तत् ।।[2]

यहाँ पर उपमा एवं रूपक के संकर से कवि ने शरद् का चित्रण दासी रूप में किया है। जिस प्रकार पंकमाला से रहित अर्थात् पापों से शून्य कमललोचना दासी नवोत्फुल कमल के समान हास्ययुक्त मुख से, प्रशस्त जीवन अर्थात् सुनिर्मल जल लेकर करुणा लाभ के निमित्त ईश्वर अथवा प्रभु का भजन करती है, उसी प्रकार अभिनव विकसित कमल रूप मुखवाली, नवीन उत्पल रूप नेत्रोंवाली, पंकमाला से रहित अतएव सुन्दर जलवाली शरद् ने पति की करुणा प्राप्ति की कामना से दासी की भाँति उनका भजन किया।

इसी प्रकार 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में कवि कर्णपूर ने शरद् को वधू रूप में चित्रित किया है; यथा—

विशदकाशविकासिदुकूलिनी समदहंसवतंसविभूषिता ।
विकसदब्जमुखीह विलासिनी रसमुदे समुदेति शरद्वधूः ।।[3]

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ११।१४, १५.

२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १३।७.

३. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १०।४३.

अर्थात् विकसित काश के श्वेत दुकूलवाली तथा मदमत्त हंसों के अवतंस पहने हुए कमलमुखी शरद्वधू विलासियों को आनन्दित करने के लिए आ गई।

प्रस्तुत स्थल पर शरद्ऋतु पर वधू का आरोप किया गया है। शरद्-ऋतु में विकसित होने वाले काश पुष्पों पर दुकूल, हंसों पर अवतंसों एवं कमल पर मुख का आरोप किया गया है। यहाँ पर रूपक की सांगता और समस्तवस्तु विषयता स्पष्ट है। क्योंकि कवि ने अङ्गी रूप से अवस्थित वधू रूप आरोप्यमाण (उपमानभूत) पदार्थ का शब्दतः प्रतिपादन किया है तथा अङ्ग रूप में निरूपित दुकूल, अवतंस एवं मुख रूप आरोप्यमाण पदार्थों को भी शब्दतः ही उपनिबद्ध किया है। एक वधू के रूप में शरद् के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन करके कवि ने नेत्रों के समक्ष एक सुन्दर वधू का रूप अङ्कित कर दिया है। किन्तु कविकृत यह कल्पना नहीं कही जा सकती है। शरद् की वधू रूप में कल्पना संस्कृत काव्य में कालिदास से ही चली आ रही है। सर्वप्रथम कालिदास ने शरद् को वधू रूप में चित्रित किया है; यथा—'विकसित काश के परिधान धारण किये हुए, मत्तहंसों की बोली के सुन्दर नूपुर पहने हुए, पके हुए धान से मनोहर शरीरवाली एवं विकसित कमलरूप मुखवाली शरद्ऋतु नवविर्वाहिता रूपवती वधू के समान आ पहुँची।'[1] अन्यत्र—'भगवान् करे! यह विकसित कमरूप मुखवाली, प्रफुल्लित नीलकमलरूप नेत्रों वाली, कुमुद के समान रुचिर कान्तिवाली एवं विकसित काश की सुन्दर साड़ी पहनने वाली यह कामिनी के समान मदमत्त शरद्-ऋतु आप लोगों के मन में नव उमंग उल्लसित करे।'[2] कालिदास के पश्चात् भारवि के काव्य में शरद् का चित्रण वधूरूप में प्राप्त होता है; यथा—'मृणालतन्तुरूप कंकण को, कुमुदिनी के वनरूप वस्त्र को एवं बाण के पुष्पों को धारण करती हुई शरद्रूपी वधू के सुकोमल करकमलों का आलम्बन वर्षाऋतुरूप वर ने लिया।'[3] माघ ने 'शिशुपालवधम्' में शरद् की वधू अथवा

---

१. काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नवधूरिव रूपरम्या॥
कालिदास, ऋतुसंहार, ३।१.

२. विकचकमलवक्त्रा फुल्लनीलोत्पलाक्षी विकसितनवकाशश्वेतवासो वसाना।
कुमुदरुचिरकान्तिः कामिनीवोन्मदेयं प्रतिदिशतु शरद्वश्चेतसः प्रीतिमग्र्याम्॥
वही, ३।२८.

३. धृतबिसवलयावलिर्वहन्ती कुमुदवनैकदुकूलमात्तबाणा।
शरदमलतले सरोजपाणौ घनसमयेन वधूरिवाललम्बे॥
भारवि, किरातार्जुनीयम्, १०।२४.

अंगनारूप में कल्पना दो स्थलों पर की है; यथा—'जिनके कीर्त्तनमात्र से सम्पूर्ण पापपुंज नष्ट हो जाते हैं, ऐसे भगवान् कृष्ण ने विकसित कमलरूपी नेत्रोंवाली एवं नीचे गिरते हुए निर्मल वस्त्रों के समान श्वेत मेघों से युक्त शरद्ऋतु को 'रैवतक' (राजा) के अंक में विराजमान स्त्री की भाँति देखा।'[1] अन्यत्र—'शरद्वधू ने वायु से उड़ाई हुई, नवीन कमलों की केसरों से उत्पन्न धूलि को परिहास की इच्छा से मानों कृष्ण की स्त्रियों के ऊपर बिखेरने के लिए फेंक दिया।'[2]

सम्भवतः संस्कृत कवियों ने शरद् का वधूरूप में चित्रण काव्यपरम्परा के रूप में किया है। किन्तु प्रत्येक कवि के वर्णन में शैली में अपनी मौलिकता है। कालिदास ने उपमा और रूपक की संसृष्टि से शरद् को एक वधूरूप में चित्रित कियां है। भारवि ने श्लेषमूलातिशयोक्ति एवं उपमा के संकट से शरद्वधू का वर्षारूप वर से सम्बन्ध स्थापित कर अपनी नूतन कल्पना का परिचय दिया है। माघ ने उपमा के आधार पर शरद्वधू का एक द्वितीय ही चित्र अंकित किया है, जो कालिदास और भारवि से सर्वथा भिन्न हैं। कवि कर्णपूर ने शरद् का वधूरूप में चित्रणरूपक और श्लेषोपमा के संकर से किया है। तुलनात्मक दृष्टि से कवि कर्णपूर का शरद्ऋतु वर्णन कालिदास से अधिक साम्य रखता है।

वसन्तऋतु

हर्ष और उन्माद के प्रतीक ऋतुराज वसन्त के आगमन मात्र से ही प्रकृति में रमणीयता का विस्तार हो जाता है। कवि की दृष्टि में आम्र-पल्लवों, कोयल के मधुर कुंजन, भ्रमरों की गुनगुनाहट, पुष्पित लताओं एवं श्रमहारक सुरभित पवन से वन शोभा रमणीय हो जाती है। साथ ही समस्त जगत् आनन्दमग्न हो जाता है।[3] कवि ने वसन्त एवं वसन्तकालीन श्री का स्निग्ध वर्णन करने के लिए वसन्त और वसन्तलक्ष्मी की कल्पना पति-पत्नीरूप में करके किञ्चित् नवीनता प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। रूपक अलंकार के माध्यम से कवि ने वसन्तलक्ष्मी के समयोचित श्रृंगार

---

१. स विकचोत्पलचक्षुषमैक्षतक्षितिभृतोऽकगतां दयितामिव।
शरदमच्छगलद्वसनोपमाक्षमघनामघनाशनकीर्तनः ॥
माघ, शिशुपालवधम्, ६।४२.

२. विलुलितामनिलैः शरदङ्गना नवसरोरुहकेशरसम्भवाम्।
विकरितुं परिहासविधित्सया हरिवधूरिव धूलिमुदक्षिपत् ॥ वही, ६।५२.

३. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ११।८, ९.

के लिए प्राकृतिक उपादानों को अलंकर रूप में प्रस्तुत किया है। इन अलंकरणों के माध्यम से वसन्त के उपादानों—कोयल, तमाल, लवंग, अशोक, माधवी, मल्लिका, केशर, भ्रमर आदि का ललित वर्णन हो गया है; यथा—

स्ववेशविन्यासमिवाकरोदियं प्रभोः प्रकाशो भवितेति सन्ततम् ।
वसन्तलक्ष्मीः सततोत्सुका सती सतीव कान्तागमने सुचिस्मिता ।।
स्वभावमाद्यत्कलकण्ठकाकली कला विलासं दधती शुभस्वरम् ।
नवं समुद्यन्मधुपुष्पमाधुरी धुरीणमीषद्धसितञ्च कोमलम् ।।
तमालमालादलमाधुरीमयं ववन्ध धम्मिल्लभरं मनोहरम् ।
मधुव्रतालीमयचिल्लिवल्लरीं प्रनर्त्तयामास सुखं मदालसाम् ।।
उन्मीलयामास च वामलोचनं कृत्वावतंसं नवचारुपल्लवैः ।
लवङ्गपुष्पावलिहारहारिणी दधार वासो नवमालिकामयम् ।।
अशोकमालादलकुंकुमद्रवैः सदङ्गरागं विदधेऽतिहर्षिता ।
समाधुरीपुष्पपरागचन्दनैर्मनोहरे केशरकुड्मलस्तने ।।[1]

अर्थात् जिस प्रकार स्थितमुखी कुलकामिनी पति के आगमन पर अपना वेशविन्यास भली प्रकार से करती है उसी प्रकार वसन्तलक्ष्मी ने अपने पति (वसन्त) के आगमन की सम्भावना मन में करके उत्सुक होकर अपना वेशविन्यास किया। उसने स्वभावमत्त कोयल के मनोहर काकलीरव का शुभस्वर, मकरन्दपूर्ण नवकुसुम का माधुर्यातिशय रूप ईषत् हास्य धारण कर एवं निविड़ तमाल दल का धम्मिल बनाकर मधुप श्रेणीरूप दोनों भुवों से मधुर नर्तन किया। वसन्तलक्ष्मी ने मनोहर नवपल्लवों के कर्णपूर धारण कर अपने वामलोचन को निमीलित किया एवं लवंगकुसुम का विहार योग्य हार तथा नवमल्लिका के पुष्पों का परिधान धारण किया। तदनन्तर अशोक कुसुम के कुंकुम द्वारा अंगराग एवं मनोहर पुष्पों के परागरूप चन्दन से परिलक्षित केशर पुष्प के कुड्मरूप स्तन मण्डल को धारण किया। यहाँ पर सर्वप्रथम कवि ने वसन्तलक्ष्मी की सतीस्त्री से उपमा देकर कोमल भावना की सृष्टि की। तदनन्तर रूपक की योजना द्वारा उन्होंने समस्त उपादानों को अलंकरण रूप में प्रयुक्त किया है। कवि की यह कल्पना सुन्दर एवं नवीन प्रतीत होती है।

वसन्त की कामोद्दीपकता लोकप्रसिद्ध है। अतएव वसन्तवर्णन के प्रसंग में संस्कृत कवियों ने वसन्त के प्रियमित्र कामदेव का विविध प्रकार से

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २।२७–३१.

वर्णन कर अपनी कला चातुरी प्रदर्शित की है। इन स्थलों पर उनकी कल्पना का विस्तार सीमातिक्रमण कर गया है। एक से एक सुन्दर उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि की सृष्टि हुई है। कवि कर्णपूर ने परम्परा का निर्वाह करने के लिए वसन्त से सहायक अशोक, पलाश, कोयल, भ्रमर आदि का उपनिवन्धन किया। किन्तु इन वर्णनों का काव्यत्व हृदयहारी न होने के कारण कोई प्रभाव नहीं डाल पाता है। उदाहरण के लिए अशोक का वर्णन करते हुए कवि ने एक उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की है; यथा—

स्तवकेषु विरेजुरुच्चकैरलयः सम्यगशोकशाखिनाम्।
जगदुन्मथितुं हुतास्तिला मधुनाग्नाविव कामसाधकाः ॥[1]

अशोक वृक्ष की शाखाओं में विकसित स्तवकों पर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। कवि की दृष्टि में ये भ्रमर जगत् को उन्मथित करने के लिए कामाग्नि में दी गई आहुति के तिल हैं। वसन्तऋतु में भ्रमर गुंजार कर रहे हैं, मन्द पवन चल रहा है, कोयल का कोमल कुंजन हो रहा है; मानों तीनों जगत् को विजयी करने के लिए मकरकेतु ने एकाएक धनुषवाण को उन्नत कर दिया हो।[2] प्रत्येक वन में नवकिंशुक की शाखाओं में सुन्दर पलाश के पुष्प विकसित हैं। सघन पुष्पों से युक्त घनाटवी अग्नि की दैदीप्यमान शिखा के समान प्रतीत हो रही है।[3] कोयल का स्वर रमणियों के भाषण और रसिक वीणावादकों के द्वारा बजायी गई वीणा के स्वर से भी अधिक मधुर होने के कारण विशेष कामोद्दीपक है।[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वसन्त के वर्णन में कवि ने किसी मौलिक उद्भावना का परिचय नहीं दिया है। वर्णन केवल परम्परागत है।

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ११।१०.

२. अलिनि वल्गति वाति समीरणे परभृते गिरमुद्गिरति स्फुटम्।
मकरकेतुरुदीर्णशरासनः प्रसभमेव जिगाय जगत्त्रयम्॥
वही, १८।३५.

३. प्रतिवनं नवकिंशुकशाखिनां मृदुपलाशशतानि चकाशिरे।
सकुसुमप्रचयानि घटनाटवी समुपजातहुताशशिखा इव॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्; १८।३८.

४. रसिकपारिपराहतवल्लकी मृदुगुणस्वनतोऽपि मनोरमैः।
जगदकारि मधौ वशमंजसा मुदितकोकिलकोमलकूजितैः॥ वही, १८।३१.
अधिकोकिलकेलिकूजितं रमणीनामपि चारुभाषितम्।
उदियाय समन्ततस्तदा तुमुलो नाद इव स्मराहवे॥ वही; ११।१६.

नदी-वर्णन

'पारिजातहरणम्' के नवम सर्ग में आकाशगंगा एवं सप्तदश सर्ग में गंगा-यमुना का प्रसंगतः वर्णन किया गया है। आकाशगंगा के वर्णन में कवि ने विशेष सहृदयता का परिचय दिया है। आकाशगंगा सुधास्यन्दिनी दीर्घिका के समान है, समस्त महापातकों के मूल को विनाश करने वाले अशनि एवं जगत् वासियों के मन को सन्तोष देने वाली सिद्धि है।[1] देवगंगा की उच्चतरलतरंगों के सम्बन्ध में कवि की सम्भावना आकर्षक प्रतीत होती है; यथा—

तिमिङ्गिलास्फालसमुत्थितैर्मुहुर्विभूषिता नित्यमुदारशीकरैः।
समर्च्यमानेव सुरैर्दृढादराद्दिवश्च्युतैर्निर्मलमल्लिकाशतैः ॥[2]

अर्थात् उच्चतरलतरंगों से उद्वेलित होने वाले उदार जल से सुशोभित देवगंगा देवताओं द्वारा अत्यधिक आदर के कारण आकाश से फेंकी गई निर्मल मल्लिका माला से अर्चित-सी की गई प्रतीत होती हैं।

देवगंगा में विकसित होने वाले इन्दीवर, विद्रुमपुंज, तट पर उल्लसित होने वाली काश एवं द्विजों का वर्णन करने के लिए कवि ने रूपक और उत्प्रेक्षा के संकर से सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है :—

समुद्यदिन्दीवरचारुसौरभैर्मनोरमैर्विद्रुमदीपमण्डलैः ।
तटोल्लसन्निर्मलकाशचामरै-रुपास्यमानेव दिवानिशं द्विजैः ॥[3]

अर्थात् प्रफुल्लित इन्दीवरों की चारु सौरभ से, विद्रुमरूप दीप मण्डलों से तथा तट पर विकसित होने वाली निर्मल काशरूप चामर से मानों द्विज (पक्षी) दिन-रात इसकी उपासना किया करते हैं। अर्चना के समस्त उपकरण यहाँ प्रस्तुत हैं। इन्दीवरों की सुगन्ध, दीपमाला के रूप में विद्रुम एवं चामर के रूप में काश का वर्णन कर कवि ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। अन्यत्र रूपक के माध्यम से कवि ने देवगंगा का बड़ा ही मनोमुग्धकारी चित्र अंकित किया है; यथा :—

---

१. अधामृतोद्यद्द्रवदीर्घिकादृशोर्जगन्मनस्तोषणसिद्धिरुद्धता ।
स्फुरन्महापातकपादपाशनिर्व्यलोकि लोकैर्दिविषत्तरङ्गिणी ॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ९।२३.

२. वही, ९।२६.

३. वही, ९।३०.

वियन्मनोहारिमरालमण्डली महीमहामण्डलमौक्तिकावली ।
भुजंगमावासविलासदीर्घिका जगन्महामोहतमः प्रदीपिका ॥[1]

यहाँ पर आकाशगंगा मनोहर मरालमण्डली, पृथ्वी को मण्डित करने वाली मौक्तिकावली, भुजंगों के विलास करने योग्य दीर्घिका एवं जगत् के महामोहरूप तम को प्रकाशित करने वाली प्रदीपिका का आरोप किया गया है जिससे व्यंग्य रूप में गंगा की श्वेतमा, वर्तुलत्व, गाम्भीर्य एवं सत्वप्रकाशत्व स्फुटित हो रहा है।

देवगंगा के सौन्दर्यवर्द्धक उपादानों का वर्णन करने के साथ ही कवि ने देवगंगा के मध्य निवास करने वाले कुछ दुष्ट जन्तुओं का भी वर्णन किया है, जो अपनी कुचेष्टाओं द्वारा अपने अस्तित्व का भान करा देते हैं; यथा:—

पयोभिरुद्यद्विषवेगसम्भृतैरुदारफूत्कारपराहतैरपि ।
निवेदयन्ती भुजगं जलस्थितं कुचेष्टितेनेव मलीमसं मनः ॥[2]

पर्वत-वर्णन

नैसर्गिक सौन्दर्य की अक्षयराशि रूप-पर्वत के वर्णन में संस्कृत कवियों की विशेष अभिरुचि रही है। कालिदास का हिमालय पर्वत वर्णन, भारवि का इन्द्रकील पर्वत-वर्णन एवं माघ का रैवतक पर्वत-वर्णन इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उपर्युक्त परम्परा में ही 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में नारद की अमरावती यात्रा के प्रसंग में हिमालय (सप्तमसर्ग) तथा कृष्ण की युद्धयात्रा के प्रसंग में सुमेरु पर्वत (नवम एवं दशम वर्ग) का वर्णन प्राप्त होता है। किन्तु हिमालय पर्वत के वर्णन में कवि की वर्णनाशक्ति विशेष विस्तार एवं प्रकर्षत्व को प्राप्त नहीं कर सकी है, यद्यपि उन्होंने हिमशिखरों से प्रवाहित होने वाले निर्झरों,[3] हंससारस एवं चक्रवाकों के कलकलनिनाद से मुखरित सरसियों,[4] पर्वत की मेखला स्वरूप वनस्पतियों,[5]

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ९।३१.

२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ९।३२.

३. क्वचिदिद्धसुधाकरानुकारा रुचिधारा शिखरात् समुल्लसन्ती ।
सममानि मुनीश्वरेण सद्यः सुरगङ्गेव नभोङ्गनात्पतन्ती ॥ वही, ७।३.

४. क्वचिदुच्चरवैर्निनाद्यमानाः सरसैः सारसहंसचक्रवाकैः ।
सुरसीः सुरसीरुहाभिरामा मुनिरालोक्य मुदं तदा ततान ॥ वही, ७।८४.

५. विलसद्वनराजिराजितानां रुचिमालोक्य मनोज्ञमेखलानाम् ।
अवलेपमधान्मुनिस्तदानीमतिमात्रं नवनीरदोत्करेऽपि ॥ वही, ७।५.

प्रफुल्लित मालती की लताओं,[1] सिंह के ऊर्जित नाद से भयभीत हरिणों[2] एवं मदमत्त मयूरों[3] से लेकर हुताग्नि की पवित्र ज्वालाओं से देदीप्यमान आश्रमों[4] तथा जलकलशों से नूतन वृक्षों को जलदान करती मुनिकन्याओं[5] का वर्णन किया है। किन्तु उपर्युक्त वर्णनों में से कोई भी दृश्यचित्र विशेष रमणीय नहीं प्रतीत होता है, जिसका काव्यत्व सहृदयों को मुग्ध कर सके। इन वर्णनों में कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, काव्य प्रतिभा एवं बहुज्ञता का परिचय नहीं मिलता है, अपितु ऐसा आभास होता है कि कवि ने परम्परा के निर्वाह मात्र के लिए इन वर्णनों को उपनिबद्ध कर दिया है। इसीलिए हिमाच्छादित विस्तृत प्रांगण में फैले हुए पलाशपुष्प[6] और केसर कानन[7] की कामोद्दीपता चित्रित करने के लिए कविप्रदत्त उत्प्रेक्षा विशेष प्रभावशालिनी न होकर पूर्व परम्परागत का निर्वाह मात्र प्रतीत होती है, साथ ही कवि के संकुचित दृष्टिकोण का परिचायक भी है। यद्यपि हिमालय पर्वत का वर्णन एक ऐसा अवसर था, जहाँ पर कवि प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में विचर कर अपनी सूक्ष्म दृष्टि, काव्यप्रतिभा तथा भावुकता से प्रकृति के नयनाभिराम विशद दृश्य चित्रों को सहज अंकित कर सकता था।

सुमेरुपर्वत के वर्णन में अवश्य कवि की पर्यावेक्षण शक्ति विशद प्रतीत

---

१. अतिनूतनमालतीलतानां कुसुमान्युच्छ्रितभृङ्गसङ्गतानि।
कमलासनसम्भवोऽवलोक्य स्फुटतारानिकरभ्रमं बभार॥
कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ७।६.

२. क्वचिदाकुलितान्मृगेन्द्रनादैर्भयविभ्रान्तविलोचनान्मुनीन्द्रः।
हरिणानवलोक्य धावमानान् करुणाकोमलचित्तवृत्तिरासीत्॥ वही, ७।७.

३. विलसद्विमलेन्द्रनीलकान्तीं जलदानत्यनुरागमाकलय्य।
मदमेदुरमानसा मुनीन्द्रं शिखिनस्तं खलुतोषयाम्बभूवुः॥ वही, ७।१२.

४. क्वचिदुज्ज्वलितं हुतैर्हुताशै रुचिरं चारुतरोटजावलीभिः।
मुमुदेऽतितरां विरंचिसूनुर्यमिनामाश्रममण्डलं विलोक्य॥ वही, ७।१५.

५. अतिनूतनभूरुहाननेकान् स्नपयन्तीः कलशाम्भसां समूहैः।
नववल्कलवाससःसमन्तान्मुनिकन्याः स विलोक्य हर्षितोऽभूत्॥ वही, ७।१६.

६. सविकासपलाशभूरुहस्य स्तवकस्तेन तदा मुदा व्यलोकि।
दहनाय मुहुर्वियोगभाजामुदितः कामशिखीव काननेषु॥ वही, ७।१०.

७. नवकेसरकानने विकीर्णां कुसुमालीमवलोकयांचकार।
विषदिग्धमुखीमुदारमालां शरधारामिव मन्मथस्य राज्ञः॥ वही, ७।११.

होती है। उन्होंने अर्थालंकार एवं शब्दालंकार के माध्यम से एक कुशल चित्रकार की भाँति सुमेरुपर्वत पर अवस्थित कन्दराओं में सिंहनाद करते हुए शार्दूलों से भयभीत मदमत्त हाथियों, लता भवन में सुरत केलि के अनन्तर विश्राम करती हुई विलासिनियों, सूर्य के आतप का तिरस्कार करती हुई निविडपल्लवराजि, चन्द्रकिरणों से गलित होने वाली चन्द्रकान्त-मणि के द्रव से स्नायित वनलताओं, कुन्दलता के पुष्प के मधुपान से मदमत्त होकर गुँनगुँन करते हुए भ्रमरों, योगियों के मन को मदमत्त करते हुए शिखण्डियों की मधुर केकाध्वनियों, हाथियों के मन में मतंग के शोणित से शोणवर्ण वाले सिंहनखों की कान्ति का भ्रम उत्पन्न करने वाले पलाशवृक्षों इन्द्रनीलमणि के कुट्टिम पर फिसलकर गिरते हुए हरिणों को सहज बन्धन-युक्त करते हुए तरक्षुगणों, शौनिकों के द्वारा अनुसरण किये जाने पर झाड़ियों में छिपकर कौतुक करते हुए शशवरों, लताभवनों में प्रणयकुपिता मानिनी का मानमोचन करते हुए विलासियों, मानिनियों के कोपकथा को दूर करती हुई कोकिलाओं के मधुर कुंजनों, सूर्य के आतप से तप्त शरीर वाले अपने शिशुओं को जल से सींचती हुई गजवधुओं से युक्त सरसियों, सूर्य के रथ की किंकिणिका के रव से अवबोधित होकर भयभीत नेत्रों से रथ को देखते हुए मृगगणों, इन्द्रनीलमणि की सुन्दर कन्दराओं में सूर्य के भय से रहित होकर निवास करने वाले पेचक पक्षियों, स्वच्छ जल वाली एवं कमलराशि से सुशोभित सरसि में दयिताओं के साथ जलक्रीड़ा करते हुए रसिक गणों, विपुलश्रृंग धारण करने वाले वनसैरिभों, वन सीमा पर पंक से दुर्दिन दशा को बनाते हुए वराह समूहों, यज्ञाग्नि से निःसरित होने वाली धूम्रलेखा से सुरभित काननों एवं परताप से परांगमुख जपरत तपस्वी-गणों का वर्णन किया है। कवि के दृष्टिपथ से वहाँ का कोई भी दृश्य ओझल नहीं होने पाता है।

उपर्युक्त दृश्य चित्रों का चित्रण करने के लिए कवि ने शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों का समान आश्रय लिया है। एक स्थल पर उन्होंने यमक अलंकार के माध्यम से सुमेरु पर्वत को एक वृद्ध ऋषि के रूप में प्रस्तुत किया है; यथा—

> हरिचरणविराजमानमौलिं बहुवयसानुगतं सुवंशजातम्।
> अमुमृषिमुपमानयन्ति लोका बहुवयसानुगतं सुवंशजातम्॥[1]

अर्थात् लोक सुमेरु पर्वत को ऋषि मानता है। क्योंकि ऋषियों की-

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १०।६१.

मौलि सदैव हरिचरण अर्थात् भगवत्भक्ति में विराजमान रहती है। सुमेरु पर्वत की मौलि अर्थात् शिखर पर सदैव हरि अर्थात् इन्द्र (अथवा सूर्य) विचरण किया करते हैं। ऋषि अधिक आयु होने के कारण—'बहुवयसानुगतं' अर्थात् वृद्ध हैं। सुमेरु पर्वत नाना प्रकार के असंख्य पक्षियों से अनुगत होने के कारण 'बहुवयसानुगतं' है। ऋषि श्रेष्ठ वंशोत्पन्न होने के कारण 'सुवंशजातम्' हैं। सुमेरु पर्वत पर सुन्दर वंश (बाँस) उत्पन्न होते हैं: अतएव वह 'सुवंशजातम्' है।

अन्यत्र उत्प्रेक्षा के माध्यम से कवि ने सुमेरु पर्वत को एक चेतन व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है. जो स्वगृह आये हुए अतिथि का भावपूर्ण स्वागत कर रहा है; यथा—

उदश्रुरुद्भासितनिर्झराम्भसा समुल्लसन्निर्मलकाशहासभृत्।
समन्ततश्चारुविहंगभाषितैर्मुदेव पप्रच्छ हरिं महीधरः ।।[1]

अर्थात् जिस प्रकार गृह आये हुए आत्मीय जन का स्वागत करते समय व्यक्ति के नेत्रों में अत्यधिक प्रेमवश किञ्चित् जल उद्भासित होने लगता है, साथ ही हास की रेखाएँ भी मुख को मण्डित करने लगती हैं। रुदन और हास की सम्मिलित भावसवलता में वह अपने आत्मीयजन का प्रसन्नतापूर्वक कुशल-मंगल पूछता है। उसी प्रकार सुमेरु पर्वत स्वगृह आये हुए कृष्ण का प्रसन्नतापूर्वक कुशल पूछ-से रहे हैं। पर्वत पर निस्यन्दमान निर्झर का जल उसके अश्रु हैं, प्रफुल्लित काश उसका हास है। विहंगों का रव उसका मधुर भाषण है। अर्थात् कवि ने यहाँ जड़ सुमेरु में चेतन व्यक्ति के व्यवहार की सम्भावना व्यक्त कर उसको एक शिष्ट सहृदय व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है, जो कवि के विशाल हृदय का परिचायक है।

इसी सुमेरु पर्वत पर विद्यमान औषधि सम्पत्ति का वर्णन कवि ने उत्प्रेक्षा के माध्यम से किया है; यथा—

पदातिपादाहतिमर्दितौषधी रसप्रवाहानवहन्महीधरः।
मुरारिमातङ्गमराभिघातजव्रणव्यथाशान्तिमुपानयन्निव ।।[2]

यह सर्व प्रसिद्ध है कि सुमेरु पर्वत पर अनेक प्रकार की औषधियों की जड़ी-बूटियाँ विद्यमान हैं। सेना के चलने से यह औषधियाँ मर्दित हो जाती हैं और उनमें विद्यमान रस प्रवाहित होने लगता है। प्रस्तुत तथ्य को कवि ने एक सुन्दर उत्प्रेक्षा के माध्यम से व्यक्त किया है कि—मानों कृष्ण के

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ६।२१.
२. वही, ६।१६.

हाथियों के अभिघात से उत्पन्न होने वाली व्रण व्यथा की शान्ति के लिए पर्वत रस बहा रहा है।

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि कवि कर्णपूर कृत वस्तु-वर्णन से उनके महाकाव्यों में सरसता एवं रोचकता का स्यन्दन हुआ है। भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष से प्रभावित होते हुए भी उन्होंने वैदुष्य प्रदर्शनार्थ प्राकृत ऋतुओं के साथ अपनी बौद्धिक विशेषताओं अथवा अधीत विषयों की बहुज्ञता का परिचय नहीं दिया है। न हि नदी अथवा सरसी-वर्णन के प्रसंग में आचार्यों द्वारा निर्मित सम्पूर्ण सूची को उद्धृत कर दिया है। यद्यपि ऋतु-वर्णन के लिए महाकाव्य के कथानक में परिवर्तन किया गया है तथापि यह परिवर्तन अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता है। किसी भी वस्तु का अतिविस्तारपूर्वक वर्णन न होने के कारण उनमें रोचकता एवं आकर्षण बना रहता है। कालिदास-जैसी नैसर्गिक काव्यप्रतिभा की प्रकृष्टता का अभाव होने पर भी भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष-जैसी क्लिष्टता और पौराणिक व्युत्पत्ति का स्पर्श न होने के कारण उनके वस्तु-वर्णन सहृदय संवेद्य हैं। उपमा और उत्प्रेक्षा की सरलता प्रभावित करती है। सूर्यास्त, चन्द्रोदय आदि के वर्णन में उनकी वर्णनाशक्ति अपने सुन्दरतम रूप में प्रस्फुटित हुई है। वस्तु-वर्णन में कवि ने प्रायः अभिधावृत्ति के द्वारा वाच्य-रूप में भाव को व्यक्त किया है। कहीं-कहीं व्यंजना वृत्ति का वैचित्र्य भी प्रकट हुआ है। प्रस्तुत से अप्रस्तुत की योजना करते समय प्रस्तुत प्रधान रहा है और अप्रस्तुत गौण। वर्णन किसी पात्र के मुख से हुए हैं अथवा स्वयं कवि ने किया है।

अष्टम अध्याय

महाकाव्यों में छन्दोयोजना

छन्द भावाभिव्यक्ति का नैसर्गिक माध्यम है। कविजन सदैव से अन्तस्तल के कोमल भावों की अभिव्यक्ति के लिए छन्दों का कमनीय कलेवर अपनाते रहे हैं। किन्तु छन्दों की कृतकार्यता केवल भावाभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं है, अपितु वह रसपरिपोष में भी सहायक हैं। जिस प्रकार शृंगारादि रसों के व्यञ्जक वर्णों के द्वारा ही शृंगारादि रस आस्वादित होते हैं, उसी प्रकार छन्द-विशेष भी किसी रस-विशेष अथवा वर्ण्य-विशेष के लिए ही उपयुक्त सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ—विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्यक्ति के लिए 'मन्दाक्रान्ता' छन्द सबसे उपयुक्त छन्द है। विरहजनित भावों के उतार-चढ़ाव का प्रकटन-जैसा 'मन्दाक्रान्त' छन्द में सम्भव है वैसा अन्य किसी छन्द में नहीं। इसका प्रमुख कारण है कि विरहजनित भावों में कभी शिथिलता होती है, कभी तीव्रता। 'मन्दाक्रान्ता' छन्द की गति भी आरम्भ में मन्द होती है और उत्तरार्द्ध में द्रुत। छन्द के रसानुकूल होने के कारण ही महाकवि कालिदास का 'मेघदूत' सहृदयों का कण्ठहार वनकर अमर हो गया है। कारण, 'मेघदूत' का वर्ण्यविषय दो प्रणयिजनों की विरह-वेदना है, जिसके लिए निपुण कवि ने 'मन्दाक्रान्ता' छन्द का चयन किया है। वहाँ पर 'ब्रह्मावर्तं जनपदमघरछायया गाहमानः'[1] की मन्द मन्थर लय में 'काम्बोजतुरगाङ्गना' के पदविन्यास का ललितलास्य दृष्टिगोचर होता है, जिसकी प्रशंसा आचार्य क्षेमेन्द्र ने मुक्त कण्ठ से की है।[2] इसके विपरीत यदि विप्रलम्भ-जैसे कोमल विषय की अभिव्यक्ति के लिए 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द का चयन किया जायेगा, ऐसी स्थिति में वहाँ पर अपेक्षित सौन्दर्य स्फुरित नहीं होगा, जो 'मन्दाक्रान्ता' में सहज प्राप्य है, अपितु यहाँ पर रसभंग होने की सम्भावना अधिक है। 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द अपने नाम से ही वीररस के लिए अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि रसानुकूल छन्द-प्रयोग से काव्य का सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। अतः यह स्वतः सिद्ध है कि केवल शब्द-योजना ही काव्य में रससिद्धि

---

१. कालिदास, मेघदूत, ५० (पूर्वमेघ)

२. सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवलगति।
सदश्वदमकस्येव कम्बोजतुरगाङ्गना ॥ क्षेमन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, ३।३४.

के लिए पर्याप्त नहीं है, उसके लिए छन्दोयोजना भी उतनी ही अपेक्षित है। क्योंकि छन्द की पदयोजना, गति, लयादि से भाव और रस का घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिए 'गुणालंकाररीति' आदि की भाँति वह भी रस परिपोष में सहायक है। अतएव छन्द की इस महत्ता और शक्ति को समझकर सफल व निपुण कवि सदैव से रसानुगुण छन्दों का विन्यास करते आ रहे हैं। अर्थात् जिस भाव और रस का जिस छन्द की पदयोजना, गति, लयादि से साम्य देखा, उस छन्द का उस रस के प्रसंग में चयन कर लिया।

संस्कृत-साहित्य के आलंकारिकों ने भी छन्द और रस की उपर्युक्त कथित मैत्री को स्वीकार किया है। इस तथ्य की ओर रस-सम्प्रदायवादियों का 'हतवृत्तता' नामक दोष-विवेचन संकेत करता है। हतवृत्तता दोष वहाँ स्वीकार किया गया है, जहाँ रस के स्वभाव के विपरीत वृत्त का प्रयोग किया जाता है। क्षेमेन्द्र ने यही मत अपने 'सुवृत्ततिलकम्' में स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है। उनके मतानुसार 'काव्य में रस तथा वर्णनीय वस्तु के अनुसार यथावसर सभी छन्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए।'[1] जैसे छिद्रादि दोषों से रहित सूत्रगुम्फित एवं वर्तुल मुक्ताहार का निवेश उचित स्थान पर ही सुशोभित होता है, उसी तरह दोष रहित, गुणयुक्त एवं सुन्दर छन्दों का भी प्रयोग विषयानुरूप ही सुशोभित होता है।[2] साथ ही रस और छन्द की इस मैत्री की अवहेलना करने वाले अज्ञ कवियों को यह उपदेश भी दिया गया है कि—मोहवश यदि कोई (कवि) वृत्तरूपी रत्नावली को अस्थान पर निवेशित करेगा, ऐसी स्थिति में मेखला को कण्ठ में धारण करने वाले व्यक्ति की भाँति उसकी अज्ञता ही प्रकट होगी। जिस प्रकार नवयुवती के योग्य वृद्ध पुरुष नहीं हो सकता है, उसी प्रकार सरल भावों के लिए परुष छन्द तथा परुष भावों के लिए सरस छन्द अनुपयुक्त है।[3]

---

१. काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्॥ क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, ३।७.

२. प्रबन्धः सुतरां भाति यथा-स्थानं विवेचकः।
निर्दोषैर्गुणसंयुक्तैः सुवृत्तैर्मौक्तिकैरिव॥ वही, ३।१.

३. वृत्तरत्नावली कामादस्थाने विनिवेशिता।
कथयत्यज्ञतामेव मेखलेव गले कृता॥
नहि नाम नवोन्मेषिकुचायाश्चारुचक्षुषः।
चिरत्यक्तस्मराचारे जराजीर्णकचे रुचिः॥ वही, ३।१३, १४.

क्षेमेन्द्र के मतानुसार अवस्थोचित एवं विषयानुकूल छन्दोयोजना से महाकाव्य का सौन्दर्य स्पृहणीय बन जाता है। अर्थात् जिस प्रकार स्थिति के अनुरूप उचित आवरण से धन्यवाद के पात्र बनकर सज्जन सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार प्रबन्ध भी अवस्थोचित छन्दों के प्रयोग से प्रशंसित होकर सुशोभित होते हैं।[1] अस्तु, प्रस्तुत अध्याय में कवि कर्णपूरकृत महाकाव्यों की छन्दोयोजना पर इसी दृष्टिकोण से विचार करने का प्रयास किया जायेगा। अर्थात् कवि कर्णपूर ने अपने महाकाव्यों में विभिन्न रसों, भावों और वर्णनों के लिए किस प्रकार के छन्दों का चयन किया है ? तथा उनकी छन्दोयोजना की क्या विलक्षणताएँ हैं ? इस पर विचार किया जायेगा।

कवि कर्णपूर ने अपने महाकाव्यों में विविध छन्द प्रयोग द्वारा निज छन्द कौशल का परिचय दिया है। उन्होंने 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में १८ छन्दों—अनुष्टुप् , इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, रथोद्धता, स्वागता, द्रुतविलम्बित, भुजंगप्रपात, वंशस्थ, प्रहर्षिणी, वसन्ततिलका, मालिनी, पृथ्वी, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, पुष्पिताग्रा एवं वियोगिनी तथा 'चैतन्यचरितामृतम्' में उपर्युक्त छन्दों के अतिरिक्त १४ अन्य छन्दों—दोधक, भ्रमरविलसित, शालिनी, चन्द्रवर्त्म, प्रमिताक्षरा, कलहंस, मंजुभाषिणी, मत्तमयूरी, लीलाखेल, शशिकला, मन्दाक्रान्ता, मन्दाकिनी, हर्षिणी तथा लोला का कुशलतापूर्वक प्रयोग किया है।

अनुष्टुप्

उपदेशात्मक तथा वर्णनात्मक कथानक के लिए सर्वाधिक उपयुक्त छन्द अनुष्टुप् है।[2] उपदेश प्रधान 'महाभारत', 'रामायण' आदि काव्य 'अनुष्टप्' छन्द में ही छन्दोबद्ध हैं। महाकवि कालिदास ने अपने काव्यग्रन्थों में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग उपदेशात्मक स्थल अथवा वृत्तान्त वर्णन में किया है। इसीलिए इसके वर्ण्यविषय के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र ने कहा है कि—अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग सर्गबन्ध के आदि में, कथानक प्रारम्भ करने के प्रसंग में, शान्ति के उपदेश अथवा वृत्तान्त वर्णन में किया जाना चाहिए।[3]

---

१. तथाप्यवस्थासदृशैः साधुशब्दपदस्थिताः।
सुवृत्तैरेव शोभन्ते प्रबन्धाः सज्जना इव ॥ क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, ३।१२.

२. पुराणप्रतिबिम्बेषु प्रसन्नोपायवर्त्मसु।
उपदेशप्रधानेषु कुर्यात्सर्वेष्वनुष्टुभम् ॥ वही, ३।९.

३. आरम्भे सर्गबन्धस्य कथाविस्तरसंग्रहे।
समोपदेशवृत्तान्ते सन्तः शंसन्त्यनुष्टुभम् ॥ वही, ३।१६.

कवि कर्णपूर ने 'अनुष्टुप्' छन्द का विन्यास 'चैतन्यचरितामृतम्' के ८वें, १४वें, १७वें एवं १९वें तथा 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य के १३वें सर्ग में किया है। 'चैतन्यचरितामृतम्' के ८वें सर्ग (१–६०) में इसका वर्ण्य-विषय अनेक स्फुट लघु कथाएँ हैं। उदाहरणार्थ—चैतन्य महाप्रभु द्वारा वैष्णव भक्तों से द्वेष करने वाले ब्राह्मणों को शाप देना, चैतन्य के प्रति भक्तब्राह्मण का शाप, चैतन्य का 'बलराम' आवेश तथा चैतन्य द्वारा अपने कृष्ण रूप का स्मरण करना आदि नाना कथा प्रसंग हैं। १४वें सर्ग (१–१२९) में 'अनुष्टुप्' छन्द में चैतन्य द्वारा अद्वैत श्रीवास आदि प्रियपार्षदों के समक्ष नीलाचल प्रभुजगन्नाथ की अलौकिक क्रीड़ाओं का वर्णन, नवद्वीपवासी गौड़ीयभक्तों का पुरी आगमन तथा उनके साथ चैतन्य के मिलापादि का वर्णन उपनिबद्ध है। १७वें सर्ग (१५) में इसका वर्ण्यविषय उत्तमभक्त के लक्षण है। १९वें सर्ग (१–६९) में 'अनुष्टुप्' छन्द में महाप्रभु चैतन्य की गौड़देश की यात्रा का वृत्तान्त वर्णित है।

'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में 'अनुष्टुप्' छन्द का प्रयोग दौत्य कार्य (उपदेश) के सम्बन्ध में हुआ है। कृष्ण द्वारा प्रेषित सात्यकि इन्द्र को युद्ध की विभीषिकाओं से अवगत कराकर युद्ध न करने का उपदेश देते हैं। तदनन्तर इन्द्र द्वारा शान्ति के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देने पर युद्ध की साज-सज्जा का वृत्तान्त भी इसी छन्द में वर्णित है। इससे स्पष्ट है कि कवि कर्णपूर ने प्राचीन परम्परा का निर्वाह करते हुए वर्ण्य-विषय के अनुरूप ही छन्द का चयन किया है, जो उनकी सूक्ष्म बुद्धि का परिचायक है। विषयानुकूल छन्द का विन्यास होने के कारण उनके द्वारा प्रयुक्त 'अनुष्टुप्' (छन्द) में एक विचित्र प्रवाह का आभास होता है, जिससे उसका काव्यात्मक सौन्दर्य द्विगुणित हो उठा है; यथा—

विक्रमाक्रान्तदिक्चक्रचञ्चत्कीर्त्तिहिमद्युतेः ।
दूतोऽहं यदुवीरस्य सात्यकिस्त्वामुपस्थितः ॥
मयि बिभ्रति कोदण्डे के वराका दिवौकसः ।
किमुदेति तमः क्वापि प्रखरे भाति भास्करे ॥
इत्यवेत्यामराधीश ! मयि देहि सरद्रुमम् ।
सीमन्तेषु सुरस्त्रीणां सन्तु सिन्दूरबिन्दवः ॥
उक्तयुक्तं हरेरद्य तवापि श्रुतमीरितम् ।
कलहे युवयोरिन्द्र ! भद्रं नाकलयाम्यहम् ॥[1]

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १३।३; १५, २०, ४६.

उपर्युक्त उद्धरण में दूत रूप में उपस्थित सात्यकि सर्वप्रथम इन्द्र को कृष्ण की शक्ति से अवगत कराकर पारिजात वृक्ष देने की विनय करते हैं, तदनन्तर युद्ध की अपेक्षा शान्ति का उपदेश देते हैं। छन्द के वर्ण्य विषयानुसार होने के कारण उसमें प्रवाह और स्पष्टता दोनों ही गुण विद्यमान हैं।

इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा एवं उपजाति

कवि कर्णपूर ने 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य के १४वें, १५वें तथा 'चैतन्यचरितामृतम्' के तीसरे सर्ग में इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा तथा उपजाति का सम्मिलित प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त 'चैतन्यचरितामृतम्' के ७वें (९९, १०२), १२वें (१–१३२), १३वें (१–४१, ४३–६३, १२६–१२७, १३५, १३७–१४७), १४वें (१३३) तथा १७वें (५०) सर्ग में केवल उपजाति छन्द का प्रयोग किया है। उपजाति छन्द के वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र का विचार है कि शृंगार (रस) के आलम्बन नायिकादि के रूप-वर्णन तथा (उद्दीपन विभाव) वसन्तादि के वर्णन में करना चाहिए।[1] अर्थात् उपजाति का वर्ण्यविषय शृंगार रस के आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव हैं। उपर्युक्त मत के विपरीत कवि कर्णपूर ने 'पारिजातहरणम्' में उपजाति को वीर एवं रौद्र रस की अभिव्यक्ति का साधन बनाया है। 'चैतन्यचरितामृतम्' में शृंगार, करुण, भक्ति, अद्भुत आदि रसों, वस्तु-वर्णन तथा अनेक वृत्तान्त वर्णन के प्रसंग में उपजाति छन्द का विन्यास किया गया है। इसी प्रकार इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा का प्रयोग 'पारिजात-हरणम्' में वीर और रौद्र रस के प्रसंग में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि कर्णपूर ने इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा एवं उपजाति के प्रयोग के सम्बन्ध में किसी नियम का पालन नहीं किया है। कोमल और परुष दोनों ही भावों की अभिव्यक्ति का साधन एक ही वृत्त है।

रथोद्धता

कवि कर्णपूर ने रथोद्धता छन्द का विन्यास 'चैतन्यचरितामृतम्' के १३वें तथा 'पारिजातहरणम्' के ६वें एवं १७वें सर्ग में किया है। इसके वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र की विचारधारा है कि चन्द्रोदयादि विभाव के वर्णन प्रसंग में रथोद्धता भव्य बन पड़ती है।[2] साथ ही रथोद्धता

---

१. शृंगारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम् ।
वसन्तादि तदङ्गञ्च सच्छायमुपजातिभिः ।। क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, ३।१७.

२. रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु । वही, ३।१८.

की पदयोजना के सम्बन्ध में उनका कथन है कि 'पादान्त वर्णों के विसर्गयुक्त होने से रथोद्धता उसी प्रकार स्पृहणीय बन जाती है, जिस प्रकार ललित कलाओं से अवगत होकर लटभा (बाला) प्रगल्भता को प्राप्त कर लेती है।'[1] विसर्गविहीन पदान्तों वाली रथोद्धता ठीक उसी प्रकार कान्तिहीन हो जाती है, जिस प्रकार मानिनी नायिका प्रियतम की प्रार्थना के बिना ही वासनावश प्रणयप्रार्थना के लिए बाध्य होकर अपना स्वाभिमान त्याग बैठती है।'[2] 'पारिजातहरणम्' में रथोद्धता का विन्यास इन्द्र-भवन में अतिथि रूप में स्वर्गीय सुखों का उपभोग करने वाले कृष्ण और सत्यभामा की (स्वर्ग से द्वारकापुरी की ओर) विमानयात्रा के प्रसंग में किया गया है। कवि कालिदास ने 'रसोद्धता' छन्द का प्रयोग क्रीड़ा (काम-क्रीड़ादि) के सम्बन्ध में किया है। कवि कर्णपूर ने भी 'पारिजातहरणम्' में रथोद्धता का प्रयोग क्रीड़ा के सम्बन्ध में किया है। स्वर्ग में विहार करना तथा विमान-यात्रा करना एक मनोरञ्जक क्रीड़ा ही है। इस विमानयात्रा के प्रसंग में चन्द्र, सरोवर, नदी, हिमालय आदि का भी वर्णन हो गया है। उदाहरणार्थ श्लोक में गंगा के तटवर्ती वाराणसी नगरी का सुन्दर वर्णन किया गया है; यथा—

ये मनागपि वसन्ति मानवाः
पत्तनेऽत्र कुसुमाशुगद्विषः।
तैरुदारचरितैः करे कृता
हेलयैव पुरुषार्थसिद्धयः ॥[3]

उपर्युक्त उद्धरण में पाद के अन्त में विसर्गों के प्रयोग से रथोद्धता छन्द में गुणविशेष का आधान हो गया है। 'चैतन्यचरितामृतम्' में कवि कर्णपूर ने क्षेमेन्द्र कथित रथोद्धता के वर्ण्यविषय सम्बन्धी नियम का निर्वाह नहीं किया है। वहाँ उसका वर्ण्यविषय राजा प्रतापरुद्र तथा शिखिनामक ब्राह्मण का वृत्तान्त है। विसर्गयुक्त पादान्तों वाली रथोद्धता के सम्बन्ध में भी कवि कर्णपूर ने किसी नियम का निर्वाह नहीं किया है। कई स्थलों पर विसर्गयुक्त पादान्तों का प्रयोग प्राप्त होता है, वहाँ निश्चय ही एक विशेष

---

१. विसर्गयुक्तैः पादान्तैर्विराजति रथोद्धता।
कलापरिचयैर्याता लटभेव प्रगल्भताम् ॥ वही, २।१३.

२. अविसर्गैस्तु पादान्तैर्निष्प्रभैव रथोद्धता।
अप्रार्थनाप्रणयिनी म्लानमानेव मानिनी ॥ क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, २।१४.

३. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १७।६१.

प्रवाह व गति आ गई है। अन्यत्र विसर्गहीन पादान्तों का प्रयोग उपलब्ध होता है।

स्वागता

स्वागता छन्द का उपनिबन्धन 'चैतन्यचरितामृतम्' के ९वें (१-९३); १०वें (१-७३) एवं १३वें (६४-७७, ८२) तथा 'पारिजातहरणम्' के १५वें (१-७, ९-११, १३-१५, ४९) सर्गों में किया गया है। स्वागता छन्द के वर्ण्यविषय के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र मौन हैं, किन्तु उसकी सगुणता के सम्बन्ध में उनका कथन है कि—'प्रत्येक चरण के प्रारम्भ में आकरस्वरसयुक्त एवं अन्त में विसर्गयुक्त वर्णों के प्रयोग से स्वागता (छन्द) काव्यरसास्वादिनी हावभाव प्रदर्शिनी एवं स्वयं सेवा में उपस्थित नायिका के समान सुशोभित होती है।'[1] कवि कर्णपूर प्रयुक्त स्वागता में इसी सौन्दर्य की अनुभूति होती है; यथा—

> साधुरीतिरियमेव वधूनां माधुरीति मधुरो मधुवारः।
> तां पुनः प्रथयति स्मविशेषं मान्मथैर्नवविकारविभंगैः ॥[2]

उपर्युक्त उद्धरण में प्रत्येक चरण में प्रथमाक्षर के आकरयुक्त तथा अन्तिम वर्ण के विसर्गयुक्त होने के कारण स्वागता छन्द अत्यन्त मनोहरता को धारण कर रहा है। महाकवि कालिदास ने स्वागता छन्द का प्रयोग सम्भोग शृंगार के सन्दर्भ में किया है। 'चैतन्यचरितामृतम्' में सम्भोग शृंगार (उज्ज्वल रस) को स्वागता छन्द में छन्दोबद्ध कर कवि कर्णपूर ने अपनी सारग्राहिणी प्रतिभा का परिचय दिया है। इसके विपरीत 'पारिजातहरणम्' में स्वागता छन्द का प्रयोग वीर और रौद्र रस की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है। किन्तु उन स्थलों पर स्वागता निष्प्रभ रही है उसका उत्कर्ष सम्भोग शृंगार में ही प्रस्फुटित हुआ है।

द्रुतविलम्बित

द्रुतविलम्बित छन्द का प्रयोग कवि कर्णपूर ने 'चैतन्यचरितामृतम्' के चतुर्थ (१-७५), पञ्चम (१२८-१२९) तथा 'पारिजातहरणम्' के दशम (१-६१) एवं अष्टादश (१-४६) सर्ग में किया है। द्रुतविलम्बित छन्द के

---

१. साकाराद्यैर्विसर्गान्तैः सर्वपादैः सविभ्रमा।
स्वागता स्वागता भाति कविकर्मविलासिनी ॥

क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम् , २।१५.

२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , १०।३१.

वर्ण्यविषय के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र ने कोई संकेत नहीं किया है। किन्तु कालिदास प्रभृति कवियों ने वसन्तादि ऋतु तथा समृद्धि के वर्णन में इस छन्द का प्रयोग किया है। वसन्त ऋतु में समस्त प्रकृति में मद-मदत्ता सञ्चरित हो जाती है। फलस्वरूप चेतन जगत भी उन्मादित हो उठता है। चित्त की उस चञ्चलता के प्रकटनार्थ द्रुतविलम्बित छन्द सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। कारण, (द्रुतविलम्बित) छन्द की आरम्भ में द्रुत गति तथा उत्तरार्द्ध में विलम्बित गति[1] आह्लादकता का आधान करने वाली है। कवि कर्णपूर ने दोनों ही महाकाव्यों में वसन्तादि ऋतु तथा प्राकृतिक समृद्धि का वर्णन द्रुतविलम्बित छन्द के माध्यम से किया है। 'पारिजातहरणम्' के दशम सर्ग में इसका वर्ण्यविषय सुमेरुपर्वत की भव्य समृद्धि—वृक्ष, लतामण्डप, केलिकन्दरा, कमलों से अलंकृत दीर्घिका, रत्नराशियों से देदीप्यमान शिखर तथा क्रीड़ा पर्वत आदि हैं। अष्टादश सर्ग में कृष्ण की केलिक्रीड़ा और वसन्तादि ऋतु का स्निग्ध वर्णन भी इसी छन्द में किया गया है। उदाहरणार्थ—निम्न उद्धरण में कवि कर्णपूर ने वसन्त ऋतु में रसाल रस का पान करने वाली मदोन्मत्त कोकिला के उल्लास को द्रुतविलम्बित (छन्द) में छन्दोबद्ध किया है; यथा—

नवरसालरसादनदर्पिताः परभृता यदुदारतरं जगुः।
तदभवनमदनस्य महोर्जितं सपदि दग्धतनोरनुजीवितम् ॥[2]

इसी प्रकार सम्भोग शृंगार का वर्णन द्रुतविलम्बित छन्द में सफलतापूर्वक किया गया है; यथा—

वलितघर्मघनस्तनमण्डले ददतिपाणिपुटं यदुनन्दने।
दरनिमीलितदृग् विशदस्मितं मुखमकारि मृगेक्षणया नतम् ॥[3]

उपर्युक्त दोनों ही उद्धरणों में छन्द की गति आरम्भ में द्रुत तथा उत्तरार्द्ध में विलम्बित होने के कारण द्रुतविलम्बित का सौन्दर्य द्विगुणित हो गया है।

'चैतन्यचरितामृतम्' में दीर्घिका का वर्णन द्रुतविलम्बित छन्द में किया गया है; यथा—

---

१. प्रारम्भे द्रुतविन्यासं पर्यन्तेषु विलम्बितम्।
विच्छित्त्या सर्वपादानां भाति द्रुतविलम्बितम् ॥
क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, २।१८.

२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १८।३३.

३. वही, १८।४३.

सरसि का रसिका विरताभवेद्रुसि को रसिकोऽधृततत्कुचः ।
ननु कथन्नु कथञ्चन तौ मतौ कमलकोमलकोरकवन्नयौ ।।[1]

उपर्युक्त उद्धरण में छन्द का चयन वर्ण्यविषयानुसार ही किया गया है, किन्तु पदयोजना छन्द की गति के विपरीत है। अतएव यहाँ अपेक्षित चारुत्व का स्फुरण नहीं हो पाया है।

भुजंग-प्रयात

भुजंग-प्रयात छन्द की योजना 'चैतन्यचरितामृतम्' के १६वें (३७–४७) तथा 'पारिजातहरणम्' के १५वें (२८, ३२, ३७) सर्ग में विद्यमान है। उसके वर्ण्यविषय के सम्बन्ध में सुवृत्ततिलकम्' से किञ्चित् सहायता नहीं मिलती है। कवि कर्णपूर ने 'चैतन्यचरितामृतम्' में महाप्रभु चैतन्य के नृत्योत्कर्ष का उल्लास तथा 'पारिजातहरणम्' में युद्ध का वर्णन भुजंग-प्रयात के माध्यम से कुशलतापूर्वक किया है। दोनों ही स्थलों की छन्दोयोजना में प्रवाह और गत्यात्मकता प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ—निम्न श्लोक में युद्ध का वर्णन किया गया है; यथा—

जवादापतन्तं बलं मर्दयन्तं
करीन्द्रं तमुद्दामदर्पान्नदन्तम् ।
वलद्दानदम्भे महोदारकुम्भे -
शरेणोरुसारेण शौरिर्जघान ।।[2]

उपर्युक्त उद्धरण की गति एवं लय सर्वथा भुजंग-प्रयात (छन्द) की संज्ञा को सार्थक कर रही है। भुजंग-प्रयात जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इस छन्द की गति सर्प की भाँति वक्र (लहराती हुई) होनी चाहिये। उसी वक्र गति एवं लय की प्रतीत यहाँ हो रही है। वस्तुतः प्रस्तुत उद्धरण कवि कर्णपूर के सफल छन्दकौशल का परिचायक है।

वंशस्थ

वंशस्थ छन्द की योजना 'चैतन्यचरितामृतम्' के द्वितीय एवं चतुर्थ सर्ग में तथा 'पारिजातहरणम्' के प्रथम, नवम, एकादश, पञ्चदश एवं षोडश सर्ग में हुई है। वंशस्थ छन्द के वर्ण्यविषय के सम्बन्ध में सुवृत्ततिलककार क्षेमेन्द्र का कथन है कि—'षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिवंशस्थेन विराजते'[3] अर्थात्

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , ४.२८.
२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , १५।३२.
३. क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम् , ३।१८.

वंशस्थ का प्रयोग नीतिविषयक स्थलों पर होना चाहिये। वंशस्थ की रसानुकूल एवं विषयानुकूल छन्दोयोजना के लिए क्षेमेन्द्र ने भारवि की प्रशंसा की है।[1] कवि कर्णपूर ने 'चैतन्यचरितामृतम्' के द्वितीय सर्ग में वंशस्थ वृत्त के द्वारा नवद्वीपपुरी, नवद्वीपवासी, चैतन्य के माता-पिता, विश्वरूप एवं चैतन्य के आविर्भाव आदि का वर्णन किया है। अवशेष सर्ग में चैतन्य के शैशवकालीन सौन्दर्य, बालसुलभ मनोरम क्रीड़ाओं, विश्वरूप का संन्यास, शची एवं जगन्नाथ मिश्र का विलाप तथा चैतन्य की अलौकिकता के सम्बन्ध में जगन्नाथ के स्वप्न आदि का वर्णन कवि ने इसी छन्द में किया है। चतुर्थ सर्ग में केवल एक स्थल (७७) पर वंशस्थ छन्द का प्रयोग किया गया है। 'पारिजातहरणम्' के प्रथम सर्ग में वंशस्थवृत्त में द्वारकापुरी, कृष्ण के विवाह, शासन-प्रबन्ध तथा नारद मुनि के आगमन का वर्णन किया गया है। 'पारिजातहरणम्' के उपर्युक्त वर्ण्यविषय से 'चैतन्यचरितामृतम्' के द्वितीय सर्ग के वर्ण्यविषय में पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है। 'पारिजातहरणम्' के एकादश सर्ग में वंशस्थ का प्रयोग केवल एक स्थल (८०) पर हुआ है। यहाँ इसका वर्ण्यविषय आकाशगंगा है। नवम सर्ग (१–५८) में इसका वर्ण्यविषय इन्द्र पर आक्रमण करने के लिए यादव-सेना का प्रस्थान तथा पड़ाव है। पञ्चदश सर्ग (५०–५१) में वंशस्थ की योजना नीति विषय में हुई है। षोडश सर्ग (१–७१) में वंशस्थ का वर्ण्यविषय ब्रह्मा की मध्यस्थता में इन्द्र और कृष्ण की सन्धि तथा स्वर्ग में कृष्ण के आदर-सत्कार का वर्णन है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कवि कर्णपूर ने 'चैतन्यचरितामृतम्' और 'पारिजातहरणम्' के प्रथम एवं एकादश सर्ग के अतिरिक्त सर्वत्र 'सुवृत्ततिलकम्' का अनुसरण किया है। जिन स्थलों पर रसानुकूल छन्दोयोजना की गई है, वहाँ पर भावाभिव्यक्ति सशक्त तथा छन्द में एक विशेष प्रकार की गति प्रतीत होती है, जो कवि के छन्दःकौशल की परिचायक है; यथा—

अथ स्तुतो वेदविदा विरिञ्चिना
कृतापराधेऽपि पुरन्दरे चिरम्।
मुमोच रोषं मुरजिन्महामना
क्षमा हि कीर्तिः प्रणतेषु मानिनाम्॥[2]

---

१. वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता॥ क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, ३।३१.

२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरम्, १६।१.

उपर्युक्त उद्धरण में कृष्ण की नीति का प्रकाश वंशस्थ में किया गया है।

प्रहर्षिणी

प्रहर्षिणी छन्द का निबन्धन कवि कर्णपूर ने 'चैतन्यचरितामृतम्' के तृतीय (१४३, १४४), पञ्चम (१-१२५), सप्तम (१००), नवम (६४) एवं षोडश (२५) तथा 'पारिजातहरणम्' के पञ्चदश (३४) सर्ग में किया है। क्षेमेन्द्र ने इसके वर्ण्यविषय की ओर कोई संकेत नहीं किया है। किन्तु प्रहर्षिणी छन्द के नाम से प्रतीत होता है कि इसका विन्यास हर्षोल्लास के प्रसंग में किया जाना चाहिए। कवि कालिदास ने हर्ष व प्रसन्नता के साथ समाप्त होने वाले सर्ग के अन्त में प्रहर्षिणी की योजना की है। कवि कर्णपूर ने भी 'चैतन्यचरितामृतम्' के तृतीय सर्ग में प्रहर्षिणी छन्द की योजना हर्ष के साथ सम्पन्न होने वाले सर्ग के अन्त में की है। पञ्चम सर्ग में प्रहर्षिणी का वर्ण्यविषय महाप्रभु चैतन्य की विरहावस्था, वराहवेश, षड्भुज रूप प्रदर्शन, ग्रीष्मऋतु, चैतन्य का महाभिषेक, नृत्य, संकीर्तन तथा चैतन्य का कृष्णभाव में विहार करना आदि हैं। सप्तम सर्ग में चैतन्य का भक्तों के प्रति कृपाभाव वर्णित है। नवम और षोडश सर्ग में प्रहर्षिणी का वर्ण्यविषय पक्षियों का कलरव एवं नृत्य आदि है। इस स्थल पर पुनः हर्षोल्लासपूर्ण छन्दोयोजना दृष्टिगत होती है। 'पारिजातहरणम्' में प्रहर्षिणी छन्द का वर्ण्यविषय इन्द्र के वाहन ऐरावत का पराहत होकर युद्ध क्षेत्र से पलायन है। यहाँ पर हर्ष अथवा हर्षातिरेक का कोई प्रसंग नहीं है। अपितु ऐरावत का पराहतावस्था में पलायन सहृदयों के हृदय को अवसाद में निमग्न कर देता है।

वसन्ततिलका

वसन्ततिलका कवि कर्णपूर का प्रिय छन्द है। इसका प्रयोग सर्वाधिक किया गया है। 'चैतन्यचरितामृतम्' में इसका प्रयोग षष्ठ (१-१२१), सप्तम (१०१), अष्टम (६२।६३), त्रयोदश (४२; १४६), षोडश (६-८, ३३-३६), सप्तदश (५३) एवं विंशति (४३-४५, ५०) तथा 'पारिजातहरणम्' के चतुर्थ (१-५८), अष्टम (१-२५), नवम (५९), एकादश (८२), द्वादश (१-४३), चतुर्दश (६३), पञ्चदश (१२, १७, २०, ४२, ५२), षोडश (७२), सप्तदश (८०) एवं अष्टादश (४७) सर्ग में किया गया है। क्षेमेन्द्र के अनुसार वसन्ततिलका का प्रयोग वीर और रौद्र के संकर में करना चाहिए।[1] वसन्ततिलका की गुणवत्ता के

१. वसन्ततिलकं भाति संकरे वीररौद्रयोः। क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम, ३।१९.

सम्बन्ध में उनका कथन है कि प्रथम द्वितीय पाद के अन्तिम वर्णों से पूर्ववर्ण आकार स्वरयुक्त तथा ओजगुण व्यञ्जक वर्णों का विन्यास करने से वसन्ततिलका की शोभा द्विगुणित हो जाती है।[1] महाकवि कालिदास ने वसन्ततिलका का प्रयोग कार्य की सफलता तथा ऋतुवर्णन के प्रसंग में किया है। कवि कर्णपूर ने भी कई स्थलों पर इसी संदर्भ में वसन्ततिलका का प्रयोग किया है। कवि ने वसन्ततिलका का प्रयोग अधिक किया है, इसलिए विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति इस छन्द के माध्यम से हुई है। 'चैतन्यचरितामृतम्' में वसन्ततिलका का वर्ण्यविषय शृंगार, दैन्य, भक्तिभावना एवं ऋतुवर्णन आदि है। यहाँ पर छन्दोयोजना वर्ण्यविषयानुसार न होने के कारण इसमें चारुत्व की प्रतीति नहीं होती है। 'पारिजातहरणम्' के चतुर्थ सर्ग में वसन्ततिलका का वर्ण्यविषय—प्रणयकोप अर्थात् विप्रलम्भ शृंगार है। किन्तु यहाँ पर 'हतवृत्तता' दोष की आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वसन्ततिलका का प्रयोग ओजपूर्ण स्थलों पर भी किया जाता है। यहाँ पर कोप वर्णित है। यह स्वतः सिद्ध तथ्य है कि कोप चाहे रौद्र, वीर के प्रसंग में हो, चाहे प्रणयभान के प्रसंग में, ओज उसमें सर्वत्र विद्यमान रहता है। सम्भवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखकर कवि ने यहाँ वसन्ततिलका की योजना की है। अष्टम सर्ग में इन्द्र पर आक्रमण करने के लिए यादव सेना का प्रस्थान वसन्ततिलका का वर्ण्यविषय है। यहाँ पर वीर रस की अभिव्यक्ति का साधन होने के कारण वसन्ततिलका को विशेष उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। नवम सर्ग में वसन्ततिलका का प्रयोग महत्त्वपूर्ण नहीं है। एकादश और द्वादश सर्ग में वसन्ततिलका का वर्ण्यविषय—सूर्यास्त, चन्द्रोदय, मदिरापान, कामक्रीड़ा आदि है। अर्थात् यहाँ पर सम्भोग शृंगार की अभिव्यक्ति का साधन वसन्ततिलका है। निःसन्देह यहाँ पर रसानुकूल छन्दयोजना नहीं है। यहाँ पर विभाव वर्णन के प्रसंग में रसोद्धता छन्द की योजना अधिक उपयुक्त रहती। चतुर्दश एवं पञ्चदश सर्ग में वसन्ततिलका का कार्यविषय इन्द्र और कृष्ण का युद्ध है। यहाँ पर वसन्ततिलका को वीर और रौद्र का संकर प्राप्त हुआ है। रसानुकूल विन्यास होने के कारण वसन्ततिलका को विशेष कान्ति प्राप्त हुई है; यथा—

दैत्यारयः स्फुरितरोषभरारुणाभि-
र्वाग्भिर्दृशामरुणतामवतारयन्तः।

---

१. वसन्ततिलकस्याग्रे साकारे प्रथमाक्षरे।
ओजसा जायते कान्तिः सविकासविलासिनी ॥ क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, २।२०.

नीहारनीरनिकरैरिव पर्वतेन्द्रं
श्रीमन्मुकुन्दमकिरन्नुरुशस्त्रसंघैः ।।
कल्पान्तसन्ततपयोधरघोरनाद-
मुद्वीक्ष्य वज्रममरेशकरे मुरारिः ।
उद्दामदानवदवानलमुज्जिहान-
ज्वालावितानघनमाशु दधार चक्रम् ।।[1]

उपर्युक्त उद्धरण में रौद्र और वीर का संकर प्राप्त है। साथ ही प्रथम, द्वितीय चरणों के उपान्त्यवर्णों के आकारयुक्त होने के कारण तथा सम्पूर्ण पद्य में गाढ़बन्धता के कारण उत्पन्न ओज गुण की अनुभूति से वसन्ततिलका छन्द विलक्षण शोभा को धारण कर रहा है।

मालिनी

कवि कर्णपूर ने मालिनी छन्द की योजना 'चैतन्यचरितामृतम्' महाकाव्य के दशम, द्वादश, पञ्चदश, षोडश एवं विंशति सर्ग में तथा 'पारिजातहरणम्' के सप्तम, दशम, एकादश, द्वादश, पञ्चदश, षोडश, सप्तदश एवं अष्टादश सर्ग में की है। क्षेमेन्द्र के अनुसार मालिनी छन्द का प्रयोग सर्ग के अन्त में करना चाहिए।[2] मालिनी छन्द की सगुणता के सम्बन्ध में उनका विचार है कि—'विशेषतः तृतीया, चतुर्थ चरणों के अन्त में विसर्ग नहीं रहने से मालिनी (छन्द) पूंछविहीन चमरी गाय एवं पल्लवशून्यलता के समान सुशोभित नहीं होती है। द्वितीयार्ध में समस्त पदों वाली मालिनी श्रेष्ठ तथा प्रथमार्ध में समस्त पदों वाली मालिनी निम्न कोटि की होती है।'[3] क्षेमेन्द्र ने मालिनी छन्द के वर्ण्यविषय तथा रस के सम्बन्ध में कोई आदेश नहीं दिया है। संस्कृत साहित्य के कवियों ने विभिन्न रसों के प्रसंग में इसका प्रयोग किया है। कवि कर्णपूर ने 'चैतन्यचरितामृतम्' में श्रृंगार-रस, स्तुति आदि भावों का उपनिबन्धन मालिनी में किया है। 'पारिजात-

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , १५।१७, ४२.

२. कुर्यात्सर्गस्य पर्यन्ते मालिनीं द्रुततालवत् ।।
क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम् , ३।३९.

३. विसर्गहीनपर्यन्ता मालिनी न विराजते ।
चमरी छिन्नपुच्छेव वल्लीवालूनपल्लवा ।।
द्वितीयार्द्धे समस्ताभ्यां पादाभ्यां मालिनी वरा ।
प्रथमार्द्धे समस्ताभ्यां पादाभ्यामवरा मता ।। वही, २।२२, २३.

हरणम्' में शृंगार और वीर दोनों ही रसों की अभिव्यक्ति इस छन्द के माध्यम से की गई है। 'चैतन्यचरितामृतम्' के षोडश सर्ग के अतिरिक्त सर्वत्र मालिनी छन्द का विन्यास सर्ग के अन्त में ही किया गया है। कई स्थलों पर कवि कर्णपूर की मालिनी विसर्ग युक्त तथा प्रथमार्ध में असमस्त पद एवं द्वितीयार्ध में समस्त पद वाली है, जिससे उसका सौन्दर्य द्विगुणित हो गया है; यथा—

सरभसमनुयातः सम्मदादुत्तरङ्गैः
पथि पथि नगरीयैरादरादर्च्यमानः।
जयजनितविशालोल्लासफुल्लाननश्रीः
पुरमविशदमन्दानन्दसान्द्रो मुकुन्दः ॥[1]

इसके विपरीत कहीं-कहीं मालिनी छन्द में एक भी पद विसर्गान्त नहीं है। प्रथमार्ध में समस्त पद और द्वितीयार्द्ध में असमस्त पदावली है। अन्यत्र समस्त मालिनी छन्द में असमस्त पद अथवा समस्त पद हैं। इससे स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध में कवि ने किसी नियम का पालन नहीं किया है।

पृथ्वी

पृथ्वी छन्द की योजना 'चैतन्यचरितामृतम्' के पञ्चदश (१०८) एवं षोडश सर्ग (१७, १८, ३१) तथा 'पारिजातहरणम्' के पञ्चदश (१८) सर्ग में दृष्टिगोचर होती है। क्षेमेन्द्र के अनुसार पृथ्वी छन्द का वर्ण्यविषय निन्दा और क्रोधपूर्वक तिरस्कार वर्णन है।[2] उसकी सगुणता के सम्बन्ध में उनका विचार है कि असमस्त और पृथक्-पृथक् पदों के प्रयोग से पृथ्वी छन्द पृथ्वी के समान विशाल प्रतीत होती है, किन्तु समास की ग्रन्थि से ग्रस्त हो जाने से संकुचित होकर अपनी विशालता त्याग देती है।[3] किन्तु समास की ग्रन्थि से ग्रस्त हो जाने से संकुचित होकर किन्तु आकार को गम्भीर बना देने वाले ओजोगुणोत्पादक वर्णों के प्रयोग से पृथ्वी छन्द के लिए समास दोषावह नहीं रह जाता, प्रत्युत गुणोत्पादक हो जाता है।[4] कवि कर्णपूर ने

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १७।८१.

२. साक्षेपक्रोधधिक्कारे परं पृथ्वी भरक्षमा ॥ क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, ३।२१.

३. असमासैः पदैर्भाति पृथ्वी पृथ्वी पृथक्स्थितैः।
समासग्रन्थिभिः सैव याति सङ्कोचरवर्ततताम् ॥
क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, २।२७.

४. पृथ्वी साकारगम्भीरैरोजः सर्जिभिरक्षरैः।
समासग्रन्थियुक्तापि याति प्रत्युत दीर्घताम् ॥ वही, २।२८.

पृथ्वी छन्द का प्रयोग दोनों महाकाव्यों में ओजपूर्ण स्थल पर किया है। 'चैतन्यचरितामृतम्' में पृथ्वी छन्द का वर्ण्य विषय नृत्यविलास का वर्णन है। यहाँ पर असमस्त पदावली की योजना होने के कारण पृथ्वी छन्द विशाल प्रतीत होता है। 'पारिजातहरणम्' में पृथ्वी छन्द का विन्यास युद्ध के प्रसंग में किया गया है; यथा—

सगर्वमुरुविक्रमैर्दितिजवैरिवीरोत्करै-
मुञ्जति समन्ततो निशितशस्त्रसन्धान्मुहुः ।
अदीपि न दिवाकरो न विरराज दिङ्मण्डलं
व्यलोकि न नभस्तलं न गतिमाप्तवान् मारुतः ॥[1]

प्रस्तुत उद्धरण में प्रथम चरण के अतिरिक्त सर्वत्र असमस्त पदावली की योजना तथा ओजगुण विद्यमान होने के कारण छन्द में विशेष प्रवाह प्रतीत होता है।

मन्दाक्रान्ता

मन्दाक्रान्ता छन्द की योजना केवल 'चैतन्यचरितामृतम्' के प्रथम (१-२४), नवम (६५), एकादश (८७-८६), एकोनविंश (१००) तथा विंशति (३८, ३९) सर्ग में दृष्टिगत होती है। मन्दाक्रान्ता छन्द के वर्ण्यविषय के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र का विचार है कि 'प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते' अर्थात् वर्षा ऋतु के प्रवास तथा व्यसनादि के वर्णन में मन्दाक्रान्ता विशेष विच्छिति प्राप्त करता है।[2] संस्कृत के अधिकांश कवियों ने मन्दाक्रान्ता छन्द का चयन विप्रलम्भ श्रृंगार के सन्दर्भ में किया है। किन्तु मन्दाक्रान्ता के प्रयोग में कालिदास ने विशेष प्रगल्भता प्राप्त की है। 'चैतन्यचरितामृतम्' के प्रथम सर्ग में महाप्रभु चैतन्य के परलोक गमन के कारण स्वयं को निःसहाय और दीन समझकर अपने हृदयगत भावों की अभिव्यंजना कवि कर्णपूर ने मन्दाक्रान्ता छन्द में की है; यथा—

हाहा नाथ प्रियतम मनोनाथ कारुण्यसिन्धो
निःसीमागः शमन दयित प्रेष्ठ हाहा हताः स्मः ।
सर्वो लोकस्तवचरणयोर्विप्रयोगेति दुर्गे
लीनोदीनः श्वसिति परमैर्दुष्कृतानां समूहैः ॥[3]

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १५।१८.
२. क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, ३।२१.
३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्. १।१६.

प्रस्तुत उद्धरण में करुण रस के प्रसंग में मन्दाक्रान्ता छन्द की योजना हुई है। यद्यपि विप्रलम्भ शृंगार और करुण रस दोनों सर्वथा पृथक्-पृथक् रस हैं, तथापि दोनों में ही अन्तस्तल की मर्म स्पर्शी भावाभिव्यक्ति होने के कारण कुछ साम्य प्रतीत होता है। अतएव करुण रस की अभिव्यक्ति के लिए भी मन्दाक्रान्ता छन्द अनुपयुक्त नहीं है।

शार्दूलविक्रीडित

शार्दूलविक्रीडित कवि कर्णपूर का प्रिय छन्द है। कारण, कवि ने 'पारिजातहरणम्' (महाकाव्य) के प्रत्येक सर्ग के अन्त में शार्दूलविक्रीडित छन्द का विन्यास किया है। क्षेमेन्द्र के कथनानुसार इसकी योजना राजादि के शौर्य के स्तवन के सन्दर्भ में की जानी चाहिए।[1] शार्दूलविक्रीडित छन्द के प्रयोग के सम्बन्ध में उन्होंने राजशेखर की प्रशंसा की है।[2] कवि कर्णपूर ने अधिकांश स्थलों पर क्षेमेन्द्र के आदेशों का पालन किया है। 'पारिजात-हरणम्' के पष्ठ सर्ग (७०–७२) में इसका वर्ण्यविषय नारद के ओजस्वी तेज का स्तवन है। ७वें सर्ग में शार्दूलविक्रीडित का वर्ण्यविषय इन्द्र का शौर्य है, जिसमें वीर रस का पूर्ण परिपाक हुआ है; यथा—

आगत्याभिमुखं कथञ्चिदपि मे सन्नद्धसैन्योभयात्
त्वं गन्तासि न चेन्ममाशुनिधनज्वालावलोकाकुलः।
सन्दास्यन्ति तदासुरेभदलनव्यापारपञ्चानना
गर्वाखर्वसुपर्वयोघनिवहाः कोदण्डदण्डे दृशः ॥[3]

यहाँ पर इन्द्र के अखर्व गर्व के अभिव्यक्तिकरण के कारण शार्दूल-विक्रीडित छन्द वीर रस का आश्रय बनकर उत्कर्ष को प्राप्ति हो रहा है। इसके अतिरिक्त ६वें सर्ग में सुमेरु प्रवंत तथा ११वें सर्ग में अन्धकार के एकछत्र राज्य का चित्रण इस छन्द में किया गया है। शार्दूलविक्रीडित छन्द का चरमोत्कर्ष १५वें सर्ग में दृष्टिगोचर होता है। युद्ध वर्णन के प्रसंग में कवि कर्णपूर ने इसका प्रयोग कुशलतापूर्वक करके अपने छन्द-कौशल का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ—कृष्ण के शरसंचालन की कुशलता का प्रतिपादन शालर्दूविक्रीडित छन्द के माध्यम से अत्यधिक

---

१. शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूदक्रीडितं मतम्। क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, ३।२२.

२. शार्दूलक्रीडितैव प्रख्यातो राजशेखरः।
शिखरीव परं वक्रैः सोल्लेखैरुच्चशेखरः ॥ वही, ३।३५.

३. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ७।६२.

प्रभावशाली रूप में किया गया है; यथा—

शिक्षादक्षतया तदा मुररिपोरालोकितः कैरपि
ज्याबन्धेन शरः शरेण च करस्तत्रापि न स्पन्दनम् ।
किं त्वेतद् घटमानकारणशरासारैर्ययौ दृक्पथं
न द्योर्नैव नभो न वा वसुमती नापि द्विषन्मण्डलम् ॥[1]

प्रस्तुत उद्धरण में वीररस का पूर्ण परिपाक हुआ है, साथ ही शब्द-योजना भी छन्दानुरूप है। फलस्वरूप उसमें एक विचित्र प्रवाह गति आ गई है। 'चैतन्यचरितामृतम्' के अधिकांश स्थलों पर चैतन्यमहाप्रभु के नृत्य-विलास का वर्णन शार्दूलविक्रीडित छन्द में किया गया है। अप्रत्यक्ष रूप में वहाँ पर भी चैतन्य के तेज का स्तवन ही किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि कर्णपूर ने वर्ण्यविषय एवं रस के अनुरूप ही शार्दूल-विक्रीडित छन्द का चयन कर अपनी सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया है।

स्रग्धरा

कवि कर्णपूर द्वारा प्रयुक्त सभी छन्दों में स्रग्धरा छन्द सर्वाधिक अक्षरों वाला है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसका वर्ण्य पवनादि का वेग वर्णन कहा है।[2] संस्कृत के अधिकांश कवियों ने स्रग्धरा छन्द का प्रयोग ओजस्वी एवं उत्साह-पूर्ण स्थलों पर किया है। स्रग्धरा के प्रयोग में विशाखदत्त को विशेष प्रगल्भता प्राप्त है। उनका 'मुद्राराक्षस' इस सम्बन्ध में विशेष प्रसिद्ध है। कवि कर्णपूर ने 'चैतन्यचरितामृतम्' के ७वें (१०७), १५वें (१०५) एवं १६वें (१२–१६, २४, २८–३०) तथा 'पारिजातहरणम्' के १५वें सर्ग (८, ४१) में स्रग्धरा छन्द की योजना है। 'चैतन्यचरितामृतम्' के १६वें सर्ग में स्रग्धरा छन्द को विशेष उत्सर्ग की प्राप्ति हुई है। वहाँ पर इसका वर्ण्यविषय द्रुतगामी रथ की विलक्षण गति से उत्थित होने वाली धूलराशि का प्रवाह तथा नत्योल्लास का वर्णन हैं; यथा—

आरून्धन् दिक्करीन्द्रोत्करकरविवरं साम्बुचक्षुः सहस्रं
कुर्व्वन्नैरावणेशं पलितविलसितादेवतास्तत्र कुर्व्वन् ।
सेतु-भ्रान्ति पयोधेः पुनरपि रचयन्नेवमुज्जृम्भतेऽसौ
प्रोन्मीलच्चक्रचक्रोद्दलनविसृमरोद्धृत-धूलीप्रवाहः ॥[3]

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , १५।१६.

२. सावेग पवनादीनां वर्णने स्रग्धरा मता । क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम् , ३।२२.

३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , १६।१४.

प्रस्तुत स्थल पर धूलराशि के वेग का वर्णन स्रग्धरा छन्द में किया गया है। वर्ण्यविषयानुसार छन्दोयोजना होने के कारण इसमें सजीवता है। 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में युद्धवर्णन के प्रसंग में स्रग्धरा छन्द का विन्यास किया गया है। उदाहरणार्थ निम्न उद्धरण में इन्द्र के आयुध वज्र की अप्रतिम दीप्ति का वर्णन स्रग्धरा छन्द में किया गया है; यथा—

उद्यज्ज्वालाजटालः सपदि दशदिशोधूमधूम्रावितन्वन्
कुर्वन् गर्वोद्धतानां समिति विचरतां मानसं मानशून्यम्।
स्वैरारावैस्त्रिलोकीं सपदिबधिरतामानयन्नुग्ररूपो
दम्भोलिर्दम्भभाजां त्रिदशपतिकरे प्रौढदीप्तिर्दिदीपे॥[1]

प्रस्तुत उद्धरण में छन्द रसानुकूल है। भावाभिव्यक्ति भी सशक्त है। साथ ही कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दावली भी रस को प्रदीप्त करने में सहायक सिद्ध हुई है।

पुष्पिताग्रा

पुष्पिताग्रा छन्द का विन्यास 'चैतन्यचरितामृतम्' के १५वें (१–१०४) तथा 'पारिजातहरणम्' के ११वें (७६), १२वें (४४–५०) एवं १५वें (२७, ३८) सर्ग में किया गया है। पुष्पिताग्रा छन्द के वर्ण्यविषय के सम्बन्ध में 'सुवृत्ततिलकम्' में कोई संकेत नहीं किया गया है। कवि कर्णपूर ने पुष्पिताग्रा छन्द के माध्यम से वीर और शृंगार दोनों की ही अभिव्यक्ति की है। इससे स्पष्ट है कि कवि कर्णपूर पुष्पिताग्रा छन्द के प्रयोग के सम्बन्ध में पूर्णतः स्वतन्त्र रहे हैं तथा इसका प्रयोग भी अधिक नहीं किया है।

वियोगिनी

कवि कर्णपूर ने वियोगिनी छन्द का प्रयोग 'चैतन्यचरितामृतम्' के दूसरे (१२०–१२३), १३वें (११५–१२५, १२७–१३५, १३८–१४४) एवं १८वें (१–६२) सर्ग तथा 'पारिजातहरणम्' के तीसरे (१–३६) एवं ११वें सर्ग (१–७६) में किया है। वियोगिनी छन्द के प्रयोग स्थल एवं वर्ण्यविषय के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र मौन हैं। कवि कर्णपूर ने वियोगिनी छन्द के माध्यम से सम्भोग-शृंगार, विप्रलम्भ-शृंगार, करुणरस तथा वस्तुवर्णन का उपनिबन्धन किया है। उसका प्रयोग कहीं पर भी वीर अथवा रौद्ररस के प्रसंग में नहीं किया है।

उपर्युक्त छन्दों के अतिरिक्त कवि कर्णपूर ने शिखरिणी, दोधक, भ्रमर-विलसितम्, शालिनी, चन्द्रवर्त्म, प्रमिताक्षरा, कलहंस, मंजुभाषिणी, मत्त-

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १५।४१.

मयूरी, लीलाखेल एवं शशिकला आदि छन्दों का प्रयोग भी स्फुट रूप में इतस्तत: किया हैं। अतएव इन पर विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया गया। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कवि कर्णपूर ने एक निपुण शिल्पी की भाँति अपने महाकाव्यों में छन्दोयोजना की है। एक-दो स्थलों के अतिरिक्त सर्वत्र उनकी छन्दोयोजना रसानुकूल एवं विषयानुरूप हैं। प्रायः प्रत्येक सर्ग में एक से अधिक छन्दों का कुशलतापूर्वक प्रयोग करके उन्होंने अपनी प्रौढ़ विदग्धता का ही परिचय नहीं दिया है, अपितु उससे उनकी सूक्ष्म दृष्टि का भी परिचय मिलता है। महाकाव्यों के जिन स्थलों पर भाव और घटनाएँ शीघ्रता से परिवर्तित हुई हैं, उन स्थलों पर कवि कर्णपूर ने भावों और घटनाओं के अनुरूप ही छन्दों में परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य के चतुर्दश एवं पञ्चदश सर्ग में युद्ध का निबन्धन किया गया है। युद्ध में प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव का प्रकटन कवि ने चुन-चुन कर उपयुक्त छन्दों में किया है। एक श्लोक शिखरिणी की भाँति प्रवाहमय है। दूसरी ओर द्वितीय श्लोक 'भुजंगप्रयात' की भाँति कुटिल गति में चलायमान है। युद्ध की प्रचण्डता अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर 'शार्दूलविक्रीडित' एवं स्रग्जरा छन्द में प्रकटित हुई है। अर्थात् जिस प्रकार उत्साहित योद्धाओं ने अपने अस्त्रों को परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तित करके विमुञ्चित किया है, उसी प्रकार कवि ने अपने छन्दों में परिवर्तन करके उस भाव में सजीवता लाने का प्रयास किया हैं। इसी प्रकार 'चैतन्यचरितामृतम्' के षोडश एवं सप्तदश सर्ग में सर्वाधिक छन्दों का प्रयोग किया गया है। इस संक्षेप में कहा जा सकता है कि छन्दों की रसानुगुणता, विषयानुरूपता अवस्थोचित स्थिति एवं विविधता कवि कर्णपूर (के महाकाव्यों) की छन्दोयोजना की प्रमुख विशेषता है। डॉ० दे महोदय ने कवि कर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदय'[1] एवं 'कृष्णाह्निककौमुदी'[2] की छन्दोयोजना की प्रशंसा की है।

---

1. 'He Possesses Considerable Literary Skill and decided ability to handle Sonorous metres.'
   De., S. K., Early History of Vaisnava faith And Momement in Bengal, p. 437.
2. 'He is a Talented master of Verbal and metrical Contrivance.'
   Ibid, p. 458.

नवम अध्याय

महाकाव्यों में अलंकार-योजना

भामह से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ पर्यन्त अलंकारमीमांसा की धारा जनभाषा की भांति स्वच्छन्द गति से प्रवाहित हुई है। युग चेतना के साथ काव्य में अलंकारों के स्थान के सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियों के दृष्टिकोण भी परिवर्तित होते रहे हैं। प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में अलंकार काव्य का अपरिहार्य तत्त्व था।[1] किन्तु साहित्य क्षेत्र में ध्वनिवाद व रसवाद का नवोन्मेष होते ही अलंकारों के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तन के साथ ही काव्य में उनका एक निश्चित स्थान भी नियत हो गया। ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकारों को काव्य का अस्थिर एवं गुणों को उस (काव्य) का स्थिर धर्म स्वीकार किया। अलंकार अलंकार्य (रस) के उत्कर्षाधायक तत्त्व हैं, जीवनाधायक तत्त्व नहीं। इसी दृष्टिकोण से अलंकारों का लक्षण किया गया।[2]

अलंकार वैदुष्य से कहीं काव्य का आत्मतत्त्वरस अपेक्षित न हो जाये, इस सम्बन्ध में भी ध्वनिवादी आचार्य सतर्क हैं। काव्य में किस प्रकार की अलंकार योजना रसोत्कर्ष में सहायक हो सकती है? इस सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके मतानुसार रसानुभावक वस्तु को भाषा में प्रकट करते समय बहुधा परिश्रम साध्य

---

१. तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मते ॥

रुय्यक, अलंकारसर्वस्वम् , पृ० ६.

२. (क) तमर्थावलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥

आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, २।५ का.

(ख) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेणजातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

मम्मट, काव्यप्रकाश, ८।६७.

(ग) शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०।१.

शब्दालंकारों का प्रयोग ध्वनि को ध्वनित करने में सहायक नहीं होता है। विशेषतः शृंगाररस के अंगी होने पर एक रूपानुबन्ध वाला अनुप्रास तथा विप्रलम्भ में यमकादि का निबन्धन रस का प्रकाशक नहीं होता है।[1] कारण, ये अलंकार यत्न साध्य हैं। अतएव सहृदय और कवि दोनों का अवधान खण्डित हो जाता है। यद्यपि स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त यत्र-तत्र एक-दो यमकालंकार से काव्य के बाह्य सौन्दर्य की वृद्धि हो जाती है; तथापि यह कवि कर्त्तव्य है कि वे यमकादि के अन्य वैचित्र्यमुरजबन्ध, गोमूत्रिका, प्रतिलोमानुलोमपाद, श्लोकावृत्ति, संचुटक, सर्वतोभद्र, भंगश्लेष आदि कष्टसाध्य शब्दालंकारों की उपेक्षा करें। क्योंकि यह अनुभव सिद्ध तथ्य है कि पूर्वोक्त शब्दालंकारों का प्रयोग बिना पृथक् मानसिक श्रम के सम्भव नहीं है। यह मानसिक श्रम कवि के मन से प्रतिभा द्वारा साक्षात्कृत रसानुभावक वस्तु को हटा देता है।[2] इसके विपरीत जो शब्दालंकार न हो, ... कथारस की अपेक्षा अधिक ऊपर उठाने की चेष्टा न कर रहे हों, अपितु रसचर्वणा में सुन्दर सुखानुभूति प्रकट करने की शक्ति रहते हों, इन अनुप्रासादि का त्याग नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन केवल उन्हीं अलंकारों को ग्राह्य स्वीकार करते हैं जिनका प्रयोग रसाक्षिप्ततया एवं बिना किसी पृथक् प्रयत्न के किया जाये।[3] इस प्रकार के अलंकार रूपकादि अर्थालंकार हैं।[4] विभाव इत्यादि की संघटना के अवसर पर ये अलंकार बिना किसी पृथक् प्रयत्न के कवि के अन्तःकरण में स्वयं स्फुरित हो जाते हैं। कवि के लिए उनकी उपेक्षा करना

---

१. शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः॥
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥
आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, २।१४, १५.

२. यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते॥ वही, २।१६, संग्रहश्लोक.

३. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥
आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, २।१६.

४. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्॥ वही, २।१७.

असम्भव हो जाता है। इस प्रकार वे रसाभिव्यञ्जना के लिए अनिवार्य सिद्ध हो जाते हैं। कारण, रसानुभावक वस्तु में प्रधानतम तत्व केवल ध्वनि ही है तथा ध्वन्यर्थ विशेष प्रकार के इन वाच्यार्थों से ध्वनि होता है, जिनको तदर्थक शब्दों में प्रकट किया जाता है। इस प्रकार के वाच्यार्थ ही अर्थालंकार हैं। अतएव इन अर्थालंकारों का प्रयोग आवश्यक है। किन्तु इन अर्थालंकारों का प्रयोग भी काव्य में अंग रूप में अपेक्षित है, अङ्गी रूप में नहीं। अर्थात् रूपकादि की विवक्षा रस परत्वेन हो, समय पर उनका ग्रहण, अनवसर पर त्याग तथा कहीं भी उनका निर्वाह दूर तक नहीं किया जाना चाहिए।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन की अलंकार योजना में केवल वही अलंकार ग्राह्य है, जो रस व्यञ्जक हैं। अतएव महाकवियों का कर्त्तव्य है कि वे शक्ति सामर्थ्य होने पर भी अलंकारों की योजना रसानुगुणता के अनुसार नियोजित करें।[2]

सैद्धान्तिक रूप में कवि कर्णपूर पूर्वोल्लिखित ध्वनिवादी विचारधारा के समर्थक प्रतीत होते हैं। उन्होंने अपनी काव्य परिभाषा में अलंकार, गुण, रीति एवं रस का वही अपेक्षिक महत्त्व स्वीकार किया है, जो रसवादी आचार्यों को अभीष्ट है। अर्थात् उन्होंने रस को काव्य की आत्मा एवं अलंकार को उसके अलंकरण रूप में स्वीकार किया है।[3] उन्होंने अपने 'अलंकारकौस्तुभः' में अलंकारों का विवेचन भी प्रमुख रसध्वनिवादी आचार्य मम्मट के अनुसार किया है। आचार्य मम्मट ने जिन अलंकारों का अस्तित्व स्वीकार किया है। कवि कर्णपूर ने भी लगभग उन्हीं अलंकारों को अपने 'अलंकारकौस्तुभः' में स्थान दिया है। कतिपय स्थलों को छोड़कर अधिकांशतः उन्होंने अलंकारों के भेदों व उपभेदों का विवेचन भी 'काव्य-

---

१. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥ वही, २।१८, १९

२. अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥ वही, ३।१४.

३. शरीरं शब्दार्थौ ध्वनिरसव आत्मा किल रसो,
गुणा माधुर्याद्या उपमितिमुखोऽलंकृतिगणाः।
सुसंस्थानं रीतिः स किल परमः काव्यपुरुषो ॥
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, १।१.

प्रकाशः' के आधार पर ही किया है। प्रस्तुत अध्याय में महाकाव्यों की अलंकार योजना पर कवि कर्णपूर के दृष्टिकोण से विचार किया जायेगा।

शब्दालंकार

अनुप्रास

अनुप्रास सर्वत्र सुलभ अलंकार है। कवि कर्णपूर ने अनुप्रास का सर्वाधिक प्रयोग 'चैतन्यचरितामृतम्' के चतुर्थ एवं 'पारिजातहरणम्' के दशम सर्ग में किया है। इसके अतिरिक्त अन्य सर्गों में इतस्ततः इसका प्रयोग स्फुटरूप में किया गया है। कवि की यह अनुप्रासप्रियता कहीं भी रससिद्धि में बाधक नहीं होती। कारण, अनुप्रास का निर्वाह अत्यधिक दूर तक निरन्तर नहीं किया गया है तथा उस (अनुप्रास) का वैचित्र्य 'शृंगार' अथवा 'करुण' रस में स्फुरित नहीं हुआ है, अपि तु 'वस्तुवर्णन' में किया गया है। उदाहरणार्थ—

> मधुकरा मधुपानमदोन्मदाः किमिदमेव गदन्ति मुहुर्मुहुः।
> स्फुटसरोजवनीष्ववनीतले कलभतां लभतां रसिकोजनः ॥[1]
> मुदितमत्तमधुव्रतमण्डलीमधुरकाकलिकाभिरलंकृता।
> इह सदैव विभाति लतावती सकुसुमा कुसुमाकरसङ्गमात् ॥[2]

प्रस्तुत स्थल पर प्रथम उद्धरण में सरसी तथा द्वितीय में सुमेरु पर्वत पर अवस्थित लता का चारु वर्णन अनुप्रास के माध्यम से किया गया है। अनुप्रास की उपस्थिति से एक विचित्र स्वर माधुर्य उत्पन्न हो गया है।

श्लेष

श्लेष अलंकार का प्रयोग कवि कर्णपूर ने दोनों महाकाव्यों में निपुणतापूर्वक किया है। कई स्थलों पर श्लेष के माध्यम से सुन्दर दृश्यों की सृष्टि हुई है। चन्द्रोदय होने के किञ्चित्पूर्व प्राची की ओर उन्मीलित होने वाली स्निग्ध आभा का श्लेष के माध्यम से ललित वर्णन किया गया है; यथा—

> आगतः किमु न वेत्यथ पत्युर्वीक्षणोत्कमनसा रभसेन।
> पूर्वदिक्तटमुखात् स्मितमुग्धाच्छयामया तिमिरचेलमुदासे ॥[3]

प्रस्तुत स्थल पर प्रकाश की क्षीण रेखाओं से शनैः शनैः विगलित होने वाले अन्धकार का वर्णन करते हुए कवि ने रात्रि की कल्पना नायिका रूप

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ४।२७.
२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १०।३७.
३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १०।१२.

में करने के लिए द्व्यर्थक 'श्यामा' शब्द का प्रयोग किया है। श्यामा का एक अर्थ—'रात्रि' तथा द्वितीया अर्थ—'नायिका' विशेष है।[1] पतिचन्द्र का आगमन हुआ अथवा नहीं? उसको देखने के लिए अत्यधिक उत्कण्ठित होकर मानों रजनी अपना तिमिररूप अवगुण्ठन को उतार रही है। पति के दर्शनोत्कण्ठा में उसके पूर्वदिशारूप मुख पर हास्य की रेखाएँ मण्डित हो हो जाती हैं, जिससे उसका मुख और अधिक स्निग्ध एवं मनोज्ञ हो जाता है। यहाँ पर श्लेष से पति के आगमन को अवगुण्ठन उतार कर पुनः-पुनः अवलोकन करती हुई स्मितमुखी नायिका का चित्र नेत्रों के समक्ष उपस्थित हो जाता है।

इसी प्रकार 'पारिजातहरणम्' में श्लेष के माध्यम से काशी नगरी का सुन्दर चित्र अंकित किया गया है, जिसमें वैचित्र्य भी प्रस्फुटित हुआ है; यथा—

काशिका परपदप्रकाशिका कार्मुकाकृतिरियं विराजते।
यत्र चारुगुणरोचिरुह्यते गङ्गया मृदुचलत्तरङ्गया ॥[2]

यहाँ पर 'काशिका' एवं 'परपदप्रकाशिका' दोनों ही पदश्लिष्ट हैं। 'काशिका' का प्रथम अर्थ—काशी नगरी है, द्वितीय अर्थ पाणिनि की अष्टाध्यायी पर लिखी गई—'काशिका' नामक व्याख्या है। इसी प्रकार 'परपदप्रकाशिका' का एक अर्थ—'श्रेष्ठ वैकुण्ठ का मार्ग प्रदर्शित करनेवाली है तथा द्वितीय अर्थ 'सुप् एवं तिङ् प्रत्यय से युक्त श्रेष्ठ पदों का प्रकाशन करने वाली है। प्रस्तुत स्थल पर काशिका नगरी एवं काशिका वृत्ति दोनों में परस्पर औपम्य की प्रतीत भी हो रही है। काशी नगरी वैकुण्ठ का मार्ग प्रदर्शित करने वाली है, उसी प्रकार काशिका वृत्ति पदों के अर्थ को स्पष्ट करने वाली है। यहाँ पर श्लेष का प्रयोग सुन्दर बन पड़ा है।

यमक

यमक अलंकार का अल्प प्रयोग कवि कर्णपूर के महाकाव्यों में प्राप्त होता है। चैतन्यचरितामृतम्' जिन स्थलों पर यमक की योजना हुई है, वहाँ कोई विशेष चमत्कार दृष्टिगोचर नहीं होता है; यथा—

उद्दामदोर्द्वयविलासविशेषभाजा केयूरकङ्कणलसद्वलयादिना च।
हेमाङ्गुलीयकमनोहरवेशरम्यो नृत्योद्यमे जयति मन्मथमन्मथेऽसौ ॥[3]

---

१. शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे च सुखशीतला।
तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेपि कथयते ॥ भट्टिकाव्यम्, ५।१८.

२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १७।६०.

३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ६।८८.

यहाँ पर 'मन्मथ' शब्द की आवृत्ति दो बार हुई है। प्रथम स्थल पर मन्मथ का अर्थ—'कामदेव' एवं द्वितीय स्थल पर 'मन्मथ' का तात्पर्य—'मन को मथने वाला' है। किन्तु यहाँ पर यमक में कोई विशेष वैचित्र्य परिलक्षित नहीं होता है।

'पारिजातहरणम्' में कवि कर्णपूर ने एक कुशलशिल्पी की भाँति चमत्कार युक्त यमक योजना प्रस्तुत की है। यमक के माध्यम से सुमेरु पर्वत का वर्णन कर कवि ने अपने अलंकार नैपुण्य का परिचय दिया है; यथा—

सदुज्ज्वलश्रीरयमिन्दुसुन्दरो विभर्ति मेरुः शिखरैरनुत्तमैः।
विलासिनः कुण्डलिनः सुभोगिनो विलासिनः कुण्डलिनः सुभोगिनो ॥[1]

यहाँ पर यमक के आश्रय से सुमेरु पर्वत पर निवास करने वाले देवताओं और सर्पों का एक साथ भव्य वर्णन किया गया है। विलासिनः', 'कुण्डलिनः', 'सुभोगिनो' आदि पदों की आवृति दो बार हुई है। देवता पक्ष में 'विलासिनः' पद का अर्थ विषयी अथवा लीलापर है। देवगण सुमेरु पर्वत पर देवाङ्गनाओं के साथ विलासपूर्ण लीलाएँ :किया करते हैं, अतएव उनके लिए कवि ने 'विलासिनः' विशेषण का सार्थक प्रयोग किया है। द्वितीय 'विलसिनः' पद अर्थ—सर्प है। सर्पों का कुटिल अथवा विलासपूर्ण गमन होने के कारण वे 'विलासिनः' संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं। इसी प्रकार देवता पक्ष में 'कुण्डलिनः' का अर्थ है—कुण्डलों से विभूषित, सर्प पक्ष में 'कुण्डलिनः' का अर्थ कुण्डली लगाने वाले (सर्प) हैं। देवता पक्ष में सुभोगिन का अर्थ—'सुन्दर भोगों का उपभोग करने वाले' तथा सर्प पक्ष में—'सुन्दर फणों वाले हैं।' सुमेरु पर्वत उपर्युक्त विशेषणों वाले देवताओं और सर्पों को धारण करता है। देवताओं और सर्पों के लिए कवि ने 'विलासिनः' आदि विशेषणों का प्रयोग साभिप्राय किया है। पूर्वोक्त विशेषणों के माध्यम से कवि ने यह स्पष्ट किया है कि यद्यपि सुमेरु पर्वत चन्द्रादि की उपस्थिति के कारण उज्ज्वल श्री से युक्त है, उसके उच्च शिखर लोक विख्यात हैं, तथापि उसके आश्रय में देवता जैसे विलासी एवं सर्प जैसे कुटिलजन भी निवास करते हैं।

चित्रालंकार

अनुप्रास, श्लेष, यमक आदि अलंकारों के अतिरिक्त कवि कर्णपूर ने शब्दालंकारों की एक अन्य कोटि चित्रालंकार का भी प्रयोग किया है।

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १०।६०.

किन्तु इस प्रकार का शाब्दिक चमत्कार केवल 'चैतन्यचरितामृतम्' के १९वें सर्ग में ही दृष्टिगत होता है; यथा—

गोमूत्रिकाबन्धः

की र्त्तं नं च क्रि रे के च स मुत् सु क म नो ल याः
× × × × × × × × × × × × × × × ×
न र्त्तं नं च क्रि रे के च स मुत् सु क म नो ल याः ॥[1]

एकाक्षरः

ललल्लीलो ललल्लीलो लोलो लोलो ललल्लल: ।
लीलालोलोऽलिलीलालीं लीलालीं लोललां ललुः ॥[2]
नानाना नुनि नानेने नाना नूननन्‌ ननु ।
नानानूने नाननान्नोने नो नाना ननुन्ननु ॥[3]

द्व्यक्षरः

भावाभावाभिभावाभिभवभावे वभौ भवः ।
विभावेवम्भावभावेवभूवभुविवैभवम् ॥[4]
लीला लोलालितललना ललन्नलिनलालनैः ।
नलाल ललनालीनां लीलां लाननिलोललन् ॥[5]

मुरजबन्धः

स तत्रा गमनारम्भे नतन्नात्रा न नाववौ ।
पवित्राङ्‌घ्रिजनानन्दं भवित्रागमनाननम् ॥[6]

संचुटकः

मनोज्ञहृङ्ना मनोज्ञविभ्रमभ्रमणाकुलः ।
मनोज्ञहृङ्ना मनोज्ञविभ्रमभ्रमणाकुलः ॥[7]

प्रतिलोमानुलोमपादः

का के नें व व नं के का ला व कं न न के व ला ।
शु द्धा सा स र सा द्धा शु नु ति रा सु सु रा ति नु ॥[8]

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , १९।२१.
२. वही, १९।२५.
३. वही, १९।३७.
४. वही, १९।१७.
५. वही, १९।४१.
६. वही, १९।२९.
७. वही, १९।३३.
८. वही, १९।४५.

प्रतिलोमानुलोमश्लोकाः

सा र सा स र सा सा रं र सा नू त न नू त ना ।
ना त नू न न नू सा र रं सा सा र स सा र सा ॥[1]

श्लोकावृत्तिः

अवपयोऽतिविमलमनन्तमसकृद्धभौ ।
निष्पङ्कं भूतलं चाथ चिचित्रा प्रभोर्गतिः ॥[2]

असंयोग

एवमेवं पथि चलन् मधुराधररंरोचिषा ।
जजाप निजनामानि करुणारससागरः ॥[3]

निरोष्ठ्य

आयाति करुणासिन्धुरिति श्रुत्वा गजेश्वरः ।
आज्ञया सकलं तीर्थं चकार करलालितम् ॥[4]

असन्ध्यक्षर

पादारविन्दयुगलं वीक्ष्य तत्र द्रवन्मनाः ।
भूपतिर्भूतलं भूयः प्रापहर्षाश्रुणा सह ॥[5]

पद्मबन्ध

पारे चित्रोत्पलं सोऽकूपारे चित्रोत्पलं यथा ।
पिपासोः स्वमतं ज्ञात्वा भूपः सत्पात्रमब्रवीत् ॥[6]

× × × ×

दशम्यां विजयायां तु गमनं भाविता प्रभोः ।
दशम्यां विजयायां तु दशायामहमग्रतः ॥[7]

चित्रालंकारों की योजना निश्चय ही रसानुभव में बाधक प्रतीत होती है। यत्नसाध्य चित्रालंकारों की योजना करते समय कवि की रससमाहित चित्तवृत्ति भी खण्डित हो गई है। फलस्वरूप एक भी श्लोक में रस का

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , १६।५३.
२. वही, १६।४६.
३. वही, १६।६१.
४. वही, १६।६५.
५. वही, १६।८६.
६. वही, १६।६३.
७. वही, १६।५.

ईषत् स्पर्श नहीं हो पाया है। आनन्दवर्द्धन ने इस प्रकार के अलंकारों का प्रयोग काव्य में करने के लिए निषेध किया है।[1] दूसरे शब्दों में इस प्रकार के अलंकारों को उन्होंने काव्यदोष के रूप में भी स्वीकृत किया है। किन्तु ध्वन्यालोककार के कथन के आधार पर कवि कर्णपूरकृत चित्रालंकार की पूर्वोक्त योजना को उनके काव्यदोष के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि पूर्ववर्ती कवियों की तथा तत्कालीन मान्यता ही ऐसी थी, जिसमें इन दुस्साध्य ग्रन्थों को भी स्पष्ट रूप से 'सहृदयहृदयावर्जक' स्वीकार किया गया है। 'कादम्बरी' एवं 'हर्षचरित' जैसे सरसकाव्यों में श्लेष और यमक के बीहड़ कानन, भारवि, माघ, श्रीहर्ष एवं कुमारदास जैसे लब्धप्रतिष्ठ महाकवियों के काव्य में, एकाक्षर, द्वयक्षर, गोमूत्रिका, सर्वतोभद्रादि बन्धों का प्रयोग, इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यही नहीं राजसभाओं और विद्वत्सभावों में पाण्डित्यप्रदर्शनार्थं न्यायशास्त्र एवं वेदान्तदर्शन की भाषा को भी दुरूह किया गया था। स्वयं आनन्दवर्धन ने 'देवीशतकम्' काव्य में चित्रालंकार की योजना की है। दण्डी ने 'दशकुमारचरितम्' में कठिन समासों का प्रयोग किया है। ऐसी परिस्थितियों में १६वीं शताब्दी के कवि कर्णपूर पूर्वोक्त प्रभाव से किस प्रकार विमुक्त रह सकते थे? प्राचीन मान्यताओं के निर्वाहार्थ उन्होंने 'चैतन्यचरितामृतम्' में चित्रालंकारों का यथाशक्ति प्रयोग किया है। अतएव यह उनकी अलंकार योजना का दोष नहीं कहा जा सकता है।

अर्थालंकार

उपमा

प्राचीनतम एवं अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों का उपजीव्य उपमा कवि कर्णपूर का प्रिय अलंकार है, जिसका लक्षण उन्होंने इस प्रकार निरूपित किया है—'यथाकथञ्चित् साधर्म्यमुपमा'[2] अर्थात् उपमेय और उपमान का यथाकथञ्चित् साधर्म्य उपमा है। यथाकथञ्चित् से उनका तात्पर्य है कि उपमेय और उपमान का सादृश्य किसी एक अथवा दो साधारण धर्मों में होना चाहिए। सभी अंशों में सादृश्य होने पर उपमेय और उपमान का भाव ही नहीं रहेगा।[3] अतः इस प्रकार के साधर्म्य पर अवलम्बित उपमा के वैचित्र्य से उनके दोनों महाकाव्य विभूषित हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त उपमाएँ

---

१. आनन्दवर्द्धन, ध्वन्यालोक, पृ० ३७४, ३७५.

२. कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।२१६ का०

३. वही, २७९.

न केवल कवि प्रदत्त लक्षणों को ही सार्थक करती हैं, अपितु उनकी सरलता, निसर्गरम्यता, रसानुगुणता, अर्थगौरव, सन्दर्भानुरोधता, देशकाल एवं पात्रानुगुणता, व्यंग्यार्थसम्भृततादि विशिष्टताएँ प्रशंसनीय हैं। स्पष्टीकरण के लिए कुछ स्थल प्रस्तुत हैं। उदाहरणार्थ—वसन्तकालीन प्रकृतिशोभा को अभिव्यक्त करने के लिए कवि ने पतिसमागम के अवसर पर होने वाली स्त्रियों की सहज उत्कण्ठा एवं सौन्दर्य प्रसाधन की स्वाभाविक भावना के साथ उसका सामञ्जस्य स्थापित कर नूतन उपमा की सृष्टि की है, जो अत्यधिक रमणीय प्रतीत होती है; यथा—

स्ववेशविन्यासमिवाकरोदियं प्रभोः प्रकाशो भवितेतिसन्ततम्।
वसन्तलक्ष्मीः सततोत्सुका सती सतीव कान्तागमने शुचिस्मिता ॥[1]

अर्थात् 'प्रभु का प्रयाण होगा' यह सोचकर वसन्तलक्ष्मी ने उसी प्रकार उत्सुकतापूर्वक अपना वेशविन्यास किया, जिस प्रकार कोई स्मिताननना सती कामिनी अपने पति के आगमन पर उत्कण्ठित होकर अपना शृंगार करती है। पतिसमागम के अवसर पर उत्सुक होकर शृंगार करना स्त्रियों का सहज स्वाभाविक गुण है। अतएव वसन्तलक्ष्मी की सती से उपमा नैसर्गिक प्रतीत होती है। उपमेय वसन्तलक्ष्मी एवं उपमान सती स्त्री है। उपमावाचक शब्द 'इव' है। साधारण धर्म उत्सुकता है, जो दोनों में होने के कारण अनुगामितया प्रतीत हो रहा है।

इसी प्रकार चन्द्र और कुमुदिनी के सहज साहचर्य को अभिव्यक्त करने के लिए कवि ने एक अत्यन्त कोमल उपमा प्रस्तुत की है; यथा—

स्यन्दमानतुहिने हिमद्युतौ तन्वि ! भाति सविशेषमुद्वती।
अङ्गनेव सरसा पतिव्रता पश्य पद्मनयने ! कुमुद्वती ॥[2]

हिमाच्छादित हिमालय पर पूर्ण चन्द्रमा की उज्ज्वल ज्योत्स्ना में कुमुदिनी विहँस रही है, जो अपने पति चन्द्रमा के सम्पर्क में विशेष रूप से प्रफुल्लित हो उठती है। उपमा स्वाभाविक और मधुर है। स्त्री के सौभाग्य एवं उसकी समस्त शोभा का केन्द्रबिन्दु उसका पति ही होता है। कवि ने इसी सत्य को अपनी उपमा का आधार कल्पित किया है। एक क्षण के लिए मानस पटल पर एक पतिव्रता का सहजमूर्त्त रूप साकार हो उठता है।

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , २।२७.
२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् . १७।४६.

पुनश्च—

प्राक् प्रति प्रियतमं श्लथनीव्याः श्रोतसा शिथिलितं तनुवेलम् ।
तत्क्षणेन सुदृशो विसवल्या पद्मिनी प्रियसखीव रुरोध ।।[1]

अर्थात् सर्वप्रथम कृष्ण का दर्शन हो जाने के कारण किसी (मुग्धा) व्रजाङ्गना की नीवी शिथिल हो गई एवं अंग के वस्त्र जलवेग से शिथिल हो गये। उस समय पद्मिनी ने प्रियसखी की भाँति अपनी विसलता से उसके वस्त्रों को रोक लिया।' यहाँ उपमेय पद्मिनी है। उपमान प्रियसखी, उपमा वाचक शब्द इव है। साधारण धर्म विपत्ति में सहायत्व है, जो दोनों में होने के कारण अनुगामितया प्रतीत हो रहा है। 'वस्तुतः जलक्रीड़ा के अवसर पर नायिका के वस्त्र जलवेग से इतस्ततः प्रवाहित होने लगते हैं, किन्तु पद्मिनी की विसलता से उलझ कर रुक जाते हैं। कवि ने इसी दृश्य को प्रस्तुत उपमा के माध्यम से सुन्दरता पूर्वक अभिव्यक्त किया है। शृंगार रस के अनुभाव-विभाव एवं सञ्चरी भावों की सहज उपस्थिति से उपमा का सौन्दर्य द्विगुणित हो गया है।

कुछ स्थलों पर उपमाएँ प्राणी मात्र के नैसर्गिक स्वभाव पर आधारित होने के कारण यथार्थ प्रतीत होती हैं। उदाहरणार्थ—कृष्ण के उद्धत सैनिकों के प्रचण्ड धनुष-वाणों से पराभूत इन्द्र के हृदय में उत्पन्न होने वाले विकट क्रोध को अभिव्यक्त करने के लिए कवि ने इन्द्र की उपमा पद प्रहारों से प्रतिहत सर्प से दी है; यथा—

अथोद्धतैर्माधवसैनिकानामुद्दण्डकोदण्डरवैरतीव ।
फणीव पादाहतिभिस्तदानीं महोग्रमानी हरिराप रोषम् ।।[2]

चरणों से प्रतिहत किये गये सर्प का क्रोध सीमातिक्रान्त कर जाता है एवं उसकी प्रतिशोध की ज्वाला अत्यधिक विकट होती है। उसी प्रकार कृष्ण के उद्धत सैनिकों से पराभूत होने पर स्वाभिमानी इन्द्र का क्रोध प्रदीप्त हो उठता है। यहाँ पर पराभूत इन्द्र और प्रतिहत सर्प के स्वभाव में नैसर्गिक साम्य होने के कारण उपमा अत्यधिक सार्थक एवं रौद्र रस को अभिव्यक्त कर रही है।

उपमाएँ सरल होने के साथ ही अर्थगौरव से परिपूर्ण हैं। उनमें कवि के जीवन का अनुभव एवं सूक्ष्मनिरीक्षण शक्ति का अतिशयत्व सूचित होता है। उदाहरणार्थ—

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ६।६६.
२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १४।११.

प्रथयन् बहिरार्जवं समन्तान्मलिनं सन्ततमन्तरादधानः।
मधुदिग्धमुखो विषावसक्तः पिशुनः कुम्भ इवानिशं विशङ्क्यः ॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर कवि ने दुष्ट व्यक्तियों की उपमा विष से परिपूर्ण कुम्भ से दी है, जिसके ऊपर किञ्चित् मधु का लेप लगा रहता है। जिस प्रकार कुम्भ के मध्य विष विद्यमान रहता है, किन्तु ऊपर मधु को देखकर लोग भ्रमवश उसे मधु-पूर्ण कुम्भ समझकर पान कर लेते हैं। अन्त में उससे प्राणों की हानि हो जाती है। उसी प्रकार दुष्ट लोग बाहर से सरलता प्रदर्शित किया करते हैं, किन्तु अन्दर से सदैव कुटिलता का प्रतिपादन किया करते हैं। प्रस्तुत उपमा अर्थगौरव से परिपूर्ण है।

अन्य स्थल पर कवि ने दुष्टों की दुष्टता का प्रतिपादन एक सरल उपमा के माध्यम से किया है; यथा—

स्नेहैः संवर्ध्यमानोऽपि मालिन्यं तनुतेऽधिकम्।
न मुञ्चति च कौटिल्यं पिशुनः केशपाशवत् ॥[2]

अर्थात् जिस प्रकार केशपाशों को कितना भी सँवारा जाये किन्तु वे अपनी कुटिलता का परित्याग नहीं करते, उसी प्रकार दुष्ट व्यक्तियों को कितना भी स्नेह दिया जाये, किन्तु वे अपनी कुटिलता का परित्याग नहीं करते हैं, अपितु मलिनता का ही विस्तार किया करते हैं। प्रस्तुत उपमा सरल किन्तु कवि के सूक्ष्म निरीक्षण को अभिव्यक्त करती है।

इसी प्रकार कवि ने दुष्टों की क्रूरता की अन्धकार से सार्थक उपमा दी है; यथा—

समुदेति प्रदोमेषु न तेजः सहते क्वचित्।
अन्धकार इव क्रूरः सदा जगति दुर्जनः ॥[3]

उपमाओं की सन्दर्भानुरोधता, देशकालानुगुणता एवं सारगर्भिता स्पृहणीय है। उदाहरणार्थ—पारिजात वृक्ष न देने वाले इन्द्र की मूर्खता का दिग्दर्शन कराने के लिए निम्न उपमा प्रसंगानुकूल प्रतीत होती है; यथा—

तज्जहीहि रणारम्भदम्भसम्भारमञ्जसा।
भवेदेव तथा वह्नौ शलभस्येव ते गतिः ॥[4]

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ७।५६.
२. वही, १३।३७.
३. वही, १३।३८.
४. वही, १३।२६.

अर्थात् पारिजातवृक्ष न देकर युद्ध अङ्गीकार कर लेने पर इन्द्र की गति शलभ की भाँति होगी। यह स्वतः सिद्ध सत्य है कि अग्नि में शलभ एक क्षण में ही अपने अस्तित्व का विलय कर देता है। साथ ही अग्नि उसे (शलभ को) अपने निकट आने का निमन्त्रण नहीं देती है, अपितु शलभ मुग्धतावश स्वयं आ जाता है। उसी प्रकार कृष्ण इन्द्र से युद्ध करने के लिए इच्छुक नहीं हैं। किन्तु इन्द्र स्वयं मुग्धता वश पारिजातवृक्ष न देकर युद्ध स्वीकार कर रहे हैं। अतएव उनकी गति शलभ की भाँति दयनीय होगी।

अन्यत्र एक स्थल पर इन्द्र को युद्ध की धमकी देने वाले कृष्ण की वाणी की निरर्थकता का प्रतिपादन करने के लिए कवि ने शरद्‌घनरव की उपयुक्त उपमा दी है; यथा—

गाढाहङ्कारझङ्कारक्रूरा यदुपतेर्गिरः।
यास्यन्ति व्यर्थतां सद्यः शरद्घनरवा इव ॥[1]

यद्यपि शरद्‌कालीन मेघों का गर्जन अत्यधिक तीव्र होता है, किन्तु वे जलवर्षणरूप कार्य सम्पादित नहीं कर पाते हैं। किञ्चित् कालोपरान्त उनकी गर्जना स्वयं मन्दमन्दायमान हो जाती है। उसी प्रकार कृष्ण की वाणी अत्यधिक अहंकार की झंकार से कठोर है, किन्तु वह इन्द्र का कुछ अप्रिय नहीं कर सकेगी। अर्थात् उससे इन्द्र का पराजयरूप कार्य सम्पादित नहीं हो पायेगा। यह शीघ्र ही व्यर्थता को प्राप्त हो जायेगी।

उपमाओं की पात्रानुगुणता सर्वत्र विद्यमान है। उपमेय के अनुकूल ही उपमानों का चयन होने के कारण लुप्तोपमा का सौन्दर्य द्रष्टव्य है—

भूषणाय विविशुर्लघुखेलं ता मनोरमविशालविचित्रम्।
आलयं कुबलयामलनेत्राश्चन्द्रिका इव सुधामयसिन्धौ ॥[2]

अर्थात् नीलोत्पल के सदृश निर्मल नेत्रों वाली व्रजाङ्गनायें विशाल-विचित्र आलयों में भूषण परिधान के निमित्त सुधासिन्धु में प्रवेश करने वाली चन्द्रिका के सदृश मन्द मन्थर गति से गमन कर रही हैं। यहाँ पर नेत्रों की नीलोत्पल तथा गोपियों की चन्द्रिका से उपमा दी गई है। चन्द्रिका चन्द्रनिःसृता होने के कारण श्वेत, आह्लादकारी एवं कामोद्दीपक होती है। गोपियाँ गौरवर्णा हैं, उनका सौन्दर्य आह्लादकारी होने के कारण नायक (कृष्ण) के लिए कामोद्दीपक है। चन्द्र की चन्द्रिका शनैः शनैः फैलती है। गोपियाँ स्वभावतः मन्द मन्थर गामिनी हैं। चन्द्रिका सुधासमुद्र में प्रवेश कर

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १३।३३.
२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ९।९३.

द्विगुणित शोभा धारण करती है। गोपियाँ मणिनिमित्त सुन्दर भवनों में सुशोभित हो रही हैं। अतएव गोपियों का चन्द्रिका के साथ सादृश्य, उनकी पात्रानुगुणता को प्रकट कर रहा है।

कवि कर्णपूर के महाकाव्यों में अमूर्त्त उपमाएँ भी यत्र-तत्र प्राप्त होती हैं; यथा—

गततृष्ण इवोच्चकैर्ममत्वं द्रुतमुत्तीर्य हिमाचलं विशालम्।
कृतयोग इवाशु मोक्षलक्ष्मीं विधिसूनुर्दिविषत्पुरीमवाप ।।[1]

प्रस्तुत स्थल पर नारद की गततृष्ण एवं कृतयोग व्यक्ति से तथा हिमालय की ममत्वं से एवं स्वर्गपुरी की मोक्षलक्ष्मी से अमूर्त्त उपमा दी गई है।

कुछ उपमाएँ कवि के धार्मिक विश्वास को अभिव्यक्त करती हैं; यथा—

पयोभिरुद्भासिसुधारसोपमैर्विवर्द्धयन्ती सततं जगत्त्रयीम्।
अनन्तसन्तापसमृद्धिनाशिनी महोदयं या जननीव यच्छति ।।[2]

यहाँ पर आकाश गंगा उपमेय एवं उपमान जननी है। 'इव' उपमा वाचक शब्द है। समस्त पापों का विनाशत्व साधारण धर्म है। गंगा अपने अमृततुल्यरस जल से तीनों लोकों को समृद्ध करती है। माता अपने अमृत-तुल्य दुग्ध से तीनों लोकों को वर्द्धित करती है। गंगा समस्त पापों को दूर करने वाली है। उसी प्रकार माता समस्त सन्तापों का विनाश करने वाली है। गंगा के साथ जननी का साम्य भारतीय धार्मिक भावना को प्रकट करता है।

उपमाओं में कवि कर्णपूर की सूक्ष्मपर्यविक्षण शक्ति एवं सौन्दर्यानुभूति सर्वत्र विद्यमान है। एक स्थल पर वर्णसाम्य एवं स्वभावसाम्य के आधार पर कवि ने मतङ्गजों का सादृश्य बादलों से स्थापित किया है; यथा—

क्वचिल्लतानां कुसुमैर्विभूषितो महागजः पेचकमेचकच्छविः।
उदारतारानिकरैः करम्बितो रराज जीमूत इवोत्तमद्युतिः ।।[3]

यहाँ पर उपमेय गज एवं उपमान जीमूत हैं। उपमा वाचक शब्द 'इव' है। पुष्पों और तारों का शुभवर्णत्व तथा जीमूत एवं मतङ्गज का नीलत्व साधारण धर्म है।

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ७।२०.
२. वही, ६।२५.
३. वही, ६।११.

कवि कर्णपूर प्रयुक्त उपमाएँ मनोवैज्ञानिक भी हैं। वे किसी स्थिति विशेष में व्यक्ति की मानसिक अवस्था का चित्रण करने में पूर्ण समर्थ हैं। उदाहरणार्थ—स्वर्गपुरी में कृष्ण के आगमन मात्र से देवाङ्गना के हृदय में कृष्ण के दर्शनार्थ उत्पन्न होने वाली उत्कण्ठा एवं कौतूहल को प्रकट करने के लिए कवि ने एक अत्यधिक सुन्दर उपमा दी है, जो देवबाला की तत्कालीन मनोदशा का एक चित्र की भाँति स्पष्ट कर देती है; यथा—

समं सखीभिर्भवनादुपागता समास्थिता वर्त्मनि लोकसङ्गमे।
अथात् तदानीं हरिणी सम्भ्रमात् कुलाङ्गना काचन चञ्चले दृशौ ॥[1]

प्रस्तुत उद्धरण में कौतूहल एवं उत्सुकता वश कोई देवबाला शीघ्रतापूर्वक अपनी सखियों के साथ भवन से नीचे उतर कर आती है। किन्तु जनमार्ग पर (कृष्णदर्शनार्थ उपस्थित हुए) महान् जन समुदाय को देखकर अत्यधिक सम्भ्रमित हो जाती है। निर्णय नहीं कर पाती है कि किधर जाये? सम्भ्रम की चरमावस्था में उसके नेत्र हरिणी की भाँति चञ्चल हो जाते हैं। अर्थात् जिस प्रकार हरिणी लोक समुदाय को देखकर भयमिश्रित संभ्रम के कारण शीघ्रतापूर्वक इतस्ततः कातर दृष्टि से दृष्टिपात करने लगती है। उसी प्रकार देवबाला समक्ष उपस्थित लोक संगम को देखकर अत्यधिक सम्भ्रमित होकर चञ्चल नेत्रों से देखने लगती है। यहाँ पर नायिका के हृदय में उत्सुकता एवं कौतूहल विद्यमान है। साथ ही लोक समुदाय को सहसा समक्ष देखकर लज्जा का उदय हो जाना भी स्वाभाविक है। अतएव उपमेय नायिका की पूर्वोक्त भाव शबलता का चित्रांकन करने के लिए कवि ने हरिणी को उपमान रूप में प्रस्तुत किया है, जो देवाङ्गना के चञ्चल नेत्रों का सौन्दर्य प्रकाशित करने के साथ ही उसकी वर्तमान मनोदशा का पूर्णचित्र उपस्थित कर देता है।

उपमा के अन्य वाच्यवैचित्र्य—मालोपमा, श्लेषोपमा आदि की योजना 'चैतन्यचरितामृतम्' की अपेक्षा 'पारिजातहरणम्' में अधिक कुशलतापूर्वक की गई है। कृष्ण के उग्रपराक्रम को अभिव्यक्त करने वाली निम्न मालोपमा द्रष्टव्य है—

मार्तण्डः कुमुदोत्करानिव गुणग्रामानिवोच्चैर्मदः
कालः प्राणिगणानिव स्फुरदनभ्यासोऽथ विद्यामिव।
दौर्जन्यं प्रणयानिव स्फुटशिखो वह्निर्वनालीमिव
श्रीमानुग्रपराक्रमो रिपुचमूर्द्रागाम मर्दाच्युतः ॥[2]

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १६।५४.
२. वही, १४।६४.

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य कुमुदसमूह को, अत्यधिक मद गुणों को, काल प्राणियों को, अनभ्यास विद्या को, दुर्जनता प्रणय को एवं प्रदीप्त ज्वाला-युक्ताग्नि वन को विनष्ट कर देती है, उसी प्रकार उग्र पराक्रम वाले कृष्ण ने शीघ्र ही शत्रुसेना का मर्दन किया। यहाँ पर एक ही उपमेय के अनेक उपमान होने के कारण मालोपमा का वैचित्र्य है[1] तथा उपमेय एवं उपमानों का मर्दनरूप धर्म एक होने से मालोपमा का प्रथम भेद प्राप्त है।

श्लेष पर आधारित उपमा का सौन्दर्य 'पारिजातहरणम्' में कई स्थलों पर स्फुरित हुआ है; यथा—

निषेव्यमाणा विमलैर्द्विजव्रजैर्विशुद्धवर्णा शमिनी महैनसाम्।
पवित्रयन्ती सततं जगत्त्रयीं त्रयीव पुण्या द्रवतामुपागता ॥[2]

प्रस्तुत उद्धरण में श्लेष का आश्रय लेकर आकाशगंगा की उपमा त्रयी से दी गई है। 'द्विज' और 'वर्ण' पद श्लिष्ट हैं। त्रयी पक्ष में 'द्विज' का अर्थ ब्राह्मण एवं गंगा पक्ष में पक्षीगण है। 'त्रयी' अर्थात् ऋक्, यजु एवं साम (वेद) सदैव विमल चित्त वाले ब्राह्मणों से सेव्यमान रहते हैं। गंगा सदैव सुन्दर पक्षियों द्वारा सेवित रहती है। 'त्रयी' पक्ष में 'वर्ण' का अर्थ अक्षर एवं गंगा पक्ष में रंग से है। त्रयी विशुद्ध वर्णों वाली है तथा गंगा विशुद्ध अर्थात् शुभ्रवर्णा है। त्रयी और गंगा दोनों ही महान् पापों का शमन करने वाली हैं, तीनों लोकों को पवित्र करने वाली हैं तथा दोनों ही पुण्यवती हैं।

---

१. कवि कर्णपूर ने मालोपमा का लक्षण इस प्रकार उपनिबद्ध किया है—'एकत्वमुपमेयानामुपमानान्मनेकता धर्मैकरूप्यवैरूप्ये द्वेधा मालोपमा भवेत्' अर्थात् जहाँ उपमेय एक हो किन्तु उसके उपमान अनेक हों वहाँ मालोपमा होती है। वह दो प्रकार की होती है। जहाँ उपमेम और उपमान का धर्म एक होता है, वहाँ प्रथम प्रकार की तथा जहाँ उपमेय का धर्म एक तथा उपमानों का अनेक धर्म होता है, वहाँ द्वितीय प्रकार की मालोपमा होती है (कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभ, ८।२३१)। रुद्रट ने मालोपमा को स्वीकार किया है (रुद्रट, काव्यालंकारः, ८।२५), किन्तु उसके भेदों की चर्चा नहीं की है। मम्मटाचार्य ने तो मालोपमा और रशनोपमा को स्वीकार ही नहीं किया है, अपितु उसका अन्तर्भाव उपमा के अन्य वैचित्र्यों—पूर्णोपमा, लुप्तोपमादि में कर दिया है (मम्मट, काव्यप्रकाशः; पृ० ४५६)। साहित्यदर्पणकार ने मालोपमा और रशनोपमा को स्वीकार किया है, किन्तु उसके भेदों की गणना नहीं की है (विश्वनाथ, साहित्यदर्पणः, १०।२५, २६)।

२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ९।२४.

अनन्वय

अनन्वय अलंकार उपमा का ही एक वैचित्र्य विशेषण है। इसीलिए कवि कर्णपूर ने अनन्वय का लक्षण करते समय इसे 'अनन्वयोपमा' संज्ञा से अभिहित किया है—'एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयोपमा एकवाक्ये' अर्थात् एक ही वाक्य में एक ही वस्तु का उपमेय तथा उपमान होना अनन्वयोपमा है।[1] दण्डी ने भी अनन्वय को एक पृथक् अलंकार न मानकर उपमा का ही एक भेद स्वीकार किया है। उनकी असाधारणोपमा में अनन्वय अलंकार की रूपरेखा देखी जा सकती है।[2] कवि कर्णपूर के अन्य पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने अनन्वय को स्वीकार करते हुए भी उसे अनन्वयोपमा संज्ञा से अभिहित न करके उसे अनन्वय अलंकार ही कहा है।[3] अनन्वय अलंकार का प्रमुख प्रयोजन द्वितीय सब्रह्मचारी की निवृत्ति या सदृशान्तर व्यवच्छेद होता है। उपमा में उपमेय का उपमान से सादृश्य मात्र स्थापित करना कवि का प्रयोजन होता है, किन्तु अनन्वय अलंकार में उपमेय के अन्य उपमानों का निराकरण अभिप्रेत होता है। कवि कर्णपूर को जहाँ उपमेय का अत्यधिक उत्कर्ष अभीष्ट था, वहाँ पर उन्होंने अनन्वय अलंकार की योजना की है। उदाहरणार्थ—कृष्ण और इन्द्र के प्रणय के तुल्य अन्य किसी का प्रणय नहीं हो सकता है। इस भाव विशेष को अभिव्यक्त करने के लिए अनन्वय अलंकार की योजना की गई है; यथा—

> देहि देवद्रुमं शक्र ! वक्रता मयि का तव।
> प्रणयो वर्धतामुच्चैरावयोरावयोरिव ॥[4]

अर्थात् हे इन्द्र ! मुझे पारिजात वृक्ष दे दीजिये, मेरे साथ आपकी क्या वक्रता ? (पारिजात वृक्ष दे देने से) हम लोगों का प्रणय हम लोगों के प्रणय की ही भाँति वर्द्धित होगा। यहाँ पर आवयोः आवयोः इव' में

---

१. कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।२३३ का०

२. दण्डी, काव्यादर्शः, २।३५.

३. (क) यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम् ॥ भामह, काव्यालंकारः, ३।४५.

(ख) उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे अनन्वयः ॥
मम्मट, काव्यप्रकाशः, १०।९१.

(ग) एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयः ॥ रुय्यक, अलंकारसर्वस्वम्, पृ० ३७.

(घ) उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः ॥ विश्वनाथ, साहित्यदर्पणः, १०।२६.

४. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १३।१९.

अनन्वय अलंकार की रूप रेखा स्पष्ट है। कृष्ण और इन्द्र के परस्पर प्रणय के द्वितीय सब्रह्मचारी का निराकरण किया गया है। अर्थात् उन दोनों के परस्पर प्रणय की सादृश्यता केवल उन दोनों के प्रणय से दी जा सकती है, अन्य किसी से नहीं।

पुनश्च—

विमुञ्चतोर्बाणमहास्त्रसङ्घानुदारदर्पान्नदतोः प्रकामम्।
कल्पान्तमेघप्रभयोस्तदानीं युद्धं तयोरेव तयोरिवाभूत ।।[1]

प्रस्तुत स्थल पर कृष्ण और इन्द्र के युद्ध की प्रचण्ड भीषणता के प्रतिपादनार्थ कवि ने कृष्ण और इन्द्र के युद्ध की उपमा कृष्ण और इन्द्र के युद्ध से ही दी है। यहाँ पर उपमा अथवा अन्य किसी अलंकार की योजना से उन दोनों के युद्ध का द्वितीय सब्रह्मचारी भी उपस्थित हो जाता। उस परिस्थिति में इन्द्र और कृष्ण के युद्ध का कोई वैशिष्ट्य न रहता। युद्ध का चरमोत्किर्ष प्रतिपादित करने के लिए कवि ने सर्वाधिक उपयुक्त अलंकार की योजना की है।

रूपक

उपमा की भाँति रूपक भी भरतमुनि परिगणित प्राचीनतम अलंकार है। कवि कर्णपूर ने रूपक का लक्षण इस प्रकार निरूपित किया है—'रूपकन्तु तत् यत्तादात्म्यं द्वयोः'[2] अर्थात् अतिशय अभेद के कारण प्रसिद्ध भेद वाले उपमेय और उपमान में तादात्म्य प्रतीति रूपक अलंकार है।[3] चन्द्र इव मुखं में जिस सादृश्य की प्रतीति होती है, उसमें मुख और चन्द्र दोनों की प्रतीति की प्रधानता रहती है। मुख चन्द्र से भिन्न है और अभिन्न भी। यह भेदाभेद प्रतीति आगे चलकर अभेद प्रतीति या ताद्रूप्य प्रतीति में परिणत हो जाती है। रूपक की प्रतीति को अभेद प्रतीति भी कहा जा सकता है और ताद्रूप्य प्रतीति भी।[4] उपमागत प्रतीति से इसका भेद सिद्ध करने के लिए अभेद प्रतीति कहना श्रेष्ठ है और अध्यवसाय मूलक प्रतीति से भेद प्रतिपादनार्थ ताद्रूप्य प्रतीति कहना समीचीन है।

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १५।३५.

२. कवि कर्णपूर. अलंकारकौस्तुभः, ८।२३९.

३. वही, पृ० २९१.

४. ताद्रूप्य प्रतिपत्तिरारोपस्तदभेदप्रतिपत्तिरध्यवसाय इति तयोर्भेदः। इति चेत् न वैपरीत्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्तै।

अप्पयदीक्षित, चित्रमीमांसा, पृ० ५६.

'अलंकारकौस्तुभः' की टीका में रूपक की प्रतीति को अभेद प्रतीति कहा गया है।[1] मुखचन्द्र में सहृदय को मुख और चन्द्र दोनों की एकता का भान होता है। इसका आधार आरोप है। चन्द्र (विषयी) का मुख (विषय) पर आरोप है। इस आरोप में कवि अथवा सहृदय को प्राप्त होने वाली अभेद प्रतीति को भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता है। कवि मुख तथा चन्द्र के सौन्दर्य में अभेद प्रतीति या अतिसाम्य बताने के प्रयोजन विशेष से ही आरोप करता है।

कवि कर्णपूर की अलंकार योजना में रूपक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दोनों महाकाव्यों में रूपक के तीनों ही वैचित्र्य—साङ्ग, परम्परित एवं निरङ्ग प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ—सरोवर के मध्य विकसित होने वाली कमलिनी को एकदेशविवर्तिसाङ्ग रूपक के माध्यम से सुन्दर नारी के रूप में चित्रित किया गया है; यथा—

> निभृतनीलमधुव्रतलोचनैर्ललितकेशरदन्तविकस्वरैः ।
> विकसिताम्बुरुहाननमण्डलैर्मधुरसाधुरसामधुशालिनी ॥
> मदनमन्थरहंसवधूगतिप्रतिपदोल्लसिता मधुराकृतिः ।
> कमलिनीततिरस्य मुदं दधे सरसि को रसिको विलसेन्नहि ॥[2]

यहाँ पर विषयी नारी का शब्दतः कथन नहीं किया गया है। तथापि वह उसके अंग रूप से निरूपित लोचन, दन्त, आनन आदि से स्पष्ट है। कमलिनी के मध्य लीन रहने वाले भ्रमरों पर लोचन, ललित केशर पर दन्त श्रेणी एवं विकसित पद्म पर मुख मण्डल का आरोप किया गया है। कवि ने कमलिनी और नारी में अभेद प्रतीति कराने के निमित्त रूपक की योजना की है। रूपक के स्थान पर उपमा की योजना करने से कमलिनी और नारी का सादृश्य मात्र स्थापित होता। कमलिनी और नारी रूप में अभेद प्रतीति केवल रूपक से ही सम्भव थी। अतएव कवि ने रूपक का प्रयोग औचित्यपूर्वक किया है।

अन्यत्र अश्लिष्ट रूपक के माध्यम से चन्द्रोदय का सुन्दर वर्णन किया गया है; यथा—

> श्रीमान् वियद्विपिनसीम्नि यथायथाक-
> त्तारापतिः करमुदारतरं ततान ।
> दिक्चक्रवालभुजगप्रकरस्तथैव
> सद्यो जरत्तिमिरकञ्चुकमुन्मुमोच ॥[3]

---

१. कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ. २९१.
२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ४।२५; २६.
३. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १२।१५.

रात्रि का प्रगाढ़ान्धकार चन्द्रोदय के साथ ही अकस्मात् विलुप्त हो जाता है। कवि की कल्पना में आकाशरूपी कानन की सीमा पर जैसे-जैसे चन्द्र अपनी किरणों को प्रसारित करता जाता है, उसी क्रम से दिशारूपी भुजंग अपने क्षीण तिमिररूपी केचुली को त्यागने लगते हैं। यहाँ पर आकाश पर विपिन, दिक्चक्रवाल पर भुजंग तथा तिमिर पर कञ्चुक का आरोप होने के कारण रूपक का सौन्दर्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। दिक्चक्रवाल पर भुजंग का आरोप होने के कारण ही तिमिर पर कञ्चुक का आरोप किया गया है। इसलिए परम्परिक रूपक है।

रूपक का एक अन्य वैचित्र्य-माला रूपक है, जिसमें एक ही उपमेय के लिए अनेक उपमानों का प्रस्तुतीकरण किया जाता है।[1] कवि कर्णपूर ने अपने महाकाव्यों में माला रूपक की कुशलतापूर्वक योजना की है; यथा—

चामीकराचलशिरोविशदातपत्रं पौरन्दरोज्ज्वलहरिद्वदनारविन्दम्।
व्योमाङ्गनारुचिरदर्पणविम्बमारात् सौधकरं सपदि मण्डलमुल्ललास ॥[2]

प्रस्तुत स्थल पर सुमेरु पर्वत के शिखर पर विराजमान चन्द्रमण्डल पर सुमेरु के आतपत्र, इन्द्र के अश्व का कमलमुख एवं देवाङ्गनाओं के रुचिर दर्पण बिम्ब का आरोप किया गया है। तीनों ही उपमान सादृश्य के कारण सुन्दर प्रतीत होते हैं। चन्द्र के वर्तुलत्व एवं शुभ्रत्व के कारण उस पर आतपत्र, मुखकमल एवं दर्पण का आरोप रमणीय प्रतीत होता है।

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा सादृश्यमूलक अलंकारों में अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान अलंकार है। कवि कर्णपूर ने उत्प्रेक्षा अलंकार की अवतारणा इस प्रकार की है—'सम्भावनोपमानेनोपमेयोत्कर्षहेतुका उत्प्रेक्षा नूनमित्यादिशब्दद्योत्या'[3] अर्थात् उपमेय के उत्कर्ष के लिए उसमें उपमान की सम्भावना उत्प्रेक्षा है जो नूनं (मन्ये, शङ्के, इव, ध्रुवं, नु, किम्) आदि शब्दों से द्योतित होती है। यहाँ पर कवि कर्णपूर आचार्य मम्मट से विशेष प्रभावित प्रतीत होते हैं, क्योंकि आचार्य मम्मट की ही भाँति वे उत्प्रेक्षा में उपमान की उपमेय में सम्भावना[4] स्वीकार करते हुए उसके भेदों व उपभेदों के विषय

१. मालारूपकमन्यत्तु ज्ञेयं मालोपमानवत् ॥
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।२४६.

२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १२।४.

३. कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।२३७ का०

४. मम्मट, काव्यप्रकाशः, १०।९२ का०

में सर्वथा मौन हैं। जबकि उनके पूर्ववर्ती अन्य आलंकारिकों (रुय्यक, विश्वनाथ- प्रभृति) ने उत्प्रेक्षा के भेदों व उपभेदों पर सविस्तार प्रकाश निक्षेप किया है।

कवि कर्णपूर ने अपने दोनों महाकाव्यों में उत्प्रेक्षा के वाच्यसौन्दर्य को स्फुरित करने में अपनी विशेष प्रतिभा, मौलिकता एवं सौन्दर्यान्वेषिणी शक्ति का परिचय दिया है; यथा—सूर्यास्त के पश्चात् सर्वत्र प्रसारित होने वाले अन्धकार के सम्बन्ध में कवि की सम्भावना है—

पद्मिनीजनवियोगसुतप्तो निर्ममज्ज जलधौ दिननाथः।
सान्द्रधूमपटलैरिवतस्मादुद्गतैर्जगदपूरितमोभिः ॥[1]

अर्थात् कमलिनियों के वियोग में अत्यधिक उत्तप्त होकर सूर्य (मन की शान्ति के लिए) समुद्र में निमग्न हो गया। अतएव उसमें से निःसृत होने वाले धूमपटल के समान अन्धकार से मानों यह जगत् परिपूर्ण हो गया है। तप्त वस्तु के जल में पड़ते ही स्वाभाविक रूप से उसमें से बाष्परूप धूम्र का निःसरण होने लगता है। कवि ने अन्धकार में उसी धूम्र पटल की सम्भावना करके अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय दिया है।

लोक सूर्य को अरुण संज्ञा से क्यों अभिहित करता है ? इस सम्बन्ध में कवि ने एक सर्वथा मौलिक उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की है; यथा—

पादातिपादाभिहतस्य यद्रजो गिरेस्तदा गैरिकरक्तमुत्थितम्।
विलिप्तदेहः किल तेन भानुमान् सदैव लोकैकररुणो निगद्यते ॥[2]

प्रस्तुत स्थल पर कवि की सम्भावना के अनुसार (कृष्ण की) पदवाहिनी सेना के पादाभिघात से उद्गत होने वाली पर्वत की लाल गेरू को सूर्य ने अपनी समस्त देह में भली प्रकार से सम्भृत कर लिया है। फलस्वरूप अरुण वर्ण का हो जाने के कारण, लोक सदैव से सूर्य को अरुण संज्ञा से अभिहित करता आया है।

व्यक्ति के सहज मनोभावों को अभिव्यक्त करने के कारण कवि कर्णपूर प्रयुक्त उत्प्रेक्षाएँ अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होती हैं। उदाहरणार्थ—मदिरापानोपरान्त गोपवधुओं की कामविवशता एवं मदजन्य शिथिलता का अभिव्यक्तीकरण उत्प्रेक्षा के माध्यम से दर्शनीय है; यथा—

वारुणीमभिगतो द्रवभावं मन्मथः प्रविशतीव वधूषु।
यदङ्गमङ्गमभितः किल सर्वग्रन्थयः शिथिलतां यदुपेयुः ॥[3]

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १०।९.

२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , ६।७.

३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , १०।३७.

अर्थात् 'मन्मथ वारुणी रूप में द्रवत्वभाव को प्राप्त कर व्रजवधुओं में प्रवेश-सा कर गया है। इसीलिए मदिरापान करते ही व्रजसुन्दरियों के अंग-प्रत्यंग की समस्त ग्रन्थियाँ शिथिल हो रही हैं। मदिरापानोपरान्त कामजन्य मदता एवं आलस निसर्गतः जाग्रत हो जाता है। फलस्वरूप अंग विकार अर्थात् अंग-भंगादि प्रकट होने लगता है। पूर्वोक्त स्वाभाविक मनोदशा के चित्रण के लिए कामदेव का द्रवत्व लाभकर गोपवधुओं के प्रवेश करने की सम्भावना अत्यधिक वैचित्र्यपूर्ण प्रतीत होती है।

पुनश्च—

एणीदृशां वदनवारिरुहाणि रेजु-
रुज्जृम्भमाणमधुकाञ्चनभाजनेषु।
आसेवितुं हृदयमाशु विलासभाजा-
मभ्यागता इव विमोहकराविकाराः ॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर मदिरा से परिपूर्ण स्वर्ण पात्रों में प्रतिबिम्बित होने वाले कमल मुखों में विमोहित करने वाले विकारों की सम्भावना रमणीय प्रतीत होती है। मृगनयनी सुन्दरियों का मुखकमल निसर्गतः आह्लादकारी एवं आकर्षक होने के कारण विलासी जनों को विमोहित करने वाला होता है। स्वर्णपात्र में अवस्थित मदिरा में प्रतिबिम्बित होने के कारण उन (मुखों) की कामोद्दीपकता और वर्द्धित हो जाती है। इसलिए कवि ने यह सम्भावना की है कि मानों विलासीजनों के हृदयों को शीघ्रतापूर्वक भली प्रकार से सेवित करने के लिए विमोहित करने वाले विकार स्वयं कामिनियों के मुख रूप में आ गये हैं।

मदिरापान के प्रसंग में एक अन्य सरस उत्प्रेक्षा प्रयुक्त हुई है; यथा—

उज्जगाम हृदयादनुरागो लोचने मधुमदारुणशोभे।
सुभ्रुवः किमिह यद्गुरुभाराद्घूर्णया भ्रमति खञ्जमिवैतत् ॥[2]

मदिरापानोपरान्त नेत्र व्याघूर्णमान हो जाते हैं तथा उनकी कान्ति रक्तिम हो जाती है। नेत्रों के इस स्वाभाविक माधुर्य का वर्णन कवि ने उत्प्रेक्षा के माध्यम से सुन्दरतापूर्वक किया है। कवि की सम्भावना में सुलोचना व्रजबालाओं का हृदयस्थिति अनुराग हृदय से निःसृत होकर नेत्रों में (मदिराजन्य) लालिमा के रूप में उपस्थित हो गया है। अतएव भार की अधिकता (अनुरागातिशय) से उनके नेत्रयुगल खञ्जन की भाँति घूर्णित गति से भ्रमण कर रहे हैं। मदिरा के कारण रक्त नेत्रों में हृदय के

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १२।२६.
२. कवि कर्णपूर, चैन्यचरितामृतम्, १०।४२.

अनुराग के आ जाने की सम्भावना तथा व्याघूर्णमान रक्त नेत्रों का खञ्जन पक्षी के सदृश्य भ्रमण करना अत्यधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है।

प्रकृति में मानवीय भावों की सम्भावना करते समय अनेक मनोमुग्धकारी उत्प्रेक्षाओं की अवतारणा कवि कर्णपूर ने की है; यथा—

समीरसंसर्गविशेषसञ्चरत्पयः परीवर्तविवर्तिताम्बुजा।
विलोकितुं माधवमुद्गतद्युतिं मुहुः परावृत्तमुखीव कौतुकात् ॥[1]

प्रस्तुत उद्धरण में उत्प्रेक्षा के माध्यम से सरसी का एक मुग्धा नायिका की भाँति वर्णन किया गया है। पूर्ण विकसित कमल सरसी का मुख है। मन्द मन्थर वायु की तरंगों से जल में भँवर पड़ जाने से कमल (इतस्ततः) किञ्चित् परावृत्त हो जाता है। कवि की सम्भावना में सरसी कृष्ण की मधुर कान्ति को कौतुकवश पुनः देखने के लिए अपना कमलमुख परावृत्त कर रही है। कवि की यह उत्प्रेक्षा एक ऐसी मुग्धा नायिका का चित्र अंकित करती है, जो लज्जावश नायक को सामने से न देखकर (उसके) गमनोपरान्त परावृत्तमुखी होकर उसे अपलक देखती रहती है। कवि ने नायिका के इस स्वाभाविक व्यवहार की सम्भावना सरसी में करके अपनी सौन्दर्यानुभूति का परिचय दिया है।

कवि कर्णपूर ने सिद्धान्त रूप में उत्प्रेक्षा के भेदों का उल्लेख नहीं किया है। तथापि उनके महाकाव्य में अन्य आलंकारिकों द्वारा निरूपित उत्प्रेक्षा के अन्य वैचित्र्य भी यथा स्थान दृष्टिगोचर होते हैं; यथा—

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा

हरेर्मुखालोकनलोलचेतसां विनिर्यतीनां भवनान्नतभ्रुवाम्।
निमेषशून्यैर्नयनैर्नभःस्थलं रराज राजीवमयं समन्ततः ॥[2]

देवाङ्गनाएँ अपने भवनों से निकलकर उत्सुकतापूर्वक कृष्ण को देख रही हैं। उनका हृदय प्रसन्नता से आन्दोलित है। निमेषशून्य नेत्रों से वे निरन्तर कृष्ण को देख रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों समस्त आकाश राजीवमय हो गया है। उत्प्रेक्षा वाचक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु अर्थतः उसकी प्रतीति हो जाने के कारण प्रतीयमानोत्प्रेक्षा की रूपरेखा स्पष्ट है।

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ६।३३.

२. वही, १६।५६.

पुनश्च—

दृश्यतामिदमुदारमम्बरे मण्डलं हिमकरस्य राजते ।
कामिनीवदनतः पराजयादर्जितं मलिनमङ्कमुद्वहत् ॥[१]

प्रस्तुत स्थल पर प्रतीयमानोत्प्रेक्षा का सौन्दर्य प्रतिभासित हो रहा है। स्वच्छ आकाश पर सुशोभित हिमकरमण्डल अर्थात् चन्द्र के अंक में विद्यमान है। कवि की सम्भावना में चन्द्रकामिनियों के अद्वितीय सौन्दर्य युक्त मुख से पराजित होकर पराजयजन्य मलिन को अपने अंक में धारण कर रहा है। चन्द्र के विद्यमान कलंक में पराजयजन्य मलिन की सम्भावना होने के कारण उत्प्रेक्षा स्पष्ट है। उत्प्रेक्षा वाचक शब्द का प्रतिपादन नहीं किया गया है, किन्तु वह गम्य है।

अपह्नुतिमूलक उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा के मूल में अपह्नुति अलंकार की योजना होने से उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है; यथा—

निजेन नैर्मल्यमदेन निर्भरं प्रकाशयन्ती मुखपङ्कजं मुहुः ।
समुल्लसत्फेनपरम्परामिषात् सदा हसन्तीव शरत्सुधानिधिम् ॥[२]

गंगा के निर्मल जल में कमल विकसित है। कवि की सम्भावना में गंगा अपनी निर्मलता के मद में विकसित मुख-कमल से उल्लसित होती हुई फेन राशि के जल से शरद्कालीन ज्योत्स्ना को हँस रही है। यहाँ पर उत्प्रेक्षा के मूल में अपह्नुति अलंकार है।

सन्देह

सादृश्य प्रधान अलंकारों में सन्देह का प्रमुख स्थान है। सर्वप्रथम भामह ने 'ससन्देहालंकार' नाम से इसका निरूपण किया।[३] दण्डी ने सन्देह अलंकार का अन्तर्भाव संशयोपमा में किया।[४] इसे ही रुद्रट[५] एवं भोज[६] ने 'संशयालंकार' की संज्ञा से अभिहित किया है। परवर्ती आलंकारिक मम्मट[७]

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , १७।४७.

२. वही, ९।२७.

३. भामह, काव्यालंकारः, ३।४३.

४. दण्डी, काव्यादर्शः, २।२६.

५. रुद्रट, काव्यालंकारः, ८।५९.

६. भोजदेव, शृङ्गारप्रकाशः, भाग २, पृ० ४१७.

७. मम्मट, काव्यप्रकाशः, १०।९२.

के अतिरिक्त अन्य सभी आलंकारिक कुन्तक,[1] रुय्यक,[2] विश्वनाथ,[3] जयदेव,[4] अप्पयदीक्षित,[5] कवि कर्णपूर,[6] आदि ने इसे सन्देहालंकार की संज्ञा से अभिहित किया है। सन्देह अलंकार का आधार अनिश्चयात्मक ज्ञान का एक भेद संशय है। संशय में विचार तुला के दोनों पलड़े अनियमित रूप से नीचे-ऊपर उठा करते हैं। न एक पक्ष शिथिल रहता है, न दूसरा दृढ़। किन्तु यह संशय कवि प्रतिभोत्थापित होता है। सन्देहालंकार में प्रकृत पर अप्रकृत का आरोप होता है साथ ही अध्यवसाय साध्यावस्था में विद्यमान रहता है। कवि कर्णपूर ने सन्देह अलंकार को दो ही प्रकार का स्वीकार किया है। उनके मतानुसार उपमान और उपमेय का भेद कहीं उक्त रहता है और कहीं अनुक्त। कवि कर्णपूर ने सन्देहालंकार की योजना में विशेष निपुणता का परिचय दिया है। वर्ण्य-विषय के औचित्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सन्देहालंकार के माध्यम से अन्धकार का वर्णन किया है। दिग्व्यापी अन्धकार के सम्बन्ध में कोई निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता है। अतएव उस अवसर के लिए सन्देह सर्वाधिक उपयुक्त अलंकार है; यथा—

पातिताः किमु दिशो गगनं वा भ्रंशितं किमु समुद्गमिता भूः।
लोपितं किमथ वा खलु विश्वं स्निग्धसान्द्ररुचिरैस्तिमिरौघैः॥[7]

प्रस्तुत स्थल पर तिमिर आरोप विषय है। उसमें पतन, भ्रंशन, उद्गमन, लोपन आदि विभिन्न धर्मों का आरोप किया गया है। इन विभिन्न धर्मों का आरोप दिशा, गगन, भू तथा विश्व इन विभिन्न आश्रयों के आधार पर सम्भव हुआ है। किमु शब्द विभिन्न सम्भावनाओं की प्रतीति कराने में सहायक है। परन्तु यह सम्भावना सन्देह की है। क्योंकि कवि का विषय की अपेक्षा विषयी की ओर अधिक या कम पक्षपात नहीं है। उपमेय और उपमान का भेद अनुक्त है। संशय आदि से लेकर अन्त तक अक्षुण्ण रहा है, इसलिए शुद्ध सन्देह है।

---

१. कुन्तक, वक्रोतिजीवितम्, ३।४१.
२. रुय्यक, अलंकारसर्वस्वम्, पृ० ५३.
३. विश्वनाथ, साहित्यदर्पणः, १०।३५.
४. जयदेव, चन्द्रालोकं, ५।३१–३२.
५. अप्पयदीक्षित, कुवलयानन्दः, पृ० २३.
६ कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।२३२.
७. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १०।१०.

भ्रान्तिमान्

भामह, उद्भट, वामन आदि प्राचीन आलंकारिकों ने भ्रान्तिमान् का उल्लेख नहीं किया है। दण्डी को 'महोपमा' में भ्रान्तिमान् का अन्तर्भाव विवक्षित है। सर्वप्रथम रुद्रट ने इसका नामतः उल्लेख एवं निरूपण किया है।[१] भ्रान्तिमान् अलंकार में सादृश्य के कारण विषय की विषयी रूप में भ्रान्ति होती है। यहाँ रूपक की भाँति विषय में विषयी का आरोप नहीं होता है, अपितु अध्यवसाय होता है। रूपक में मुख और चन्द्र का एक साथ ज्ञान कवि तथा सहृदय दोनों को रहता है। परन्तु भ्रम-प्रतीति में विषय की प्रतीति (भ्रान्ति) विषयी रूप में होती है। विषय की विषयता भ्रान्ति से आच्छादित हो जाती है। क्योंकि वस्तु अर्थात् विषय का जब तक वस्तु रूप में ज्ञान विद्यमान रहता है, तब तक विषयी का भ्रम सम्भव ही नहीं है। अतः भ्रान्ति में विषय का तिरोधान एवं विषयी की संवित्ति परमावश्यक है। कवि कर्णपूर ने भ्रान्तिमान् अलंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—'भ्रान्तिमांस्तद्धीरतस्मिन् साम्यभाजियत्' अर्थात् सादृश्य के कारण विषय में विषयी की बुद्धि होना भ्रान्तिमान् है।[२]

कवि कर्णपूर की अलंकार योजना में भ्रान्तिमान् अलंकार की झलक अनेक स्थलों पर प्राप्त होती है। एक स्थल पर भ्रान्तिमान् अलंकार के माध्यम से कवि ने भ्रमरों की मुग्धता का चित्रण किया है; यथा—

> पुष्पमिच्छति न हीरकबुद्ध्या हीरकं श्रयति पुष्पधियैषः।
> यत्र दैववशतो मधुपत्वं गच्छति स्म मधुपः खलु मौग्ध्यात् ॥[३]

प्रस्तुत स्थल पर मधुपानार्थ गया हुआ भ्रमर मुग्धता के कारण पुष्प को हीरक समझकर उसका परित्याग कर देता है तथा हीरक में पुष्प-बुद्धि से उसका आश्रय ग्रहण कर लेता है। हीरक में पुष्पबुद्धि निश्चित है। पुष्प में हीरकरूप तथा हीरक में पुष्परूप जो वस्त्वन्तर की प्रतीति अथवा भ्रान्ति हो रही है, वह सादृश्य के कारण हो रही है। साथ ही यह प्रतीति निश्चयात्मक है, अतएव यहाँ सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता है।

अन्यत्र शची के मुख के अद्वितीय सौन्दर्य का अतिशयत्व वर्णित करने के लिए कवि ने भ्रान्तिमान् की योजना की है; यथा—

---

१. रुद्रट, काव्यालंकारः; ८।८७.

२. कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।३०६ का०

३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ६।६०.

अतिसमुच्छ्रितशृङ्गसमुद्गतत्रिदशराजवधूमुखवीक्षणात् ।
इह दिनेऽपि विधूदयशङ्किनी कमलिनी मलिनीभवति क्षणम् ॥'

सुमेरु पर्वत के उच्च शिखरों पर इन्द्र के साथ विहार करने वाली शची के मुख में कमलिनी को चन्द्र की भ्रान्ति हो जाती है। उसे यह शंका हो जाती है कि रात्रि हो गई है, अतएव चन्द्रोदय हो गया है। इसलिए दिन होने पर भी वह मलिन हो जाती है। यहाँ पर मुख में चन्द्र की प्रतीति भ्रममात्र है, क्योंकि दिन में चन्द्र का उदय होना असम्भव है। 'शङ्किनी' पद से सन्देह अलंकार का सन्देह नहीं होना चाहिए। क्योंकि सन्देह में समकोटिक विमर्श होता है। 'यह है अथवा वह है' इस प्रकार की दुविधा होती है। साथ ही वत्स्वन्तर की प्रतीति नहीं होती है। किन्तु यहाँ पर निश्चयात्मक ज्ञान है तथा मुख की चन्द्र रूप में वत्स्वन्तर की प्रतीति भी हो रही है। यहाँ पर उत्प्रेक्षा एवं रूपक का भी अवकाश नहीं है। उत्प्रेक्षा में वत्स्वन्तर की सम्भावना होती है, निश्चय नहीं होता है। रूपक में भेद प्रतीति परस्पर अभेद होती है। मुख का चन्द्र या वस्त्वन्तर के रूप में ज्ञान नहीं होता है।

विरोध

विरोधमूलक अलंकारों में विरोधालंकार का प्रमुख स्थान है। विरोध अलंकार में वास्तव में विरोध न होने पर भी (विरोध की प्रतीति कराने वाले) विरुद्ध रूप से वर्णन किया जाता है। अर्थात् विरोध न होने पर भी विरोध की भाँति प्रतिभासित होता है। वस्तुतः अविरोध में विरोध की प्रतीति कराना ही इस अलंकार का वैचित्र्य है। यह विरोध दश प्रकार का हो सकता है—जाति का जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के साथ, गुण का गुण, क्रिया और द्रव्य के साथ, क्रिया का क्रिया एवं द्रव्य के साथ तथा द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध हो सकता है।[2] कवि कर्णपूर के महाकाव्यों में विरोध अलंकार की स्फुट झलक मिलती है। कई स्थलों पर इसका प्रयोग कुशलतापूर्वक किया गया है, जिससे सौन्दर्य द्विगुणित हो गया है; यथा—

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १०।४४.

२. विरोधः स विरोधाभः ॥
जातिर्जात्यादिभिर्गुणैः त्रिभिर्द्वाभ्यां क्रिया, द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ॥
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।२७५.

द्रवस्वरूपाणि भवाब्धिशोषिणी शुभ्रापियासीद्धृतकृष्णविग्रहा ।
क्षित्याश्रितापि द्युनदीति विश्रुताभ्रमापहापिभ्रमिविभ्रमावहा ।।[1]

प्रस्तुत उद्धरण में नवद्वीप निकटवर्तिनी गंगा के उत्कर्ष का वर्णन विरोधालंकार से किया गया है। गंगा द्रवरूपिणी होते हुए भी भव समुद्रशोषिणी है। यहाँ पर विरोध है, क्योंकि जो स्वयं द्रवरूपिणी है, वह शोषण कार्य का किस प्रकार सम्पादन कर सकती है? विरोध का परिहार इस प्रकार किया जा सकता है कि गंगा सांसारिक कष्टों को विदलित करने वाली है। गंगा शुभ्रवर्णा होते हुए भी कृष्ण विग्रह को धारण किये हुए है। यहाँ पर भी विरोध विद्यमान है। शुभ्रवर्णा गंगा कृष्ण विग्रह वाली कैसे हो सकती है? इस विरोध का परिहार इस प्रकार किया जा सकता है कि गंगा में चैतन्यमहाप्रभु नित्य स्नान करते हैं, वे कृष्ण विग्रह स्वरूप हैं। इसलिए गंगा कृष्ण विग्रह वाली है। गंगा पृथ्वी पर स्थित होने पर भी द्युनदी के रूप में प्रसिद्ध है यहाँ पर भी विरोध है, क्योंकि जिसका आधार पृथ्वी है वह द्युनदी की संज्ञा से कैसे प्रसिद्ध हो सकती है। विरोध का परिहार इस प्रकार किया जा सकता है कि गंगा विष्णु के चरणों से उद्गत होने के कारण द्युनदी कहलाती है। इसी प्रकार गंगा भ्रम दूर करने वाली होकर भी भँवरियों को धारण करती है। यहाँ पर भी विरोध है। किन्तु विरोध का परिहार इस प्रकार किया जा सकता है कि गंगा मन में स्थित भ्रम का विनाश करती है एवं उसमें भँवरियाँ विराजमान रहती हैं।

पुनश्च—

मुदा विनिर्मासि जगत्त्रयीमिमां दधासि विद्रावयसि क्षणादपि ।
जगत्प्रसूतेर्महिमानमद्भुतं न वेद वेदोऽपि तदेश तत्त्वतः ।।[2]

प्रस्तुय स्थल पर जगत् को उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा की महिमा का वर्णन विरोध अलंकार के माध्यम से किया गया है। जो ब्रह्मा तीनों लोकों का निर्माण प्रसन्नतापूर्वक करते हैं, वही क्षण भर में उसका विनाश कर देते हैं। यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है कि जो निर्माण कार्य करता है, वह विनाश कार्य कैसे कर सकता है? इसका परिहार इस प्रकार किया जा सकता है कि ब्रह्मा की महिमा अद्भुत है, उन्हें पूर्ण रूप से देव भी नहीं समझ सके हैं। अतएव अलौकिक ब्रह्म के द्वारा विरोधी कार्यों का करना कोई आश्चर्य की वस्तु नहीं है।

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २।७.
२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , १६।६.

सहोक्ति

सहोक्ति अलंकार में सह शब्द के अर्थ सामर्थ्य से एक क्रिया दो की वाचक बन जाती है।[1] सहोक्ति अलंकार का वैचित्र्य कवि कर्णपूर के दोनों महाकाव्यों में विद्यमान है; यथा—

> उरूमूलमभितः कृतवासा श्लिष्यति प्रियतमे मदिराक्ष्याः ।
> अंशुकेन सह विश्लथबन्धा निर्ययौ स्वयमथो किमु लज्जा ॥[2]

अर्थात् 'प्रियतम (कृष्ण) के द्वारा आलिंगन करने पर उरुमूल पर भली प्रकार से वस्त्रों को धारण करने वाली चञ्चलाक्षी की लज्जा क्या स्वयं शिथिलबन्धन होकर अंशुक के साथ ही चली गई? यहाँ पर लज्जा प्रथमान्त पद है, (उसके प्रधान होने के कारण) उसके साथ 'निर्ययौ' क्रिया का शब्द अर्थात् साक्षात् सम्बन्ध है। अंशुक जो तृतीयान्त पद है, (उसके अप्रधान होने के कारण) उसके साथ सहार्थ के बल से अर्थात् सम्बन्ध प्रतीत हो रहा है।

पुनश्च—

> शूलेन विद्धः कुपितेन यन्त्रा संचूर्ण्यमानोऽपि पदागजेन ।
> सहैव संरम्भमहोग्रदम्भैर्मुमोच कश्चिद् युधि जीवितानि ॥[3]

अर्थात् किसी वीर ने अपने अखर्व गर्व के साथ ही अपने प्राणों को त्यागा। यहाँ पर तृतीयान्त दम्भ पद का 'मुमोच' क्रिया के साथ सम्बन्ध सहार्थ के बल से प्रतीत हो रहा है।

विशेषोक्ति

विशेषोक्ति अलंकार में कारण के सद्भाव में कार्य का अभाव वर्णित किया जाता है। यह विशेषोक्ति तीन प्रकार की होती है—'उक्तनिमित्ता', 'अनुक्तनिमित्ता' एवं 'अचिन्त्यनिमित्ता'[4]। कवि कर्णपूर के महाकाव्यों में 'उक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति के ही उद्धरण उपलब्ध होते हैं; यथा—

---

१. सहोक्तिः सा सहार्थेन शब्देनैका क्रिया यदि ।
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।२७८.

२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १०।५७.

३. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , १४।६२.

४. विशेषोक्तिः कारणेषु सत्सु कार्यस्य नोदयः ।
एषाऽनुक्तोक्ताचिन्त्यनिमित्तत्वात्त्रिधा ॥
वही, ८।२७२ का०

उद्दामद्युमणिरुचो मुहुर्ज्वलन्त्यो
यद्यप्याश्रयमयमम्बुशोषयन्ति ।
पद्मिन्यास्तदपि दधात्यतीव सौख्यं
दुःखं च प्रियविहितं प्रियं तनोति ।।[1]

यहाँ पर सूर्य द्वारा पद्मिनी के आश्रयभूत जल का शोषणरूप कारण के सद्भाव में भी दुःखरूप कार्य का अभाव वर्णित है एवं निमित्तरूप में प्रियविहित दुःख का सुख विस्तारत्व का प्रतिपादन किया गया है । अतएव उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का स्वरूप यहाँ स्पष्ट है ।

पुनश्च—

रुचिरहीरकराजि विराजिते शिरसि यस्य महोज्ज्वलतां गते ।
समुदितोऽपि विधुर्नविभाव्यते सकलया कलयापि समन्वितः ।।[2]

अर्थात् सुमेरु पर्वत के शिखर पर उदित चन्द्रमा यद्यपि समस्त कलाओं से युक्त है तथापि सुशोभित नहीं हो रहा है । चन्द्रमा का उदय एवं समस्त कलाओं से समन्वित होना, इन कारणों के सद्भाव में भी शोभन रूप कार्य का अभाव प्रतिपादित किया गया है । उसके निमित्त रूप में सुमेरु पर्वत पर हीरक पंक्ति का विराजित होना उपनिबद्ध किया गया है ।

विभावना

विरोध मूलक अलंकारों में विभावना अलंकार का विशिष्ट स्थान है । विभावना में कारण के अभाव में भी कार्य की उपपत्ति का वर्णन किया जाता है । कवि कर्णपूर ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—'हेतुरूप-क्रियाऽभावे फलं यत् स्यात् विभावना' अर्थात् हेतु रूप क्रिया के अभाव में भी कार्योत्पत्तिरूप फल की प्राप्ति विभावना है ।[3] कवि कर्णपूर ने आचार्य मम्मट की भाँति विभावना के भेदों का उल्लेख नहीं किया है । किन्तु आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विभावना का सौन्दर्य दो प्रकार से परिलक्षित होता है । प्रथम, जिसमें कारणाभाव में कार्योत्पत्ति का निमित्त प्रतिपादित हो अर्थात् विभावना उक्त निमित्ता हो । द्वितीय, जिसमें कारणाभाव में कार्योत्पत्ति के निमित्त का प्रतिपादन किया जाये अर्थात् विभावना अनुक्त निमित्ता हो ।[4] कवि कर्णपूर ने विभावना अलंकार की योजना केवल

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ५।३४.
२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १०।६.
३. कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।२७१ का०
४. विश्वनाथ, साहित्यदर्पणः, १०।६६.

'पारिजातहरणम्' में ही की है; यथा—

दीर्घादरं मधुमदारुणलोचनाभि-
विंस्तारिते घनदृगन्तशते तदानीम् ।
साम्राज्यमूर्जितमवाप्य मनोभवेन
नारोपितः किल करोऽपि धनुर्लतायाम् ॥[1]

अर्थात् कामदेव ने अपने धनुष पर ईषत् हस्तस्पर्श नहीं किया, तथापि उसे ऊर्जित साम्राज्य की प्राप्ति हो गई। धनुष-लता पर हस्तारोपण रूप कारण के अभाव में भी साम्राज्य प्राप्ति रूप कार्योत्पत्ति का वर्णन किया गया है। उसके निमित्त रूप में मदपूर्ण अरुण नेत्रों का दृगन्त तक विस्तृत होना उपनिबद्ध किया गया है। अर्थात् विभावना का निमित्त उक्त होने से उक्त निमित्ता है। वस्तुतः सुन्दरियों के मदपूर्ण नेत्रों का दृगन्त तक विस्तृत देखकर ही कामीजनों में कामोद्वेग हो जाता है। अतएव कामदेव को शर-सञ्चालन के लिए धनुष पर हस्तारोपण करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

पर्यायोक्ति

गम्य होने पर भी जब किसी बात को भंग्यन्तर से अभिधा से कह दिया जाता है, उस स्थिति में पर्यायोक्ति अलंकार होता है। व्यङ्ग्यार्थ से वाच्यार्थ को चमत्कृत करने की आकांक्षा अथवा कथन में एक विशेष चारुता लाने के लिए पर्यायोक्ति अलंकार का विधान किया जाता है। अभिधान वैचित्र्य पर्यायोक्ति अलंकार की रूपरेखा है। प्राचीन अलंकारवादी काव्याचार्य पर्यायोक्ति अलंकार को प्रस्तुत अर्थ का वाच्यवाचक वृत्ति के अतिरिक्त व्यंग्य व्यञ्जक वृत्ति द्वारा अभिधान स्वीकार करते हैं। किन्तु ध्वनिवादी अलंकार शास्त्र में पर्यायोक्ति की स्थिति वहाँ होती है, जहाँ गम्य अर्थ का प्रकारान्तर से अभिधान हुआ करता है। पर्यायोक्ति में गम्य अथवा व्यंग्य अर्थ उतना चमत्कारी नहीं हुआ करता है, जितना कि उसका प्रकारान्तर से अभिधान। कवि कर्णपूर के महाकाव्यों में केवल 'पारिजातहरणश्' में पर्यायोक्ति का वैचित्र्य दृष्टिगत होता है; यथा—

याचितो यदि मयापि पादपं देवराज ! न ददासि दर्पितः ।
तन्निधेहि विबुधाङ्गनावलत्पत्रलोपिनिकरेनिजायुधम् ॥[2]

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , १२।३४.

२. वही, ६।४६.

यहाँ पर व्यंग्यार्थ स्फुरित हो रहा है कि यदि इन्द्र ने याचना करने पर पारिजात वृक्ष न दिया, उस स्थिति में कृष्ण युद्ध अवश्य करेंगे। यह व्यङ्ग्यार्थ प्रस्तुत रूप अर्थ है, किन्तु इसे एक विशेष प्रकार के चमत्कार के उपपादन के लिए इस रूप में न कहकर प्रकारान्तर से कहा है कि 'यदि इन्द्र ने याचना करने पर पारिजात वृक्ष न दिया तो देवाङ्गनाओं के वलतपत्र का हरण करने वाले हाथों में अस्त्र धारण करें। यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ से वाच्यार्थ अधिक चमत्कारी है।

समासोक्ति

समासोक्ति की कल्पना विशेषण वैचित्र्य के अनुसन्धान का परिणाम है। कविजन अपने काव्यों में ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया करते हैं, जिनसे अप्रस्तुत की अभिव्यञ्जना हुआ करती है एवं उनसे प्रस्तुत का सौन्दर्य और भी द्विगुणित हो जाता है। कवि कर्णपूर ने समासोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—श्लिष्ट विशेषों के द्वारा विशेष्य (प्रकृत; अर्थ) का अन्यथाभासन समासोक्ति है।[1] अर्थात् प्रकृत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य के द्वारा श्लेषयुक्त विशेषणों के प्रभाव से न कि विशेष्य (पद) के सामर्थ्य से जो अप्रकृत का कथन है, वह समासोक्ति है। कवि कर्णपूर के दोनों ही महाकाव्यों में समासोक्ति का चारुत्व दर्शनीय है; यथा—

अश्लिष्यन्नतितरां तुहिनांशुः प्रांशुना सुललितेन करेण।
यामिनी मृगदृशः सुपिनद्धं ध्वान्तनीलवसनं समुदासे॥[2]

अर्थात् अपने लम्बे-लम्बे हाथों से आलिंगन करते हुए चन्द्र ने मृगनयनी रात्रि की दृढ़तापूर्वक बाँधी गई नीली (अन्धकाररूपी) साड़ी को हटा दिया। यहाँ पर चन्द्र एवं रात्रि प्रस्तुत है। उससे नायक एवं नायिका के व्यवहार का आभास हो रहा है। किन्तु यह आभास तुहिनांशुः और यामिनी पद से नहीं हो रहा है। अपितु 'करेण', 'सुपिनद्धं', ध्वान्तनील-वसनं' आदि श्लिष्ट विशेषणों से प्रतीत हो रहा है। यद्यपि नायक और नायिका का व्यवहार प्रतीयमान हो रहा है, तथापि वाच्यार्थ उसकी अपेक्षा अधिक चमत्कृत प्रतीत हो रहा है। अतएव यहाँ पर प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ का ही उपस्कारक हो रहा है।

---

१. श्लिष्टैर्विशेषणैरेव विशेष्यस्यान्यथास्थितिः समासोक्तिः।
विशेष्यस्य केवलस्य श्लिष्टैर्विशेषणैरन्यथास्थितिरन्यथाभासनं समासोक्तिर्नामालंकारः॥ कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।२५१ का०

२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १०।१३.

पुनश्च—

आलम्ब्य निर्मलकरैः स्फुरदम्बरान्तं
कान्ते मुदान्तिकमुपेयुषि शीतभानौ।
ध्वान्तांशुकं तुहिनधर्मकरम्बितायाः
द्रागापपात रजनीनलिनेक्षणायाः ॥[1]

अर्थात् स्वच्छकरों (किरणों) का आलम्बन लेकर प्रसन्नतापूर्वक समीप पहुँचने की आकांक्षा वाले चन्द्रमा के आकाश पर स्फुरित होते ही कमल-नयनी रात्रि की शीतलस्वेद से स्नयित हो गई एवं उसका तिमिरांशुक शीघ्र ही स्खलित हो गया। यहाँ पर चन्द्र और रात्रि प्रस्तुत है। 'कर' (किरण, हस्त), 'कान्त' (चन्द्र, प्रियपति), 'ध्वान्तांशुक' (अन्धकार का आवरण एवं अभिसार की तामसी साड़ी) आदि पद श्लिष्ट हैं। इनके सामर्थ्य से नायक-नायिका के व्यवहार की प्रतीति हो रही है। नायक के प्रत्यक्ष होने पर प्रायः स्वेदादि सात्त्विक भावों के उदय तथा अत्यधिक औत्सुक्य एवं सम्भ्रम के कारण नायिका का वस्त्राञ्चल स्खलित हो जाता है। चन्द्र और रात्रि के व्यवहार से अप्रस्तुत के इसी व्यवहार की प्रतीति यहाँ हो रही है। किन्तु चारुत्व प्रस्तुत के वर्णन में है। अतएव अप्रस्तुत अर्थ उस (प्रस्तुत) को उपस्कृत करता हुआ अलंकार भाव को प्राप्त हो रहा है।

व्यतिरेक

व्यतिरेकगम्य औपम्याश्रित सादृश्यमूलक अलंकार है। इसका सौन्दर्य उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य वर्णन अथवा न्यूनत्व वर्णन में स्फुरित होता है। कवि कर्णपूर ने व्यतिरेक का लक्षण व उसके भेद मम्मट की भाँति ही स्वीकार किये हैं।[2] उन्हें उपमेय के न्यूनत्व वर्णन में व्यतिरेक अभीष्ट नहीं है। अतः कवि कर्णपूर की अलंकार योजना में व्यतिरेक की रूपरेखा केवल उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य वर्णन में दृष्टिगत हुई है; यथा—

विधुरसौष्ठवतां लभतां मुहुर्विधुरसौ वलता वदनांशुना।
मधुरसान्वितपुष्पमनोरमोमधुरसाधुरसावभिवर्त्तताम् ॥[3]

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १२।१७.

२. व्यतिरेका विलक्षणः उपमानात् ॥
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।२६८ का० एवं पृ० ३०९.

३. कविकर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ४।१८.

यहाँ पर मुख की वलता के समक्ष चन्द्रमा का सौष्ठवजन्यशून्य एवं सुन्दर परागयुक्त पुष्पों से मनोरम वसन्त का असाधु हो जाना उपनिबद्ध किया गया है। उपमेय मुख तथा उपमान चन्द्र एवं मधु (वसन्त) ऋतु है। उपमान की न्यूनता का प्रतिपादन किया गया है, जिसके कारण उपमेय का उत्कर्ष अवभासित हो रहा है। किन्तु यहाँ उपमेय का उत्कर्ष हेतु तथा उपमान के अपकर्ष हेतु का उपनिबन्धन नहीं किया गया है। अतः यह व्यतिरेक का द्वितीय भेद है।

पुनश्च—

आस्यानि चञ्चदलकानि विलासिनीनां
स्वेदाम्बुभिः परिवृतानि चिरं निनिन्दुः।
निस्यन्दमानमकरन्दरसालसानि
शैवालजालजटिलानि सरोरुहाणि ॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर विलासिनी सुन्दरियों के मुख के उत्कर्ष प्रतिपादनार्थ कवि ने उपमान के रूप में सरोरुह को कल्पित किया है। मुख चूर्ण कुन्तल राशि से परिवेष्टित है। सरोरुह शैवाल जाल से आवृत है। (रतिश्रम से) विलासिनियों के मुख स्वेदबिन्दु से स्नयित हैं। सरोरुह में नवीन मकरन्द का रस निस्यन्दमान है। दोनों में पूर्वोक्त सादृश्य है, तथापि सुन्दरियों के मुख सरोरुहों की अत्यधिक निन्दा कर रहे हैं। निन्दा के हेतु का प्रतिपादन नहीं किया गया है। सम्भवतः स्त्रियों के मुख में विद्यमान स्वाभाविक लावण्य एवं रतिश्रमोत्पन्ना स्निग्धता सरोरुह में नहीं है, जिसके कारण स्त्रियों के मुख उसकी निन्दा कर रहे हैं। यहाँ पर कवि का उद्देश्य उपमेय एवं उपमान का सादृश्य प्रतीत कराना, उपमेय और उपमान का अभेद स्थापित करना अथवा उपमेय में उपमान की सम्भावना प्रदर्शित करना नहीं है, अपितु उपमान से उपमेय का उत्कर्ष एवं अतिशयत्व अभिप्रेत्य है। यद्यपि मुख और कमल में सादृश्य होने के कारण उसका औपम्य गम्य है। किन्तु वैचित्र्य सदृश वस्तुओं में से किसी एक (मुख) का उत्कर्ष वर्णित करने में है।

पर्याय

पर्यायालंकार का सौन्दर्य, एक वस्तु के अनेक अथवा अनेक वस्तुओं के एक में क्रमशः 'अवस्थान' अथवा क्रमशः 'सम्पादन' के वर्णन में परिलक्षित होता है। कवि कर्णपूर के अनुसार—'अनेकस्मिन् क्रमेणैकः

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , १२।४२.

पर्य्यायः"[1] अर्थात् एक वस्तु क्रम से अनेक में हो या की जाये वह पर्याय अलंकार है।[2] कवि कर्णपूर के महाकाव्यों में पर्याय का सौन्दर्य केवल 'चैतन्यचरितामृतम्' में उपलब्ध होता है; यथा—

केशपाशवलनादवतीर्णः सङ्गतः स्तनमतङ्गजकुम्भे ।
घूर्णया मदनया प्रियपाणिर्निर्म्ममज्ज तदुरःसरसीषु ।।[3]

अर्थात् प्रियतम (कृष्ण) का हस्त केशकलाप के बंधन से अवतीर्ण होकर स्तन रूप करिकुम्भों का संसर्ग प्राप्त कर मदजन्य घूर्णता हेतु प्रियतमा के वक्षःस्थल रूप सरोवर में निमग्न हो गया। यहाँ पर प्रिय का हस्त एक है, क्रम से उसके केश, स्तन, उरःसरसी आदि अनेक अवस्थानों का वर्णन किया है. इसलिए पर्यायालंकार है। प्रस्तुत स्थल पर अलंकार का प्रयोजन श्रृंगारिक चेष्टाओं की अभिव्यक्ति है ;

पुनश्च—

प्रस्खलन् कुचघटाद्वलिवीचिविभ्रमैरित इतः परिभूतः ।
नाभिकूपमभिनिर्भरमग्नो विवृतः कथमभूत् प्रियपाणिः ।।[4]

यहाँ पर प्रियपाणि के कुच से त्रिवली और उससे नाभि रूप स्थान परिवर्तन से पर्यायालंकार का वैचित्र्य स्पष्ट है। यह दोनों उद्धरण 'एकं अनेकस्मिन्न् भवति' के हैं। अनेक के क्रमशः एक में होने के उद्धरण उनके काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

दृष्टान्त

दृष्टान्त अलंकार भी गम्य औपम्याश्रित अलंकार है। दृष्टान्त अलंकार में उपमान एवं उपमेय, उनके विशेषण और साधारण धर्म सबका (भिन्न होते हुए भी औपम्य के प्रतिपादनार्थ उपमान वाक्य तथा उपमेय वाक्य में पृथगुपादान रूप)' 'बिम्बप्रतिबिम्ब भाव' रहा करता है।[5] कवि कर्णपूर के दोनों ही महाकाव्यों में दृष्टान्त का प्रयोग निपुणतापूर्वक किया गया हैं; यथा—

---

१. कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।२८८ का०

२. एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन् यदि भवति आरोप्यते वा तदा पर्यायः ।।
कवि कर्णपूर अलंकारकौस्तुभः, ८।२८८ का०

३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १०।४६.

४. वही, १०।५६.

५. सर्वेषामेव धर्माणां दृष्टान्तः प्रतिबिम्बितः ।
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।२६२ का०

पशुर्यथा स्पर्शसुखं महामणेर्भंजन्नपीमं परिलोकयन्नपि ।
नवेत्ति तत्तत्सदसद्विवेचनां स्वभावमुग्धस्य विवेचना कुतः ।।[१]

प्रस्तुत स्थल पर दृष्टान्तिक वाक्य अर्थात् उपमेय वाक्य है कि पशुओं में सत्-असत् की विवेचनाशक्ति नहीं होती है। दृष्टान्त वाक्य अर्थात् उपमान वाक्य है कि स्वभाव से मुग्ध व्यक्ति में विवेचनाशक्ति नहीं होती है। अविवेकत्व एवं मुग्धत्व साधारण धर्म है। इसलिए पशु एवं मुग्ध व्यक्ति तथा अविवेकत्व एवं मुग्धत्व दोनों में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होने के कारण सार्थम्य से दृष्टान्त अलंकार है।

पुनश्च—

लालितोऽपि मया कृष्णः प्रकाशयति वक्रताम् ।
सुधासिक्तोऽपि सन्तापमातनोति हुताशनः ।।[२]

यहाँ पर कृष्ण और हुताशन, लालित और सुधासिक्त, वक्रता और सन्तापत्व तथा प्रकाशयति एवं आतनोति (क्रिया) का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव स्पष्टतया परिलक्षित हो रहा है। यद्यपि कृष्ण की वक्रता एवं हुताशन का सन्तापत्व भिन्न-भिन्न धर्म है। तथापि दोनों ही पीड़न रूप सादृश्य के कारण औपम्य के प्रयोजक हो रहे हैं।

इसी प्रकार—

खुरैरुदार्दलितापि वाजिनां गिरेर्विरेजे वरविद्रुमस्थली ।
स एव धन्यः सहजो गुणो न यः पराभिभूतोऽपि बिभर्तिविक्रियाम् ।।[३]

यहाँ पर दृष्टान्तिक वाक्य अर्थात् उपमेय वाक्य है कि—'अश्वों के खुरों से दलित किये जाने पर भी सुमेरु पर्वत की वर विद्रुमस्थली सुशोभित है। दृष्टान्त वाक्य अर्थात् उपमान वाक्य है कि—वही सहज गुण धन्य है, जो दूसरों के द्वारा पराभूत होने पर भी विक्रिया को नहीं प्राप्त होता है। विद्रुमस्थली और सहजगुण तथा दलित एवं पराभिभूत में बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव है। कारण, विद्रुमस्थली सुमेरु का स्वाभाविक धर्म है। इसी प्रकार सहजगुण भी व्यक्ति के नैसर्गिक धर्म हैं। दलित एवं पराभिभूत दोनों भिन्न-भिन्न धर्म हैं; किन्तु दोनों में ही सादृश्य है।

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, २।१०५.
२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १३।३५.
३. वही ६।५.

अर्थान्तरन्यास

अर्थान्तरन्यास कवि कर्णपूर का प्रिय अलंकार है।[1] 'पारिजातहरणम्' में इसका प्रयोग विशेषतः किया गया है। इस अलंकार के माध्यम से कवि ने अपने जीवन की उपलब्धियों, दार्शनिक चिन्तनों, सफलता-विफलता एवं शाश्वत्मूल्यों को अभिव्यक्त किया है। इन स्थलों पर विचार गाम्भीर्य का प्राधान्य है। उदाहरणार्थ—

इत्थमात्तवसनाः कृतभूषा स्ता विभूषयितुमासतभूयः।
चन्द्रमा मधुमदः कुसुमेषुः के भवन्ति महतां न सहायाः ॥[2]

अर्थात् गोप वधुओं द्वारा अपने आपको वस्त्रादि से सम्यक् रूप से विभूषित कर लेने के उपरान्त, उनको और अधिक विभूषित करने के लिए चन्द्रमा, वसन्तकालीन मदता एवं कामदेव उदित हुए। वस्तुतः उत्कृष्ट जनों का कौन सहायक नहीं होता है। यहाँ पर पूर्वार्द्धगत अर्थ विशेष रूप अर्थ है, जिसका उत्तरार्द्धगत सामान्य अर्थ से समर्थन किया गया है।

अन्यत्र मूर्खों की मूढ़ता का उपनिबन्धन करते हुए कवि कथन है—

उदयं समवाप्य मूढचेता महतां न्यक्कृतिमुच्चकैः करोति।
स्पृशति प्रसभं समुज्जिहानो निजपादैरपि क न वा मृगाङ्कः ॥[3]

अर्थात् मूढ़ चित्त वाले व्यक्ति उन्नति को प्राप्त कर उच्चजनों का तिरस्कार कर देते हैं। मूढ़तावश उचित-अनुचित का विवेक त्याग देते हैं। मूढ़ों की पूर्वोक्त मूढ़ता रूप सामान्य अर्थ का पूर्वार्द्ध में प्रतिपादन किया गया है। उसका द्वितीयार्द्धवर्णित-उदित होता हुआ चन्द्रमा अपने चरणों से किसका स्पर्श नहीं करता है? विशेष रूप का अर्थ से समर्थन किया गया है।

इसी प्रकार कृष्ण की कृतघ्नता प्रतिपादित करने के लिए अर्थान्तर-न्यास अलंकार की अवतारणा की गई है; यथा—

तनुते निजगौरवं मुकुन्दो विविधानुग्रहलालितो यथैव।
वत विस्मरति स्म तुच्छचेताः श्रियमासाद्य नितान्तमात्मनोऽपि ॥[4]

---

१. यस्मिन् विशेषः सामान्यं समर्थ्येत परेण यत्।
साधर्म्यादथ वैधर्म्यात् स न्यासोऽर्थान्तरस्य हि ॥
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।२७४.

२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १०।२८.

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ७।५८.

२. वही, ७।६०.

यहाँ पर विशेष का सामान्य से समर्थन किया गया है। इन्द्र ने कृष्ण का अनुग्रहपूर्वक पालन-पोषण किया है। तथापि कृष्ण (अभिमानवश) अपने गौरव को व्यक्त कर रहे हैं। यह विशेष अर्थ है। तुच्छ मनोवृत्ति व्यक्ति लक्ष्मी को पाकर (प्रायः) अपने निकटस्थ आत्मीयजनों को भी विस्मृत कर देते हैं। इस सामान्य अर्थ से समर्थित किया जा रहा है।

अन्यत्र दुष्ट व्यक्ति अपनी दुष्टता का परित्याग कभी नहीं करता है, इस तथ्य का प्रतिपादन अर्थान्तरन्यास अलंकार के माध्यम से सुन्दरतापूर्वक किया गया है; यथा—

निर्योजितोऽपि प्रबलेन सादिना मुहुर्मुहुस्तीरमगात्तुरङ्गमः।
विनीयमानोऽपि खलः सुबुद्धिना जहाति न क्वापि कदापि वक्रताम् ॥[1]

अर्थात् (नदीसन्तरण के अवसर पर) अश्वारोही के द्वारा भली प्रकार नियोजित किये जाने पर भी अश्व पुनः-पुनः तट की ओर ही जा पहुँचते हैं। पूर्वोक्त विशेष अर्थ का समर्थन इस सामान्य से किया जा रहा है कि—श्रेष्ठबुद्धिवाले व्यक्तियों के द्वारा विनयपूर्ण व्यवहार किये जाने पर भी दुष्ट व्यक्ति अपनी वक्रता का परित्याग नहीं करते हैं।

इसी प्रकार मानिनी नायिका को मान त्याग के लिए उपदेश देते समय अर्थान्तरन्यास का अवलम्बन लिया गया है; यथा—

विजहीहि रुषं न हीदृशो भविता कोपपरिश्रमः फली।
अपथेन चिरप्रधावनैरपि लभ्यं किमभीप्सितं स्थलम् ॥[2]

प्रस्तुत स्थल पर पूर्वार्द्धगत अर्थ—अर्थात् रोष को त्याग दो, क्योंकि इस प्रकार क्रोध फलीभूत नहीं हो सकता है—विशेष रूप अर्थ है, जिसका उत्तरार्द्धगत अर्थ—अर्थात् अपथ पर निरन्तर दौड़ने से अभीष्ट स्थल प्राप्त नहीं होता है—सामान्य रूप अर्थ से समर्थन किया जा रहा है।

पुनश्च—

निवासहेतोरपि कल्पितं स्थलं ददुर्भटा विश्रमणाय वाजिनाम्।
विलोकयन्ति स्वशरीरतोऽधिकं यशस्करं साधनमेव साधवः ॥[3]

अर्थात् सैनिकों ने अपने निवास के लिए बनाये गये स्थलों को भी अश्वों के विश्रामार्थ प्रदान कर दिया। यह पूर्वार्द्धगत धर्म विशेष रूप अर्थ है। जिसका समर्थन (वस्तुतः) सज्जन व्यक्ति अपने शरीर की अपेक्षा अपने

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ६।४०.
२. वही, ३।५.
३. वही, ६।५५.

यश के साधन को अधिक महत्त्व देते हैं। अर्थात् उनकी सुख-सुविधा का अधिक ध्यान रखते हैं—इस उत्तरार्द्धगत सामान्य रूप अर्थ से किया गया है।

कहीं-कहीं सामान्य का विशेष से समर्थन किया गया हैं; यथा—

किमदेयमुदेति पण्डितानां त्रिजगत्यामपि याचकाय जिष्णो।
निजमस्थिचयं च याच्यमानो न दधीचिः किमदान्मुदाभवद्भूयः ॥[1]

अर्थात् त्रिलोक में याचकों के लिए पण्डितों का कुछ भी अदेय नहीं होता है, यह पूर्वार्द्धगत अर्थ सामान्य रूप अर्थ है। उसका समर्थन उत्तरार्द्ध-गत विशेष रूप अर्थ—'याचना करने पर दधीचि ने अपने अस्थिचय को भी प्रसन्नतापूर्वक दे दिया था'—से किया गया है।

विषम

विषम रूप वाच्यवैचित्र्य में कवि प्रतिभा के द्वारा वस्तुतः अननुरूप पदार्थों के परस्पर संसर्ग का वर्णन किया जाता है। विषम अलंकार का सौन्दर्य चार प्रकार से प्रस्फुटित होता है—प्रथम, जिसमें दो (सम्बन्धियों) में अत्यन्त वैधर्म्य के कारण जो उनका सम्बन्ध अनुपपद्यमान रूप से ही प्रतीत होता है। द्वितीय, जिसमें कर्ता आरब्ध कार्य की क्रिया के नाश हो जाने से न केवल अपने अभीष्ट फल से ही वञ्चित हो जाय, अपितु अप्रार्थित अर्थ अनर्थ विषय को प्राप्त हो जाये। तृतीय, जिसमें कारण गुण के विरुद्ध कार्य गुण की उत्पत्ति का वर्णन किया जाये। चतुर्थ, जिसमें कार्य तथा कारण की क्रियाओं के वैपरीत्य का वर्णन हो।[2] कवि कर्णपूर के महाकाव्यों में केवल 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में विषम अलंकार का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है; यथा—

इन्दीवरद्युतिविलोलविलोकितेन
यत् सौख्यसागरमुदारतरं ततान।
शोणायमानमधुनाक्षियुगं तदेव
कान्ते ! कथं मम दुनोति मनोऽनुवेलम् ॥[3]

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , ७।४४.

२. अत्यन्तवैसादृश्येन योगो यदतिदुर्घटः।
कर्त्तुः क्रियाफलाभावः प्रत्युतानर्थसम्भवः॥
गुणक्रियाभ्यां ते एव कार्यकारणयोश्च यत्।
परस्परं विरुध्येते विषमः स चतुर्विधः॥
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।३०३ का०

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ४।३४.

यहाँ पर सौख्यसागर को उद्वेलित करने वाली नायिका की इन्दीवर सदृश कान्ति वाली चञ्चल दृष्टि रूप कारण से जिस क्रिया की उत्पत्ति का वर्णन किया जा रहा है, वह हृदय को पीड़ित करने वाली पीड़ा है, जो उसके विरुद्ध है। अर्थात् नायिका की दृष्टि से आनन्द रूप कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए न कि व्यथा रूप कार्य की। इसलिए कारण की क्रिया से कार्य का विरोध होने से विषम अलंकार की सृष्टि हुई है।

परिणाम

कवि कर्णपूर ने अपने 'अलंकारकौस्तुभ' में परिणाम अलंकार की कोई चर्चा नहीं की है। सम्भवतः उन्होंने यहाँ पर भी आचार्य मम्मट का अनुकरण किया है, क्योंकि 'काव्यप्रकाशः' में भी परिणाम अलंकार को स्थान नहीं दिया गया है। वस्तुतः परिणाम अलंकार आचार्य रुय्यक की सूक्ष्मगवेषणात्मक प्रतिभा का परिणाम है। विश्वनाथ कविराज ने 'अलंकार-सर्वस्वम्' की परिणाम मान्यता के आधार पर परिणाम अलंकार का लक्षण परीक्षण किया है। रुय्यक के अनुसार परिणाम का अभिप्राय आरोप्यमाण अथवा उपमान की प्रकृतोपयोगिता है।[1] अर्थात् जिसमें उपमेय से उपमान का अभेदारोप ऐसा हुआ करता है कि उपमान प्रकृतार्थोपयोगी हुआ करता है। वहाँ पर परिणाम की सिद्धि होती है। रूपक में जो आरोप्यमाण अथवा उपमान हुआ करता है, वह प्रकृतोपयोगी नहीं हुआ करता है, अपितु प्रकृतोपरञ्जक हुआ करता है। किन्तु परिणाम में आरोप्यमाण प्रकृत का अङ्ग बनकर प्रकृतोपयोगी हो जाया करता है। कवि कर्णपूर के महाकाव्यों में परिणाम अलंकार का सौन्दर्य केवल 'चैतन्यचरितामृतम्' में प्रस्फुटित हुआ है; यथा—

कापि कान्तममृताञ्जलिपूरैर्लोलशंखवलया स्नपयन्तम्।
धारयन्त्यपि ददौ करकम्पैः पारितोषिकमुरोरूहनृत्यम्॥[2]

पारितोषिक अन्य परिस्थिति में वस्त्र, आभूषण अथवा मुद्रा के रूप में प्रयुक्त होता है, किन्तु यहाँ प्रेमी के साथ जलक्रीड़ा की परिस्थिति में 'उरोरुहनृत्य' के रूप में प्रयुक्त होता दिखाई दे रहा है। आरोप्यमाण (पारितोषकं) एवं आरोपविषयं (उरोरूहनृत्यं.) दोनों एक ही विभक्तियों वाले शब्दों द्वारा उपात्त हैं। अतएव तुल्याधिकरण से परिणाम है।

१. आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वं परिणामः।
रुय्यक, अलंकारसर्वस्वम्, पृ० ५१.
२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्; ९।५९.

पुनश्च—

तत्क्षणे क्षणत एव वधूनां मन्मथेन बहुधा विवशानाम् ।
आययौ सपदि काननलक्ष्मीः सा यथेप्सितमुपायनभारम् ।।[1]

अर्थात् उस समय (कृष्ण के दृष्टिपात मात्र से) कामदेव से अत्यधिक विवश 'गोपवधुओं के ईप्सित' (काननशोभा) को वनलक्ष्मी ने शीघ्र ही उपहार रूप में दिया। यहाँ पर आरोप्यमाण 'उपायनभारं' का आरोप तुल्याधिकरण से इस प्रकार हुआ है कि उसका प्रयोग प्रकृतोपयोगी सिद्ध हो रहा है। यहाँ पर गोपवधुओं का 'ईप्सित' 'वनशोभा' है, जिसका निगरण हो जाने के कारण परिणाम के मूल में अतिशयोक्ति आ गई है; जिससे उसका सौन्दर्य द्विगुणित हो गया है।

स्वभावोक्ति

स्वभावोक्ति प्राचीन आलंकारिक मर्यादा का एक अलंकार है। सर्वप्रथम दण्डी ने इसकी उद्भावना की एवं 'आद्या-अलंकृतिः' कहकर इसे गौरवान्वित किया।[2] आचार्य रुद्रट ने स्वभावोक्ति को जाति नाम से अभिहित किया है। जाति का अभिप्राय है—'वस्तु-स्वभाव'। वस्तु-स्वभाव का वह उन्मीलन अथवा उट्टङ्कन, जिसमें कवि प्रतिभा का हाथ रहा करता है, जाति अलंकार है। लोक जीवन की वस्तुओं के सूक्ष्मधर्मों के चित्रण में सहृदय पाठक का जो हृदय संवाद हुआ करता है, वही स्वभावोक्ति की कल्पना का मूल कारण है। स्वभावोक्ति के वैचित्र्य से प्रभावित सहृदय हृदय यही अनुभव किया करता है कि कवि ने जिस वस्तु का चित्रण किया है, वह वस्तुतः वैसी ही है। कवि कर्णपूर ने भी स्वभावोक्ति को स्वभाव का वर्णन स्वीकार किया है।[4] किन्तु केवल स्वभाव वर्णन से स्वभावोक्ति अलंकार सिद्ध नहीं होगा, अपितु कवि प्रतिभामात्र वेद्यवस्तु-स्वभाव का यथावद् वर्णन स्वभावोक्ति है। कवि कर्णपूर की अलंकार योजना में स्वभावोक्ति को स्थान मिला हैं, किन्तु उसमें विच्छित्ति केवल 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में ही आई है। अतएव वहीं से उद्धरण दिया जा रहा है; यथा—

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , ६।२१.

२. नानावस्थं पदार्थानाम् रूपं साक्षाद्विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ।। दण्डी, काव्यादर्शः, २।८.

३. रुद्रट, काव्यालंकारः, ७।३०.

४. स्वभावोक्तिः स्वभावस्य वर्णनं यत् ।।
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।२७६.

क्वचिन्महापादपपल्लवावली निषक्तहस्तान् समुदञ्चिताननान् ।
निहत्य गाढं सृणिभिर्निषादिनश्चिरेण निन्युर्नदतो मतङ्गजान् ॥[1]

यहाँ पर हाथियों के सहज स्वभाव को अभिव्यक्त किया गया है। हाथी मन्दमन्थर गति से प्रस्थान कर रहे हैं। उनका सहज स्वभाव है कि वे मार्ग में अवस्थित विशालकाय वृक्ष की पल्लवावली को अपनी शुड़ादण्ड से तोड़कर अपने मुख में रखते चलते हैं, फलस्वरूप उनके ऊपर आरूढ़ महावत शीघ्र गमन के लिए उन पर अंकुश का प्रहार करता है। अतएव वे चिघाड़ते हुए चले जा रहे हैं। कवि का यह वर्णन अत्यधिक सरल और सुन्दर होने के कारण स्वभावोक्ति के सौन्दर्य को वर्धित कर रहा है।

पुनश्च—

निवार्यमाणोऽपि रुषारुणेक्षणैः कशाकरैः कञ्चुकिभिर्जनव्रजः ।
पलायमानोऽपि विवर्तिताननं विलोकयामास मुहुर्नृपाङ्गनाः ॥[2]

प्रस्तुत उद्धरण में मानवीय स्वभाव का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। जन साधारण का यह सहज स्वभाव है कि वह (विशेषतः) राजकुल की स्त्रियों के दर्शन एवं उनसे परिचय प्राप्त करने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहा करता है। कारण, राजकुलों की स्त्रियाँ सदैव सामान्य जन के दृष्टिपथ पर नहीं आती हैं। अतएव लोगों को उनके सम्बन्ध में उत्सुकता विद्यमान रहती है। यहाँ सेना के साथ जाती हुई नृपाङ्गनाओं को मार्ग चलते हुए सामान्यजन उत्सुक होकर पुनः-पुनः देखने का प्रयास कर रहे हैं। कञ्चुकी क्रोध से लाल-लाल नेत्रों से उन्हें देखता हुआ कोड़ों से हटाने का प्रयत्न करता है। किन्तु कोड़ों के प्रहार से भयभीत होकर भागता हुआ जन समुदाय भी उत्सुकतावश पुनः-पुनः पलट कर नृपाङ्गनाओं को देख रहा है। प्रहार की पीड़ा भी उनकी उत्सुकता को विलुप्त नहीं कर पाती है।

संकर और संसृष्टि

संकर और संसृष्टि अलंकार की कल्पना का आधार लोक प्रसिद्ध अलंकारों की परस्पर संघटना से सम्भूत एक विचित्र सौन्दर्य का दर्शन एवं विश्लेषण है। जिस प्रकार स्वर्ण एवं मणि निर्मित अलंकारों का पृथक्-पृथक् सौन्दर्य हुआ करता है, किन्तु परस्पर संश्लिष्ट होने पर एक विचित्र ही सौन्दर्य की सृष्टि किया करते हैं। उसी प्रकार शब्द और अर्थ के अलंकार

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , ६।३.
२. वही, ६।१५.

भी पृथक्-पृथक् सौन्दर्य के उत्पादक होते हैं, किन्तु परस्पर संश्लेष में एक अन्य ही विचित्र सौन्दर्य की झलक दिखाया करते हैं। यह विचित्र सौन्दर्य अथवा वैचित्र्य शपथ लेकर नहीं सिद्ध किया जा सकता है, अपितु स्वसंवेदन सिद्ध है।

संकर

संकर अलंकार में परस्पर सापेक्ष अलंकारों का संश्लेष नीरक्षीरवत् होता है। अर्थात् एक अलंकार को दूसरे से पृथक् करना कठिन होता है। यह संश्लेष तीन प्रकार का हो सकता है—१. अङ्गाङ्गिभाव-सङ्कर, २. सन्देहसंकर तथा ३. एकाश्रयानुप्रवेशसंकर।[1] कवि कर्णपूर के महाकाव्यों में संकर अलंकार की रूपरेखा अङ्गाङ्गिभाव से उद्भासित हुई है; यथा—

उतस्तडागस्य किमब्जकोरकौ मनोहरे हारलता फले किमु।
लावण्यसिन्धोः किमु कोकशावकौ मनोजदन्तावलकुम्भकौ किमु॥
विधेर्निजं सौष्टवमुन्निनीयतो निर्माणरम्यौ किमु हेमकुम्भकौ।
स्तनौ नवारब्धसमुद्गकौ प्रभोः संबिभ्रती हर्षभरः बभास सा॥[2]

प्रस्तुत स्थल पर रूपक और सन्देह का सुन्दर संकर प्रस्तुत किया गया है। नवयौवन के कारण प्रस्फुटित होने वाले नायिका के स्तनों में अब्ज-कोरक, मनोहरफल, कोकशावक, कुम्भक एवं स्वर्णकुम्भों का सन्देह स्थापित किया गया है। किमु शब्द सन्देह का वाचक है, किन्तु यह सन्देह रूपक का मुखापेक्षी है। नायिका के स्तनों में अब्जकोरक का सन्देह प्रकटनार्थ यह आवश्यक है कि उरःस्थल पर तड़ाग का आरोप किया जायँ। इसी प्रकार उनकी फल रूप में कल्पना करने के लिए हार में लता का आरोप नितान्त आवश्यक है। स्तनों में कोकशावक का संशय अभिव्यक्त करने के लिए लावण्य पर सिन्धु का आरोप अपेक्षित है तथा उनमें गण्डस्थल का सन्देह

१. सङ्करस्त्वङ्गाङ्गिभावः बहूनां वा द्वयोश्च वा।
सहायवस्थानबाधेन भवेत्सो वेत्यनिश्चयो।
सङ्करोऽनिश्चयाख्यः स्याद्यथास्थानं प्रदश्यते॥
एकत्रविषये व्यक्तशुभयालङ्कृतिर्यदि।
तदाऽपरः सङ्करः स्यादिति त्रिविध एव सः॥
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ८।३१७–३१९.

२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ३।७७, ७८.

व्यक्त करने के लिए कामदेव पर हाथी का आरोप अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ पर सन्देह और रूपक का अङ्गाङ्गिभाव प्रतीत हो रहा है।

पुनश्च—

तपति तस्य पराक्रमपावके रविरमानि हृदा न हि मानवैः।
अथ विभाति तदीयमुखाम्बुजे सुखमवापि न शीतरुचावपि ॥[1]

यहाँ पर व्यतिरेक और रूपक का अङ्गाङ्गिभाव से संकर प्राप्त हो रहा है। श्लोक के पूर्वार्द्ध में उपमेय—कृष्ण का पराक्रम रूपी पावक है। उपमान—सूर्य है। सूर्य की अपेक्षा कृष्ण के पराक्रम रूपी पावक का उत्कर्ष वर्णित होने के कारण व्यतिरेक की रूपरेखा स्पष्ट है। किन्तु यह व्यतिरेक तभी सिद्ध होता है, जब पराक्रम पर पावक का आरोप किया जाय। वैचित्र्य का आधान करने के लिए पराक्रम और पावक की अभेद प्रतीति कराने के निमित्त रूपक की अवतारणा की गई है। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में मुख-कमल को उपमेय तथा चन्द्र को उपमान रूप में प्रस्तुत किया गया है। चन्द्र (उपमान) की अपेक्षा मुखकमल (उपमेय) का उत्कर्ष वर्णित होने के कारण व्यतिरेक का सौन्दर्य परिलक्षित होता है। किन्तु यह व्यतिरेक रूपक का मुखापेक्षी हैं। मुख की कमल रूप से जब अभेद प्रतीति होती है तभी उपमान रूप से उपनिबद्ध चन्द्र का सौन्दर्य उसके समक्ष निष्प्रभ हो जाता है।

संसृष्टि

संसृष्टि अलंकार में परस्पर निरपेक्ष अलंकारों का संश्लेष तिलताण्डुल-वत् होता है। अर्थात् दो अथवा दो से अधिक अलंकार एक दूसरे के मुखापेक्षी न होकर अपने स्वतन्त्र रूप में एक जगह स्थिर रहते हैं। यह संश्लेष भी तीन प्रकार का हो सकता है—१. शब्दालंकारों का, २. अर्थालंकारों का तथा ३. शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों का। कवि कर्णपूर की अलंकार योजना में संसृष्टि अलंकार का सौन्दर्य कई स्थलों पर दृष्टिगोचर हुआ है; यथा—

कोमलं चरणपद्ममशक्तं मास्मगा द्रुततरं मदिराक्षिः।
इत्यतीव विवशो रुदतः किं नूपुरो य प्रणयतोरमणोनाम् ॥[2]

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १८।१७.

२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ६।१५.

प्रस्तुत स्थल पर 'रुदतः किं नूपुरो य प्रणयतो' में अचेतन नूपुर के धर्मभूत शब्दमयता में चेतन के धर्मभूत रुदन की सम्भावना होने से उत्प्रेक्षा अलंकार का वैचित्र्य है तथा चरण पर पद्म का आरोप होने के कारण रूपक का अस्तित्व है। उत्प्रेक्षा और रूपक एक दूसरे के मुखापेक्षी न होकर स्वतन्त्र अस्तित्त्व वाले हैं। अतः यहाँ संसृष्टि का सौन्दर्य स्पष्ट है।
पुनश्च—

जाह्नवीचलतरङ्गचामरं तीर्थराजमिममाहुरार्यकाः।
आतपत्रमिव यत्र राजते नीलनीरदनिभो महावटः ॥[1]

यहाँ पर तीर्थराज प्रयाग उपमा और रूपक की संसृष्टि से तीर्थों के राजा रूप में चित्रित किया गया है। जाह्नवी की चञ्चल तरङ्गों पर चामर का आरोप होने से रूपक की सत्ता निर्बाध सिद्ध है। नीरनीरद के सदृश कान्ति वाले महावट की उपमा आतपत्र से दी गई है। इसलिए उत्तरार्द्ध में उपमा का वैचित्र्य है। उपमा और रूपक एक दूसरे के मुखापेक्षी न होकर स्वतन्त्र अस्तित्व वाले हैं। इसलिए यहाँ संसृष्टि की रूपरेखा स्पष्ट है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि कर्णपूर की अलंकार योजना में अनुप्रास, श्लेष, यमक, चित्रालंकार के समस्त भेद, उपमा, मालोपमा, श्लेषोपमा, अनन्वय, रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान्, सन्देह, विरोध, सहोक्ति, विशेषोक्ति, विभावना, पर्यायोक्ति, समासोक्ति, व्यतिरेक, पर्याय, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विषम, परिणाम, स्वभावोक्ति, संकर, संसृष्टि आदि अलंकारों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। 'पारिजातहरणम्' की अपेक्षा 'चैतन्यचरितामृतम्' में शब्दालंकार का बाहुल्य है। 'चैतन्यचरितामृतम्' के १९वें सर्ग में प्रयुक्त होने वाले चित्रालंकार रसानुभाव में अवरोधक हैं। किन्तु अन्यत्र उनकी अलंकार योजना रसानुगुण है। किसी भी अलंकार का निरन्तर एक रूप से अनुप्रवेश नहीं किया गया है। उनका प्रयोग प्रयासपूर्वक भी नहीं किया गया हैं। कई स्थलों पर अलंकार रसाभिव्यञ्जक भी है। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कवि कर्णपूर की कविता अनावश्यक अलंकारों के भार से आक्रान्त रमणी की भाँति मन्द-मन्द गति से गमन करने वाली नहीं है. अपितु अपने सहज सौन्दर्य से सहृदयों को आह्लादित करने वाली है।

१ कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १७।६३.

दशम अध्याय

महाकाव्यों में रसयोजना

प्रथम खण्ड

कवि कर्णपूर के रसविषयक विचार एवं पारिजातहरणम् में रसयोजना

रसविषयक विचार

रस समस्त काव्य प्रकारों का अतिरमणीय, उपनिषद्भूत एवं आत्मभूत तत्त्व है। आचार्य आनन्दवर्धन के मतानुसार काव्य के शोभावर्द्धक तत्त्व—गुण, अलंकार, रीति एवं छन्द की योजना काव्य में अन्ततोगत्वा रसोत्कर्ष में सहायक सिद्ध होनी चाहिए अन्यथा वे परिहार्य हैं।[1] महाकाव्य अथवा नाटक में सन्धिसन्ध्यंगों की योजना भी रसानुकूल होनी चाहिए, शास्त्र-मर्य्यादा सम्पादन की इच्छा से नहीं।[2] ध्वन्यालोककार के उपर्युक्त मन्तव्य से स्पष्ट है कि काव्य का मुख्य तत्त्व रस है। अन्य तत्त्व रसाश्रित हैं। प्रस्तुत अध्याय में महाकाव्यों की रसयोजना पर विचार-विमर्श करने से पूर्व कवि कर्णपूर के रस विषयक विचारों से अवगत होना अधिक तर्क-संगत होगा। कारण, कवि कर्णपूर स्वयं एक लब्धप्रतिष्ठ आलंकारिक हैं। उनका 'अलंकारकौस्तुभः' १६वीं शताब्दी के अलंकार ग्रन्थों का कीर्तिस्तम्भ कहा जा सकता है। 'अलंकारकौस्तुभः' की पञ्चम किरण में कवि कर्णपूर ने अपने रसविषिक विचार प्रस्तुत किये हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में ही उन्होंने कविराज राजशेखर[3] की भाँति काव्य की कल्पना पुरुषरूप में करते हुए रस को उसकी आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है; यथा—

शरीरं शब्दार्थौ ध्वनिरसव आत्मा किल रसो
गुणा माधुर्य्याद्या उपमितिमुखोऽलंकृतिगणः।
सुसंस्थानं रीतिः स किल परमः काव्यपुरुषो
यदस्मिन् दोषः स्याच्छ्रवणकटुतादिः स न परः॥[4]

अर्थात् काव्यपुरुष का शरीर—शब्द और अर्थ, सुसंगठित संस्थान-रीति,

१. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोकः, २।१६, ३।१४.

२. वही, ३।१२.

३. राजशेखर, काव्यमीमांसा, पृ० ६.

४. कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, १।१. का०

गुण-माधुर्यादि एवं शोभावर्द्धक तत्व—अलंकार हैं। ध्वनि प्राण है, किन्तु आत्मा केवल रस है। प्रथम किरण में रस की आत्मा रूप में प्रतिष्ठा करने के उपरान्त पञ्चम किरण में रस तत्त्व का पूर्ण प्रकाश किया गया है। कवि कर्णपूर के रससिद्धान्त का उपजीव्य भरत मुनि का प्रसिद्ध रससूत्र—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' है। रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में उनकी आस्था भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद, शंकुक के अनुमितिवाद अथवा भट्टनायक के भुक्तिवाद में न होकर अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद में हैं।[1] इस सम्बन्ध में उन्होंने गौडीयवैष्णवसम्प्रदाय द्वारा प्रवर्तित रससिद्धान्त को भी आधार नहीं बनाया है; अपितु स्वतन्त्र रूप से अभिवनगुप्त प्रदर्शित एवं साहित्यदर्पणकार द्वारा अनुमोदित मार्ग का अवलम्बन लिया है। अनुभाव, विभाव एवं व्यभिचारी भावों का निरूपण कवि ने विस्तारपूर्वक परम्परागत शैली में किया है। स्थायी भाव के सम्बन्ध में कवि कर्णपूर का विचार है कि रजस् , तमस् से रहित शुद्ध सत्त्व रूप में विद्यमान चित्त का कोई अनिर्वचनीय 'आस्वादांकुरकन्द' रूप धर्म स्थायी है।[2] कवि कर्णपूर की विचारधारा में स्थायीभाव को जड़ात्मक नहीं कहा जा सकता है। इसके कारण को भी उन्होंने भली प्रकार से स्पष्ट किया है। उनके कथनानुसार स्थायी रूप धर्म सामाजिक में अवस्थित रहता है। सामाजिक का अविद्यारहिततत्व, रजस् , तमस् के अभाव के कारण स्वतः हो जाता है। अतएव उनका शुद्ध सत्व मायावृत्ति रूप न होकर चिद्रूप होता है। इसलिए उनके रसास्वादक चित्तनिष्ट धर्म भी ह्लादिनी शक्ति की आनन्दात्मवृत्तिरूप हैं, जड़ात्मक नहीं। स्थायीभाव को जड़ात्मक स्वीकार करने पर विभावादि कारणों से आनन्दात्मक रस की अभिव्यक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती है। कवि कर्णपूर की विचारधारा में स्थायीभाव रूप धर्म एक ही है, जो विविध विभाव भेद से भिन्नता को प्राप्त करता है। जिस प्रकार एक ही स्फटिक, जवाकुसुमादि नाना पदार्थों के संग से कभी रक्त, कभी पीत, कभी श्याम, इस प्रकार विविध आकार वाला बन जाता है, उसी प्रकार एक ही स्थायी रूप धर्म, शृंगार-वीररसादि पोषक नानाविध विभावों के संग से कभी रति रूप, कभी उत्साह रूप, कभी विस्मय रूप, कभी शोक रूप, इस प्रकार विविध आकार वाला बन जाता

---

१. कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ० ११८.

२. आस्वादांकुरकन्दोऽस्ति धर्मः कश्चन चेतसः।
रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्धसत्त्वतया सतः॥ वही, ५।६३ का०

है। अर्थात् एक ही स्थायीभाव रति, हास, शोक, उत्साह, विस्मय, भय, जुगुप्सा, क्रोध आदि रूप से आस्वादित होता है। रति के सम्बन्ध में कवि कर्णपूर का दृष्टिकोण कुछ नवीन प्रतीत होता है। उनके मतानुसार—'सुखभोग का आनुकूल्य करने वाली चित्त की रंजकता रति है।'[1] रंजक शब्द का अर्थ द्रवीभाव से लिया गया है। उस द्रवीभाव को उत्पन्न करने वाला धर्म विशेष ही चेतोरंजकता है। यह चेतोरंजकता दो प्रकार की होती है—'सम्प्रयोगविषया' और 'असम्प्रयोगविषया'। वस्तुत: 'सम्प्रयोगविषया चेतोरंजकता' ही कवि कर्णपूर के मतानुसार रति है,[2] जो चित्त की कठोरता को दूर कर कोमलता एवं द्रवीभाव को उत्पन्न करती हैं। सामाजिकों के स्थायी रूप धर्म को कवि कर्णपूर ने ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति स्वीकार किया है। किन्तु उससे कोटिगुणानन्द रूप ह्लादिनी शक्ति की सारवृत्ति स्वरूप वह रति है, इसी रति के पाक से पाकान्तर होकर चरम दशा में महाराग पर्यन्त पाक होता हैं। सम्प्रयोग से तात्पर्य स्त्री-पुरुष के व्यवहार से है।[3] 'असम्प्रयोगः विषयारति' उनके मतानुसार क्रमशः प्रीति, मैत्री, सौहार्द एवं भाव संज्ञा को प्राप्त करती है। अर्थात् सखा की पत्नी में तथा पति के सखा में जो सख्य है, वह प्रीति है। जिस प्रकार द्रौपदी की कृष्ण में। स्त्रियों की सखी के साथ एवं पुरुषों की सखा के साथ परस्पर भाव मैत्री है। उनमें से प्रीति मनोवृत्तिमयी है और मैत्री अंग स्पर्शोचिता है। स्त्री की सखी एवं पति की सखी का परस्पर व्यवहार-स्थल में सौहार्द का प्रयोग होता है। यहाँ पर चित्तरंजकता निर्विकारा एवं सर्वदा एक प्रकार की रहती है।[4] चित्तरंजकता रति देवादि विषया होने पर भाव संज्ञा को धारण करती है। अर्थात् कृष्ण की देवत्व सर्वव्यापकत्वादि रूप से जो चेतोरंजकता रति है, वह भाव है। कवि कर्णपूर ने इसी भाव को भक्तिरस का स्थायीभाव निरूपित किया है। परन्तु यह भावरूप स्थायी सम्प्रयोगविषया रति के परिणामरूप जो भाव है, उससे सर्वथा भिन्न है।[5]

---

१. रतिश्चेतोरंजकता सुखभोगानुकूल्यकृत् ॥

कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ५।६४.

२. या सम्प्रयोगविषया सा रतिः परिकीर्त्तिता ॥ वही, ५।६५.

३. वही, पृ० १२४.

४. वही, ५।६५–६७.

५. सैव देवादिविषया रतिर्भावश्च कथ्यते ॥

सैवेति। देवः श्रीकृष्णस्तस्य देवत्वं सर्वव्यापकत्वादिरूपेण या चेतोरंजकता

सम्प्रयोगविषया रति अवस्था विशेष से पाक से पाकान्तर प्राप्तकर चरम दशा में पहुँच जाती है।[1]

जिस प्रकार गुड़ पककर खाँड़ बन कर क्रम से सितोपला बन जाता है, उसी प्रकार रति भी पुनः-पुनः श्रवणगानादि से उत्कर्ष दशा को प्राप्त कर भाव, पूर्वराग, राग, अनुराग, प्रणय, प्रेम, स्नेह एवं सर्वशेष में महाराग रूप में परिणत हो जाती है।[2] किन्तु रत्यादि भावों की भाँति रस का पाक सम्भव नहीं है, आनन्दधर्मत्व के कारण अर्थात् परमानन्दरूप होने के कारण रस एक ही प्रकार का होता है। जिस प्रकार सितोपला का पाकान्तर सम्भव नहीं है एवं महाराग के परमानन्द होने के कारण उसका भी पाकान्तर सम्भव नहीं है, उसी प्रकार रस का पाकान्तर सम्भव नहीं है। उसका सदैव एक प्रकार का अनुभव होता है। भाव ही रति आदिक उपाधि भेद से नाना प्रकार के होते हैं।[3] जिस प्रकार नानाविध पात्रगत सलिल राशि के तारतम्य रहने पर भी उसमें सूर्य का बिम्ब व प्रतिबिम्ब एक रूप से प्रतीयमान होता है। उसी प्रकार रस स्थल में उपाधिगत भेद मात्र है, परन्तु आनन्द गत कोई भेद नहीं है।

रस साक्षात्कार किस प्रकार होता है तथा रस का क्या लक्षण है? इस सम्बन्ध में कवि कर्णपूर की विचारधारा प्राचीन परिपाटी का ही समर्थन करती है। अर्थात् सर्वप्रथम श्रवण कीर्तनादि के पुनः-पुनः अभ्यास से आनन्दरूपिणी रति का आविर्भाव होता है। तदनन्तर विभावादि के संयोग से समवधान दशा में रति का साक्षात्कार होता है। पुनः उसके पश्चात् रति ही रस स्वरूप हो जाती। तत्पश्चात् पुनः उन विभावादि कारणों से रस साक्षात्कार होता है। इस प्रकार रति साक्षात्कार में जिस आनन्द का आविर्भाव होता है, उससे कोटि गुणाधिक आनन्दाविर्भाव रस साक्षात्कार में होता है। रस की उदय दशा में बहिरिन्द्रिय एवं अन्त-रिन्द्रियों के रसानुपयोगी पदार्थ मात्र में जो वृत्तिरूप व्यापार है, उसका प्रतिबाध हो जाता है तथा रस साक्षात्कार में कारणीभूत विभावादि का

सैव भावः—अयमेव भक्तिरसो भवतीत्यग्रे वक्ष्यति। किन्त्वयं भावरूप स्थायी सम्प्रयोगविषया या रतिस्तस्याः परिणामरूपो यो भावः तस्माद्भिन्न एव ज्ञेयः ॥ कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ० १२७.

१. वही, ५।६६.

२. वही, पृ० १२८.

३. वही, ५।७१. का०

आभास भी नहीं होता है। कारण, उस समय इन्द्रियों की अन्य पदार्थों के ज्ञानजनन में सामर्थ्य समाप्त हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस प्रकार एक ही दधिपदार्थ सितामरिचकर्पूरादि नाना वस्तु से मिलकर रसाल नाम धारण कर लेता है तथा उसके आस्वादनकाल में एक विचित्र रस का प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार (स्वकारणादि) विभावादि के साथ ही रस साक्षात्कार में एक लोकोत्तर चमत्कारिक सुख का अनुभव होता है। कवि कर्णपूर की विचारधारा में यह चमत्कारिक सुख ही रस का लक्षण है।[1] 'चमत्कार' शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है—अनेक बाह्य वस्तुओं में से किसी सर्वोत्कृष्ट अद्भुत वस्तु के दर्शन कर लेने पर चमत्कार उत्पन्न होता है। यहाँ चमत्कार पदार्थ नेत्रस्फार रूप होता है। उसी प्रकार अलौकिक काव्यार्थ के परिशीलन के समय रसता की दशा में किंचित अद्भुत सुख के अनुभाव से चित्त का स्फार हो जाता है, यह चित्त का स्फार ही चमत्कार है।[2] कवि कर्णपूर के पूर्ववर्ती आचार्य विश्वनाथ ने भी 'चमत्कार' को चित्तविस्तार रूप एवं 'विस्मय' का पर्याय स्वीकार किया है।[3] 'चमत्कार' ही रस रूप अनुभव का प्राणभूत है, इस तथ्य का समर्थन विश्वनाथ ने किया है।[4] सम्भवतः कवि कर्णपूर ने विश्वनाथ के अनुकरण पर ही चमत्कार को रस का सार-पदार्थ निरूपित किया है। उसके अनुसार चमत्कार ही रस का सार पदार्थ है, जिसके बिना रस, रस रूप में परिगणित नहीं होता है। यह 'चमत्कार' अथवा विस्मयावेश अद्भुत रस का स्वरूप है। इससे स्पष्ट है कि समस्त रसों के अनुभव में विस्मय का ही अनुभव हुआ करता है, इसलिए अद्भुत रस सर्वत्र विद्यमान रहता है।[5]

---

१. बहिरन्तः 'करणयोर्व्यापारान्तररोधकम्।
स्वकारादि संश्लेषि चमत्कारि सुखं रसः॥
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ५।७०.

२. वही, पृ० १२६.

३. चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः॥
विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, पृ० १०६.

४. रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः॥ वही, पृ० १०६.

५. सारे सारश्चमत्कारी यं विना न रसो रसः।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राद्भुतो रसः॥
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ० १३७.

कवि कर्णपूर की यह मान्यता भी प्राचीन परम्परा का अनुमोदन करती है।

रस अनुकार्यगत है, अनुकर्तृगत है अथवा सामाजिकगत है ? यह विषय कवि कर्णपूर के पूर्व से ही विवादग्रस्त रहा है। भट्टलोल्लट आदि प्राचीन आचार्यों की आस्था है कि रस मुख्य रूप से अनुकार्य रामादि में रहता है और उनका अनुकर्त्ता होने के कारण गौण रूप से नट में भी रस की उत्पत्ति होती हैं। शंकुक तटस्थ नट में रस की अनुमिति स्वीकार करते हैं। भट्टनायक रस को अनुकार्य अथवा अनुकर्तृगत न मानकर सामाजिक में रसोदय स्वीकार करते हैं। अभिनवगुप्त, मम्मट, धनिक, धनंजय एवं विश्वनाथ आदि रस की स्थिति सामाजिक में स्वीकार करते हैं, किन्तु उनकी विचारधारा भट्टनायक से सर्वथा भिन्न है। कवि कर्णपूर अभिनवगुप्त आदि की परम्परा का अनुकरण करते हुए रस की स्थिति सामाजिक में स्वीकार करते हैं। उनके कथनानुसार रस अनुकार्यगत अथवा अनुकर्तृगत नहीं हैं। अनुकर्तृवर्ग केवल शिक्षा अभ्यासादि कौशल को निर्वाहित करते हैं। अतः उनमें रसास्वादनता नहीं होती है। वे जो अनुकरण करते हैं, वह जीवन्मुक्त व्यक्ति के आहार-विहारादि की भाँति प्राक्तन संस्कारमात्र होता है। रस की स्थिति सामाजिक में होती है। कारण, स्थायी रूप धर्म संसार के प्रपञ्चान्तर्गत स्वच्छरति वाले सामाजिकों के प्रति रसास्वादन रूप होता है। कवि कर्णपूर की विचारधारा में यदि कदाचित् अनुकर्ता (नट) बाह्यवस्तु विषयक ज्ञान से शून्य होकर रस का आस्वादन करने लगे, ऐसी स्थिति में उन्हें (नट को) भी सामाजिक मानना चाहिए।[1]

'चैतन्यचन्द्रोदयम्' नाटक में भी उन्होंने इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है।[2] कवि कर्णपूर के इस कथन की सत्यता भक्तिरस के सम्बन्ध में सर्वथा तर्कसंगत प्रतीत होती है। कारण, भागवतों के प्रीतिमय रस को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। उसमें लौकिकत्वादि हेतु का अभाव रहता

---

१. कुतोऽत्रानुकार्यगतो रसः ? नाप्यनुकर्त्तृगतः तेषाम् शिक्षाभ्यासप्रकटनमात्रकौशलेन स्वादकत्वाभावात्। यदि तु विगलितवेद्यान्तरत्वमनुकर्त्तृणामपि दृश्यन्ते, तदा तेषामपि सामाजिकत्वमेव। अनुकरणन्तु संस्कारवशादेव जीवन्मुक्तानामाहारविहारादिवत्—तेन सामाजिकानामेव रसः।

कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ० १३५–१३६.

२. सामाजिकानां हि रसो नटानां नैवेति पन्थाः कृतिषु प्रसिद्धः।
हन्तोभयत्वे रसवित्त्वमेषामलौकिके वस्तुनि को विरोधः॥

कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, ३।५७.

है। अर्थात् अनुकर्ता, अनुकार्य तथा सामाजिक सभी अलौकिक होते हैं। अनुकार्य अर्थात् कृष्ण एवं उसके परिकरगण दोनों में विशेष रूप से रस स्वीकार किया गया है। क्योंकि कृष्ण एवं उनके पार्षदों में स्वतः सिद्ध स्थायी भाव ही रसास्वादन रूप होता है। अतएव उत्तम प्रकृति वाले अनुकार्यों में रस स्वतः सिद्ध होता है। उनका ही हृदयारूढ़ परिपूर्ण रस अनुकर्ता (भक्त) में भी संचरित होता है। अतएव अनुकर्ता में भी रस की स्थिति सम्भव हो सकती है। किन्तु लौकिक पक्ष में रस की स्थिति सामाजिक में ही सम्भव है।

कवि कर्णपूर के रसविषयक विचारों में सबसे प्रमुख तथा नवीन विचार यह है कि उन्होंने सर्वप्रथम रस के तीन भेद—प्राकृत, अप्राकृत एवं आभास[1] करने के पश्चात् प्राकृत (नायक) में रस स्थिति का खण्डन किया गया है। उनके मतानुसार "जो (विद्वान्) प्राकृत (नायक) में रस स्वीकार करते हैं, वे भ्रान्त हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि वृत्ति भी प्राकृत है। कृमि, विष्ठा, भस्मादिनिष्ठ अतिनश्वर प्राकृत नायकों में रस नहीं हो सकता है। विचार करने पर विभाव की वैरुप्यता के कारण विपरोत घृणामय विरसता आ जाती है। अतः उनमें रस स्थिति किस प्रकार सम्भव हो सकती है?" इसलिए कवि कर्णपूर ने प्राकृत विषय में एक भी श्लोक का उद्धरण नहीं दिया है, अपितु अप्राकृत विषय में ही समस्त उद्धरण दिये हैं।[2]

प्राकृत में रस नहीं है, यह स्वीकार करते हुए भी कवि कर्णपूर ने जो प्राकृत, अप्राकृत एवं आभास रूप से तीन प्रकार के रस का उल्लेख किया है।[3] वस्तुतः इस प्रकार का उल्लेख करके उन्होंने प्राक्तन रस पद्धति एवं गौडीयवैष्णव सम्प्रदाय द्वारा प्रवर्तित रस पद्धति में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। भरताभिनवगुप्त प्रभृति आचार्यों द्वारा अनुमोदित प्राक्तन रस पद्धति में रस के आलम्बन दुष्यन्तमालतीमाधवादि प्राकृत नायक

---

१. प्राकृताप्राकृताभासभेदादेष त्रिधा मतः ॥

कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ५।७२.

२. प्राकृते ये रसं मन्यते ते भ्रान्ता एव;—यतोऽत्र कृमिविड्भस्मान्तनिष्ठेषु प्राकृतनायकेष्वतिनश्वरेषु रसो न भवति, विचारतो विभाववैरुप्यात्तद्विपरीतं घृणामयं वैरस्यमेवोत्पद्यते तत्रैव रसं वर्णयन्तीत्यर्थः अतएव ग्रन्थकारेणापि प्राकृतविषये एकमपि पद्यं नोदाहृतं, किन्त्व-प्राकृत एव सर्वाणि पद्यान्युदाहृतानीति ज्ञेयम्। वही, पृ० १३१.

३. वही, पृ० १३१.

अभीष्ट हैं। किन्तु गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय रस का आलम्बन अप्राकृत ही स्वीकार करता है। भगवान् रस स्वरूप हैं, इसके समर्थन में वे श्रुतिवचन 'रसो वै सः' को उद्धृत करते हैं। गौडीय वैष्णवरससिद्धान्त के प्रमुख आचार्य जीवगोस्वामी ने प्राकृत रस का खण्डन करते हुए अप्राकृत रस का प्रबल समर्थन किया है। उनके मतानुसार—लौकिक रत्यादि की सुखरूपता अल्प है। सूक्ष्म दृष्टि से आलम्बनादि का विचार करने पर वे समस्त लौकिक रत्यादि दुःख में पर्यवसित होते हैं। भगवान् ने स्वयं कहा है कि—'सुख-दुःख के ध्वंस का नाम सुख है, विषयभोग नहीं। विषयभोग सुख की अपेक्षा में दुःख निश्चित है। मुझ में निष्ठा बुद्धि शम है, ऐसा कहकर उन्होंने लौकिक शम का अनादर किया है। लौकिक-रसवेत्तागण भी जुगुप्सादिभावों को सुख रूप नहीं मानते हैं, अपितु द्वेष करते हैं। श्रीमद्भागवत में नारद के वचनों में लौकिक रसोपकरण की निन्दा एवं भागवत रस की प्रशंसा की गई है। उनके अनुसार जो ग्रन्थ गुणालंकारादि से युक्त विचित्र पदों से रचित होकर भी जगत्पवित्रकारक हरियश का प्रकाश नहीं करता हैं, उसको ज्ञानीगण काकतीर्थ मानते है। अतः लौकिक विभावादि का रस जनकत्व मानने में श्रद्धा बुद्धि नहीं रखनी चाहिए। क्योंकि उससे सर्वप्रकार बीभत्स रस उत्पन्न होता है। भागवत रस में विषयी से लेकर मुक्त पर्यन्त सभी जनों में, यहाँ तक कि इन्द्रियरहित चैतन्यशून्य वस्तु में भी, विकार (सात्त्विकादि) उत्पन्न होने के कारण रस निष्पत्ति की असम्भावना किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती है।[1] रूपगोस्वामी ने भी इस तथ्य का समर्थन 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में किया है। उनके अनुसार

---

१. किञ्च—लौकिकस्य रत्यादेः सुखरूपत्वं कथाकञ्चिदेव। वस्तुविचारे दुःख-पर्यवसायित्वात्। तदुक्तं स्वयं भगवता—'सुखं दुःखसुखात्ययः दुःखं काम-सुखापेक्षा। तदीय शमोऽपि—शमो मन्निष्ठताबुद्धेरिति वदता तेनैवादृतः। जुगुप्सादीनान्तु सुखरूपतालौकिकैरपि द्वेष्या तत्तन्निन्दा भागवतरसश्लाघा च श्रीनारदवाक्ये—न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणति कर्हिचित। तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्षयाः...........
तस्माल्लौकिकस्यैव विभावादेः रसजनकत्वं न श्रद्धेयम्। तज्जनकत्व च सर्वत्र बीभत्सजनकत्वमेव सिध्यति। श्रीभागवतरसस्य तु विषयिणमारभ्य मुक्तपर्यन्ते जने तद्वदहो अनिन्द्रिये चैतन्यशून्येऽपि विकारहेतुत्वात् कथं तन्नासम्भावनाऽपि स्यात्॥
जीवगोस्वामी, षड्सन्दर्भे-प्रीतिसन्दर्भः, पृ० ५८०–५८३.

'अनुकार्य (रामसीतादि) में स्थित रति लौकिकत्वादि कारणों से रस-रूपता को प्राप्त नहीं होती है। किन्तु यह कृष्ण विषयक अलौकिक रति समस्त आश्चर्यों से भी अधिक अद्भुत है। क्योंकि वह कृष्ण का संयोग होने पर कृष्ण के भक्तों के भीतर अत्यन्त आह्लादप्रद रसविशेषत्व को प्राप्त होती है।'[1]

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि समस्त गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय अप्राकृत में रस स्थिति स्वीकार करता है। सम्प्रदाय की मान्यता के कारण कवि कर्णपूर ने भी अप्राकृत में रस-स्थिति स्वीकार की है। किन्तु प्राक्तन रस पद्धति के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए तीन प्रकार के रसों का उल्लेख कर दिया है। किन्तु यह दृष्टिकोण कुछ संकुचित प्रतीत होता है। इस मान्यता को स्वीकृति देने पर समस्त लौकिक काव्य, नाटक, चम्पू आदि रसविहीन किं वा रसाभास के उद्धरण मात्र रह जायेंगे। क्योंकि इन काव्यों के आलम्बन प्राकृत नायक हैं।

काव्य में रसाभास के सम्बन्ध में कवि कर्णपूर का विचार है कि अनौचित्यादि प्रवर्त्तित आभास है। पुनः इस आभास के प्रसिद्ध, कृत्रिम व सिद्ध तीन भेद किये हैं। प्रसिद्ध रसाभास के सम्बन्ध में उनका कथन है कि जो वास्तविक संघटित नहीं होता है, केवल प्रसिद्ध होकर उपहृत हो जाता है, वह प्रसिद्ध रसाभास है। यह रसाभास होकर भी रस पोषक होता है। उदाहरण के लिए प्राकृत स्थल में नन्दन के साथ मालती का विवाह-सम्बन्ध प्रसिद्ध होने पर भी उससे माधव के प्रति मालती की रति पुष्ट हुई है। अप्राकृत स्थल में शिशुपाल के साथ विवाह सम्बन्ध प्रसिद्ध होने पर भी रुक्मिणी की कृष्ण के प्रति रति पुष्ट हुई है। इसलिए शिशुपाल की रुक्मिणी के प्रति प्रसिद्ध रसाभास है। कृत्रिम रसाभास का उदाहरण नन्दन के प्रति मालती वेशधारी मकरन्द की श्रृंगारिक चेष्टाएँ हैं। सिद्ध रसाभास अनौचित्य प्रवर्त्तित है। एक की अनेक कान्तनिष्ठता अनौचित्यता है। कवि कर्णपूर के अनुसार ऐसे स्थलों पर रसाभास होता है। किन्तु ध्वनि वैशिष्ट्य होने के कारण यह उत्तम काव्य माने जाते हैं। इसके समर्थन में

---

१. रतिः स्थिताऽनुकार्येषु लौकिकत्वादिहेतुभिः।
रसः स्थान्नेति नाट्याज्ञा यदाहुर्युक्तमेवतत्॥
अलौकिकीत्त्वियं कृष्णरतिः सर्वाद्भुताद्भुता।
योगे रसविशेषत्वं गच्छन्त्येव हरिप्रिये॥

रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, २।५।८९–९०.

उन्होंने प्राचीन आचार्यों के कथन को उद्धृत किया है कि—'यद्यपि परोढ-रमणी की रति रसाभास है तथापि ध्वनिवैशिष्ट के कारण वह उत्तम काव्य है अर्थात् प्राकृत स्थल में आभास भी चमत्कार दशा को प्राप्त कर ध्वनि काव्य हो जाता है।'[1] किन्तु अप्राकृत स्थल में परोढरमणी की रति ही सर्वोत्तमा रूप से अत्यधिक प्रशंसित होती है। अलौकिक होने के कारण उस रति में अनौचित्य प्रवर्तितत्व नहीं होता है।[2] आभास के उपर्युक्त भेदों का वर्णन भी कवि ने प्राच्यालंकारिकों और वैष्णवालंकारिकों के मत में सामंजस्य स्थापित करने के लिए किया है। सिद्ध रसाभास को छोड़कर अन्य रसाभास प्राच्यालंकारिकों को पहले से ही मान्य थे। सिद्ध रसाभास गौडीय सम्प्रदाय की उद्भावना है, जिसका उल्लेख कवि ने प्राक्तन रसाभास के साथ किया है।

कवि कर्णपूर की परकीयावाद में आस्था है। उनकी इस अवस्था पर भी गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। यहाँ पर गौडीय वैष्णव दर्शन के परकीयावाद की विवेचना करने से विस्तार अधिक हो जायेगा अतएव उसका उल्लेख मात्र कर दिया गया है। कवि कर्णपूर रति दो प्रकार की मानते हैं—स्वकीया और परकीया। रुक्मिण्यादिनिष्ठ स्वकीया तथा ब्रजसुन्दरी निष्ठ परकीया है। ब्रजसुन्दरियाँ परोढरमणी हैं। तन्निष्ठ रति सर्वोत्तम है। इसके समर्थन में, कवि कर्णपूर ने श्रीमद्भागवत में उल्लिखित कृष्ण के वचनों को उद्धृत किया है—"न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां स्वसाधु कृत्यं विबुधायुषापि वः या माऽभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना"[3] रूपगोस्वामी ने भी इस प्रकार के विचार 'उज्ज्वलनीलमणि' में व्यक्त किये हैं, उनके अनुसार इसी (परकीया) में ही शृंगार का परमोत्कर्षत्व प्रतिष्ठित है।[4] कवि कर्णपूर के अनुसार 'ब्रजवधुओं के पति गोप उनके वास्तविक पति नहीं थे, इसलिए माया कलित शरीर मात्र का अनुशीलन करने के कारण उनके संसर्ग में असमर्थ

---

१. यद्यप्ययं रसाभासः परोढरमणीरतिः।
तथापि ध्वनिवैशिष्ट्यादुत्तमं काव्यमेव तत्॥
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ० १३३.

२. वही, पृ० १३३.

३. श्रीमद्भागवत, १०।३२।२२.

४. अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितं इत्यादौ॥
रूपगोस्वामी, उज्ज्वलनीलमणि, १।१७.

रहते हैं। यह व्रजरमणियाँ कृष्ण की नित्य पत्नियाँ हैं, किन्तु रसास्वादन के निमित्त कृष्ण अपनी मायाशक्ति से व्रजरमणियों की बुद्धि से पतिभाव का विलोप करके उपपति भाव उत्पन्न कर देते हैं, क्योंकि शृंगाररस का चरमोत्कर्ष परकीयावाद में ही अन्तर्निहित है।[1]

रसों की संख्या के सम्बन्ध में आरम्भ से ही विद्वानों में मतभेद रहा है। भरत-मुनि ने सर्वप्रथम आठ नाट्यरसों का उल्लेख किया है।[2] तदनन्तर उसी आधार पर धनिक धनंजय ने भी नाटक में नवम रस शान्त का खण्डन करते हुए रसों की संख्या आठ ही स्वीकार की।[3] अभिनवगुप्त[4], मम्मट[5], हेमचन्द्र[6], पण्डितराज जगन्नाथ[7] आदि आलंकारिकों ने शान्त का रसत्व स्वीकार करते हुए रसों की संख्या ९ निर्धारित की। आचार्य विश्वनाथ ने सर्वप्रथम आठ नाट्यरसों का उल्लेख करने के पश्चात् नवम शान्त का रसत्व स्वीकार किया है, तदनन्दर पुनः भरतमुनि का मत उपन्यस्तकर वात्सल्य को दशम रस स्वीकार किया है।[8] रूपगोस्वामी ने 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में शान्त, प्रीति, प्रेयो, वत्सल, मधुर (उज्ज्वल) आदि पाँच

---

१. व्रजवधूनां कृष्णैकतानमानसत्वेन स्वपतिनिष्ठत्वाभावात्तेषां च माया कलितच्छायाऽनुशीलनेन तदङ्गसङ्गमात् प्रत्युत केवलानुरागमात्रोपाधितया चेतोरंजकतयाशुद्धत्वमेव। कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ० १३४.

२. शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुत-संज्ञौचेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥
भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, ६।१५.

३. धनिक-धनंजय, दशरूपकम् , पृ० २४८–२४९.

४. अभिनवगुप्त, अभिनवभारती, पृ० ६४०.

५. शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥
निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ॥
मम्मट, काव्यप्रकाशः, ४।२९, ४७.

६. शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानका बीभत्साद्भुतशान्ता नवरसाः ॥
हेमचन्द्र, काव्यानुशासनम् , पृ० ६७.

७. शृङ्गारकरुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा ।
हास्यो भयानकश्चैव बीभत्सश्चेति ते नव ॥
जगन्नाथ, रसगंगाधर, पृ० १५३.

८. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ३।१८२ २५,१.

मुख्य तथा हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, बीभत्स आदि सात गौण रसों अर्थात् १२ रसों का प्रतिपादन किया है।[1] मधुसूदन सरस्वती ने रौद्र, अद्‌भुत, शुचि, सख्य, हास्य, वीर, वत्सल, करुण, भयानक, बीभत्स, शान्त तथा सप्रेमभक्ति आदि १२ रसों को मान्यता दी है।[2]

इसके अतिरिक्त कतिपय संस्कृत आलंकारिकों ने लौल्य, मृगया, अक्ष, व्यसन, दुःख, सुख, माया, कार्पण्य, वीडनक आदि नवीन रसों की गवेषणा की है, किन्तु वे प्रचलित परम्परा में विशेष आदरणीय न हो सके। उपर्युक्त रसों के रसत्व के सम्बन्ध में डॉ० वी० राघवन् ने एक शोध लेख में आलोचनात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं, जो समीचीन प्रतीत होते हैं।[3]

कवि कर्णपूर ने रसों के मुख्य और गौण भेद न करके सर्वप्रथम आठ नाट्यरसों का उल्लेख करने के पश्चात् शान्त रस को स्वीकार किया है। तदनन्तर वात्सल्य और प्रेम को भोज कथित कहकर उन्हें भी स्वीकार किया है। इस प्रकार कवि कर्णपूर ने भोज कथित एकादश रसों का उल्लेख करने के पश्चात् उन्हें मान्यता दी है।[4] किन्तु कवि कर्णपूर का उपर्युक्त कथन किंचित् भ्रमात्मक प्रतीत होता है। क्योंकि भोज ने 'शृंगार-प्रकाश' में भरतमुनि अनुमोदित ८ नाट्यरसों के अतिरिक्त शान्त, प्रेयस्, ऊर्जस्वि (उदात्त), उद्धत आदि चार अन्य रसों का भी भली प्रकार से निरूपण किया है। जिनका स्थायी भाव क्रमशः शम, स्नेह, अहंकार एवं गर्व निरूपित किया है। भोजदेव ने इन रसों का सम्बन्ध क्रमशः चार प्रकार

---

१. मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः।
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथा पूर्वमनुत्तमाः॥
हास्योऽद्‌भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यपि।
भयानकः सबीभत्स इति गौणश्च सप्तधा॥
एवं भक्तिरसो भेदाद् द्वयोर्द्वादशधोच्यते॥
रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, २।५।९६–९८.

२. मधुसूदनसरस्वती, भक्तिरसायनम्, २।३–२४.

३. Raghavan, V., Number of Rasas, Journal of Oriental Research, Madras, Vol. XI, Year, 1937. p. 83, 87, 102–104.

४. एतेऽष्टौ स्थायिनोऽष्टासु नाट्यरसेष्विति केचित्। केचित्तु निर्वेदस्थायिभाकोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस' इति शान्तोऽपि नाट्ये रसः। भोजस्तु वत्सलप्रेमभ्यामेकादश रसानाचष्टे......एकादशैव दृश्ये श्रव्येऽपि च रसिकसंसदः प्रेष्ठाः।
कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ० १२३.

के नायकों—धीरप्रशान्त, धीरललित, धीरोदात्त एवं धीरोद्धत से स्थापित किया है।[1] इसी प्रकार 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में भी १२ रसों का ही उल्लेख मिलता है। केवल वहाँ पर शान्त के स्थायीभाव शम के स्थान पर 'धृति एवं ऊर्जस्वि के स्थायीभाव अहंकार के स्थान पर मति का उल्लेख मिलता है। ऊर्जस्वि को ही उदात्त रस से अभिहित किया गया है।[2] वस्तुतः आठ नाट्यरसों के अतिरिक्त अन्य चार रसों का उल्लेख कर भोजदेव ने इस तथ्य का संकेत किया है कि जिस प्रकार धृति, मति, स्नेह एवं गर्व आदि भाव स्थायित्व को प्राप्त कर रसरूप में आस्वादित होते हैं, उसी प्रकार अन्य भाव भी रसत्व को प्राप्त कर सकते हैं।[3] इस प्रकार

१. न चाष्टावेवेति नियमः, यतः शान्तं प्रेयांसम्, उद्धतम्, ऊर्जस्विनं च केचिद्रसमाचक्षते। तन्मूलाश्च किल नायकानां धीरशान्त, धीरललित, धीरोद्धत, धीरोदात्त व्यपदेशाः……अत्र शमप्रकृतिः शान्तः, स्नेहप्रकृतिः—प्रेयान्, गर्वप्रकृतिरुद्धतः अहंकारप्रकृतिः पुनरोजस्वीति श्रृंगारादिवदेतेष्वति अिभावानुभावव्यभिचारिसंयोगो द्रष्टव्यः॥

भोजदेव, श्रृंगारप्रकाशः, भाग २, पृ० ४४१.

२. आलम्बनविभावेभ्यः स्वेभ्यस्स्वेभ्यस्समुन्मिषन्।
रसो रत्यादिरूपेण भाव इत्यभिधीयते॥
रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चाष्टौ स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः॥
रतौ सञ्चारिणः सर्वान् गर्वस्नेहौ धृतिं मतिम्।
स्थास्नूनेवोद्धत प्रेयः शान्तोदात्तेषु जानते॥

भोजदेव, सरस्वतीकण्ठाभरणम्, ४।१३, १४, २३.

३. सैद्धान्तिक रूप में भोजदेव केवल एक रस श्रृंगार को ही स्वीकार करते हैं। अन्य रसों एवं भावों को उसका विवर्तरूप स्वीकार करते हैं; यथा—
रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जिता हि भावाः पृथग्विधविभाव-भुवो भवन्ति।
श्रृंगारतत्त्वमभितः परिवारयन्तः सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति॥

श्रृंगारप्रकाशः, भाग २, पृ० ४३६.

भोजदेव ने श्रृंगार को ही रस, अहंकार एवं अभिमान शब्द से अभिहित किया है। रसानुभूति के पराकाष्ठातल (उत्तरां कोटिम्) पर वे केवल श्रृंगाररस को ही एकमात्र रस मानते हैं। परन्तु मध्य की क्रम दशाओं में (श्रृंगारस्यमध्यमावस्थायां) वे केवल रस के उन बारह भेदों को ही नहीं स्वीकार करते हैं, जिनका उल्लेख उन्होंने 'सरस्वती-कण्ठाभरणम्' अथवा

'श्रृंगारप्रकाशः' एवं सरस्वतीकण्ठाभरणम्' के आधार पर यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता है कि भोजदेव ने एकादश रसों को स्वीकार किया है। भोजदेव की एक अन्य कृति 'समरांगणसूत्रधार' में भोजकथित एकादश रसों का उल्लेख मिलता है।[1] दुर्भाग्यवश पाठ भ्रष्ट होने के कारण रौद्र, प्रेयस्, भयानक, वीर, बीभत्स, अद्भुत, शान्त आदि १० रसों का ही परिचय प्राप्त होता है। यहाँ पर यह सम्भावना की जा सकती है कि पाठभ्रष्ट के कारण विलुप्त रस-प्रेम रस हो और उसी के आधार पर कवि कर्णपूर ने भोजकथित एकादश रसों का उल्लेख करते हुए प्रेम और वत्सल को भोज-

---

'श्रृङ्गार-प्रकाश' में किया है। अपितु वे रस के ४९ भेद स्वीकार करते हैं। क्योंकि वे यह मानते हैं कि ४९ भावों में से कोई भी एक भाव समुचित अनुभाव-विभाव एवं व्यभिचारी भावों से सम्बन्धित होने के कारण पराकाष्ठा के तल तक पहुँच सकता है। अतएव उसको रस कहा जा सकता है (श्रृङ्गार-प्रकाशः, भाग २, पृ० ४३६)। इसलिए इन्होंने इस तथ्य का खण्डन किया है कि स्थायीभाव केवल ८ हैं, सात्त्विकभाव ८ हैं एवं व्यभिचारी भाव ३३ हैं। उनके मतानुसार प्रत्येक स्थायीभाव परिस्थितिवश व्यभिचारीभाव हो सकता है और प्रत्येक व्यभिचारीभाव स्थायित्व को प्राप्त कर सकता है। यहाँ तक सात्त्विकभाव भी स्थायित्व को प्राप्त कर रसत्व प्राप्त कर सकते हैं। (नन्वष्टौ स्थायिनो अष्टौ सात्त्विकास्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणा इति ब्रुवते। न तत्साधु यतोऽमीषामन्यतमस्यैतैरेव परस्परं निर्वर्त्यमानत्वात्। किञ्चित्कदाचित्स्थायी कदाचित्तु व्यभिचारी। अतोऽवस्थावशात् सर्वेऽप्यमी व्यभिचारिणः सर्वेऽपि च स्थायिनः सात्त्विका अपि सर्व एव मनः प्रभवत्वात्...रत्यादीनामेकोनपञ्चाशतोऽपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात्परप्रकर्षाधिगमे रसव्यपदेशाः (श्रृङ्गार-प्रकाशः, भाग २, पृ० ४३०, ४४४)। इसी प्रकार उन्होंने 'सरस्वतीकण्ठाभरणम्' में उत्कर्ष, धृति, उत्कण्ठा, आवेग, विस्मय, मतिवितर्क, चिन्ता, चपलता, हास, उत्साह, स्तम्भ, गद्गद, उन्माद, व्रीड़ा, अवहित्थ, भय, शंका (सरस्वतीकण्ठाभरणम्, पृ० ५७३–६०६) आदि भावों का रसत्व स्वीकार किया है।

१. 'श्रृङ्गारहास्यकरुणारौद्रप्रेयोभयानकाः ।
वीर (प्रत्ययाक्षौ) च बीभत्सश्चाद्भुतस्तथा ॥
शान्तश्चैकादशेत्युक्ता रसाश्चित्रविशारदैः ।
भोजदेव, समराङ्गणसूत्रधार, भाग २, ८२।२, ३, पृ० २९८

कथित कहा हो। क्योंकि भोजकथित उपर्युक्त रसों में से ६ रस तो संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रचलित हैं। 'प्रेयस्' की समता प्रेम से नहीं की जा सकती है। प्रेयस् को वत्सल अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि भोजदेव ने अपने 'शृंगार-प्रकाश' और 'सरस्वतीकण्ठाभरम्' में प्रेयस् को वत्सल का ही समानार्थक प्रतिपादित किया है तथा इसका स्थायीभाव 'स्नेह' स्वीकार किया है।[1] कवि कर्णपूर ने इसी प्रेयस् को सम्भवतः भोजकथित वत्सलरस कहकर इसका स्थायीभाव 'ममकार' निरूपित किया है।[2] किन्तु यह किसी भी आधार पर नहीं कहा जा सकता है कि 'प्रेयस्' अथवा 'वत्सल' रस की सर्वप्रथम उद्भावना भोजदेव ने की है। क्योंकि 'प्रेयस्' को भामह[3], दण्डी[4] एवं उद्भट[5] के समय से ही संस्कृत साहित्य में अलंकार के रूप में अस्तित्व प्राप्त हो चुका था। तदनन्तर रुद्रट ने प्रेयस् को रस रूप में प्रतिष्ठित किया एवं 'स्नेह' को उसका स्थायी भाव निरूपित किया।[6] प्रेयस् को प्रीति अथवा वत्सल भी कहा जा सकता है। अतएव 'प्रेयस्' रस भोजदेव की नूतन गवेषणा नहीं है। भोजदेव ने वास्तव में जिन उदात्त, उद्धत आदि नवीन रसों की उद्भावना की हैं, उनका कवि कर्णपूर ने उल्लेख नहीं किया है।[7] डॉ० वी० राघवन् ने 'समरांगणसूत्रधार' के विलुप्त ग्यारहवें रस को

---

१. 'यदेव रोचते मह्यं तदेव कुरुते प्रिया।
इति वेत्ति न जानाति तत् प्रियं यत् करोति सा॥
अत्र वत्सल प्रकृतेः धीरतया ललितनायकस्य प्रियालम्वनविभावादुत्पन्नः स्नेह स्थायिभावः विषयसौकुमार्यातिमप्रकृत्यादिभिरुद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानः निष्पन्नः प्रेयान् इति प्रतीयते।
भोजदेव, सरस्वतीकण्ठाभरणम्, ५।२६१, पृ० ६११–६१२.
भोजदेव, शृङ्गार-प्रकाश, भाग २, पृ० ४४१.

२. कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ० १२३.

३. भामह, काव्यालंकार, ३।१,५

४. दण्डी, काव्यादर्श, २।२७५, २७६

५. उद्भट, काव्यालंकारसारसंग्रह, ४।१

६. रुद्रट, काव्यालंकार, १५।१७

७. भोजदेव के द्वारा कथित रसों की संख्या के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वान् डॉ० अभयकुमार गुहा भी भ्रम में हैं। उन्होंने अपने एक शोधलेख में भोजकथित एकादश रसों का उल्लेख किया है, यथा—Another rhetorician, Bhojarāja, adds one more, e. g. Preman (love)

'अहं-प्रत्यय' स्वीकार कर अप्रत्यक्ष रूप में प्रेमरस की सम्भावना का खण्डन किया है।[1] अर्थात् निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रेम रस भोज कथित नहीं है। क्योंकि उनकी किसी कृति में उसके अस्तित्व का अभिज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य को प्रेम रस से परिचित कराने वाले स्वयं कवि कर्णपूर ही सिद्ध होते हैं।

कवि कर्णपूर ने एक उद्धरण देकर 'प्रेमरस' को स्पष्ट किया है, जो प्रस्तुत स्थल पर द्रष्टव्य है, यथा—

प्रेयांस्तेऽहं त्वमपि च मम प्रेयसीति प्रवाद–
स्त्वं मे प्राणा अहमपि तवास्मीति हन्त प्रलापः।
त्वं मे ते स्यामहमिति च यत्तच्च नो साधु राधे!
व्याहारे नौ न हि समुचितो युष्मदस्मत्प्रयोगः॥[2]

कवि कर्णपूर के अनुसार यहाँ पर चित्रद्रवता स्थायीभाव है, जो उभयनिष्ठ हैं। आलम्बन परस्पर राधा-कृष्ण है, उद्दीपन परस्पर एक दूसरे के गुण समूह हैं। निर्वचनाभाव अनुभाव है तथा मति, औत्सुक्यादि व्यभिचारीभाव है। इन सबके सहयोग से प्रेमरस आस्वादित हो रहा है। कवि कर्णपूर के कथनानुसार 'जिन विद्वानों के मत में राधा-कृष्ण का शृङ्गार ही प्रेम रस है, उन लोगों के मत में भी उपर्युक्त उदाहरण उपयुक्त होगा।[3]

कवि कर्णपूर की प्रेम रस की उद्भावना पर वस्तुतः गौडीयवैष्णवरस-धारा का प्रभाव परिलक्षित होता है। कवि कर्णपूर कथित 'प्रेमरस' रूप-

---

Thus according to Bhojarāja, there are eleven rasas in all". (Abhaya Kumar Guha, 'Rasa Cult in Caitanyacaritamṛtam', Asutosh silver Jubilee volume, Pt. 3; Vol. III, p. 375). अभयकुमार गुहा का उपर्युक्त कथन भोज के 'शृङ्गारप्रकाशः' एवं 'सरस्वतीकण्ठाभरणम्' के आधार पर नहीं प्रतीत होता है, अपितु कवि कर्णपूर के उल्लेख (भोजस्तु वत्सलप्रेमभ्यां एकादश रसानाचष्टे) के आधार पर निश्चित किया गया है। अतएव उन्होंने भी भोज कथित उदात्त एवं उद्धत रसों का उल्लेख नहीं किया है।

१. वी० राघवन्, शृंगारप्रकाशः, (टिप्पणी), पृ० ४१५–४१६

२. कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ० १४८

३. केषाञ्चिन्मते श्रीराधाकृष्णयोः शृंगार एव रसः, तन्मतेऽप्येतदुदाहरणं नासंगतम्। वही, पृ० १४९

गोस्वामी द्वारा निरूपित 'उज्ज्वल' अथवा 'मधुर' रस का ही प्रतिरूप प्रतीत होता है। कुछ आलंकारिक श्रृङ्गार को अङ्गी एवं प्रेम को अङ्ग स्वीकार करते हैं। किन्तु कवि कर्णपूर प्रेम को अंगी तथा श्रृंगार को अङ्ग स्वीकार करते हैं।[1] उनके मतानुसार श्रृङ्गार में केवल रति स्थायी भाव है, किन्तु प्रेम में चित्तद्रवता रूप रति स्थायी भाव होता है। इसलिए श्रृङ्गार की अपेक्षा प्रेम का व्यापकत्व अधिक है। मानव हृदय ईर्ष्या-द्वेष पूर्ण होता है, किन्तु जब उसके चित्त का द्रवीभाव हो जाता है एवं प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है, उस समय अन्य सभी भावों का अस्तित्व प्रेम में विलीन हो जाता है। इसलिए कवि कर्णपूर ने प्रेम को अखण्ड रस कहा है, जिसमें अन्य सभी रस एवं भाव समुद्र में तरंगों की भाँति डूबते उतराते रहते हैं।[2] जिस प्रकार कृष्ण स्वयं भगवान् हैं, अन्य उनके अंश मात्र हैं; उसी प्रकार प्रेमपूर्ण व अखण्ड रस हैं, अन्य रस उसके अंश अथवा खण्डमात्र हैं। प्रेम रस में भूमस्वरूप ईश्वर की शक्ति निहित है। भोजदेव ने जिस प्रकार श्रृंगार रस को अन्य रसों का उद्गम स्वीकार किया है, उसी प्रकार कवि कर्णपूर ने प्रेम रस को सभी रसों का मूल उद्गम स्वीकार किया है।

संस्कृत के प्रायः सभी आलंकारिकों ने रसराज होने के कारण श्रृङ्गार का विवेचन सर्वप्रथम किया है, तत्पश्चात् अन्य रसों का। किन्तु कवि कर्णपूर ने श्रृंगार रस का विवेचन उसके समस्त अङ्गों के साथ सबसे अन्त में किया है। इसका कारण उन्होंने स्पष्ट किया है कि श्रृंगार रस के अंग—अनुभाव, विभाव, सात्त्विक भाव आदि इतने अधिक हैं कि उनका विस्तारपूर्वक विवेचन अन्त में करना ही उचित होगा। इसलिए 'सूची-कटाहन्याय' से उन्होंने सर्वप्रथम वीर रस का विवेचन किया है। वीर के दया, दान, धर्म और युद्धवीर नामक चार भेदों को स्वीकार करते हुए भी केवल युद्धवीर का सोदाहरण वर्णन किया है। इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि दयावीर का आलम्बन-नागानन्द के जीमूतवाहन, दानवीर का जामदग्न्य तथा धर्मवीर के आलम्बन युधिष्ठिर हैं। इनके उद्धरण भी

---

१. श्रृंगारोऽङ्गी प्रेमाङ्गम्, अङ्गस्यापि क्वचिदुद्रिक्तता। वयन्तु प्रेमाऽङ्गी, श्रृंगारोऽङ्गमिति विशेषः।

कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ० १४६

२. प्रेमरसे सर्वे रसा अन्तर्भवन्तीत्यत्र महीयानेव प्रपञ्चः……। तथा च उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखण्डरसत्वतः।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ॥ वही, पृ० १४८, १४६

तत् तत् व्यक्तियों के उत्कर्ष प्रतिपादक होंगे। कवि कर्णपूर कृष्ण भक्त हैं, वे किसी अन्य लौकिक नायक का उत्कर्ष अपनो लेखनी से कैसे अङ्कित करें ? अथवा इन सबका विवेचन पूर्ववर्ती आलंकारिक कर चुके हैं, इसलिए यहाँ पर पुनः उसका विवेचन करना पिष्टपेषण के अतिरिक्त और कुछ न होगा। इसलिए उसकी उपेक्षा की है। कवि कर्णपूर ने वीर रस के प्राकृत व अप्राकृत दो भेद करके केवल अप्राकृत युद्धवीर रस की विवेचना की है। अप्राकृत के भी सजातीय एवं विजातीय आलम्बन भेद से दो प्रकार स्वीकार किये हैं।[1]

करुण, अद्भुत, रौद्र, बीभत्स रस आदि का निरूपण उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों की ही भाँति किया है। उसमें कवि कर्णपूर की कोई नवीनता दृष्टिगोचर नहीं होती है। हास्य रस के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण किञ्चित् नवीन प्रतीत होता है। उन्होंने प्रमुख आचार्यों को भाँति हास्य के ६ भेद न मानकर स्मित, हास और प्रहास तीन भेद स्वीकार किये हैं। स्मित का आश्रय उत्तम कोटि के जन, हास का आश्रय मध्यम तथा प्रहास का आश्रय ग्राम्यजन को निरूपित किया है।[2]

कवि कर्णपूर शान्त रस को अन्य रसों के साथ ही स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार 'निर्वेद' व्यभिचारो भाव होने के साथ हो स्थायित्व को प्राप्त कर (शान्त) रसत्व को प्राप्त कर लेता है। रस का प्राण चमत्कार है, वह चमत्कार शान्त में उपलब्ध है। चमत्कार हेतुत्व विद्यमान होने के कारण कवि कर्णपूर को शान्त रस स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

कवि कर्णपूर ने जिस स्थल पर भोज कथित एकादश रस कहकर दृश्य और श्रव्य काव्य में एकादश रस स्वीकार किये हैं, उस स्थल पर भक्ति रस का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु आगे चलकर जब प्रत्येक रस का पृथक्-पृथक् निरूपण किया है, उस समय १२वें रस भक्ति का भी विवेचन कर दिया है। कवि कर्णपूर द्वारा निरूपित भक्ति रस का विवेचन अग्रिम पृष्ठों पर किया जायेगा। इस प्रकार कवि कर्णपूर ने 'अलंकार-कौस्तुभ' में १२ रसों को स्वीकार किया है।[3]

---

१. कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, ५।७३ का०

२. वही, ५।७४ का०

३. कवि कर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' नाटक में उज्ज्वल, अद्भुत, शम, हास, प्रेम और वत्सल—छः रसों (उज्ज्वलाद्भुतशमाश्च हासश्च प्रेमवत्सल

कवि कर्णपूर ने श्रृङ्गार रस का अन्त में विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उनके मतानुसार भगवान् यद्यपि सर्वरसकदम्ब सम्वलित हैं, लेकिन मूर्त श्रृङ्गार हैं। इसके दो हेतु हैं—सावर्ण्यात् और दैवतत्वात्। श्रृंगार का वर्ण श्यामल तथा इसके आधारभूत देवता कृष्ण हैं। श्रृंगार के सम्भोग और विप्रलम्भ दो भेद किये हैं। सम्भोग श्रृंगार के परस्परावलोकन, अधरपान, चुम्बन, नखदन्त, क्षतादि भेद से असंख्य भेद किये गये हैं। विप्रलम्भ के कवि कर्णपूर ने पाँच भेद किये हैं—अभिलाषा, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप। शाप का हेतु लोक है। इसलिए अलौकिक पक्ष में चार ही भेद सिद्ध होते हैं।[1] कवि कर्णपूर ने अभिलाषा अर्थात् पूर्वराग के अन्य आलंकारिकों की ही भाँति दस भेद स्वीकार किये हैं। पूर्वराग ही पूर्वान्तर में पाकावस्था को प्राप्त कर राग बन जाता है। इसके चार भेद किये हैं—नील, कौसुम्भ, माञ्जिष्ठा और हारिद्र। प्राकृत नायक-नायिकाओं में कौसुम्भ और हारिद्र राग होता है। अप्राकृत में नील और माञ्जिष्ठा राग होता है। तदनन्तर कवि कर्णपूर ने नायक-नायिका सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये हैं, जो प्राचीनालंकारिकों के ही मत का समर्थन है। नायक-नायिका भेद के अनन्तर सम्भोग श्रृंगार के समस्त विभाव, व्यभिचारीभाव, सात्त्विकभाव, अनुभाव, भावहेलादि तथा श्रृंगार के समस्त भेदों का निरूपण किया है। अन्त में भावोदय, भावप्रशम, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशाबल्य आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि

इतीह रसाः षट्, ३।७) का उल्लेख किया है। तदनन्तर 'गौरगणेद्देशदीपिका' में भक्तिरस, प्रीति, प्रेम, वत्सल, उज्ज्वल, श्रृंगार, दास्य, सख्य आदि रसों का उल्लेख किया है। (गौरगणोद्देशदीपिका ७।२२–२४)। यहाँ पर प्रीति, प्रेय, वत्सल रस से उनका अभिप्राय पृथक्-पृथक् रसों से है अथवा एक ही रस को तीन पृथक् नाम से अभिहित किया है। कुछ स्पष्ट नहीं होता है। 'अलंकारकौस्तुभ' में भक्ति के द्वादश भेदों का संकेत दिया है। इनके कथनानुसार कुछ विद्वान भक्ति के द्वादश भेद स्वीकार करते हैं। अतः उनके स्वरूप और लक्षण के लिए उन्हीं विद्वानों के ग्रन्थ द्रष्टव्य है। यहाँ पर कुछ विद्वान से उनका आशय 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धुकार' रूपगोस्वामी से है।

कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ० १४७

१. वही, पृ० १५४.

कवि कर्णपूर ने रसतत्त्व का निरूपण करते समय—मौलिकता और सारग्रहिणी प्रतिभा—दोनों का ही परिचय दिया है। सर्वप्रथम उन्होंने रस और ध्वनि में स्पष्ट शब्दों में पार्थक्य स्थापित किया है। उनके कथनानुसार रस और ध्वनि में वही अन्तर है, जो आत्मा और प्राण में है। ध्वनि को प्राण कहा जा सकता है, किन्तु काव्य की आत्मा केवल रस ही सम्भव है। तदनन्तर उन्होंने स्थायी भाव और रति का निरूपण करते समय यत्किञ्चित् मौलिकता का परिचय देते हुए अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उसकी पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है। हास के छः भेद के स्थान पर ३ भेद स्वीकार, एक नवीन विचारधारा का सूत्रपात किया है। संस्कृत-साहित्य को एक नवीन रस प्रेम से परिचित कराने का गौरव कवि कर्णपूर को दिया जा सकता है। प्राकृत में रस स्थिति का खण्डन, परकीयावाद एवं प्रेम रस का निरूपण करते समय उन्होने गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के रससिद्धान्तों का यथासम्भव समाहार किया है। आभास के भेद एवं भक्ति रस के निरूपण में उन्होंने प्राक्तन रस पद्धति और गौडीय रस पद्धति में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है, जिससे किञ्चित् दुरूहता उत्पन्न हो गयी है। भोजकथित एकादश रसों के सम्बन्ध में उनके विचार अवश्य कुछ अस्पष्ट एवं भ्रमात्मक प्रतीत होते हैं। अन्यत्र उनके विचार सर्वत्र सुस्पष्ट एवं परिपक्व हैं। नवीन सिद्धान्तों को अपनाते समय अथवा खण्डन करते सयय युक्तिसंगत तर्कों का आश्रय लिया गया है।

पारिजातहरणम् में रस योजना

'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में श्रृंगार प्रधान रस है। किन्तु वीर, हास्य, रौद्र, बीभत्स, भक्ति आदि रसों की भी यथास्थान अत्यन्त मनोरम व्यंजना हुई है। महाकाव्यों में प्रधान रस के अतिरिक्त अन्य रसों को भी गौण रूप में रखने का विधान किया गया है।[1] क्योंकि मानवीय जीवन एक रस न होकर बहुभाव समन्वित है। अतः महाकाव्य में अनेक रसों की उपलब्धि उचित तथा स्वाभाविक ही समझ पड़ती है। महाकाव्य का अङ्गी रस श्रृंगार होने के कारण सर्वप्रथम उसी का विवेचन किया जायेगा।

श्रृंगाररस

'पारिजातहरणम्' में श्रृंगार के संयोग-वियोग दोनों पक्षों का सुन्दर सांगोपांग चित्रण हुआ है। विप्रलम्भ पक्ष प्रथम आया है, सम्भोग बाद में। विप्रलम्भ श्रृंगार के अन्तर्गत मान का बड़ा ही सरल, स्वाभाविक और

१. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ६।३१७.

सजीव चित्रण प्राप्त होता है। मान सहेतुक और निर्हेतुक दो प्रकार का होता है। सहेतुकमान ईर्ष्याजन्य होने के कारण ईर्ष्यामान एवं निर्हेतुकमान प्रणयतिशय के कारण प्रणयमान कहलाता है। 'पारिजातहरणम्' में दोनों ही प्रकार का मान वर्णित है।

ईर्ष्याजन्यमान

कृष्ण नारद प्रदत्त पारिजात पुष्प को निकटवर्तिनी रुक्मिणी की याचना पर उन्हें समर्पित कर देते हैं। इस घटना को दासीमुख से श्रवण कर सत्यभामा मानवती हो जाती है। सपत्नी रुक्मिणी का सौभाग्यातिशय सत्यभामा की ईर्ष्याग्नि को प्रज्ज्वलित कर देता है। नारद मुनि के उपदेश उनके ईर्ष्याजन्य कोप को और भी उदीप्त करने में सहायक होते हैं। वह कोप सत्यभामा तक सीमित न रहकर ईर्ष्यामान में प्रकट हो जाता है; यथा—

> अतिनिर्भरमन्तरुल्लसद्गुरुकोपानलताप्यमानया ।
> विहिताः श्वसितानिलोर्मिभिर्घनधूमोत्करधूसरा दिशः ॥
> क्वचिदुद्धततापतापिता क्वचिदासादितमोहमूर्च्छिता ।
> विषवेगवशीकृतेव सा सहसा संस्मृतिमाप च क्वचित् ॥[१]

यहाँ पर रति स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव—कृष्ण एवं सत्यभामा आश्रय हैं। 'कृष्ण ने पारिजातपुष्प रुक्मिणी को समर्पित किया है', ऐसा दासीमुख से श्रवण होना उद्दीपन है (जो प्रसंग से आक्षिप्त है)। उष्ण-श्वास, तीव्रताप, मूर्च्छा आदि अनुभाव है। असूया, निर्वेद, दैन्य, जडता, मोह, अमर्ष, स्मृति, ग्लानि, विषाद आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सबसे सत्यभामा का मान उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है। सत्यभामा का यह क्रोध अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता है। कारण, सत्यभामा को अपने सौभाग्या-तिशय पर अत्यधिक अभिमान था, कृष्ण पारिजातपुष्प उन्हें न देकर किसी अन्य प्रिया को समर्पित करेंगे; ऐसी उन्हें स्वप्न में भी आशंका नहीं थी। अतएव कृष्णकृत इस अपराध को देखकर वह अपना धैर्य त्याग देती हैं एवं अत्यधिक ताप से पीडित होकर मूर्च्छित हो जाती हैं। सत्यभामा की समस्त चेष्टाएँ विष वेग से वशीकृत व्यक्ति की भाँति हैं, जो उनके हृदय की समस्त निराशा, विकलता तथा व्यथा को अभिव्यंजित कर रही हैं।

मान का ज्वर चढ़ते ही मानिनी नायिका अपने वस्त्राभूषण तथा शय्या का परित्याग कर कोपभवन का आश्रय ले लेती है, जिससे उनके मान की

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ३।२९, ३०.

अभिव्यक्ति होती है; यथा—

तल्पं सुकोमलदुकूलमनोऽनुकूल-
मुद्दामशारदसुधाकरसन्निकाशम् ।
उत्सृज्यसूनसुकुमारशरीरवल्लि
भूमीतले बत निषीदसि कस्यहेतोः ॥
संसूचयन्निव निरन्तरसम्भृतानि
कल्याणवाणि ! घनकोपविजृम्भितानि ॥
मध्यं शिरीषमृदुलाङ्गि कृशं कथं ते
कम्पः पयोधरमहीधरयोर्दधाति ॥[1]

यहाँ पर रति स्थायीभाव है। आलम्बन—कृष्ण एवं आश्रय—सत्यभामा हैं। उद्दीपन—कृष्ण द्वारा रुक्मिणी को पारिजात पुष्प प्रदान करना। निर्वेद, दैन्य, विषाद, ग्लानि आदि व्यभिचारी भाव हैं। दुकूल एवं शयन का परित्याग, पयोधर का उच्चनिम्न होना, शरीर की कृशता आदि अनुभाव है। स्तम्भ, वेपथु आदि सात्त्विकभाव है, जिससे सत्यभामा का कोप अभिव्यञ्जित हो रहा है।

कभी-कभी अत्यधिक मान में वह अवस्था भी आती है, जब क्रोध के आलम्बन के दृष्टिपथ पर अवतरित होने पर नायिका उसे उपालम्भ आदि न देकर मौनावलम्बिनी बनकर उपेक्षाभाव प्रदर्शित करती है। किन्तु हृदय को आलोडित करने वाला क्रोध उसकी इस तटस्थता से और भी चमत्कृत हो जाता है; यथा—

प्रेयोऽपमानघनकोपपरीतचित्ता निःश्वासशोषितवराधरपल्लवश्रीः।
व्यावर्त्य तद्वदनतो नयनारविन्दं नम्रानना सततमेव भुवं लिलेख ॥[2]

प्रस्तुत स्थल पर कृष्ण मानवती सत्यभामा के समक्ष उपस्थित होकर चाटुकारी वचनों से उनके कोप का कारण पूछते हैं। मौनावलम्बिनी सत्यभामा उनके वचनों का कोई भी प्रत्युत्तर न देकर उनके मुख से दृष्टि हटाकर भूमि पर कुछ अंकित करने लगती है। यहाँ पर सत्यभामा का मान व्यंग्य होकर चमत्कार को प्राप्त कर रहा है। रति स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव कृष्ण है, आश्रय सत्यभामा है। अपराधी कृष्ण का दृष्टि-पथ पर आना उद्दीपन है। निर्वेद, असूया, अवहित्था, दैन्य, ग्लानि आदि व्यभिचारी हैं। उष्ण श्वास के कारण अधरों का शुष्क होना, कृष्ण के मुख

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , ४।३२, ३७.

२. वही, ४।३०.

पर से दृष्टि हटाना, नतमुखी होकर भूमि पर लेखन कार्य आदि करना अनुभाव है, जिससे सत्यभामा का मान अभिव्यंजित हो रहा है।

मानमोचन

संस्कृत कवियों ने मानवर्णन के पश्चात् मानमोचन का भी ललित वर्णन किया है। 'पारिजातहरणम्' में कवि कर्णपूर ने उसी प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए मानमोचन का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है। मानिनी सत्यभामा के मानमोचनार्थ सर्वप्रथम उनकी प्रियसखियाँ प्रयत्नशील होती हैं। ताप-शमनार्थ कवि सम्प्रदाय प्रसिद्ध कर्पूर, चन्दन, कमलपत्र तथा धारागृह का आलम्बन लेती हैं, किन्तु सब निरर्थक हो जाता है।[1] सत्यभामा का मानरूपी ज्वर जब सखियों के प्रयासों से प्रशमित नहीं होता है, तब कृष्ण सामनीति का अवलम्बन लेते हैं। चाटुकारी वचनों से उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं; यथा—

प्राणाधिकप्रियतमे ! न हि तावकीनं
स्वप्नेऽपि विप्रियमकारि मया कदापि।
तत् किं शुभे ! शशकशोणितशोणिमान-
मालम्बते सपदि ते नयनारविन्दम् ॥[2]
दासोऽहमब्जनयने ! निबिडानुराग-
मुल्लासय स्मितसुधामधुरं मुखेन्दुम्।
आनन्दवारिधिरुदेतु चिरं समन्ता-
दालोकवान् भवतु भाविनि ! जीवलोकः ॥[3]

प्रस्तुत श्लोकों में कृष्ण ने अत्यधिक प्रणयवश सत्यभामा के मानमोचनार्थ चाटुकारी वचनों का आश्रय लिया है। आलंकारिकों ने इस प्रकार की चाटुकारता को सामनीति की संज्ञा से अभिहित किया है।[4] यहाँ रति स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव—सत्यभामा तथा आश्रय—कृष्ण हैं। सत्यभामा का मान उद्दीपन है। दैन्य, ग्लानि, विषाद आदि व्यभिचारीभाव हैं। कृष्ण के चाटुकारी वचन अनुभाव हैं, जिससे कृष्ण की सत्यभामा विषयक रति आस्वादित हो रही है।

मानिनी सत्यभामा अत्यधिक स्वाभिमानिनी है। उनका मान कृष्ण के

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ४।२–५.
२. वही, ४।३८.
३. वही, ४।३९.
४. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ३।२०२.

मनोमुग्धकारी चाटुकारी वचनों से प्रशमित नहीं होता है। अतएव वे मान-भंगार्थ दान का आश्रय लेते हैं; यथा—

साशङ्कमङ्कमधिरोप्य हरिस्तदानीं
सद्यस्तदीयवदनं चतुरश्चुचुम्ब।
आलिङ्ग्य तामथ मनोज्ञरुचिर्नताङ्गी-
मङ्गीचकार सुरराजतरुप्रदानम्॥
विद्राव्य देवनिवहानवहेलयैव
निर्जित्य शौर्यविभवेन सुराधिराजम्।
यद्यानयामि न नितम्बिनि! पारिजातं
भूयास्तदा सुमुखि! मे विमुखी त्वमेव।[1]

यहाँ पर रति स्थायीभाव है। आलम्बन विभाव सत्यभामा तथा आश्रय कृष्ण हैं। सत्यभामा का मान उद्दीपन है। व्रीडा, शङ्का, हर्ष, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। अङ्कग्रहण, मुख-चुम्बन, आलिङ्गन एवं अवनत-मुखी होना आदि अनुभाव हैं, जिससे कृष्ण और सत्यभामा की परस्पर रति आस्वादित हो रही है। सत्यभामा का मान चूँकि पारिजात पुष्प के लिए था, इसलिए कृष्ण यहाँ उन्हें प्रसन्न करने के लिए पारिजातवृक्ष देने की प्रतिज्ञा करते हैं। आलंकारिकों के अनुसार मानमोचन का यह उपाय दान कहलाती है।[2]

प्रणयमान

प्रणयमान निर्हेतुक होता है। प्रेम की गति सर्प की भाँति कुटिल होती है। मान के पश्चात् सम्भोग का आनन्द कोटिगुणाधिक बढ़ जाता है। अतएव प्रणयमान का चित्रण करने में कवियों की विशेष रुचि रही है। 'पारिजातहरणम्' में कवि कर्णपूर ने ईर्ष्या मान की भाँति प्रणयमान का भी स्निग्ध वर्णन किया है; यथा—

शून्या दिशो दश विषं विषयाभिलाषः
कामो यमस्तुहिनभानुरसौ कृशानुः।
प्राणैः शपे सुमुखि! सम्प्रति सम्प्रतीहि
जीवोऽपि मे खलु दुनोति मनोऽनुवेलम्॥[3]

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ४।५६, ५७.
२. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ३।२०२.
३. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १२।२६.

प्रस्तुत प्रसंग में नायक रमण के लिए उत्सुक है। नायिका बिना किसी कारण मानवती है। नायक उसके मानभंगार्थ अनेक चाटुकारी वचनों का प्रयोग कर रहा है; यथा—हे सुमुखि ! प्राणों की सौगन्ध देकर कह रहा हूँ, मेरे वचन का इस समय विश्वास करो। मुझे दशों दिशाएँ शून्य प्रतीत होती हैं, विषयाभिलाषा विष के समान प्रतीत होती है, काम यम के समान भयंकर प्रतीत होता है। चन्द्रमा आदित्य की भाँति दग्ध करता है। यद्यपि मैं जीवित हूँ तथापि मेरा मन प्रतिक्षण पीडित रहता है। यहाँ रति स्थायी भाव है। मानिनी नायिका आलम्बन विभाव है। उद्दीपन नायिका का विमुख होना है। चाटुकारी वचन अनुभाव हैं। दैन्य, विषाद, शंका, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सबके सहयोग से रति आस्वादित हो रही है। प्रणयमान चाटुकारी वचनों से शीघ्र ही प्रशमित हो जाता है; यथा—

इत्यादिवाग्विलसितैरनुमीयमान-
मानातिरेकवलितापि चिरं प्रियेण।
अश्रूणि काचन तदा प्रमदा मुमोंच
तन्नास्ति यच्चतुरचारुगिरामसाध्यम् ॥[1]

यहाँ पर रति स्थायीभाव है। आलम्बन नायक और आश्रय नायिका है। उद्दीपन नायक के चाटुकारी वचन हैं। अश्रुमोचन अनुभाव हैं। अश्रु, स्तम्भ आदि सात्त्विक भाव है। अश्रुधारा में नायिका का समस्त मान प्रवाहित हो जाता है और वह पुनः पूर्वस्थिति में आ जाती है।

सम्भोग श्रृंगार

सम्भोग श्रृंगार का चरमोत्कर्ष 'पारिजातहरणम्' के एकादश, द्वादश तथा अष्टादश सर्ग में दृष्टिगोचर होता है। एकादश और द्वादश सर्ग में कृष्ण सुमेरु पर्वत पर अपनी समस्त प्रियाओं के साथ वनविहार, जलविहार आदि का रसास्वादन करते हैं, उस अवसर पर सम्भोग श्रृंगार का पूर्ण परिपाक हुआ है। सम्भोग श्रृंगार के समस्त भेदों—सन्दर्शन, स्पर्श, अधरपान, जलकेलि, वस्त्रग्रहण, आलिंगन, चुम्बन, मदिरापान आदि का यथोचित वर्णन किया गया है।

सन्दर्शन

अवलम्ब्य करेण नीविकां घनघर्मस्तिमितस्तनाम्बरा।
मुरजिद्वदनार्पितेक्षणा ललना काचन मोहभूरभूत् ॥[2]

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , १२।२७.

२. वही, ११।२२.

प्रस्तुत उदाहरण में रति स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव—कृष्ण तथा आश्रय—कृष्ण की प्रिया है। वनशोभा, मन्द-मन्द सुरभित वायु (प्रकरण से आक्षिप्त) तथा वनविहार के लिए उपस्थित कृष्ण की ओर देखना आदि उद्दीपन हैं। हर्ष, मद, जडता, औत्सुक्य, चपलता, मोह आदि व्यभिचारी भाव हैं। नीवीं थामना, स्वेद बिन्दु से स्तनाम्बर का भीग जाना आदि अनुभाव हैं। हर्ष के कारण स्वेद, स्तम्भ आदि सात्विक भाव हैं। यहाँ पर नायिका का सम्भोग अभिलाषत्व व्यंग्य हो रहा है। कृष्ण का मुख देखते ही उसके हृदय में सम्भोगेच्छा बलवती हो जाती है, जिसके फलस्वरूप वह अपनी नीवीं का स्पर्श करती है।

स्पर्श

वलितघर्मघनस्तनमण्डले ददाति पाणिपुटं यदुनन्दने।
दरनिमीलितदृग् विशदस्मितं मुखमकारि मृगेक्षणया नतम्॥[1]

यहाँ पर कृष्ण अपनी प्रिया के स्वेदसंवलित स्तनों का स्पर्श करते हैं। नायिका स्पर्शजन्य सुख का अनुभव करती हुई नेत्रों को निमीलित कर स्मितमुखी होकर लज्जावश अपना मुख नत कर लेती है। रति स्थायीभाव है। आलम्बन विभाव कृष्ण एवं आश्रय नायिका है। उपवनशोभा, मन्द वायु तथा प्रिय द्वारा स्तनस्पर्श उद्दीपन है। व्रीडा, हर्ष, औत्सुक्य, जडता, चपलता आदि व्यभिचारी भाव हैं। नेत्रनिमीलन, स्मितमण्डित नतमुख आदि अनुभाव हैं। स्तम्भ, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भाव हैं।

वस्त्रहरण

सरभसं परिचुम्ब्य मुखाम्बुजं वसनसंग्रहणाय समुत्सुकः।
अथ निरुद्धकरः प्रियया स तामनुनयेन मुरारिरतोषयत्॥[2]

प्रस्तुत प्रसंग में कृष्ण वसन्तऋतु में अपनी प्रिया के साथ विहार कर रहे हैं। मुखचुम्बन के पश्चात् कृष्ण प्रिया के वस्त्र ग्रहण के लिए अपनी उत्सुकता प्रकट करते हैं। नायिका कर इंगित से उन्हें ऐसा करने से विरत करती है। किन्तु कृष्ण पुनः अनुनय-विनय के द्वारा उसे सन्तुष्ट कर देते हैं। यहाँ रति स्थायी भाव है। परस्पर आलम्बन विभाव कृष्ण व उनकी प्रिया हैं। वसन्तऋतु उद्दीपन है। हर्ष, उन्माद, औत्सुक्य, चपलता आदि व्यभिचारी भाव हैं। मुखचुम्बन, वस्त्रग्रहणार्थ उत्सुकता तथा अनुनय-विनय आदि अनुभाव हैं, जिससे पूर्ण श्रृंगार की अभिव्यक्ति हो रही है।

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्; १८।४३.

२. वही, १८।४४.

चुम्बन एवं आलिङ्गन

अधरं भ्रमरेण खण्डितं दयित ! द्रागवशोच्यतामिह ।
गदितः प्रिययेति सादरं हरिरालिङ्ग्य चिरं चुचुम्बताम् ।।[1]

वनविहार के अवसर पर किसी नायिका का अधर भ्रमर द्वारा खण्डित कर दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप वह कृष्ण से पीड़ा दूर करने के लिए प्रार्थना करती है। प्रिया के द्वारा प्रार्थित कृष्ण उचित अवसर देखकर उसका सादर आलिंगन कर चुम्बन कर लेते हैं। यहाँ पर रति स्थायीभाव है। परस्पर आलम्बन विभाव कृष्ण व उनकी प्रिया हैं। उपवन, वनविहार तथा भ्रमर-खण्डित अधर उद्दीपन हैं। हर्ष, उन्माद, चपलता, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। आलिंगन और चुम्बन अनुभाव हैं। रोमांच, स्वेदादि सात्त्विकभाव आक्षिप्त हैं। इनके सहयोग से सम्भोग-शृंगार आस्वादित हो रहा है।

'पारिजातहरणम्' में नखार्पण, अधरदंशन आदि का भी वर्णन प्राप्त होता है। इन स्थलों पर अनुभाव, विभाव आदि इतने स्पष्ट हैं कि उनका स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। अतएव कुछ उद्धरणों को देख लेना ही पर्याप्त होगा; यथा—

नखार्पण

दलदब्जदृशां चकाशिरे कुचशैलेषु नखक्षतस्रजः ।
त्रिजगद्विजयोर्जितौजसो मदनस्येव यशःप्रशस्तयः ।।[2]

पुनश्च

मृगदृशां स्तनशैलसमुद्गता रुरुचिरे नखरक्षतराजयः ।
वशयितुं युवमानसपन्नगान् मदनतान्त्रिकमन्त्रगणा इव ।।[3]

अधरदंशन

दशति केलिपरेऽधरपल्लवं न यदरोधि करेण मृगीदृशा ।
रसिकचित्तविमोहनहेतवे तदभवन्मदनस्य महौषधम् ।।[4]

मदिरापान

संस्कृत के प्रायः सभी कवियों ने सम्भोग शृंगार के अन्तर्गत मदिरापान का विलासपूर्ण वर्णन किया है। इस प्राचीन परम्परा का निर्वाह करते हुए

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ११।३२.
२. वही, ११।६६.
३. वही, १८।४१.
४. वही, १८।४५.

कवि कर्णपूर ने 'पारिजातहरणम्' के द्वादश सर्ग में मदिरापान का स्निग्ध वर्णन किया है; यथा—

आपीय सीधु मधुरं सुचिरं विमूढा
शोणाननाम्बुजरुचिस्तरसालसांगी।
व्याघूर्णमाननयना मदनानुविद्धा
सुष्वाप कापि रसिकोरसि कोपनापि ॥[1]

प्रस्तुत प्रसंग में नायिका नायक से पूर्व घटित किसी बात पर रुष्ट थी, किन्तु मदिरापान के अनन्तर उसका क्रोध विस्मृत हो जाता है। मद्यपान के लक्षण प्रकट होने लगते हैं और काम के वशीभूत होकर वह नायक के वक्षस्थल पर सो जाती है। यहाँ पर रति स्थायीभाव है। उद्दीपन है—मदिरापान। शोणामुख, व्याघूर्णमानलोचन, आलसपूर्ण शरीर एवं वक्षस्थल पर सोना आदि अनुभाव हैं। आलस, उन्माद, श्रम, जड़ता, मोह आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सबके सहयोग से रति आस्वादित हो रही है।

इसी प्रकार मदिरापान का एक अन्य उदाहरण—

सद्योऽधरद्युतिरहारि हठादपूरि-
लीलागतिर्द्रुतमकारि विकारि चेतः।
एणीदृशस्तदपि सीधुनि सानुरागाः
को वेद वामनयनाहृदयं द्रढीयः ॥[2]

जलविहार

'पारिजातहरणम्' में जलकेलि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस प्रसंग में कुछ श्लोकों को देख लेना पर्याप्त होगा; यथा—

परितः परिवार्य सुभ्रुवः प्रणयक्रोधभरारुणाननाः।
करवारिजवारिशीकरैः सिषिचर्माधवमानताननम् ॥[3]
सभयेव निमज्जती जले कपटात् काचन चञ्चलेक्षणा।
सविधेऽपि समस्तसुभ्रुवां प्रियकण्ठग्रहसौख्यमन्वभूत् ॥[4]

'पारिजातहरणम्' में सम्भोग-शृंगार-वर्णन-प्रसंग में अनेक प्रकार की नायिकाओं का विदग्धतापूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। प्रगल्भा नायिका का एक चित्र द्रष्टव्य है; यथा—

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १२।३०.
२. वही, १२।३१.
३. वही ११।६३.
४. वही, ११।६५.

कुसुमानि निजैः कराम्बुजैर्मुहुरादाय जवादुपागताः।
कुतुकेन मुरारिमस्तके व्यकिरन् सादरमञ्जलोचनाः॥[1]

वनविहार के अवसर पर कोई प्रगल्भा नायिका कृष्ण को प्रणयक्रीडा का मौन निमन्त्रण देने के लिए उनके मस्तक पर पुष्प बिखेर देती है। यहाँ पर रति स्थायीभाव है। आलम्बन विभाव कृष्ण तथा आश्रय प्रगल्भा नायिका है। रमणीय वन उद्दीपन है। हर्ष, मद, आवेग, चपलता, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। कृष्ण के मस्तक पर पुष्पों को विकीर्ण कर देना अनुभाव है, जिससे कृष्ण के प्रति उसका अनुराग व्यंग्य हो रहा है। पुष्प विकीर्ण कर वह कृष्ण के मन में अपने प्रति आकर्षण एवं उत्कण्ठा जाग्रत करना चाहती है, जो वाच्य न होकर व्यंग्य हो रहा हैं।

इसी प्रकार अभिसारिका नायिका की उत्कण्ठा एवं सम्भ्रम का एक सुन्दर चित्र उल्लेखनीय है; यथा—

अङ्गेषु चन्दनरसं मृगनाभिबुद्ध्या
वासः सितं मलिनचोलधियार्पयन्ती।
सम्प्रस्थिता रमणवेश्म मुदा तदानीं
काचिद् न्यषेधि सहसैव सखीजनेन॥[2]

यहाँ पर अभिसारिका नायिका रात्रि के गहन अन्धकार में अभिसार के लिए तत्कालोचित तामसी वेषभूषा का विधान करना चाहती है, जिससे रात्रि के अन्धकार से साम्य रखता हुआ उसका वेषविन्यास अन्य जनों की दृष्टि से उसे सुरक्षित रख सके। किन्तु शीघ्र प्रिय समागम की उत्कण्ठा के कारण सम्भ्रमवश वह चन्दन रस को कस्तूरी समझकर उसी से अंगलेपन कर लेती है एवं श्वेत वस्त्रों को नील (मलिन) वस्त्र समझकर उन्हें ही धारण कर लेती है। प्रसन्नमुद्रा में जैसे ही प्रस्थान करने लगती है, वैसे ही उसकी सखियाँ उसके इस तत्कालोचित वेष से विपरीत वेष को देखकर उसे रोक देती हैं। क्योंकि उसकी यह श्वेतविभूषा ज्योत्स्नापूर्ण रात्रि के लिए सर्वथा अनुकूल थी, लेकिन गहन रात्रि के लिए कदापि उपयुक्त न थी। यहाँ पर इस विपरीत वेषविन्यास से अभिसारिका की उत्कण्ठा एवं सम्भ्रम नामक व्यभिचारी भाव का विशेष रूप से आस्वादन हो रहा है।

संस्कृत कवियों ने शृंगार की संयोगावस्था में स्त्रियों के 'शरीरज' (भाव, हाव, हेला आदि) 'अयत्नज' (शोभा, कान्ति आदि) एवं स्वभावज

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, ११।२६.
२. वही, १२।२३.

(लीला, विलास आदि) अलंकारों का वर्णन किया है। 'पारिजातहरणम्' में भी शृंगार रस वर्णन के प्रसंग में इन अलंकारों का वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ 'कान्ति' नामक 'अयत्नज' अलंकार देखिये—

उपचितदशनक्षताधरोष्ठं
वलदलकाकुलमुद्गतश्रमाम्भः।
मदमुदितदृशो मुखारविन्दं
मनसि न कस्य महोत्सवं ततान ॥[1]

रूप भोगादि से अंगों का जो विभूषण होता है, वह शोभा कही जाती है। किन्तु वही शोभा यदि मन्मथ की वृद्धिवश उज्ज्वल होती है, तो उसे कान्ति कहा जाता है। यहाँ पर सम्भोगानन्तर रमणियों की शोभा का वर्णन किया गया है। दन्त से क्षत अधर, चूर्ण अलकावलि, रतपरिश्रम से उद्गत स्वेद, मद से निमीलित होने वाले नेत्र एवं कमल सदृश मुख रमणियों की अयत्नज शोभा को व्यक्त कर रहे हैं। यह शोभा मदन वृद्धि करने के कारण उज्ज्वलता अर्थात् प्रकर्ष को प्राप्त कर रही हैं, इसलिए वह कान्ति नामक अलंकार के रूप में शोभित हो रही है।

इस प्रकार माधुर्य नामक अलंकार—

स्खलिता कबरी च्युताः स्रजो गलितं पत्रमभूषणा तनुः।
पुपुषुस्तदपि श्रियं परां प्रमदाः किं रुचिरस्य भूषणैः ॥[2]

रमणियों के प्रत्येक वेष एवं चेष्टाओं में जो चारुता पायी जाती है, वह 'माधुर्य' अलंकार है। यहाँ पर वनविहार से क्लान्त रमणियों की अवस्था का वर्णन किया गया है। रमणियों की वेणी स्खलित हो गई है, माला च्युत हो गई है, (कपोलों की) पत्ररचना (स्वेदादि से) गलित हो गई है एवं शरीर आभूषणों से (इतस्ततः स्खलित हो जाने के कारण) रहित हो गये हैं, तथापि रमणियाँ श्री को प्राप्त कर रही हैं। अथवा रुचिर लोगों के लिए आभूषण से क्या ? यहाँ पर रमणियों का यह विगलित वेष-विन्यास उनकी शोभा का उपस्कारक न होते भी उनके चारुत्व में कोई हस्तक्षेप नहीं कर रहा है, क्योंकि उनमें स्वाभाविक चारुत्व है। यह चारुत्व ही उनमें माधुर्य नामक अलंकार का विधान कर रहा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'पारिजातहरणम्' में शृंगार रस का सांगोपांग चित्रण किया गया है।

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , १२।५०.

२. वही, ११।४३.

हास्य रस

शृंगार प्रधान काव्यों में हास्य रस को योजना अवश्यमेव होती है। 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में हास्य रस का वर्णन स्फुट रूप में हुआ है। हास्य का आविर्भाव विकृत आकार, वाणी, वेष एवं चेष्टा से होता है। 'पारिजातहरणम्' में हास्य का आविर्भाव विकृत चेष्टा से होता है; यथा—

नखदारितदाडिमीफलोद्यद्द्रवलोभेन मुहुः करं लिहन्तः।
कपयो वलदङ्गभङ्गिभाजो विधिसूनोर्मुदमुत्तमां वितेनुः ।।[1]

अर्थात् 'नख से विदारित किये गये दाडिम फल से द्रवित होने वाले द्रव को लोभवश हाथ में लेने के लिए अपने अंग-प्रत्यङ्ग को तोड़ते हुए मरकट नारद के मन में उच्चकोटि की प्रसन्नता का आधान करने लगे।'

यहाँ पर आलम्बन मरकट समुदाय है। आश्रय नारद मुनि हैं। हास स्थायी भाव है। मरकटों की विकृत चेष्टाएँ—दाडिम फलों को नख से दारित करना, बहते हुए द्रव को हाथ में लेने की चेष्टा करना एवं अपने अंग-प्रत्यंग को तोड़ना-मरोड़ना आदि उद्दीपन विभाव हैं। इन चेष्टाओं को देखकर नारद मुनि का प्रसन्न होना अनुभाव है। हर्ष, चपलता, औत्सुक्य आदि संचारी भाव आक्षिप्त हैं। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, कवि कर्णपूर ने हास्य के तीन भेद स्वीकार किये हैं—स्मित, हास्य और प्रहास। यहाँ पर हास्य स्मित रूप प्रतीत हो रहा है। स्मित रूप हास्य उत्तम कोटि के जनों में पाया जाता है। हृदय की प्रसन्नता से मुख पर स्मित की रेखायें अंकित हो जाती हैं। प्रस्तुत उदाहरण में 'उत्तमां मुदम्' से स्मित रूप हास्य पुष्ट होता है।

वीर रस

'पारिजातहरणम्' में शृंगार के पश्चात् सर्वाधिक वीर रस का परिपाक हुआ है। वीर चार प्रकार के माने गये हैं—दानवीर, धर्मवीर, दयावीर एवं युद्धवीर। वीरता के ये चारों रूप कृष्ण में प्रदर्शित किये गये हैं, किन्तु दानवीर, धर्मवीर एवं दयावीर का सांगोपांग चित्रण नहीं हो पाया है। युद्धवीरता का वर्णन किञ्चित् विशेष विस्तार के साथ हुआ है। इसका पूर्ण परिपाक त्रयोदश एवं पञ्चदश सर्ग में प्राप्त होता है। इस प्रसंग में कुछ उद्धरणों को देख लेना पर्याप्त होगा, यथा—

---

१. कविकर्णपूर, पारिजातहरणम्, ७।६.

कुण्डलीकृतकोदण्डो यमदण्डोपमैः शरैः ।
अद्य सद्यो विधास्यामि निर्दैवतमिदं जगत् ॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर सात्यकि कृष्ण के सन्देश को इन्द्र के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं। उत्साह स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव इन्द्र एवं आश्रय कृष्ण हैं। इन्द्र का पारिजातवृक्ष न देना उद्दीपन है (जो आक्षिप्त है); दूत रूप में सात्यकि को इन्द्र के निकट प्रेषित करना तथा गर्वोक्ति करना अनुभाव है। गर्व, आवेग, अमर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं, जिनके सहयोग से वीर रस आस्वादित हो रहा है।

इसी प्रकार अन्यत्र—

पुरैव श्रुतमस्माभिर्नारदात्तदुदीरितम् ।
शैनेय ! नाधिकं किञ्चित् त्वयाय विनिवेद्यते ॥
परं तु यदि संग्रामकामस्ते यदुनन्दनः ।
तदायातु समं स्वीयैरशनेरस्य सम्मुखम् ॥[2]

यहाँ उत्साह स्थायी भाव है। कृष्ण आलम्बन एवं आश्रय इन्द्र हैं। नारद और सात्यकि द्वारा (शत्रु) कृष्ण के पराक्रम का उद्घाटन करना उद्दीपन है। कृष्ण को अपने वज्र के सम्मुख आने के लिए निमन्त्रित करना एवं गर्वोक्ति अनुभाव है। गर्व, औत्सुक्य, मद तथा असूया आदि व्यभिचारी भाव हैं, जिनसे उत्साह परिपोष्य प्राप्त कर युद्धवीर में आस्वादित हो रहा है।

युद्ध क्षेत्र में एकत्रित होने वाली सेनाओं के अप्रतिम 'उत्साह' का वर्णन करने में कवि को विशेष सफलता मिली है; यथा—

जवात्पतन्तावतिवीर्यवन्तौ तरङ्गसङ्घाविव सागरस्य ।
समीयतुः सङ्गरभूमिभागानुपेन्द्रदेवेन्द्रचमूसमूहौ ॥
अनल्पकल्पान्तसमीरसङ्गात् समुत्पतन्ताविव वारिवाहौ ।
बलोत्करावेत्य तयोः समन्ताद्वितेनतुर्द्रागतिसान्द्रनादान् ॥
निजप्रभोर्नाम समुद्गिरन्तो रणोग्रविक्रान्तिपराः प्रवीराः ।
मिथः शरानुग्रतरान् वितेनुः पयःप्रवाहानिव वारिवाहाः ॥
यशो हिमांशुप्रतिमं समन्तादसुव्ययेनापि समीहमानाः ।
परस्परस्पर्द्धितया तदानीमस्त्रप्रहारान्विदधुः प्रवीराः ॥

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १३।१३.
२. वही, १३।३१, ३२.

समित्समारम्भधृतोरुदम्भाः सम्भावयन्तो विजयं स्वकीयम् ।
निपातयामासुरपारसाराः प्रहारधारावलिभिर्विपक्षान् ।।[1]

प्रस्तुत प्रसंग में इन्द्र और उपेन्द्र दोनों की सेनाएँ समुद्र में उठने वाली तरंगों की भाँति प्रबल वेग के साथ शीघ्रतापूर्वक रणक्षेत्र में एकत्रित हो रही हैं। प्रलयकारी झंझावात के साथ गम्भीर गर्जन करने वाले मेघों के समान उदीर्ण नाद कर रही हैं। वीर सैनिक अपने-अपने स्वामियों का उच्च स्वरों में नाम लेते हुए मूसलाधार जलवृष्टि करने वाले मेघों के समान परस्पर शरवृष्टि कर रहे हैं। इस समय उनका उत्साह चरम सीमा पर है। वे प्राणों के प्रतिदान में चन्द्रमा के समान स्वच्छ यश के अभिलाषी हैं। इसलिए परस्पर स्पर्द्धापूर्वक शस्त्रप्रहार कर रहे हैं। कुछ सैनिक—'युद्ध आरम्भ हो रहा है; अतएव उन्हें वीरता प्रदर्शित करने का अवसर मिलेगा, इसलिए अत्यधिक गर्वित होकर अपने पक्ष की विजय की सम्भावना करते हुए प्रबलधारा से विप्रक्षी सेना पर प्रहार करते हैं।

कृष्ण के युद्ध कौशल का सूक्ष्म वर्णन द्रष्टव्य हैं; यथा—

मन्दोन्मादिना तेन गाढं गजेन प्रवृद्धानि युद्धाङ्गणे सैनिकानि ।
वनानीव कल्पान्तवाताभिघाताच्चलच्छैलराजेन चूर्णीकृतानि ।।
गजं वीक्ष्य संख्योद्धतं पंकजाक्षो बलक्षोभमत्युद्भटं भावयित्वा ।
करे कार्मुकं वाणसन्धानबद्धं तदोल्लासफुल्लाननश्रीश्चकार ।।[2]

प्रस्तुत प्रसंग में कृष्ण और इन्द्र के मध्य प्रत्यक्ष युद्ध हो रहा है। इन्द्र ऐरावत के माध्यम से युद्ध कर रहे हैं। मदोन्मत्त ऐरावत युद्ध के लिए आगे बढ़ते हुए सैनिकों को उसी प्रकार दलित कर देता है, जिस प्रकार प्रलयकारी झंझावात के अभिघात से शैलराज वनों को धराशायी कर देता है। कृष्ण ऐरावत की इस युद्धोद्धतता को देखकर उसे (अपनी) सेना में विकट क्षोभ उत्पन्न कर देने वाला समझकर उसी पर शरसन्धान करते हैं। वस्तुतः कुशल योद्धा की सफलता का रहस्य यही है कि वह शरसंचालन परिस्थिति के अनुसार करे। यहाँ पर यदि शरसन्धान ऐरावत पर न करके इन्द्र पर किया जाता, तब तक मदान्ध ऐरावत सेना में महान् विप्लव उपस्थित कर देता। कृष्ण की सेना भयभीत होकर पलायित भी हो सकती थी। यहाँ पर कृष्ण का यह निर्णय उनकी मति का द्योतक है। उत्साह

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १४।१४, १५, १७, १८, १९.
२. वही, १५।३०, ३१.

स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव इन्द्र का ऐरावत एवं आश्रय कृष्ण हैं। ऐरावत द्वारा सेना को दलित करना उद्दीपन है। कृष्ण द्वारा वाणवृष्टि करना अनुभाव है। मति एवं धृति नामक संचारी भाव विशेष रूप से आस्वादित हो रहा है।

पुनश्च—

कल्पान्तसन्ततपयोधरघोरनाद-
मुद्वीक्ष्य वज्रममरेशकरे मुरारिः।
उद्दामदानवदवानलमुज्जिहान-
ज्वाला वितानघनमाशु दधार चक्रम् ॥
निजैर्ज्वालाजालैः कवलयति दिक्चक्रमुदितं
महाचक्रे कोटिस्फुरदुरुखरांशुप्रतिनिधौ।
चकम्पे शम्पेव त्रिभुवनमभूद् व्यग्रमरुणं
जजागार स्फारो मुरहरजयश्रीपरिकरः ॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर कृष्ण के युद्ध-कौशल से पराजित इन्द्र अपनी सेना के रक्षार्थ प्रलयकालीन मेघों के समान गम्भीर नाद करने वाले वज्र को धारण कर लेते हैं। कृष्ण इन्द्र के वज्र का उचित प्रत्युत्तर देने के लिए उद्धत दैत्यों का विनाश करने वाले दावाग्नि प्रतिम चक्र को अपने हाथों में उठा लेते हैं। उत्साह स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव इन्द्र एवं आश्रय कृष्ण हैं। इन्द्र का वज्रग्रहण उद्दीपन है। प्रत्युत्तर में कृष्ण का चक्र धारण करना अनुभाव है। हर्ष, आवेग, उन्माद, चपलता, गर्व, मति आदि व्यभिचारी भाव हैं, इनके सहयोग से कृष्ण का उत्साह आस्वादित होता है।

वीर रस का एक अन्य उदाहरण देखिये—

दर्पादाह्वयतां मिथः प्रसरतां वीरव्रजानां मुहुः
शस्त्राशस्त्रि: कचाकचि प्रविलसद्दोर्दण्डचण्डद्विषाम्।
संरम्भादभिधावतां मदवतामत्यूर्जितं गर्जतां
दन्तादन्ति च दन्तिनामपि महत्यासीदमीषां समित् ॥[2]

प्रस्तुत श्लोक में युद्ध का अत्यधिक स्वाभाविक वर्णन किया गया है। इन्द्र और उपेन्द्र की सेनाएँ युद्ध के लिए प्रस्तुत हैं। दोनों पक्षों के योद्धा एक दूसरे को गर्वपूर्वक ललकार रहे हैं एवं पैंतड़े बदलते हुए इतस्ततः युद्ध में विचर रहे हैं। शस्त्र परस्पर टकरा रहे हैं। प्रचण्ड धनुषों की टंकार

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १५।४२, ४३.
२. वही, १५।२३.

गुञ्जायमान हो रही है। अत्यधिक ऊर्जित मद के कारण हाथी इधर-उधर गर्जना करते हुए भाग रहे हैं। उनका अपना पृथक् युद्ध चल रहा है। उत्साह स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव परस्पर विजेतव्य शत्रु सेना है। गर्वपूर्वक एक-दूसरे को ललकारना, युद्ध कौशल एवं पैंतरे बदलना अनुभाव है, जो दूसरे पक्ष के लिए उद्दीपन विभाव है। गर्व, आवेग, सम्भ्रम, चपलता, धृति, मति आदि संचारी भाव हैं। इनके सहयोग से वीर रस आस्वादित हो रहा है।

रौद्र रस

रौद्र रस का वर्णन 'पारिजातहरणम्' के चतुर्दश एवं पञ्चदश सर्ग में प्राप्त होता है। इन स्थलों पर कृष्ण और इन्द्र के क्रोध की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

यथा—

अखर्वगर्वं बहलं बलारेर्यथा यथा सात्यकिराशशंस।
तथा तथा कोपकषायितश्रीर्ददौ दृशं चक्रधरः स्वचक्रे॥
अथोग्ररोषारुणभीषणश्रीर्ललाटबद्धभ्रकुटीतरङ्गः।
निर्यातुमत्यूर्जितबाहुवीर्यो बलानुजः स्वं बलमादिदेश॥[1]

प्रस्तुत प्रसंग में सात्यकि इन्द्र के समीप से लौटने के पश्चात् कृष्थ के समक्ष इन्द्र के अखर्वगर्व का उद्घाटन करते हैं, जिसे सुनकर कृष्ण का क्रोध उद्दीप्त हो जाता है। यहाँ पर क्रोध स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव इन्द्र एवं आश्रय कृष्ण हैं। सात्यकि द्वारा इन्द्र की गर्वोक्तियों का उल्लेख करना उद्दीपन है। नेत्रों का रक्त होना, ललाट पर भ्रकुटी पड़ना, रोषपूर्वक चक्र की ओर देखना एवं सेना को प्रस्थान के लिए आदेश देना आदि अनुभाव हैं। गर्व, आवेग, अमर्ष आदि संचारी भाव हैं। इन सबके सहयोग से कृष्ण का क्रोध रौद्ररस में आस्वादित हो रहा है।

पुनश्च—

अपारसारेण शरेण शौरेः पराहतो मर्मणि वारणेन्द्रः।
धुन्वन् मुहुर्मौलिमुदीर्णनादो न्यषेधि शक्रेण पलायमानः॥
मान्थर्यं गतवति वारणे समन्तादत्यन्तप्रसरदुदारकोपपूर्णः।
सन्नद्धैः सुरनिकरैः समं समस्तैरस्त्राणि त्रिदशपतिस्तदा मुमोच॥[2]

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्; १४।२, ३.

२. वही, १५।३३, ३४.

प्रस्तुत प्रसंग में इन्द्र और कृष्ण के मध्य युद्ध चल रहा है। कृष्ण के तीक्ष्ण बाणों से विदीर्ण मर्म वाला ऐरावत पीडा के कारण पुनः अपने मस्तक को धुनता हुआ एवं करुण क्रन्दन करता हुआ युद्ध क्षेत्र से पलायित होने लगता है। इन्द्र किसी प्रकार उसे पलायमान होने से रोकते हैं। किन्तु शत्रु सेना के मध्य ऐरावत की शिथिल गति इन्द्र के क्रोध को उद्दीप्त कर देती है। यहाँ पर क्रोध स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव कृष्ण की सेना एवं आश्रय इन्द्र हैं। कृष्ण के बाणों से परास्त ऐरावत का उदीर्णनाद, मौलि का धुनना, पलायमान होने का प्रयास एवं मन्द गति का धारण करना उद्दीपन विभाव है। समस्त देवगणों के साथ अस्त्रवर्षा करना अनुभाव है। गर्व, अमर्ष, सम्भ्रम, चपलता, आवेग आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सबके सहयोग से क्रोध रौद्र रस में आस्वादित हो रहा है। वस्तुतः यहाँ पर इन्द्र के कोध को उद्दीप्त करने वाली घटना अत्यधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है। एक ओर कृष्ण और इन्द्र के मध्य युद्ध हो रहा है। कृष्ण की भयंकर बाणवृष्टि इन्द्र के पक्ष को कुछ निर्बल बना रही है। ऐसे समय में जबकि इन्द्र कृष्ण की बाणवृष्टि का उपयुक्त प्रत्युत्तर प्रदान करें उस समय ऐरावत का पराहत होकर पलायमान होना एवं मन्दगति धारण करना वास्तव में क्रोध का कारण बन जाता है। इन्द्र का कृष्ण और ऐरावत पर सहज उत्पन्न होने वाला क्रोध रौद्र रस में आस्वादित होने लगता है।

बीभत्स रस

बीभत्स रस शृंगार, करुण आदि की भाँति आह्लादकारी न होने के कारण कवियों का विशेष प्रिय नहीं रहा है। महाकाव्यों में उसका वर्णन स्फुट रूप में प्राप्त होता है। 'पारिजातहरणम्' में बीभत्स रस चतुर्दश सर्ग के दो श्लोकों में वर्णित है; यथा—

करीन्द्रदन्तार्पितकर्णभूषाः कृतास्त्रहाराः क्षतजाङ्गरागाः।
मन्दोन्मदाः शोणितसीधुधाराः कपालपात्रैरपिबन् पिशाच्यः॥
क्षतक्षरद्वीरशरीरमुच्चैरादाय दर्पात् परिचर्चयन्तः।
उत्तालतालोत्तरलं तदानीं पिशाचसङ्घा ननृतुः समन्तात्॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर जुगुप्सा स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव वीरों का शव एवं आश्रय सहृदयजन हैं। पिशाचों की विविध चेष्टाएँ—कपालपात्रों से मदोन्मत्त होकर रक्त पीना, क्षरक्षराते हुए वीरों के शरीर को लेकर इतस्ततः संचरण करना एवं ताली बजाकर नृत्य करना, पिशाचों की

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १४।५६, ६०.

वेषभूषा—हस्तिदन्त के कर्णाभूषण, अस्थियों की माला तथा क्षत शरीर के मांस का अंगहार लगाना आदि उद्दीपन विभाव हैं। पिशाचों की उपर्युक्त चेष्टाएँ एवं वेषभूषा आश्रय के हृदय में विद्यमान जुगुप्सा भाव को उद्बुद्ध कर देती हैं, जिससे बीभत्स रस का आस्वादन होता है। यहाँ पर आश्रय चेष्टाएँ अर्थात् अनुभाव—निष्ठीवन, आस्यवलन, नेत्र संकोचन आदि आक्षिप्त हैं। इसी प्रकार स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भाव एवं मोह, अपस्मार, आवेग आदि संचारी भाव भी आक्षिप्त हैं।

भक्ति रस

'पारिजातहरणम्' के षष्ठ, पञ्चदश एवं षोडस सर्ग में 'भक्तिरस' की योजना दृष्टिगत होती है। किन्तु इन स्थलों पर भक्तिरस का परिपाक गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के मनोनीत ग्रन्थ 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में विवेचित भक्तिरस सिद्धान्त पर न होकर 'अलंकारकौस्तुभः' के आधार पर किया गया है। संस्कृत के प्राच्यालंकारिकों ने 'देवादिविषयक रति' को भावकोटि में रखा है तथा उसे रस को संज्ञा से अभिहित नहीं किया है। कवि कर्णपूर ने स्वतन्त्र रूप से भक्ति रस का अस्तित्व स्वीकार किया है। कवि कर्णपूर की इस मान्यता में प्राच्यालंकारिकों एवं गौडीय वैष्णवाचार्यों के परस्पर विरोधी विचारों से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। गौडीय वैष्णवाचार्य कृष्णविषयक रति को भावकोटि में न रखकर भक्तिरस का स्थायी भाव स्वीकार करते हैं। सामान्य देवताविषयक रति को भाव संज्ञा से अभिहित करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं हैं। प्राच्यालंकारिक देवादिविषयक रति को भावकोटि तक ही सीमित रखने के पक्ष में है। कवि कर्णपूर के मतानुसार असम्प्रयोगविषया चेतोरंजकता रति देवता विषय होने पर भाव संज्ञा को धारण करती है। अर्थात् कृष्ण की देवत्व सर्वव्यापकत्वादि रूप से जो चित्त की रंजकता रति है, वह भाव संज्ञा को धारण करती है। किन्तु यह भावरूप स्थायी सम्प्रयोग विषयारति के परिणाम रूप जो भाव है, उससे सर्वथा भिन्न है।[1] उनके अनुसार यही भाव स्थायित्व को प्राप्त कर विभावानुभावादि सामग्री से पुष्ट होकर भक्तिरस बन जाता है।[2] जिस प्रकार निर्वेद भाव भी है और शान्त रस का स्थायी भाव भी, उसी प्रकार देवादिविषयक रति भाव

१. कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ० १२७

२. सैव देवादिविषयारतिर्भाव इति पारिभाषिकोऽपि भावः स्थायी सन् तत्तद्विभावादिसामग्रीसमवेतो भूत्वा भक्तिरस इति ।। वही, पृ० १४७

होकर भी स्थायित्व को प्राप्त कर भक्तिरस में आस्वादित होती है। कवि कर्णपूर के अनुसार भक्तिरस का आलम्बन कृष्ण ही सम्भव है। उद्दीपन उनकी महिमादि है। हृदय द्रवादि अनुभाव है। निर्वेद, दैन्यादि व्यभिचारी भाव हैं। भक्तिरस भक्तों में परोक्ष तथा सामाजिक में प्रत्यक्ष रहता है।[1] 'पारिजातहरणम्' में भक्तिरस के उच्चकोटि के उद्धरण प्राप्त होते हैं; यथा—

यद्भ्रूविलासवलितेषु जगत्सु नित्यं लोकेशकेशवमहेशमुखा मखेशाः।
निर्माणपालनविनाशकृताधिकारास्तस्मै पुराणपुरुषाय नमो नमस्ते॥
निहत्य दैत्यानुरुभारभङ्गुरां महीमहीनां लघुमाशु कुर्वते।
कृपावताराय मुहुर्महात्मने घनेन्द्रनीलद्युतये नमो नमः॥

आविर्भवन्ति विरमन्ति यतो जगन्ति
यत्राविशन्ति न गिरोऽपि महामुनीनाम्।
तद्धाम योगिजनचित्तनिवासिनित्यम्
आनन्दमन्दिरमुदारतरं भजामः॥[2]

यहाँ पर देवता विषय के कारण चित्तरंजकता रति स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव कृष्ण तथा आश्रय ब्रह्मा हैं। राक्षसवध, पृथ्वी का भार-हरण एवं जगत का निर्माण, संहार आदि कार्यरूप कृष्ण की महिमा उद्दीपन विभाव है। हृदयद्रवादि अनुभाव है। निर्वेद, दैन्यादि व्यभिचारी भाव है। स्तम्भ, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भाव हैं। इन सबके सहयोग से भक्ति रस आस्वादित हो रहा है।

अद्भुत रस

कवि कर्णपूर अद्भुत रस की सत्ता सर्वत्र स्वीकार करते हैं। इसलिए 'पारिजातहरणम्' के प्रथम सर्ग में द्वारिकापुरी के वर्णन प्रसंग में, सप्तम सर्ग में नारद व पर्वत की देवनगरी यात्रा के प्रसंग में, नवम सर्ग से लेकर द्वादश सर्ग पर्यन्त वनवर्णन, वनविहार, जलविहार एवं रतिक्रीडा वर्णन में, षोडश सर्ग में इन्द्रपुरी के वैभव वर्णन में तथा सप्तदश सर्ग में कृष्ण व सत्यभामा की विमानयात्रा के प्रसंग में अद्भुत रस का सन्निवेश किया गया है। रतिश्रम से परिश्रान्त नायिका के वर्णन में अद्भुत रस की छटा मनोहारी है, यथा—

---

१. कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ० १५०

२. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १५।४७, ५१, ५२

अतिलकमलकं च्युताधरश्रीर्नखरनखक्षतदन्तुरौ स्तनाद्री ।
तदपि मृगदृशो रतेऽनुरक्ताः शिव शिव किं न मनोभवस्तनोति ।।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'पारिजातहरणम्' की रसयोजना में शृंगार, वीर, रौद्र, बीभत्स, भक्ति एवं अद्भुत रस को यथोचित स्थान मिला है। साथ ही अनुभाव, विभाव एवं संचारी भावों की समुचित उपस्थिति से रस योजना सुन्दर बन पड़ी है।

द्वितीय खण्ड

चैतन्यदर्शन द्वारा प्रवर्तित भक्तिरसधारा और 'चैतन्यचरितामृतम्' में रस योजना

प्रस्तुत अध्याय के प्रथम खण्ड में कवि कर्णपूर के रसविषयक विचारों एवं 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य में रस योजना पर सम्यक् विचार विमर्श किया गया है। द्वितीय खण्ड में 'चैतन्यचरितामृतम्' महाकाव्य में रस-योजना पर विचार करने से पूर्व चैतन्यदर्शन द्वारा प्रवर्तित गौडीय वैष्णव-भक्तिरस धारा पर दृष्टिपात कर लेना अधिक समीचीन होगा। इसका प्रमुख कारण है कि 'चैतन्यचरितामृतम्' भक्तिरस प्रधान काव्य हैं, अतएव उस पर उसी दृष्टिकोण से दृष्टिपात करना अधिक औचित्यपूर्ण होगा।

१६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चैतन्यदर्शन द्वारा प्रवर्तित भक्तिरस का क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित शास्त्रीय स्वरूप रूपगोस्वामी के तीन सिद्धान्त-ग्रन्थों—'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु', 'उज्ज्वलनीलमणि' एवं 'नाटकचन्द्रिका' में प्रतिपादित किया गया है[2]।

---

१. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम् , १२।४४

२. भक्तिरस का निरूपण रूपगोस्वामी के उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त जीव-गोस्वामी के 'प्रीतिसन्दर्भ' एवं मधुसूदनसरस्वती के 'भक्तिरसायन' में भी किया गया है। यद्यपि मधुसूदनसरस्वती अद्वैतवादी हैं तथापि कृष्णभक्त होने के कारण उन्होंने 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' की ही भाँति भक्तिरस का निरूपण किया है। कहीं-कहीं रूपगोस्वामी के साथ इनका मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है। इसके अतिरिक्त 'चैतन्यचरितामृतम्' में कृष्णदास-कविराज द्वारा विवेचित भक्तिरस रूपगोस्वामी की रसप्रक्रिया का ही

भक्तिरस का प्राचीन रसशास्त्र से भेदाभेद

रूपगोस्वामी ने नूतन रस प्रक्रिया की प्रतिष्ठा के लिए रस सामग्री एवं उपकरणों का चयन प्राक्तन रस पद्धति से ही किया है, किन्तु चयन में उनकी सारग्राहिणीप्रवृत्ति, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एवं गवेषणाशक्ति सर्वत्र परिलक्षित होती है। भरतमुनि के प्रसिद्ध रससूत्र—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः' के आधार पर ही उन्होंने भक्तिरस की नवीन परिभाषा—'विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः स्वाद्यत्वं हृदिभक्तानामानीता श्रवणादिभिः एषा कृष्णरतिः स्थायीभावो भक्तिरसो भवेत्' का निरूपण किया है।[1] किन्तु उपर्युक्त परिभाषा में सात्त्विक भावों के द्वारा रसपरिपोष का पृथक् उपादान एवं केवल रति स्थायी की ही रसरूपता स्वीकार कर किञ्चित् मौलिकता का आभास दिया गया है। जिस प्रकार अभिनवगुप्तादि आचार्यों ने वासनामय रसिकों को रसास्वादन का अधिकारी घोषित किया; उसी प्रकार रूपगोस्वामी ने भक्ति की वासना से पूर्ण अन्तःकरण वालों को ही भक्तिरसास्वादन का अधिकारी घोषित किया है।[2] विभावानुभावादि की परिभाषाएँ प्राचीन हैं, किन्तु सात्त्विक भावों का सर्वत्र पृत्रक् निर्देश किया गया है। सात्त्विक भावों की द्विधा स्थिति के कारण उनको अनुभावों में सम्मिलित किया जाये या सञ्चारियों में? आरम्भ से ही यह प्रश्न आलंकारिकों के लिए विवाद का विषय रहा है। 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में इनकी पृथक् स्थिति स्वीकार कर सञ्चारीभाव एवं अनुभाव दोनों से इन्हें पृथक् कर एक नवीन दिशा का प्रदर्शन किया गया है। सात्त्विक भावों की संख्या आठ ही स्वीकार की गई है, किन्तु उनका वर्गीकरण नवीन है। सर्वप्रथम सात्त्विक भावों के स्निग्ध, दिग्ध एवं रूक्षादि[3] भेद करने के पश्चाद् उनके भूमि आदि आधारों का निरूपण किया गया है।[4] इसके अतिरिक्त

संक्षिप्त रूप है। अतएव यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में डॉ० अभयकुमार गुहा का शोध लेख **Rare Cult in Chaitanyacharitāmṛtam, Asutosh Silver Jubile Volume, Part III, Vol. III, pp. 368–88** द्रष्टव्य है।

१. रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, २।१।५, ६

२. प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना।
एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते॥ वही, २।१।७

३. वही, २।३।२

४. वही, २।३।११,१२

सात्त्विक भावों के प्रभाव का भी नवीन शैली से वर्णन किया गया है। जहाँ केवल एक ही सात्त्विक भाव रहता है, वहाँ ज्वलित, जहाँ तीन, चार या पाँच सात्त्विक भाव रहते हैं, वहाँ दीप्त और जहाँ छह या आठ सात्त्विक भाव एक साथ उपस्थित रहते हैं, वहाँ उद्दीप्त की स्थिति होती है।[1] जहाँ उत्तेजना भूरिकालव्यापी एवं बहुअंगव्यापी होती है या अपने चरम उत्कर्ष पर होती है, उसका भक्तिरस में पृथक् निरूपण किया गया है।[2] इसी सन्दर्भ में सात्त्विकाभासों का निरूपण किया गया है।[3] इस प्रकार का विभाजन साहित्यशास्त्र में नहीं किया गया है। विभावों की द्विप्रकारता एवं उनका स्वरूप प्राचीन पद्धति पर ही निरूपित किया गया है। साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण केवल कृष्ण को ही नायक स्वीकार किया गया है, किन्तु उपलक्षणतया व्याख्या करने पर प्रसिद्ध पद्धति से इसका व्यतिरेक नहीं है। कृष्ण के कुछ गुणों को आलम्बन के अन्तर्गत एवं कुछ गुणों को उद्दीपन के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है, किन्तु यह विषय प्रसिद्ध सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है, इसलिए नवीन नहीं कहा जा सकता है। इसमें कृष्ण तथा तद्भक्तों के सामान्य गुण, गिरीशादि से साम्य, विष्णु से साम्य और कृष्ण के स्वमात्रपर्यवसित गुणों का निरूपण साम्प्रदायिक आसक्तिमात्र है अतएव इसे नवीन उद्भावना नहीं कहा जा सकता है। प्रसिद्ध पद्धति में नायिकागत २८ अलंकारों का निरूपण किया गया है, जिनमें अनेक नायकगत भी स्वीकार किये गये हैं। इसी आधार पर यहाँ कृष्णगत सात्त्विक अलंकारों का भी विवेचन किया गया है। पार्थक्य केवल यही है कि सभी आलम्बनों के उदाहरण भक्तों से ही उद्धृत किये गये हैं। उद्दीपनों के प्रसंग में कृष्ण की वेशभूषा, वयःसन्धि इत्यादि का वर्णन भी प्राचीन रसशास्त्र से पृथक् नहीं है। हाँ, अनुभावों का वर्गीकरण दो रूपों—शीत और क्षेपण—में करके किञ्चित् नवीनता का उन्मेष किया गया है।[4] सञ्चारियों की संख्या और उनकी परिभाषा प्राचीन रसशास्त्रानुकूल ही है। केवल कतिपय नवीन—मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, विवेक, निर्णय, क्लीबता, क्षमा, आश्चर्य, उत्कण्ठा, विनय, संशय, धृष्टता आदि सञ्चारियों की उद्भावना कर उनका अन्तर्भाव इन्हीं ३३ सञ्चारियों में करने का प्रयास किया गया

१. रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, २।३।२६
२. वही, २।३।२७, २८
३. वही, २।३।२८–४४
४. वही, २।२।३

है।[1] व्यभिचारिभावों की परस्पर विभावता का प्रतिपादन नवीन दृष्टि का परिचायक है।[2] भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता तथा रसों की मैत्री आदि का निरूपण प्राचीन शैली पर ही आधारित है। रसाभास के सम्बन्ध में भक्ति रस शास्त्र में पूर्ववर्ती आचार्यों एवं परवर्ती आचार्यों के विरोधी विचारों का समन्वय किया गया है। रूपगोस्वामी ने रसों के वर्ण निरूपण में भरतमुनि का पूर्णतया अनुकरण किया है;[3] किन्तु देवताओं के निरूपण में सर्वतोभावेन स्वतन्त्रता का अवलम्बन लिया है। इस विषय में उन्होंने साम्प्रदायिक भावनाओं से आक्रान्त होने के कारण विष्णु के अवतारों को प्रमुखता दी है। विष्णु के दशावतारों में से मत्स्यावतार के अतिरिक्त शेष ९ अवतारों का समावेश इसके मध्य हो गया है। शेष तीन की पूर्त्ति ग्रन्थकार ने कपिल, माधव तथा उपेन्द्र के नामों को सम्मिलित करके की है।[4] किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन शान्त एवं बीभत्स रस के देवता के सम्बन्ध में किया है। रूपगोस्वामी ने शान्त रस का देवता कपिल एवं बीभत्स रस का देवता बुद्ध को स्वीकार किया है।[5]

इसी प्रकार चित्त की पाँच प्रकार की अवस्थाओं का वर्णन भी रूपगोस्वामी ने साहित्यशास्त्र की मान्यता के आधार पर किया है; किन्तु उसमें यत्किञ्चित् पार्थक्य भी है। प्राक्तन काव्यशास्त्र में चित्त की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं,[6] किन्तु यहाँ पाँच अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है।[7]

---

१. रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, २।४।७५, ७६

२. वही, २।४।८०

३. वही, २।५।९९–१००

४–५. वही, २।५।१००–१०१

६. विकास-विस्तार-क्षोभविक्षोभैः सचतुर्विधः।
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्॥
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव ही॥

धनिकधनञ्जय, दशरूपक, ४।४३, ४४

७. पूर्त्तेविकासविस्तारविक्षेपक्षोभतस्तथा।
सर्वभक्तिरसास्वादः पञ्चधा परिकीर्त्तितः॥
पूर्त्तिः शान्ते विकासस्तु प्रीतादिष्ठापि पञ्चसु।
वीरेऽद्भुते न विस्तारो विक्षेपः करुणोग्रयोः॥

रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, २।५।१०२–१०३

इस परिवर्तन का कारण स्पष्ट है। दशरूपककार ने शान्त को नाटकोपयोगी रस नहीं माना है। इसलिए चित्त की अवस्थाओं का शान्त रसास्वाद से सम्बद्ध तृप्ति या पूर्ति रूप अवस्था का वर्णन उन्होंने नहीं किया है। भक्ति रस में शान्त का अस्तित्त्व है। इसलिए रूपगोस्वामी ने शान्तरसास्वाद के अनुरूप चित्त की पूर्ति या तृप्ति नामक पञ्चम अवस्था का भी वर्णन किया है। प्राक्तन आचार्यों की भाँति वैष्णवाचार्यों को भी मान्य है कि रस सर्वदा सुखात्मक ही होता है। उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि रूपगोस्वामी की रससामग्री का विवेचन प्रसिद्ध पद्धति पर ही आधारित है। दूसरे शब्दों में उनकी रस प्रक्रिया में प्राचीनता एवं नवीनता का अपूर्व समन्वय प्राप्त होता है।

भक्तिरस शास्त्र के उद्गम के मूल कारण

सहृदयों के लिए यह जिज्ञासा का विषय हो सकता है कि जब रूपगोस्वामी ने प्राचीन रस सामग्री का पूर्णतया उपयोग किया तथा भक्तिरस सूत्र की व्याख्या भी भरतमुनि के रससूत्र के आदर्श पर ही की, तब उन्हें 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' के निर्माण की क्या आवश्यकता थी? भक्ति को नवीन रस मानकर निर्वाह किया जा सकता था। जिस प्रकार भरतमुनि ने केवल आठ रसों का उल्लेख किया था, लेकिन परवर्ती आचार्यों ने शान्त रस को जोड़कर उसकी संख्या ६ कर दी। भरतमुनि ने जिस वात्सल्य रस का उन्मेष किया था, उसको भी काव्यशास्त्र में मान्यता मिल गई। उसी प्रकार भक्ति के क्षेत्र में भक्ति को ११वें रस का स्थान दे दिया जाता और कालान्तर में उसकी स्वीकृति हो जाती। अलंकारों के विषय में तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि 'भरतमुनि ने केवल चार अलंकार स्वीकार किये थे'[1], लेकिन अलंकरण धर्म एवं काव्यशोभाकरत्व सामान्य लक्षण के आधार पर असंख्य अलंकार बन गये। इसी प्रकार रसना या आस्वादन रूप सामान्य धर्म तथा लक्षण को लेकर एक नवीन भक्ति रस की कल्पना एवं प्रवर्तना की जा सकती थी। स्थूल रूप से उपर्युक्त कथन युक्तियुक्त प्रतीत होता है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से ऐसा करने में कई आपत्तियाँ हैं।

रूपगोस्वामी की भक्तिरसानुभूति की नवीन प्रक्रिया की परिकल्पना का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है कि रूपगोस्वामी की भक्ति को भाव कोटि में

---

१. उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते ह्यलङ्काराश्चत्वारः परिकीर्तिताः॥
भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, १६।४१

रखना अभीष्ट नहीं था; किन्तु प्राचीन रसशास्त्रों एवं आलंकारिक भक्ति को रस न मानकर उसे भावकोटि में ही परिगणित करते थे। उद्भट, मम्मट आदि आलंकारिकों ने देवतादिविषयकरति को भाव कहकर उसे भावकोटि में ही सीमित कर दिया था। अभिनवगुप्त ने रसों की उपयोगिता चार पुरुषार्थों के आधार पर निश्चित करते हुए केवल नौ ही रस स्वीकार किये[1] और शेष को भाव के अन्तर्गत परिगणित कर दिया। परिणामतः भक्ति भी भाव के ही रूप में स्वीकार की गई।[2] प्रस्तुत विषय के पूर्ण स्पष्टीकरण के निमित्त अभिनवगुप्त ने स्मृति, मति, उत्साह आदि से युक्त ईश्वर प्राणिधानविषयक भक्ति एवं श्रद्धा का अन्तर्भाव शान्त रस में कर दिया।[3] इसी प्रकार धनञ्जय ने भक्ति को भावमात्र स्वीकार, उसका अस्तित्त्व हर्ष, उत्साह आदि में विलीन कर दिया।[4] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने वात्सल्य रस को तो स्वीकृति दे दी, किन्तु भक्ति रस पर विचार नहीं किया। इसी प्रकार भोजदेव ने रसों की संख्या में वृद्धि स्वीकार करके भी भक्ति को स्वीकार नहीं किया। पण्डितराज जगन्नाथ ने भक्तिरस का समर्थन करके भी इसका विरोध किया। वह भक्ति और शान्त में भेद उपस्थित करते हैं। भक्ति का आधार अनुराग तथा शान्त का वैराग्य होने से दोनों में अन्तर स्वीकार करते हैं। किन्तु वह परम्परानुमोदन करते हुए शृंगारेतर रति को भाव मात्र स्वीकार करने के पक्ष में हैं। उनका तर्क है कि यदि भगवद्रति को स्थायी भाव के रूप में मान्यता दे दी जायेगी, तब पुत्रादिविषया रति को भी स्थायीभाव स्वीकार करने के लिए लोग आग्रह करेंगे, इससे उन्हें एक विशेष हानि होने की आशंका है। वह यह कि यदि किसी ने यह भी कह दिया कि जुगुप्सा तथा शोक आदि को भी आप स्थायीभाव न मानें, उस स्थिति में परम्पराभंग के

---

१. एवं ते नवैव रसाः। पुमर्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात्॥ अभिनवगुप्त, अभिनव भारती, पृ० ६४०

२. वही, पृ० ६४१

३. अतएव ईश्वरप्रणिधानविषये भक्ति—श्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेऽस्येवाङ्गमिति न तयोः पृथग् रसत्वेन गणनम्॥ वही, पृ० ६३६

४. प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षदयो रसाः।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्नकीर्तिताः॥

धनिकधनञ्जय, दशरूपकम्; ४।८३

कारण बड़ा वितण्डा उपस्थित हो जायगा।[1] अतएव उचित यही है कि अन्तर समझकर भी मौन रहा जाये। रूपगोस्वामी ने इस प्राच्य परम्परा का खण्डन करते हुए कृष्ण विषयक प्रेम को मनोविज्ञान का एक पक्ष समझते हुए भक्तिरस का अनुमोदन किया है। भक्ति विषयगत है। सहृदय सामाजिक को धार्मिक भक्त का स्थान मिला। कृष्णरति स्थायी भाव है, जो कि अपने अनुकूल व्यभिचारी भाव, सात्त्विक भाव, अनुभाव एवं विभाव से रसास्वाद के योग बनकर भक्ति रस कहलाता है। भक्ति को भाव कोटि में मानने वाले व्यक्तियों के लिए वैष्णवाचार्य का कथन है कि—प्राच्य आलंकारिकों का देवादि से तात्पर्य सामान्य देवता से है। देवादि से सर्व-शक्तिमान् परम कृष्ण का बोध नहीं होता हैं।[2] सामान्य देवता के प्रसंग में भक्ति भाव हो सकती है, किन्तु कृष्ण के प्रसंग में वह भाव कदापि नहीं हो सकती है। भक्ति अपने विभावादि के साथ अपना एक अलौकिक स्वभाव

---

१. भगवदालम्बनस्य रोमाञ्चाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य हर्षादिभिः परिपोषितस्य भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वात्। भगवदनुरागरूपाभक्तिश्चात्र स्थायिभावः। न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भावमर्हति। अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्। उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसात्वानुपपत्तेः।

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तस्तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः॥'

इति हि प्राचां सिद्धान्तात्। न च तर्हि कामिनीविषयाया अपि रतेर्भावत्वमस्तु, रतित्वाविशेषात्, अस्तु वा भगवद्भक्तेरेव स्थायित्वम्, (कामिन्यादिरतीनां च भावत्वम्?) विनिगमकाभावात्, इति वाच्यम्। भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावत्वादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्यायोगात्। अन्यथा पुत्रादिविषयाया अपि रतेः स्थायिभावत्वं कुतो न स्यात्। न स्याद्वा कुतः शुद्धभावत्वं जुगुप्साशोकादीनाम्, इत्यखिलदर्शनं व्याकुली स्यात्। रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत, इति यथा शास्त्रमेव, न्यायः॥

पण्डितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर, प्रथमाननम्, पृ० २०१

२. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः।
भावः प्रोक्तो रसो नेति यदुक्तं रसकोविदैः॥
देवान्तरेषु जीवत्वात् परानन्दाप्रकाशनात्।
तद्योज्यम् परमानन्दरूपे न परमात्मनि॥

मधुसूदन सरस्वती, भक्तिरसायन. २।७५–७६

रखती है।[1] भक्ति रस की अन्य रसों से श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए इन आचार्यों का मत है कि 'यद्यपि कान्ता आदि विषयक रति को ही विद्वानों ने मुख्य रस स्वीकार किया है तथापि कान्तादि विषयक रति शोकादि स्थायी भावों में रस पुष्ट नहीं होता। कारण, उनमें पूर्ण सुख का स्पर्श नहीं है। जिस प्रकार आदित्य की किरणों के समक्ष खद्योत की कान्ति निष्प्रभ है, उसी प्रकार अखण्ड सुख स्वरूप भगवद् रतिजन्य रस के समक्ष कान्तादि विषय तुच्छ हैं।[2] अतएव भक्ति का रसत्व स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। आपत्ति करने वाले विद्वानों के प्रति उनका प्रबल तर्क है कि जब सुख के अत्यन्त विरोधी क्रोध, शोक, भय आदि का रसत्व अनुभव के अनुरोध को प्रमाण मानकर स्वीकार कर लिया जाता है, तब भक्ति का, जिसमें रसत्व की अनुभूति स्फुटतर है, उसका रसत्व अस्वीकार करने का अकस्मात् जडतावश अपलाप क्यों किया जा रहा है?[3] अर्थात् भक्ति अन्य रसों की भाँति स्वानुभव सिद्ध है तथा रसपरिपूर्ण है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो भक्तिरस की सांकेतिक उपस्थिति का आभास दण्डी के 'काव्यादर्श' में ही उपलब्ध हो जाता है। उन्होंने सर्वप्रथम प्रेयोऽलंकार के विवेचन में इसकी अनजाने नींव डाल दी थी। इस अलंकार के उद्धरण में दण्डी ने कृष्ण के प्रति विदुर के तथा महेश्वर के प्रति रातवर्म नामक राजा के प्रीतिप्रकाशक वचनों को प्रस्तुत किया है और 'भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो

---

१. 'यत् तु प्राकृतरसिकैः रससामग्रीविरहाद् भक्तौ रसत्वं, तत् खलु प्राकृत-देवादिविषयम् एव सम्भवेत्······तथा तत्र करणादयः स्वतः एवालौकि-काद्भुतरूपत्वेन दर्शिता दर्शनीयाश्च।'

जीवगोस्वामी, प्रीतिसन्दर्भः, पृ० ६७३–७४.

२. कान्तादिविषया वा ये रत्याद्यस्तत्र नेदृशम्।
रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखास्पर्शित्वकारणात्॥
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः।
खद्योतेभ्य इवाऽऽदित्य प्रभेव-बलवत्तरा॥

मधुसूदनसरस्वती, भक्तिरसायन, २।७७–७८.

३. क्रोधशोकभयादीनां साक्षात्सुखविरोधिनाम्।
रसत्वमभ्युपगत-तथानुभवमात्रतः॥
इहानुभवसिद्धोऽपि सहस्रगुणितो रसः।
जडेनेव त्वया कस्मादकस्मादपलप्यते॥ वही, २।७९–८०.

हरिः' कहकर भक्ति की स्थापना कर दी है।[1] वह इसे देवता विषयक रति से पृथक् रखना उचित समझते थे, इसीलिए उन्होंने शृंगार रस का स्थायी भाव रति स्वीकार किया है और प्रीति से उसकी भिन्नता प्रदर्शित करते हुए कहा है—'प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता।'[2] इस प्रकार दण्डी ने भक्ति तथा प्रीति को पर्याय के रूप में ग्रहण किया है।

अभिनवगुप्तादि आचार्यों ने भक्ति रस का अन्तर्भाव शान्त में किया है। इसका विरोध करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने दोनों के भेद को सम्यक् स्पष्ट किया है। उनके अनुसार शान्त का सम्बन्ध मोक्ष पुरुषार्थ से है और 'उसके योग्य केवल 'अद्रुतचित्त' ही हो सकते हैं, जबकि भक्तिरस में 'द्रुतचित्त' व्यक्ति का ही महत्त्व होता है।[3] वस्तुतः शान्त तथा भक्ति में अनुराग एवं वैराग्य का ही प्रमुख अन्तर है। शान्त में ज्ञान की प्रमुखता है। वस्तु के सम्बन्ध में नित्यानित्य वस्तु विवेक तथा मोक्षकामना ही शान्त का प्रधान लक्षण है। शान्त में निर्विकारता की साधना है। भक्ति में ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, किन्तु भक्ति में लौकिक स्वार्थों एवं सम्बन्धों को छोड़कर भी पारलौकिक शक्ति से उसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। वियोग एवं संयोग का अनुभव उसी तीव्रता के साथ किया जाता है। शान्त में आत्मज्ञान का होना प्राथमिक आवश्यकता है। किन्तु भक्ति में उसकी अनिवार्यता नहीं स्वीकार की जाती है। शान्त जुगुप्सा से प्रबलता प्राप्त करता है, किन्तु भक्ति का उससे दृढ़ सम्बन्ध नहीं है। रूप-गोस्वामी ने जुगुप्सा और शान्त दोनों का अन्तर्भाव भक्ति में कर दिया है। शान्त में प्रयुक्त जुगुप्सा का महत्त्व यह है कि वह संसार से व्यक्ति का मन पूर्णतया विरक्त करती है। किन्तु भक्ति के अन्तर्गत आने वाला जुगुप्सा का वर्णन ईश्वर के सम्मुख अपने दोषों को देखने के विचार से किया जाता है तथा उनसे त्राण माँगा जाता है। शान्त की जुगुप्सा आत्मज्ञान का द्वार उन्मुक्त करती है और भक्ति की जुगुप्सा अपनी हीनता का प्रदर्शन कराती है। शान्त एक प्रकार से निर्गुण-निराकारोपासना है और भक्ति सगुणोपासना। भक्ति में श्रद्धा और विश्वास मुख्य होता है, अतः उस मार्ग पर चलना कठिन नहीं रहता। शान्त में होने वाली भाव प्रतीति नियन्त्रित

---

१. दण्डी, काव्यादर्श, २।२७७.

२. वही, २।२८१.

३. मधुसूदनसरस्वती, भक्तिरसायन, २।२७–२८, वृत्ति।

और संयमित भाव प्रतीति है, भक्ति का मार्ग सर्वसुलभ और सुखाराध्य है। विषयपराङ्मुखता, नित्यानित्य वस्तुविवेक, वैराग्य तथा शम-दमादि रूप साधन दोनों में ही आवश्यकतानुसार ग्राह्य और साधक होते हैं। साधन भेद की एकता होने पर भी दोनों में परिणाम भेद अवश्य है। भक्ति शान्त की अपेक्षा प्रभावशालिनी अधिक है। व्यापकता में यह किसी भी प्रकार अन्य रसों से कम प्रभावशालिनी नहीं है।

भक्ति में रति भाव की मूल रूप में प्रतिष्ठा तथा भक्ति के मधुरा (उज्ज्वलरस) भेद के आधार पर भक्ति का शृंगार रस में अन्तर्भाव भी असम्भव प्रतीत होता है। सर्वप्रथम शृंगार और भक्ति में परस्पर आलम्बन की लौकिकता एवं अलौकिकता का ही प्रमुख अन्तर है। द्वितीय, शृंगार समवयस्क में होता है। जबकि भक्ति में वयः का भेद बना रहता है। तृतीय, शृंगार अन्योन्याश्रित है, किन्तु भक्ति रस एकावलम्बी है। इसी प्रकार अद्‍भुत रस में भी भक्ति का समावेश कठिन प्रतीत होता है। अद्‍भुत में आकस्मिकता अथवा अप्रत्याशित का घटित हो जाना ही मुख्य कारण है, किन्तु भक्ति रस में इन दोनों का केवल इसलिए संयोग स्वीकार कर लिया जाता है कि वहाँ भक्तिविषय के प्रति अनुराग और श्रद्धा के साथ-साथ आत्महीनता का विचार सम्मिलित रहता है। अद्‍भुत में अनुराग तथा श्रद्धा का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्महीनता का भी तत्काल ज्ञान नहीं हुआ करता है। बाल कृष्ण के मुख में समस्त विश्व को देखकर यशोदा का अवाक् रह जाना, अद्‍भुत रस की सृष्टि के लिए पर्याप्त है, किन्तु उसी दृश्य को यशोदा द्वारा प्रेमाप्लावित हृदय से वर्णन करना या उसे देखकर आत्मविभोर भाव से उनकी पूजा करना, भक्ति रस का सूचक है। भक्ति में आलम्बन का व्यवहार ज्ञान रहता है और उनकी भिन्न-भिन्न लीलाओं का वर्णन ज्ञान पूर्वक किया जाता है। उन लीलाओं का वर्णन भक्त के हृदय में भक्ति का आवेश उत्पन्न करता है, आश्चर्य नहीं। कारण यह है कि भक्त के हृदय में प्रभु के प्रति सदैव अनुराग वर्तमान रहता है और उसी अनुराग से रंजित होकर वह अद्‍भुत का भक्तिमय वर्णन करता है। वस्तुतः अनुराग ही प्रधान होने के कारण अद्‍भुत उसका संचारी मात्र होकर आता है। इस प्रकार किसी अन्य रस में भक्ति का अन्तर्भाव न करके वैष्णवाचार्यों ने भक्तिरस के स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा की। भक्ति को भावकोटि से ऊपर रस कोटि पर प्रतिष्ठित किया।

भक्ति को रस स्वीकार करने से ही प्राक्तन आचार्यों के साथ वैष्णवाचार्यों का पार्थक्य सिद्ध नहीं होता है। दोनों आचार्यों के लक्ष्य में

भी मौलिक अन्तर विद्यमान है। भरत प्रभृति रसशास्त्रियों का लक्ष्य सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म का अंशरूप जीवात्मा में प्रतिभासित होने वाले आनन्दांश का आस्वादन कराना है, जो कि पूर्ण ब्रह्मानन्द की पूर्व भूमिका ही कही जा सकती है। इसके विपरीत भक्ति शास्त्र के आचार्यों ने जीवगत अंशमात्र आनन्द को ही साध्य नहीं बनाया, अपितु उनका लक्ष्य पूर्ण, आनन्दराशि भगवतद्‌गत आनन्द का आस्वादन कराना है। पुष्कल रसतापत्ति के लिए परमानन्द स्वरूप ईश्वर का स्वयं मनोगत होना आवश्यक है।[1] वैष्णवाचार्यों के उद्देश्य की भिन्नता रसनिष्पत्ति एवं आस्वादन की प्रक्रिया में भी भेद उपस्थित कर देती है। रस निष्पत्ति के विषय में जितनी भी प्राचीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं, उनका भक्तिरस विषयक निष्पत्ति की व्याख्या से साम्य स्थापित नहीं किया जा सकता है। यह भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद या आरोपवाद से भी भिन्न है, जिसमें विभावादि कारणों के साथ स्थायी भाव के संयोग द्वारा अनुकार्य में रस की उत्पत्ति मानी जाती है और नट पर उसका आरोप प्रतिपादित किया जाता है। इसके अतिरिक्त शंकुक के अनुमितिवाद से भी सर्वतोभावेन पृथक् है, जिसमें अनुकार्य मुख्य रामादि के रूप में गृहीत नट रूप पक्ष में अकृत्रिम रूप में गृहीत विभावादि रूप हेतु से अनुकार्य भिन्न नट में रति का अनुमान कर लिया जाता है। इन दोनों पक्षों में आचार्यों द्वारा प्रदर्शित आपत्तियाँ तो विद्यमान हैं ही साथ ही भक्तिरस की दृष्टि से भी यह कहा जा सकता है कि इसमें भक्त का अपना भाव ही आस्वादगोचर होकर रसता को प्राप्त करता है। न तो इसकी उत्पत्ति अनुकार्य में ही सम्भव है और न नट में ही उसकी अनुमिति हो सकती है। द्वितीय आपत्ति यह भी है कि नट पर अनुकार्यगत भाव का आरोप नाट्य में तो सम्भव है, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में जहाँ रसानुभूति में कर्तृत्व श्रवणादि पर आधारित रहता है; वहाँ पर यह प्रक्रिया सम्भव नहीं हो सकती है। इसीलिए भट्टनायक की भावकत्व और भोजकत्व रूप दो व्यापारों की नवीन उद्भावना भी अधिक सफल नहीं होती है, जिसमें भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण कर दिया जाता है एवं भोजकत्व व्यापार के द्वारा रजस्, तमस् को क्षीण कर सहृदय के अन्तःकरण में सत्त्वगुण का उद्रेक किया जाता है। सत्त्वगुण के प्रधान

---

१. भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारं रसतामेति पुष्कलम्॥

मधुसूदनसरस्वती, भक्तिरसायन, १।१०.

होते ही सभी सांकल्पित, मानसिक एवं चेतनात्मक शारीरिक क्रियाएँ असम्भव हो जाती हैं। क्योंकि ये क्रियाएँ रजस् गुण की प्रधानता के कारण ही उत्पन्न होती हैं तथा सत्त्व के क्रियाशील होने पर तमस् उतना ही प्रभावहीन हो जाता है, जितना प्रकाश होने पर अन्धकार प्रभावहीन हो जाता है। इस प्रकार विस्तार एवं विकास रूप सत्त्वगुण के प्राधान्य से ब्रह्म साक्षात्कारजन्य आनन्दानुभूति के सदृश रस का (भोजकत्व व्यापार से) भोग किया जाता है। रस निष्पत्ति का जो सामान्य रूप अभिनवगुप्त द्वारा स्थापित किया गया है, वह भक्ति रस के विषय में पूर्ण रूप से चरितार्थ नहीं होता है और न उसके द्वारा भक्ति-काव्य की ठीक व्याख्या ही की जा सकती है। अभिनवगुप्त के अनुसार सहृदय के आत्मविस्मृत अन्तःकरण के साथ नायक की मानसिक, शारीरिक दशाओं का एकात्म हो जाने के कारण तादात्म्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस तादात्म्य के फलस्वरूप सहृदय समय, देश और व्यक्ति तीनों विरोधी तत्त्वों की उपेक्षा करता है। अर्थात् सहृदय के मन में उस नायक की मानसिक, शारीरिक दशा प्रतिबिम्बित होती है, जो सभी व्यक्तित्व विधायक तत्त्वों, काल और देश से रहित होती है। साधारणीकरण की इस प्रक्रिया से उसे रसानुभूति होती है। यह साधारणीकरण पूर्ण तथा वितत होता है, सीमित नहीं। उस समय समस्त विभाव, अनुभाव इत्यादि देश-कालादि की परिधि से मुक्त होकर साधारणीकृत भाव मात्र शेष रह जाते हैं। अभिनवगुप्त का यह रस सिद्धान्त भक्ति के क्षेत्र में अधिक कृतकार्य नहीं होता है। क्योंकि वहाँ भक्त कृष्णलीलाओं का आनन्द लेते हैं। राधाकृष्ण की रति या यशोदा के वात्सल्य के रूप में भक्त के हृदय की परिणति नहीं होती, अपितु उससे भक्त की भगवद्विषयक रति ही जाग्रत होती है। प्रधान नायक की चित्त-वृत्ति वहाँ भक्त की अंतर्वृत्तियों को आत्मसात् नहीं करती, अपितु भगवत् विषयक् रति का उद्दीपन मात्र बन जाती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भक्ति के क्षेत्र में कृष्ण और राधा की शृंगारिक क्रीडाओं को देखकर संहृदय भक्त के अन्तर में विद्यमान रतिभाव उद्‌बुद्ध होकर साधारणीकरण की प्रक्रिया से रसास्वाद का प्रवर्तक नहीं बनता है, अपितु कृष्ण-राधा की शृंगारिक क्रीडाएँ उसके हृदय में विद्यमान भगवत् विषयक रति अथवा भक्ति को ही उद्‌बुद्ध करती हैं, जिससे उसे भगवद्भक्ति का रसास्वादन होता है। भक्त जितना ही अधिक कृष्ण की राधा के प्रति रति का परिशीलन करता है, उतनी ही अधिक उसकी भक्ति भावना उद्दीप्त

होती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भक्ति के क्षेत्र में सहृदय भक्त अमिश्रित भावना के स्थान पर कृष्ण-भावना से सम्पृक्त भक्तिभाव का आस्वादन करता है, जो कि प्राचीनों की रसनिष्पत्तिविषयक मान्यता से मेल नहीं खाती। अभिवनगुप्त के रस सिद्धान्त के आधार पर भक्तिकाव्य की व्याख्या करने पर कृष्णलीला भक्तों के भाव की उद्दीपक होकर रसवदलंकार का रूप धारण कर लेती, किन्तु ऐसी स्थिति में कृष्णलीला गौण हो जाती, जो भक्त कवियों और भक्तिशास्त्र के आचार्यों को कदापि स्वीकृत नहीं था। भक्ति की प्रमुखता के साथ कृष्णलीला की प्रधानता भी इन आचार्यों को अभीष्ट है, जिसकी कोई व्याख्या प्राचीन रसशास्त्र के अनुसार नहीं की जा सकती हैं। प्राक्तन रस और भक्ति रस में एक अन्य महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि भक्ति रस में भाव का आश्रय भक्त ही होता है, लेकिन लौकिक रस में भाव का आश्रय नाट्यगत पात्र होता है। लौकिक रस में शृंगार रस के आश्रय दुष्यन्त होंगे और आलम्बन शकुन्तला, जबकि भक्ति रस के क्षेत्र में कृष्ण और राधा दोनों का विवेचन आलम्बन के प्रकरण में किया जाता है। आश्रय भक्त ही रहता है।

इस प्रकार प्राक्तन रस पद्धति के लक्ष्य और निष्पत्ति की प्रक्रिया से भक्ति रस का पार्थक्य प्रदर्शित करते हुए वैष्णवाचार्यों ने भक्तिरस के स्वतन्त्र अस्तित्व की उद्घोषणा की है। रूपगोस्वामी केवल एक स्थायी भाव स्वीकार करते हैं और वह है—भक्ति का मूल तत्त्व मानस 'भाव', जो मन की विशुद्ध सत्त्व प्रधान अवस्था का नाम है। इसी भाव को उन्होंने रति, भाव, प्रेम, स्नेह आदि अनेक शब्दों से अभिहित किया है। ये शब्द समानार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु उनमें सूक्ष्म भेद प्राप्त होता है। भाव प्राथमिक अवस्था है, जो प्रेम को उत्पन्न करती है। भाव और प्रेम में कारण-कार्य भाव और सूक्ष्मता का तारतम्य है। इसीलिए रूपगोस्वामी ने प्रेम को सूर्य एवं भाव को उसका अंश मात्र माना है। स्नेह प्रेम से ऊँची अवस्था है, किन्तु रूपगोस्वामी ने इसका विशेष विवेचन नहीं किया है। इस भाव के सम्बन्ध में न तो यही तर्क दिया जा सकता है कि 'ज्ञात एव हि जंतुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति' और न ही यह कहा जा सकता है कि—'न ह्येतच्चेतनाशून्यः प्राणी भवति।' वस्तुतः यह भाव एक

---

१. शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥
रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, १।३।१.

उपार्जित तथा संवर्धित भाव है। प्राक्तन संस्कारों के प्रभाव से जन्मजात भी हो सकता है, किन्तु अधिकांशतः इसका उपार्जन ही करना पड़ता है। यद्यपि रूपगोस्वामी भक्ति को भी नित्य सिद्ध भाव ही स्वीकार करते हैं, किन्तु लौकिक रति इत्यादि भावों के समान भक्ति स्वतः प्रकट नहीं होती है। उसके लिए साधना करनी पड़ती है।[1] साधना के जिस क्रम से भक्ति का उदय होता है, उसका निर्देश रूपगोस्वामी ने इस प्रकार किया है— सर्वप्रथम श्रद्धा की उत्पत्ति होती है, उसके पश्चात् साधुसंग, तदनन्तर भजन क्रिया, उसके पश्चात् अनर्थ निवृत्ति, उसके बाद निष्ठाविश्वास, ततः रुचि, तदनन्तर आसक्ति, तत्पश्चात् भाव और अन्त में प्रेम का उदय होता है।[2] अर्थात् निष्ठापर्यन्त साधनावस्था है, रुचि और आसक्ति मध्यवर्तिनी अवस्थाएँ हैं, जिनके पश्चात् क्रमशः भाव और प्रेम उद्भूत होता है। भाव को ही रति की संज्ञा दी जाती है।[3] प्रेम पूर्णभक्ति का पर्याय है। यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि भक्ति को स्थायी भाव की संज्ञा क्यों और किस प्रकार प्राप्त होती है ? वस्तुतः पूर्ण भक्ति तो प्रेमभक्ति ही है। उसकी प्रथम अवस्था रति या भाव (भक्ति) को ही स्थायी भाव की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। तीव्र या परिवृद्ध रति ही प्रेम भक्ति बन जाती है। एक दूसरा अन्तर यह भी है कि रति को रसरूपता धारण करने के लिए विभावादि परिपोषकों की नितान्त अपेक्षा रहती है, किन्तु प्रेमभक्ति उसके अभाव में भी स्वसत्ता से ही रस बन जाती है।[4] जब तक स्थायी भाव रस रूपता को धारण नहीं करता तब तक वह भाव संज्ञा का ही अधिकारी रहता है। 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' के भाव प्रकरण में सञ्चारीभाव और स्थायी भाव दोनों को भाव संज्ञा से अभिहित किया गया है। भावों के उदय में तारतम्य होता है, क्योंकि विविध प्रकार के भक्तों के भेद के कारण

---

१. नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता।
रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, १।२।२.

२. आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥ वही, १।४।६,७.

३. पुराणे नाट्यशास्त्रे च द्वयोस्तु रतिभावयोः।
समानार्थतया ह्यत्र द्वयमैक्येन लक्षितम्॥ वही, १।३।८.

४. वही, २।१।११, १२.

उनके मन भिन्न-भिन्न स्थितिवाले होते हैं। अतः मनों के अनुसार ही भक्त भाव का आस्वादन करता है। रूपगोस्वामी ने अधिकारी भक्त को दो श्रेणियों में विभक्त किया है—१. गरिष्ठ या कर्कश चित्तवाले, २. लघिष्ठ या कोमल चित्त वाले।[1] कर्कश चित्त तीन प्रकार का होता है—वज्र, स्वर्ण और जतु की उपमा वाला। भाव रूप अग्नि से वज्रचित्त कभी द्रवित ही नहीं होता, ऐसा मन तापसों का होता है। स्वर्ण चित्त अधिक ताप से द्रवित होता है और जतु चित्त ताप लेश से ही द्रवित हो जाता है।[2] कोमल चित्त मोम, नवनीत तथा अमृत के समान तीन प्रकार का माना जाता है। इन तीनों प्रकार के कोमल चित्तों में भाव की उपमा सूर्य से दी जा सकती है। इनमें से प्रथम दो (अर्थात् मोम एवं नवनीत के सदृश कोमल चित्त भाव रूप) आतप से द्रवित हो जाता है; किन्तु अमृत के समान कोमल चित्त स्वभाव से ही सदा द्रवीभूत रहता है।[3] अन्यत्र इसी लहरी में भाव की उपमा रङ्ग से दी गई है, जो दो प्रकार का होता है—स्वाभाविक रङ्ग जैसे मंजिष्टादि और आगन्तुक रंग जैसे रंगे कपड़ों में।[4] भक्ति के सन्दर्भ में स्थायी भाव की प्रक्लृप्ति की प्रक्रिया को मधुसूदन सरस्वती ने जतु का दृष्टान्त देकर अधिक स्पष्ट किया है। चित्त स्वभाव से ही कठिन पदार्थ है; जैसे जतु। जिस प्रकार जतु अग्नि के ताप से द्रवित हो जाता है और उसमें प्रवहणशीलता आ जाती है; तदनन्तर उस द्रवित जतु को अभीष्ट आकार में ढालकर एक विशिष्ट आकृति का रूप दे दिया जाता है, उसी प्रकार काम, क्रोध, भय, उद्वेग, हर्ष, शोक, दया इत्यादि अनेक भाव चित्त रूपी जतु को द्रवित करनेवाले होते हैं। इनसे द्रवित होकर चित्त जब भगवदाकारता में परिणत हो जाता है, तब उसे ही भक्ति कहते हैं।[5] इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति को इस प्रकार परिभाषित

---

१. रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, २।४।११४–११७.

२. वही, २।४।११८–१२२.

३. वही, २।४।१२३–१२४.

४. वही, २।४।१०८–१११.

५. चित्तद्रव्यं हि जातुवत् स्वभावात् कठिनात्मकम्।
तापकैर्विषयैर्योगे द्रवत्वं प्रतिपद्यते॥
कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयादयः।
द्रुते चित्ते विनिक्षिप्तः स्वाकारो यस्तु वस्तुना।
संस्कारवासनाभावभावनाशब्दभागसौ॥
मधुसूदनसरस्वती, भक्तिरसायन; १।४–६.

किया है—"श्रवणादि भागवत धर्मों से जब द्रुत होकर चित्त धारावाहिकता को प्राप्त हो जाता है और भगवदाकारता में परिणत हो जाता है, तब उसे भक्ति कहते हैं।"[1] मनोवृत्ति का अर्थ सर्वत्र भगवदाकारता में मन की परिणति से लिया गया है। मधुसूदन सरस्वती नें कहा भी है—'तदाकारतैव हि सर्वत्र वृत्तिशब्दार्थोऽस्माकं दर्शने।'[2] मनोवृत्ति के भगवदाकारता में परिणत से एक बहुत बड़ा परिणाम यह होता है कि संसार की सभी वस्तुएँ भगवान् के रूप में ही दृष्टिगत होने लगती हैं। ईश्वर का ही प्रतिबिम्ब समस्त विश्व में दृष्टिगोचर होने लगता है। यह भक्ति की पराकाष्ठा है और भगवन्मय विश्व को देखने वाला उत्तम भागवत कहा जाता है। इसलिए भगवदाकारता परिणति रूप भक्ति को स्थायी भाव की संज्ञा प्रदान की गई है। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि भक्ति के इस प्रकार दो स्वरूप हो जाते हैं—भगवदाकारता और भगवतप्रेम। अर्थात् भक्ति का आलम्बन ईश्वर है, भक्ति रस जिसका अनुभव किया जाता है वह भी परमानन्द होने के कारण ईश्वर है तथा मन की भगवदाकारता में परिणति रूप स्थायीभाव भी ईश्वर है। इस प्रकार आलम्बन विभाव और स्थायी भाव दोनों एक हो जाते हैं। किन्तु वस्तुतः यहाँ विरोध नहीं है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से इसका भेद व्यवहार सिद्ध है।[3] रूपगोस्वामी नें रति के विषय में कहा है—'भगवत् रति मनोवृत्ति में आविर्भूत होकर भगवत-स्वरूपता को धारण कर लेती है, भक्ति प्रकाश रूप होती है, किन्तु उसकी प्रतीति प्रकाश्य के समान ही होती है।[4] प्रकाश्य भगवान् है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश जिस प्रकोष्ठ में पड़ता है उसी रूप में प्रतीत होता है,

---

१. द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशमनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥
मधुसूदनसरस्वती, भक्तिरसायनम्, १।३.

२. वही, पृ० १५.

३. विम्बमेव ह्युपाधिनिष्ठत्वेन प्रतीयमानं प्रतिविम्बमित्युच्यते। परमानन्दश्च भगवान् मनसि प्रतिबिम्बितः स्थायिभावतामासाद्य रसतामापादयतीति भक्तिरसस्य परमानन्दरूपत्वं निर्विवादम्। नाप्यालम्बनविभावस्थायि-भावयोरैक्यम्, विम्बप्रतिविम्बभावत्वेन भेदस्य व्यवहारसिद्धत्वात्, ईश-जीवयोरिव ॥ वही, १।१० की वृत्ति।

४. आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम्।
स्वयं प्रकाशरूपाऽपि भासमाना प्रकाश्यवत् ॥
रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, १।३।२.

उसी प्रकार रति जब भगवान् को प्रकाशित करती है तब भगवान् के स्वरूप में ही उसकी प्रतीति होने लगती है।[१] इस प्रकार आलम्बन और स्थायीभाव की ऐक्यापत्ति का समाधान हो जाता है। यही भक्ति रूपगोस्वामी का अभिमत स्थायी भाव है, इसमें तापकों का भी योग रहता है। इसलिए उन्होंने सभी रसों के मूल में कृष्णविषया रति या भक्तिभाव को स्वीकार किया है। यह रति दो प्रकार की है—मुख्यारति और गौणी रति।[१] रूपगोस्वामी ने स्थायी भाव तथा रसों का स्वरूप तो वही स्वीकार किया है, जो साहित्यशास्त्र में स्वीकृत है। किन्तु उनका वर्गीकरण और व्यवहार भिन्न प्रकार से किया है। वैष्णव भक्ति पद्धति में मूल स्थायी भाव वह अनुभूति है, जो कृष्ण को आलम्बन रूप में स्वीकार करती है अर्थात् कृष्णविषया रति ही स्थायी है। साहित्य शास्त्र के ६ स्थायी भावों का कृष्णविषया रति के आधार पर ही मूल्यांकन किया जाता है। कृष्णरति के मुख्य तथा गौणी भेद करने के पश्चात् मुख्या रति के भी दो भेद—स्वार्था एवं परार्था किये गये हैं।[२] स्वार्थारति के विषय में रूपगोस्वामी का अभिमत है कि स्वार्थारति अवरुद्ध स्फूट भावों से अपने को ही पुष्ट करती है और अविरुद्ध भावों के द्वारा उसका अभिभव करना कठिन होता है।[३] परार्थारति स्वयं संकोच को प्राप्त होकर अविरोधी अथवा विरोधी दूसरे भाव को पुष्ट करती है। यह परार्थारति ५ प्रकार की होती है—शुद्धा, प्रीति, सख्य, वात्सल्य तथा प्रियता,[४] जिनसे क्रमशः ५ मुख्य भक्तिरस—शान्त, प्रीति, प्रेयस्, वात्सल्य तथा मधुर अथवा उज्ज्वल रस अभिव्यक्त होते हैं। कृष्णारति के गौणी भेद के ७ उपभेद प्राप्त होते हैं—हासरति, उत्साहरति, शोकरति, क्रोधरति, भयरति, विस्मयरति तथा जुगुप्सारति।[५] उनसे उद्‌बुद्ध होने वाले ७ गौण भक्तिरस—हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक एवं बीभत्स हैं।

---

१. स्थायीभावोऽत्र सम्प्रोक्तः श्रीकृष्णविषयारतिः।
मुख्या गौणी च सा द्वेधा रसज्ञैः परिकीर्त्तिता॥

रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, २।५।२.

२. शुद्धसत्त्वविशेषात्मा रतिर्मुख्येति कीर्त्तिता।
मुख्याऽपि द्विविधा स्वार्था परार्था चेति कीर्त्यते॥ वही, २।५।३.

३. वही, २।५।४.

४. वही, २।५।५,६.

५. वही, २।५।३१.

वैष्णवाचार्य रूपगोस्वामी की रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया इस प्रकार है— 'विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारीभावों के द्वारा श्रवण, मनन आदि की सहायता से भक्तों के हृदय में विद्यमान कृष्णारति आस्वाद्यता को प्राप्त कर भक्तिरस कहलाती है।'[1] इस रस-सूत्र को प्रकारान्तर से मधुसूदन सरस्वती ने और स्पष्ट किया है। उनके अनुसार (कृष्णारति) स्थायी भाव सामाजिक (भक्त) में विद्यमान रहता है। जब उसका संयोग विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से होता है, तब सामाजिक तथा अभिनेय से उसके भेद का तिरोधान हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अभेद प्रतीति के साथ सामाजिकगत भाव अर्थात् कृष्णारति परमानन्दरूपता में आ जाती है और सामाजिक (भक्त) रस विभोर हो उठता है। यही रसज्ञों की मर्यादा है।[2]

'चैतन्यचरितामृतम्' महाकाव्य में रस योजना

'चैतन्यचरितामृतम्' (महाकाव्य) में भक्तिरस का पूर्ण परिपाक हुआ है तथा उसे अङ्गी रस का स्थान प्राप्त हुआ है। भक्तिरस के द्वादश भेदों में से मुख्य रूप से उज्ज्वल रस एवं प्रीतिभक्ति रस का ही मुख्य रूप से अभिनिरूपण कवि कर्णपूर ने किया है। अन्य रस स्फुट रूप में यत्र तत्र व्यक्त हुए हैं। रूपगोस्वामी द्वारा वर्णित सभी अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारी भावों का कुशलतापूर्वक दिग्दर्शन किया गया है। इसके अतिरिक्त शृंगार, करुण, रौद्र, अद्भुत, शान्त आदि रसों की व्यंजना प्राक्तन पद्धति पर ही की गई है, जिसके आलम्बन चैतन्य तथा उनके भक्तादि हैं। यहाँ पर एक शंका स्फुरित हो सकती है कि कवि कर्णपूर ने अपने ग्रन्थ 'अलंकारकौस्तुभः' में प्राकृत नायकों में रसस्थिति स्वीकार नहीं की है। ऐसी स्थिति में चैतन्य तथा उनके भक्त भिन्न-भिन्न रसों के आलम्बन किस प्रकार स्वीकार किये जा सकते हैं? प्रस्तुत शंका का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि चैतन्यसम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यता के अनुसार चैतन्य कृष्ण के भक्तावतार हैं तथा उनके भक्त उनके परिकर हैं। उनकी गणना सामान्य लौकिक पुरुषों में नहीं है, अपितु उनका अलौकिक व्यक्तित्व

---

१. रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, २।१।५,६.

२. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगेनाभिव्यक्तः स्थायिभाव एवं सभ्याभिनेययोर्भेदतिरोधानेन सभ्यगत एव सन् परमानन्दसाक्षात्काररूपेण रसतामाप्नोति रसविदां मर्यादा ?'

मधुसूदनसरस्वती, भक्तिरसायन, १।६, व्याख्या।

ही सर्वग्राह्य है। इस सिद्धान्त का प्रवर्तन स्वयं कवि कर्णपूर ने अपनी 'गौरगणोद्देशदीपिका' में किया है। अतएव चैतन्यादि को लौकिक आलम्बन न मानकर अलौकिक आलम्बन स्वीकार करना पड़ेगा, तभी कवि कर्णपूर की रसमान्यता यहाँ पर चरितार्थ हो सकेगी।

'चैतन्यचरितामृतम्' का अङ्गी रस भक्ति है तथा भक्ति में भी उज्ज्वल अथवा मधुर रस का प्राधान्य है। उज्ज्वल रस को वैष्णवाचार्यों ने भक्तिरसराट् की उपाधि से विभूषित किया है। अतएव सर्वप्रथम उसी का विवेचन किया जायेगा।

उज्ज्वल या मधुर रस

रूपगोस्वामी की रस मान्यता के अनुसार उज्ज्वल रस में नायक शिरोमणि कृष्ण तथा नायिका राधा विषयालम्बन है। उज्ज्वल रस के उद्दीपन विभाव कृष्ण और उनकी प्रियाओं के गुण, नाम चरित्र एवं भूषण आदि हैं। गुण तीन प्रकार के हैं—मानसिक, वाचिक एवं कायिक। मानसिक गुण—कृतज्ञता, शान्ति, करुणादि हैं। वाचिक—कर्ण रसायनादि हैं। कायिक गुण—वयस्, रूप, लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूपता, माधुर्य एवं मार्दवादिक हैं। मधुर रस में वयस् चार प्रकार की है—वयःसन्धि, नव्य, व्यक्त तथा पूर्ण। तत्सम्बन्धित वस्तु—वंशीरव, शृंगध्वनि, गीत, सौरभ, भूषणशिञ्जित, पदाङ्क, विपञ्चिका, निक्वाण, निर्माल्ल्यादि, बर्हा, गुञ्जा, आद्रिधातु, लकुटी, धेनुवृन्द, वेणु, शृंग, गोधूलि, वृन्दावनादि हैं। तदाश्रित—खग, भृङ्ग, मृग, कुञ्ज, लतादि, कदम्ब, गोवर्द्धन, यमुना, रासस्थली आदि हैं। तटस्थ—ज्योत्स्ना, मेघ, विद्युत, वसन्त, शरद, पूर्णचन्द्र, वायु, खग आदि हैं।

रूपगोस्वामी ने उज्ज्वल रस के अनुभाव को तीन प्रकार का बताया है—अलंकार, उद्भास्वर एवं वाचिक। अलंकार २० हैं। अङ्गज—भाव, हेला, हाव आदि हैं। स्वभावज—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्जित, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित तथा विकृत आदि हैं। उद्भास्वर—नीवीस्रंसन, उत्तरीयस्रंसन, धम्मिलस्रंसन, गात्रमोटन, जृम्भा, घ्राण, फुल्लतादि हैं। वाचिक अनुभाव—आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश, निर्देश एवं व्यपदेश भेद से द्वादश हैं।

उज्ज्वल रस के स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु एवं प्रलय आदि आठ सात्त्विक भाव हैं। पुनः ये धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त एवं सुदीप्त रूप से चार प्रकार के हैं। औग्र्य और आलस्य इन दोनों

को छोड़कर 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' कथित निर्वेदादि समस्त व्यभिचारी भावों का ग्रहण उज्ज्वल रस में किया गया है।

उज्ज्वल रस का स्थायी भाव कृष्णविषयक मधुरारति है, जो अभियोग, विषय, सम्बन्ध, अभिमान, तदीय विशेष, उपमा एवं स्वभाव इन कारणों से उदित होती है। मधुरारति साधारणी, समञ्जसा एवं समर्था भेद से तीन प्रकार की निरूपित की गई है। यह रति बीज, इक्षु, रस, खाँड़, शक्कर, सिता एवं सितोपला की भाँति उत्तरोत्तर गाढ़ता प्राप्त कर प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव एवं महाभाव में पर्य्यवसित होती है। प्रेम के तीन भेद हैं—प्रौढ़, मध्य तथा मन्द। मान के दो भेद हैं—उदात्त तथा ललित। मैत्र्य एवं सख्य भेद से प्रणय दो प्रकार का है। राग के दो भेद हैं—नीलिमा एवं रक्तिमा। अनुराग के चार लक्षण हैं—परस्पर वशीभाव, प्रेमवैचित्त्य, अप्राणि में जन्म लालसा एवं विप्रलम्भ में विस्फूर्ति। रूढ़ एवं अधिरूढ़ भेद से भाव दो प्रकार का है। महाभाव केवल राधिका में विद्यमान रहता हैं।

उज्ज्वल रस के विप्रलम्भ और सम्भोग दो भेद रूपगोस्वामी ने स्वीकार किये हैं। विप्रलम्भ मधुर रस भी—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्त्य (प्रणय) तथा प्रवास भेद से चार प्रकार का वर्णित है।

'चैतन्यचरितामृतम्' में उज्ज्वल रस की सुन्दर योजना नवम एवं दशम सर्ग में प्राप्त होती है। विप्रलम्भ मधुर रस के अन्तर्गत केवल मान का ही वर्णन किया गया है। मान भी सहेतुक और निर्हेतुक भेद से दो प्रकार का स्वीकार किया गया हैं। प्रियतम के द्वारा कृत विपक्षादि वैशिष्टय में ईर्ष्यावश प्रणय मुख्य सहेतुक मान होता है। इस वैशिष्टय की अनुभूति तीन प्रकार से होती है—१. प्रियसखी व शुक मुख श्रवण से; २. भोग चिह्न, गोत्रस्खलन, स्वप्न एवं अनुमान से, ३. स्वयंदर्शन से। यह सहेतुकमान—साम, दान, भेद, नति, उपेक्षा तथा रसान्तरादि से प्रशमित होता है। निर्हेतुक मान बिना किसी कारण से अथवा किसी कारणाभास से उत्पन्न होता है, जो कि स्वयं ग्राह (आलिङ्गन) तथा स्मितादि से प्रशमित होता है। 'चैतन्यचरितामृतम्' में वर्णित मान निर्हेतुक है। केवल अत्यधिक प्रणय के कारण कौतुकवश मान धारण किया गया है। वृन्दावन के लताकुञ्जों में कृष्ण किसी गोपरमणी के साथ विहार कर रहे हैं। अकस्मात् एक भ्रमर प्रफुल्लित पुष्प को त्यागकर अर्द्धविकसित कलिका का रस पान करने लगता है। नायिका चञ्चरीक के इस चपल व्यवहार की

सम्भावना कृष्ण में करके मानवती हो जाती है तथा उन्हें उपालम्भ देना प्रारम्भ कर देती है :—

श्यामलोऽसि सततं मधुमत्तः पद्मिनीषु निरतश्चपलोऽसि ।
चंचरीकसदृशोऽसि ततस्त्वं कस्यचिन्ननु समस्तगुणेन ।।
संविमर्दनसहासहतां नो वेत्सि मुग्धतमरागपरोसि ।
इत्थमात्तकुतुकं कृतरोषा कापि कृष्णमपदिश्य जगाद ।।[1]

अर्थात् 'हे मुग्धतम ! तुम श्यामल अर्थात् कृष्ण वर्ण के हो, मधुमत्त अर्थात् (भ्रमर की भाँति) उचितानुचित के विवेक से शून्य हो, कमलिनी के सदृश सुन्दर कामिनियों में सतत अनुरक्त रहते हो एवं चपल स्वभाव के हो। अतएव तुम निश्चय ही समस्त गुणों से चंचरीक के सदृश हो। (हम) स्त्रीगण ही पीड़ा सहन करने में सक्षम हैं, किन्तु तुम रागवश इस तथ्य को नहीं जानते हो।' इस प्रकार कोई एक गोपी कौतुकवश ईषत् क्रोध प्रकाशित करती हुई कृष्ण को उपालम्भ देने लगी।

प्रस्तुत स्थल पर कृष्ण और उनकी प्रिया आलम्बन विभाव हैं। भक्तगण आश्रय हैं। उद्दीपन विभाव—तटस्थ चञ्चरीक हैं, जो प्रफुल्लित पुष्प को त्यागकर कलिका का रसपान करने लगता है। स्थायीभाव कृष्ण विषयक समर्थामधुरारति है। कृष्ण को 'श्यामलोऽसि', 'चपलोऽसि' आदि शब्दों के द्वारा उपालम्भ देना अनुभाव है। निर्वेद, व्यग्रता, विषाद, दैन्य, ग्लानि, अमर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं, जिसके सहयोग से मान विप्रलम्भ मधुररस में आस्वादित हो रहा है। यहाँ पर आश्रय के अनुभावों आदि का संकेत नहीं दिया गया है। उन्हें आक्षिप्त करना पड़ेगा।

मानभङ्गार्थ कवि कर्णपूर ने सामनीति का प्रयोग किया है, जिसमें सखी अथवा दूती प्रियवचनों के द्वारा मान त्याग करने के लिए प्रेरित करती है; यथा—

मास्म मानिनि कृथाः श्रममुच्चैस्त्यज्यतां विवशतां सरसाक्षि ।
हेमगौरि गरिमाणमुपेतो मान एष भवितेव चरिष्णुः ।।
पश्य मत्तहरिणाक्षि ! धुनाना पल्लवं तव करस्य समानं ।
माधवी कुसुमयौवनरम्या बाध्यते मधुकरैरतिलुब्धैः ।।
धर्षितापि मधुपैरिह मल्ली वल्लिरुल्लसितकुड्मलरम्या ।
पाणिवत् किसलयं विधुनाना किं शशाक परिमर्द्दशमाय ।।

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , ९।३८,३९.

पश्य भृंगलुलिता दलकम्पैरेवमेव परिवक्तिलतेयं।
नैव नैव मदभाजि रिरंसौ सुभ्रुवो मनसि तिष्ठति मानः।।
आश्रवंतमिममाश्लिषकान्तं मुंच मुंच सखि मानमसन्तं।
कापि भावचतुरा परिहासैः प्राणनाथमभिकांचिदवादीत्।।[1]

प्रस्तुत स्थल पर आलम्बन विभाव नायिका है। उद्दीपन विभाव तटस्थ भ्रमर एवं लता हैं। स्थायी भाव कृष्णविषयक समर्था रति है। वाचिक अनुभाव का उपदेश नामक भेद हो रहा है। रूपगोस्वामी ने अनुभाव के अलंकार, उद्भास्वर एवं वाचिक तीन भेद स्वीकार किये हैं।[2] वाचिक के भी आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश, निर्देश तथा व्यपदेश आदि द्वादश भेद किये हैं।[3] यहाँ पर दूती भ्रमर और लता का दृष्टान्त देकर मान मोचन के साथ ही समीप में उपस्थित प्रिय का आलिङ्गन करने के लिए उपदेश दे रही है। क्योंकि मान भविता की भाँति अस्थायी है। दूसरी ओर नायक के मत्त होने पर कोई भी नायिका अपने मान को स्थिर नहीं रख सकती है। भ्रमर के द्वारा अत्यधिक पीड़ित लता भी भ्रमर से प्रतिशोध नहीं ले पाती है। ऐसी दशा में मदमत्त कामिनी अपने मान को कैसे स्थायी रख सकती है? इसी प्रकार एक अन्य उद्धरण में भी दूती नायिका का मान भङ्ग करने का प्रयास कर रही है; यथा—

माकृथाः कथमपि प्रथयानं मानमानय मधूनि ददस्व।
मानयोऽयमभिनाथमजस्रं मानिनि प्रकटमानवशत्वं।।
पाययस्व मधुराधरसीधुं जीवय प्रियतमं दयनीयं।
नूनमत्र भवती हृदयेशाकातरं नु हृदयं न हि वेत्सि।।
इत्यतीवमृदुलः स्मरमत्तः श्यामलोपि सततगुरुरागः।
प्रेयसो गुणवशीकृतचित्तां चित्तनाथ इतरामभजिष्ट।।[4]

अर्थात् 'हे मानिनी! किसी भी प्रकार मान का विस्तार मत करो। अपितु मदिरा प्रिय को लाकर अर्पित करो। क्योंकि प्रिय को लक्ष्य करके सदैव मानवती हो जाना उचित रीति नहीं है। अतएव सुमधुर अधर सुधा का पान कराकर दयनीय प्रियतम को जीवन दान दो। वस्तुतः तुम प्रिय

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्; ६।२२–२६.
२. रूपगोस्वामी, उज्ज्वलनीलमणि, अनुभावप्रकरणम् १.
३. वही, ८९.
४. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम, ६।४६–४८.

के हृदय की कातरता को नहीं समझती हो। वह अत्यन्त मृदुल, कामोन्मत्त एवं श्यामल होते हुए भी अत्यधिक रागी है। अतएव (तुमसे तिरस्कृत होकर) वह अपने गुणों से वशीभूत अन्य प्रियतमा का आश्रय ले लेगा। (उस परिस्थिति में तुम क्या करोगी ?)'

प्रस्तुत स्थल पर भी कृष्णविषयक समर्था मधुरारति स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव—मानिनी नायिका है। उद्दीपन है—कृष्ण का कोई अपराध। वाचिक अनुभाव उपदेश है। उपर्युक्त मान के उद्धरण यद्यपि परम्परागत शैली में वर्णित हैं तथापि उसमें स्वाभाविकता एवं सजीवता विद्यमान है।

सम्भोग उज्ज्वल रस

रूपगोस्वामी वर्णित सम्भोग उज्ज्वल रस की प्राक्तन सम्भोग शृङ्गार से अत्यधिक समता दृष्टिगोचर होती है। दोनों (नायिका-नायक) के उल्लासपूर्वक दर्शन, आलिङ्गनादि सेवात्मक भाव सम्भोग है। वह मुख्य एवं गौणभेद से दो प्रकार का होता है। जाग्रत काल में मुख्य तथा स्वप्न में गौण होता है। मुख्य सम्भोग पूर्वरागादि के पश्चात् संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पन्न एवं समृद्धिमान भेद से चार प्रकार का वर्णित है। अर्थात् पूर्वराग के पश्चात् संक्षिप्त, मान के पश्चात् संकीर्ण, प्रेमवैचित्त्य के पश्चात् सम्पन्न एवं प्रवास के पश्चात् समृद्धिमान होता है।

'चैतन्यचरितामृतम्' में सम्भोग उज्ज्वल रस का वर्णन कवि कर्णपूर ने नवम एवं दशम सर्ग में किया है। रूपगोस्वामी कथित सम्भोग विशेष-सन्दर्शन, जल्प, स्पर्श, मार्गरोध, रास, वृन्दावन क्रीडा, यमुनाजलकेलि, मधुपान, पटाकर्षण, चुम्बन, आलिंगन, नखाङ्कदान, अधरदंशन, अधरपान एवं सुरत आदि का वर्णन कवि कर्णपूर ने कुशलतापूर्वक किया है; यथा—

साभिलाषमथभाववतीनां कृष्णचन्द्रमभिमुग्धवधूनां।
साध्वसं प्रथमजं तिरयित्वा मन्मथेन हृदये समुदासे ॥[1]

अर्थात् स्पृहापूर्वक कृष्णचन्द्र को देखने के कारण अत्यधिक भावविभोर होने वाली व्रजसुन्दरियों के हृदय में प्रथमदर्शनजनित (स्त्रीसुलभ) भय एवं संकोच को दूर करते हुए कामदेव उदित हुए। यहाँ पर कृष्ण विषयक समर्था मधुरारति स्थायी भाव है। व्रजसुन्दरियाँ आलम्बन विभाव हैं। आश्रय भक्तवृन्द हैं (जो आक्षिप्त है)। कृष्ण के मानसिक, वाचिक एवं कायिक गुण एवं मण्डनादि उद्दीपन विभाव हैं (जो आक्षिप्त है)। भाव

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ९।५.

नामक अंगज अलंकार अनुभाव है। कृष्ण के प्रथम दर्शन से व्रजसुन्दरियों के हृदय में कामविकारों की उद्भावना हो रही है। हर्ष, आवेग, शंका, भय, संभ्रम, चापल्यादि व्यभिचारी भाव हैं, जिनके सहयोग से उज्ज्वलरस आस्वादित हो रहा है।

पुनश्च—

अंशुकं शिथिलितं द्रढयित्वा बिभ्रती सचकितत्रपमेका।
सस्मितप्रियसखीजनपार्श्वे लीलया लघु चलन्त्यभिरेजे ॥[1]

प्रस्तुत उद्धरण में कोई व्रजरमणी कृष्ण के साथ सम्भोग सुखास्वादन करने के पश्चात् लताकुञ्ज से निकलकर मन्द मन्थर गति से गमन करती हुई जा रही है। उस समय सखियाँ उसकी अस्त-व्यस्त वेशभूषा से उसके गुप्त सम्भोग का अनुमान करके किञ्चित् स्मितमुखी हो जाती हैं। नायिका यह विचार कर कि सखियों को मेरे सम्भोग रहस्य का ज्ञान हो गया है, लज्जित होकर शीघ्रतापूर्वक अपने वस्त्राञ्चल को दृढ़तापूर्वक बाँधती हुई गमन करने लगती है। किन्तु सम्भोग श्रम के कारण उसकी गति अत्यन्त मन्द तथा विलासयुक्त है। प्रस्तुत स्थल पर कृष्ण की प्रिया अर्थात् व्रज रमणी आलम्बन विभाव है। वृन्दावन का रमणीय लताकुञ्ज उद्दीपन विभाव है। व्यभिचारी भाव व्रीडा, शंका, हर्ष एवं उन्माद हैं। सात्विक भाव स्तम्भ है। अस्त-व्यस्त आञ्चल का दृढ़ करना तथा विलासपूर्वक गमन आदि अनुभाव है; जिससे सम्भोग उज्ज्वल रस व्यंग्य हो रहा है।

एतदेव कुसुमं तव रम्यं कर्णयोरिति समुन्नतबाहुः।
कृष्णवक्षसि मिलत् कुचकुम्भा काचनाऽमुमभिभूषयति स्म ॥[2]

प्रस्तुत स्थल पर प्रगल्भा नायिका का चित्रण है, जो कृष्ण के स्पर्शजनित सुख का अनुभव करने की आकांक्षा से उन्हें पुष्पों से भूषित करती है। कृष्ण विषयक 'समर्था' मधुरारति स्थायी भाव है। कृष्ण और उनकी प्रिया आलम्बन विभाव हैं। कृष्ण के गुण उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष, आवेग, चापल्यादि व्यभिचारी भाव हैं। प्रगल्भता नामक अयत्नज अलंकार अनुभाव है; जिसके कारण नायिका बाहु विस्तीर्ण कर एवं वक्षस्थल से स्तन संलग्न कर कृष्ण को कर्णाभूषण से विभूषित करती है। स्वेद, स्तम्भादि सात्त्विक भाव आक्षिप्त हैं। इन सबके सहयोग से मधुर रस आस्वादित हो रहा है।

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ६।६.

२. वही, ६।३२.

अन्यत्र—

अम्बुजं मुखमिदं तव राधे कुन्ददामवदना कुसुमैः किं ।
इत्थमुन्नमयता चिबुकाग्रं प्रेयसी प्रियतमेन चुचुंबे ।।[१]

अर्थात् 'हे राधे ! तुम्हारा मुख साक्षात् कमल है एवं दन्तपंक्तियाँ कुन्द पुष्प की माला रूप है; इसलिए तुमको पुष्पों की क्या आवश्यकता ? इस प्रकार कहते हुए कृष्ण ने राधा की चिबुक को ऊपर उठाकर चुम्बन किया।' यहाँ पर समर्था मधुरारति स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव परस्पर कृष्ण राधा हैं। आश्रय भक्तवृन्द हैं (जो आक्षिप्त है)। रूपनामक कायिक गुण उद्दीपन है। चिबुक स्पर्श एवं चुम्बन आदि अनुभाव हैं। हर्ष, आवेग, चापल्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। स्वेद, स्तम्भादि सात्त्विक भी आक्षिप्त हैं।

सन्दर्शन—

कापि मन्दमयता परिवृत्ते मारुतेन कुचयुग्मकचेले ।
सम्भ्रमात् प्रियसखीजनमुच्चैरालिलिंग परिपश्यति कृष्णे ।।[२]

प्रस्तुत स्थल पर मन्द-मन्द वायु के कारण अनावृत स्तनवाली नायिका यह सम्भावना करके कि कृष्ण ने मुझे इस अवस्था में देख लिया है; सम्भ्रम वश अपनी प्रिय सखी का आलिंगन कर लेती है। यहाँ आलम्बन विभाव कृष्ण तथा उनकी प्रिया हैं। स्थायी भाव कृष्णविषयक समर्था मधुरारति है। उद्दीपन तटस्थ वायु एवं कृष्ण दर्शन की सम्भावना है। आवेग, हर्ष, शंका, सम्भ्रम, व्रीडा, चापल्यादि व्यभिचारी भाव हैं। चकित नामक स्वभावज अलंकार अनुभाव है; जिसके फलस्वरूप नायिका संभ्रमित होकर सखी का आलिंगन कर लेती है। यहाँ पर नायिका का कृष्ण के प्रति अभिलाषत्व व्यंग्य हो रहा हैं।

वर्त्मरोधन—

मन्थरा तव गतिः सहजैषा तत्र चेत् प्रतिपदं रमणेन ।
प्रस्थिता तदिह किं चलितव्यं पश्य सुन्दरि तदत्रनिकुञ्जम् ।।[३]

प्रस्तुत स्थल पर किसी गोपरमणी का मार्गरोधन कर कृष्ण उसे निकुंज में रमण करने के लिए आमन्त्रित कर रहे हैं। कृष्ण विषयक समर्था मधुरारति स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव कृष्ण और उनकी प्रिया

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , ६।३४.

२. वही, ६।७.

३. वही, ६।४१.

गोपरमणी हैं। उद्दीपन विभाव गमन लीला है। वर्त्मरोधन अनुभाव है। हर्ष, उन्माद, चापल्यादि व्यभिचारी भाव हैं।

कहीं-कहीं स्थलों पर सम्भोग विशेष का वर्णन इतना स्पष्ट है कि उन स्थलों पर अनुभाव विभाव स्पष्ट करने की आवश्यकता ही नहीं है। यह वर्णन परम्परागत शैली पर लिखे गये हैं एवं उन पर कामशास्त्र का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। यथा—

गात्रमोटन—

उन्नमय्यभुजयुग्ममथान्या पीवरस्तनयुगोन्नमनेन।
सांगभंगमलसेन लसन्ती जृम्भते स्म पुरतो दयितस्य॥[1]

अर्थात् कोई एक गोपरमणी भुजलता को ऊपर उठाकर स्तनयुगल को किञ्चित् उन्नत करते हुए आलसपूर्वक अंगभंग करती हुई अत्यधिक सुशोभित हुई एवं उसने प्रिय के समक्ष ही जृम्भा का परित्याग किया।

पटाकृष्टि—

कीदृशीं स्रजमहं रचयेयं कम्बुकण्ठि तव कण्ठतटाय।
इत्यसौ सकुतुकं दयिताया वक्षसो वसनमाशु जहार॥[2]

अर्थात् 'हे कम्बुकण्ठि! तुम्हारे कण्ठतट के लिए किस प्रकार की माला का सृजन करूँ—इस प्रकार कहते हुए प्रिय ने कौतुकवश प्रियतमा के वस्त्रों का शीघ्रतापूर्वक हरण कर लिया।

नखार्पण—

साधु साधु वयमेव जिताः स्मो निश्चितं शशिमुखि प्रतिजाने।
इत्यसौ किमलिखज्जयलेखां प्रेयसी कुचयुगे स्वकरेण॥[3]

अधरदंशन—

दष्टवत्यतितरां दशनाग्रैर्वल्लभे मधुमदादधरोष्ठम्।
मन्दकण्ठनिनदैः कलकण्ठ्यः कोमलं करुणमेव चुकूजुः॥[4]

स्पर्श—

माधवस्य करपल्लवसङ्गादाससाद पुलकं कुचयुग्मम्।
कन्दुकी कृतममंदकदम्बद्वन्द्वमुत् क्षिपति किं कुसुमेषुः॥[5]

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्; ६।८.
२. वही, पृ० ६।४३.
३. वही, १०।५५.
४. वही, १०।४५.
५. वही, १०।५२.

आलिंगन—

पृष्ठतः प्रियतमेन भुजाभ्यां श्लिष्टवक्षसि रुहाम्बुरुहाक्षी ।
इन्द्रनीलमणिहारमिवान्याकण्ठसीम्नि दधती चलितासीत् ।।[१]
कान्तवक्षसि निविष्टमुरोजद्वन्द्वमेव सुदृशः परिरम्भे ।
यद्द्रुतं हृदयमीक्षणरन्ध्रैरुच्छलत्वहिरभूत् सहधर्मैः ।।[२]

चुम्बन—

कृष्णपृष्ठतटलग्नकुचाग्रा तत्तदंश विलसद्भुजमूला ।
साचितद्वदनचुम्बितवक्त्रा कापि तत्र रुरुचेऽनुचलन्ती ।।[३]

पुनश्च—

ऊन्नमय्य चिबुकं मधुरोष्ठीं निर्भरं धयति गोकुलनाथे ।
सा बबन्ध तमथो भुजपाशैः किं रुजा किमुरुषा 'नु' मुदा किं ।।[४]

यमुनाजलकेलि—

ईषदप्यहमुपैतुमशक्तः सुभ्रुतत्तद तनूमवलम्बे ।
इत्यसावलसमूर्त्तिरथैकामाश्लिषन्नुपययौ यमुनायाम् ।।
चुम्बितानि नखदन्तनिपातान् प्रायशः सरभसं विपलय्य ।
तौ परस्परजयोत्सुकचितौ सिंचतः करजलैर्हृदयेशौ ।।
सुभ्रुवोऽधियमुनं श्लथनीव्याः श्लिष्यता प्रियतमेन सलीलम् ।
स्रोतसापहृतमंशुकमच्छेवारिगोपितुमिवांगमभाजि ।।[५]

विपरीत रति—

कापि मुग्धरमणी विपरीते माधवेन सुरते तनुलग्ना ।
चुम्बिता कति न चुम्बति शश्वत् सुस्मितं लघुविलोक्य विलोक्य ।।[६]

मदिरापान—

'चैतन्यचरितामृतम्' में कवि कर्णपूर ने मदिरापान का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण किया हैं। सुरत-क्रीडा से पूर्व मद्यपान का वर्णन उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत किया गया हैं; जिसके कारण रमणियों की लज्जा एवं

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ६।१८.
२. वही, १०।५६.
३. वही, ६।१७.
४. वही, १०।६२.
५. वही, ६।५३, ५४, ५६.
६. वही, १०।६७.

मुग्धता का तिरोधान हो जाता है और वे रति-क्रीडा में और अधिक प्रगल्भता एवं विदग्धता का प्रदर्शन करने लगती हैं; यथा—

यद्वच: श्रवणवर्त्मनयातं प्रेयसः सपदि सापि नवोना ।
वारुणी मदवशादवदंशं तत्तदोष्ठमतनिष्ठनिकामम् ।।[1]

अर्थात् 'जो वाक्य कभी कर्णगोचर नहीं होते कि प्रियतमा ने प्रिय के ओष्ठ पर दन्ताघात किया (यह वचन सर्वथा असम्भव प्रतीत होते हैं) । तथापि नवीन रमणी ने मदिरापान से मत्त होकर प्रिय के ओष्ठ पर दन्ताघात के चिह्न चिह्नित किये ।' यहाँ पर आलम्बन विभाव कृष्ण और उनकी मुग्धा प्रिया है । कृष्ण विषयक समर्था मधुरा रति स्थायी भाव है । मदिरा पान उद्दीपन विभाव है । प्रगल्भता अनुभाव है, जिसके कारण रमणी स्त्रियोचित लज्जा का परित्याग कर प्रिय के ओष्ठ पर दन्ताघात करती है । हर्ष, आवेग, चापल्यादि व्यभिचारी भाव हैं । हर्षजात स्वेद आदि सात्त्विक भाव आक्षिप्त हैं; जिनके सहयोग से सम्भोग उज्ज्वल रस की चर्वणा हो रही है । संस्कृत कविसम्प्रदाय में प्रियतमा की अंगकान्ति से प्रतिबिम्बित मधु का वर्णन प्रसिद्ध है । 'मेघदूत' में कालिदास ने भी इस प्रकार का वर्णन किया है ।[2] उसी परम्परा में कवि कर्णपूर ने प्रिया के मुख से प्रतिबिम्बित मदिरा का सुन्दर वर्णन किया है; यथा—

क्लान्तकान्तरमणी मुखबिम्बैः पद्मवासित इवासव एषः ।
पातुमाहितरसस्य दृशाऽभूत् प्रेयसोऽरुण रुचापि च पीतः ।।[3]

अर्थात् 'यह मदिरा क्लान्त कमनीय रमणी मुख के प्रतिबिम्ब द्वारा पद्मवासित हो गई है; अतएव उसका पान करने के लिए प्रिय की जिह्वा में रस का आविर्भाव हुआ । किन्तु प्रतिबिम्बित मुख की अरुणकान्ति पर अपलक दृष्टिपात करने से प्रियतम के नेत्रों ने ही उसका पान किया ।' यहाँ पर आलम्बन विभाव कृष्ण तथा उनकी प्रिया है । कृष्ण विषयक समर्था मधुरा रति स्थायी भाव है । मदिरापान उद्दीपन विभाव है । अपलक दृष्टि से देखना अनुभाव है । स्तम्भ सात्त्विक भाव है । हर्ष, आवेग, उन्माद आदि व्यभिचारी भाव है, जिनके सहयोग से रति रसता को प्राप्त हो रही है ।

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , १०।३५.

२. हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां-
बन्धु प्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली या सिषेवे ।।
कालिदास, मेघदूतम् , १।५१.

३. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , १०।३३.

इसी प्रकार प्रिया के मुख से मदिरापान का वर्णन देखिये; यथा—

आययुः किमुपरस्परयोगात् सुभ्रुवोऽधरमधुनि मधुनि ।
स्वादुमिष्टमधिकं यदमादीत्तन्मुखात् परिपिवन् हृदयेशः ॥[1]

अर्थात् 'परस्पर संयोग करने के निमित्त क्या कामिनियों ने मधु तुल्य अधर से मधु का पान कर लिया है ? निश्चय ही यह मदिरा अधिक स्वादिष्ट होगी, यह विचार कर प्रिय ने प्रियतमा के मुख से मदिरापान किया ।' यहाँ पर भी कृष्ण व उनकी प्रिया आलम्बन विभाव है । कृष्ण विषयक समर्था मधुरारति स्थायी भाव है । मदिरापान उद्दीपन है । प्रिया मुख से मदिरापान अनुभाव है । हर्ष, उन्माद, चापल्यादि व्यभिचारी भाव हैं; जिनके सहयोग से सम्भोग उज्ज्वल रस आस्वादित हो रहा है ।

पुनश्च—

दत्तमात्ममुखतो मधुभूयः किं जिघृक्षुरभिपीड्य रदाग्रैः ।
भर्त्तरोष्ठदलदंशपराऽपि प्रेयसी रचयतीव विदंशम् ॥[2]

अर्थात् 'मधुमत्त कामिनी निज मुख से प्रिय को मदिरा प्रदान करने के पश्चात् पुनः उसी मधु को ग्रहण करने के निमित्त दन्ताग्र से प्रिय के ओष्ठ के ऊपर दंशन करती है । प्रिय के ओष्ठ की रसात्मकता का परिज्ञान हो जाने पर पुनः कान्त के मुख पर दन्ताघात करने के लिए उद्यत हो जाती है ।' यहाँ पर कृष्ण व उनकी प्रिया आलम्बन विभाव है । कृष्णविषयक समर्था मधुरारति स्थायी भाव है । उद्दीपन विभाव मदिरा है । प्रगल्भता अनुभाव है; जिसके कारण वे दन्ताघात के लिए उद्यत होती हैं । हर्ष, आवेग, उन्माद, मद, चापल्यादि संचारी भाव हैं, जिसके सहयोग से रति रस रूप में परिणत हो रही है ।

मदिरापान के प्रसंग में कवि कर्णपूर ने एक स्थल पर गोपवधुओं की स्वाभाविक दशा का अत्यधिक सुन्दर चित्रण किया है; यथा;

एकमस्ति मनसीतरदुक्तं तत्र च प्रतिपदं स्खलनं हि ।
ईरितं किमपि वाञ्छितमन्यत् किं प्रमाद इव भाति मदोऽयम् ॥
अर्द्धमर्द्धमिव भाषितभासामर्द्धमर्द्धमिव चेष्टितमस्य ।
सुभ्रुवां हृदयलोपविधाने मन्मथः किमसृजन्मधुवारम् ॥[3]

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , १०।३४.

२. वैही, १०।३८.

३. वही, १०।४०, ४१.

अर्थात् 'रमणियों के मन में भाव एक है, किन्तु उसका वाक्य द्वारा प्रकटन विभिन्न प्रकार से हो रहा है। प्रत्येक पदविन्यास पर उनके अंग का स्खलन हो रहा है। उनकी कायिक चेष्टाएँ एक रूप हैं, किन्तु वाञ्छाएँ विभिन्न हैं। निश्चय ही कामिनीगणों की उन्मदत्ता एक अनिर्वचनीय प्रमाद की भाँति प्रतीत हो रही हैं। वे अत्यधिक उन्माद के कारण अर्द्ध-अर्द्धवाक्य का उच्चारण कर रही हैं, उनकी चेष्टाएँ अर्द्ध-अर्द्ध हैं अर्थात् उनसे उनका अभिप्राय पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हो रहा है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि कामिनियों के चित्त का लोप करने के निमित्त ही कामदेव ने मदिरा पात्र की सृष्टि की है।' यहाँ पर आलम्बन विभाव मदमत्त नायिका है। मदिरा उद्दीपन विभाव है। प्रलाप, पदस्खलन, विक्षिप्त चेष्टाएँ आदि अनुभाव हैं। मद, उन्माद, हर्ष, चापल्यादि व्यभिचारी भाव हैं। स्वरभंगादि सात्त्विक भाव हैं, जिनके सहयोग से सम्भोग उज्ज्वल रस आस्वादित हो रहा है। 'चैतन्यचरितामृतम्' में रूपगोस्वामी द्वारा वर्णित लगभग सभी नायिकाओं के भेद प्राप्त होते हैं। विस्तार भय से उनका विवेचन नहीं किया जा रहा है।

प्रीति भक्ति रस—

'चैतन्यचरितामृतम्' में सर्वत्र चैतन्य की भक्ति तथा भक्तिपरक चेष्टाओं का वर्णन किया गया है। अतएव प्रीतिभक्ति रस का पूर्णपरिपाक महाकाव्य में अद्योपान्त हुआ है। चैतन्य कृष्ण के भक्तावतार हैं। अतएव भक्ति उनके हृदय में प्राक्तन संस्कार के रूप में विद्यमान है, जो अल्पमात्र कृष्णनाम श्रवणादि उद्दीपन से प्रबुद्ध हो जाती है। भक्ति की आरम्भिक अवस्था तत्त्वज्ञान है। संसार की निःसारता उसके हृदय में वैराग्य भाव को जाग्रत कर कृष्ण के चरण कमलों में राग उत्पन्न करा देती है। 'चैतन्यचरितामृतम्' में सर्वप्रथम चैतन्य के हृदय में तत्त्व ज्ञान उदित होता है। आत्मा अर्थात् ईश्वर के अतिरिक्त उन्हें समस्त विश्व मिथ्या प्रतीत होता है। भक्ति की यह आरम्भिक अवस्था है; यथा—

अध्यात्मतत्त्वमभिगौरमहाप्रभुः स व्याख्यां चकार बहुदुर्गमबोधमन्यैः।
एकोऽवशिष्यत इहाविरतं स आत्मा सृष्टौ स एव पुनरेकक एव भाति ॥
इत्थं प्रसार्य स्वकरौ करुणासमुद्रो मुष्टीचकार च पुनर्द्रुतमेव नृत्यम्।
सच्चित्स्वरूपमथ तत्त्वनिरूपणं तद्भूयो जगाद जगदेकगतिः प्रकामम् ॥[1]

यहाँ पर कृष्ण विषयक सम्भ्रम प्रीति स्थायी भाव है। कृष्ण आलम्बन

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ६।६३, ६४.

विभाव हैं। उद्दीपन—संसार के मिथ्यात्व का ज्ञान। तत्त्व निरूपण, बाहु प्रसार्य, मुष्टीबन्धन एवं भाव विभोर होकर नृत्य करना अनुभाव है। धृति, मति, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं; इन सबके सहयोग से सम्भ्रम प्रीति अभिव्यंग्य हो रही है।

ज्ञानोदय के पश्चात् भक्त के हृदय में ईश्वर के प्रति राग दृढ़ हो जाता है। वह ईश्वर के साथ साक्षात्कार हेतु उत्कण्ठित होने लगता है। किन्तु संयोगाभाव में वह अयोग की स्थिति में उन्हीं के रूपगुण गान में अवलीन रहता है। इस अवस्था में भक्त अत्यधिक भावुक होता है। कृष्ण का नाम भी उसके हृदय में उत्कण्ठा जाग्रत कर देता है; यथा—

नामैकं श्रवणपथं यदैव गच्छेत्तत्सोऽयं भुवि विलुठन्वलप्रकामम्।
द्राघिष्ठैः श्वसनसमीरणैः सकम्पैर्नेत्रान्तप्रसृमरधारया च रेजे॥
सोत्कण्ठं निरवधि कृष्ण कृष्ण कृष्णेत्या जल्पन्क्वचनविभिन्नसन्नकण्ठः।
हर्षोर्ध्वै(र्द्धै)स्तनुरुहसञ्चयैर्विभाति प्रायोऽयं प्रतिदिनमेवमेव भूत्वा॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर कृष्णविषयक प्रीति स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव—कृष्ण हैं। कृष्ण नाम का श्रवण होना उद्दीपन है। भूमिविलुठन, ऊष्ण-श्वासमोचन, अश्रु प्रवाह, अवरुद्ध कण्ठ एवं कृष्ण नाम का प्रताप अनुभाव है। 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में उपर्युक्त अनुभाव 'क्षेपण' अनुभाव के अन्तर्गत परिगणित है।[2] हर्षजात रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु तथा अश्रु आदि दीप्त सात्त्विक भाव हैं। क्योंकि यहाँ पर चार सात्त्विक भाव एक साथ प्रौढ़ रूप में अभिव्यक्त हो रहे हैं एवं उनको आच्छादित करना असम्भव-सा प्रतीत होता है। अतएव यह दीप्त सात्त्विक कहे जायेंगे।[3] औत्सुक्य, हर्ष, आवेग, दैन्य, उन्माद आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सबके सहयोग से प्रीति भक्ति-रस आस्वाद्यमान हो रहा है। यह प्रीति भक्ति रस उत्कण्ठित अयोग सूचक है, जिसमें भक्त का अपने इष्ट से एक बार भी संयोग नहीं हुआ है। अयोग प्रीति रस की एक अन्य अवस्था भी है जिसमें एक बार कृष्ण का संयोग अथवा दर्शन (स्वप्नादि में) प्राप्त होने के पश्चात् पुनः वियोग हो जाता है। यह अवस्था वियोग प्रीति भक्तिरस संज्ञा से अभिहित की गई है; यथा—

किमु 'तात' रोदिति भवानवदत् स तथेति मातरमुवाच ततः।
अयि निद्रया विकलितेन मया सविलोकितोऽस्ति मधुरो मधुरः॥

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ५।१२–१३.
२. रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, २।२।३.
३. वही, २।३।३५–३६.

स्मितदीधितिस्नपितदिग्वलयः करुणाकटाक्षमधुरः कमलः ।
इति तं विलोक्य सहसाऽविरभूत सुखसंचयैर्मम सुविह्वलता ।।
अथ रोदामि प्रतिमुहुर्विकलः सुखसागरेऽस्मि कृतसंप्लवनः ।
तनयोदितान्यथ निशम्य शची सहसाभवत् सपुलकं मुदिता ।।[1]

यहाँ पर कृष्णविषयक प्रीति स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव कृष्ण हैं। स्वप्न में अखिल सौन्दर्य मूर्ति कृष्ण का दर्शन उद्दीपन है। रोदन एवं कृष्णस्वरूप का वर्णन आदि कार्य अनुभाव हैं। विकलता, उत्कण्ठा, विह्वलता, हर्ष, उन्माद आदि व्यभिचारी भाव हैं। रोमाञ्च, अश्रुपात आदि सात्त्विक भाव हैं, इनके सहयोग से प्रीति आस्वाद्यमान हो रही है।

भक्ति में भक्त कृष्ण का यह क्षणिक संयोग प्राप्त कर लेने के अनन्तर अहोरात्र उसी सुख में निमग्न रहता है। शनैः शनैः वह उन्माद की उस अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ पर ईश्वर के ऐश्वर्यज्ञान का लोप हो जाता है। भक्त अपने आपको कृष्ण से अभिन्न समझने लगता है। चैतन्य की उसी उन्मादावस्था का चित्रण किया गया है; यथा—

हसन्नसौ सुमधुरं श्रीवासमवदत् प्रभुः ।
वेणुं प्रयच्छ मे शीघ्रं क्वसोऽस्ति न तु दृश्यते ।।
ततोऽयं विप्रप्रवरो हसन्निदमभाषत ।
वेणुस्तवास्ति गोपीभिः परितः परिरक्षितः ।।
वृन्दावनक्रीडितानि स्मृत्वा स्मृत्वा कृपानिधिः ।
सान्दानन्दैकसंदोहमग्नस्तूष्णीमभूत् क्षणम् ।।[2]

प्रस्तुत स्थल पर चैतन्य का अस्तित्व कृष्ण के साथ एकाकार हो गया है, जिसके फलस्वरूप वे स्वयं को कृष्ण समझ रहे हैं। कृष्णविषया प्रीति परिपक्व होकर प्रेम में परिवर्तित हो गई है। वेणु याचना, मौनता आदि अनुभाव है। मद, उन्माद, हर्ष, चिन्ता, स्मृति आदि संचारी भाव हैं। इन सबके सहयोग से चैतन्य की प्रीति प्रीतिभक्ति रस में आस्वादित हो रही है।

पुनश्च—

क्षणं गोपीभावैः क्षणमपि च दास्यैः क्षणमथो ।
तथैश्वर्यैः श्रीमान् नटनकलया कौतुकपरः ।।

---

१. कविकर्णपूर, चैतन्यचरिचरितामृतम् , ७।२, ११, १२.

२. वहीं, ८।५६–५८.

असीमप्रेमार्द्रो निरवधि चलन् पश्चिमदिशम् ।
न सस्मारात्मानं क्षणमपि दिनानां त्रयमभि ॥[1]

प्रस्तुत उद्धरण में चैतन्य संन्यासग्रहणोपरान्त वृन्दावन गमनेच्छा से मार्ग पर विचर रहे हैं। उन्हें पथ तथा अपना कुछ भी स्मरण नहीं है। कृष्णविषयक प्रीति स्थायी भाव है। उद्दीपन विभाव वृन्दावनगमनेच्छा है। गोपी भाव, दास्य भाव, ऐश्वर्यरूप एवं नृत्य आदि चेष्टाएँ अनुभाव हैं। विस्मृति, हर्ष, उन्माद, मद एवं उत्कण्ठा आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सबके सहयोग से प्रीति अभिव्यक्त हो रही है।

अन्यत्र—

विलोक्य तं (तत्) कृष्णपदं तदैव,
प्रेमातिरेकेण स विह्वलात्मा।
पपात भूमौ, नयनाश्रुधारा-
समूहधौताङ्गततो विचेष्टः ॥[2]

यहाँ पर चैतन्य एक पद में कृष्ण नाम देखकर भावविभोर हो उठते हैं। चैतन्य के हृदय में कृष्णविषयक प्रीति विद्यमान है। 'कृष्णपद' देखना उद्दीपन है। भूमि पर विलुंठित होना, अश्रुपात एवं इन्द्रियों का विचेष्ट होना क्षेपण अनुभाव हैं। हर्ष से स्तम्भ, अश्रुपात आदि सात्त्विक भाव हैं। औत्सुक्य, विकलता, विह्वलता, हर्ष, उन्माद आदि व्यभिचारी भाव हैं, जिनके सहयोग से प्रीति चर्वणा के योग्य हो रही हैं।

भक्त के हृदय में दास्याभिमान सदैव विद्यमान रहता है। वह अपने को न केवल कृष्ण का दास समझता है, अपितु उनके दासों का भी दास बनने में अपना गौरव समझता है; यथा—

अथपुलकसमूहभ्राजमानं पुरोह-
न्मुकुलकुलविराजतकाञ्चनद्रुप्रकाशम् ।
मधुरमपठदुच्चैः पीनमुन्नीयबाहुं,
कनकगिरिरिवासौ श्रृंगलग्नान्तरीक्षः ॥
नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो,
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा ॥
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्त्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥[3]

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , ११।६१.
२. वही, १२।४०.
३. वही, १६।१, ४.

यहाँ पर कृष्णविषयक प्रीति स्थायी भाव है। कृष्ण एवं उनके भक्त आलम्बन विभाव हैं। बाहुप्रसार्य, पद्योच्चारण आदि अनुभाव हैं। रोमाञ्च, स्वेद आदि सात्त्विक भाव हैं। मति, धृति, गर्व, दैन्य, उन्माद आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सबके सहयोग से चैतन्य की प्रीति आस्वादित हो रही है।

शृंगार रस

'चैतन्यचरितामृतम्' में 'उज्ज्वल रस' का अत्यधिक विस्तारपूर्वक चित्रण किया गया है। किन्तु चैतन्य-लक्ष्मी विषयक शृंगार का अति-मर्यादित एवं संक्षिप्त वर्णन प्राप्त होता है। शृंगार के विप्रलम्भ एवं संयोग के यत्किञ्चित् उद्धरण ही प्राप्त होते हैं। लक्ष्मी के प्रथम दर्शन से चैतन्य के हृदय में स्फुरित होने वाली रति का उपनिबन्धन स्मरणीय है—

विलोक्य स प्राक्तनवल्लभां तां
सुखाम्बुधौ मज्जनमाततान।
नैसर्गिकं प्रेमयथावकाशं
प्रसह्य नामोदयतीह कं वा॥
तथाविधां तामवलोक्य वामां
मनस्य भूदुल्लसितः कृपाब्धिः।
मणिं विना दुर्लभमाभिराम्यं
न हैमनीहारलता प्रयाति॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर आलम्बन विभाव-लक्ष्मी हैं। चैतन्य आश्रय हैं। रति स्थायी भाव है। लक्ष्मी को देखना एवं प्रसन्न होना अनुभाव है। हर्ष, उन्माद, आवेग, जडता, उल्लास आदि संचारी भाव हैं। यह पूर्वराग (विप्रलम्भ) की वह अवस्था है, जहाँ पर नायक को नायिका का प्रथम साक्षात्कार प्राप्त हुआ है। स्वाभाविक प्रेम के कारण नायक के हृदय में विद्यमान रति दर्शन मात्र से उद्दीप्त होकर शृंगारता को प्राप्त हो रही है। यहाँ पर पूर्वराग की अभिलाषा नामक अवस्था का उदय हुआ है। इसी प्रकार कवि ने लक्ष्मी के हृदय में विद्यमान चैतन्यविषयक रति की अभिव्यञ्जना की है; यथा—

सा शैशवादेकपदेन बाला समागता यौवनसीम्नि किञ्चित्।
परित्रुटच्चापलजायमानत्रपातमालोक्य ननन्द शश्वत्॥[2]

१. कविकर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ३।८, ९.

२. वही, ३।१०.

यहाँ पर आलम्बन विभाव चैतन्य हैं। लक्ष्मी आश्रय हैं। यौवनावस्था उद्दीपन विभाव है। रति स्थायी भाव है। लज्जा पूर्ण दृष्टि अनुभाव है। हर्ष, व्रीडा, चापल्य, उन्माद आदि संचारी भाव हैं। इनसे परिपुष्ट रति शृंगारता को प्राप्त हो रही है।

करुण रस

'चैतन्यचरितामृतम्' के द्वितीय एवं तृतीय सर्ग में करुण रस की पूर्ण व्यंजना हुई है। द्वितीय सर्ग में चैतन्य के पिता जगन्नाथ की मृत्यु के अवसर पर करुणरस की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। यहाँ पर कवि कर्णपूर की भावाभिव्यक्ति अत्यन्त मर्मस्पर्शी है; यथा—

पितुः पदं वक्षसि दुःखितात्मना निधाय ते-पे नितरां कृपावता।
पितुः क्व मां प्रोज्झय सदीनमेककं शिशुं कथं हन्त भवान् गमिष्यति ॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर शोक स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव जगन्नाथ एवं आश्रय चैतन्य हैं। गंगा के तट पर दाहकर्म निमित्त लाया गया (चैतन्य के पिता जगन्नाथ का) शव उद्दीपन विभाव है। मृतक के चरणों को हृदय से लगाना एवं प्रलाप करना अनुभाव है। दैन्य, ग्लानि, उन्माद, मोह, विषाद आदि संचारी भाव हैं। उपर्युक्त वर्णन अत्यधिक सरल है, किन्तु उससे उद्भासित होने वाली मर्मस्पर्शता संवेदनशील है। मृत पिता के चरणों को पकड़कर अल्पायु वाले निरीह बालक का विलाप—"पितुः क्व मां प्रोज्झय सदीनमेककं शिशुं कथं हन्त भवान् गमिष्यति" अत्यधिक कारुणिक दृश्य की सृष्टि कर देता है। बालक के इस प्रलाप में सरलता एवं व्यथा अन्तर्निहित है।

इसी प्रकार जगन्नाथ की मृत्यु पर शची के विलाप में तीव्र अन्तर्वेदना प्रज्ज्वलित होती सी दिखाई देती है। भावाभिव्यक्ति की सरलता तथा रसानुकूल वियोगिनी छन्द का प्रयोग उसे और भी मर्मस्पर्शी बना देता है; यथा—

अथ सा पतिपादपङ्कजद्वयमालिङ्ग्य सगद्गदस्वरम्।
परिदेवनयानया मुहुर्बहुधा नेत्रजलैरसेचयत् ॥
अपि मां परिहाय दुःखितामतिदीनां कुररीमिव प्रभो।
क्वनु संप्रति यासि नीयतां निजदासी बहुदुःखकर्षिता ॥[2]

यहाँ पर शोक स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव जगन्नाथ एवं आश्रय शची हैं। गंगातट पर दाहसंस्कार के निमित्त लाया गया मृतक का शरीर

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , २।११८.
२. वही, २।१२०, १२१.

उद्दीपन है। दैन्य, ग्लानि, विषाद, जडता, चिन्ता, मोह, निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं। विषाद से अश्रुपात, स्वर भंग आदि सात्त्विक भाव हैं। मृतक के चरणों को हृदय से संलग्न करना, गद्गद स्वरपूर्ण आलाप तथा करुण क्रन्दन आदि कार्य अनुभाव हैं। इन सबसे शोक स्थायी भाव परिपोष्य प्राप्त कर करुण रस में आस्वादित हो रहा है। यहाँ पर हृदय के उद्गारों की अभिव्यक्ति अत्यन्त प्रभावशाली है। शची के द्वारा 'अतिदीनां कुररीम्' एवं 'निजदासी' कहकर विलाप करना उनकी समस्त विवशताओं एवं व्यथाओं को मूर्त रूप दे देता है, जिससे करुण रस और भी चमत्कार को प्राप्त कर सहृदयों की सहानुभूति प्राप्त कर कृतकार्य हो जाता है।

तृतीय सर्ग में (चैतन्य की पत्नी) लक्ष्मी की मृत्यु के अवसर पर करुण रस की अभिव्यक्ति की गयी है; यथा—

> गतः सुतो मे भवती समर्प्य प्रियस्तवाऽसौ मयि दुःखभाजि।
> हीना त्वया तस्य मुखं कथं वा द्रक्ष्यामि दुःखैकनिवासभूमिः॥
> कथं महाक्रूरमते विहाय मां स्वभावमृद्वी भवता वधूरियम्।
> अदंशि सर्प! क्षणमप्यसौ दया त्वामेव पस्पर्श न साम्प्रतं ननु॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर शोक स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव लक्ष्मी एवं आश्रय शची हैं। (सर्पदंशन के फलस्वरूप) लक्ष्मी की मृत्यु उद्दीपन विभाव है। प्रलाप, सर्प निन्दन एवं धिक्कारना आदि कार्य अनुभाव हैं। दैन्य, चिन्ता, विषाद, ग्लानि, मोह आदि संचारी भाव हैं। अनुभाव-विभाव संचारी भाव से पुष्ट शोक करुण रस में अभिव्यक्त हो रहा है।

शान्त रस

'चैतन्यचरितामृतम्' में शान्त रस का निरूपण स्फुट रूप में हुआ है; यथा—

> एवं हि विश्वमखिलं वितथं यदेत-
> न्निष्पाद्यते सततमीश्वरसेवनाय।
> तत्सार्थकं भवति सम्यगसत्यमेतत्
> सत्यं भवेदशुचि यत्तदिदं शुचि स्यात्॥
> तस्माज्जनैः सकलमेव परमेश्वरस्य
> सेवार्थमप्यनृतमेतदिहावचेयम्।
> संसार एष नहि तस्य भवेद्विरोधी
> सेवापरस्तु नहि बाध्यत एव कैश्चित्॥[2]

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ३।१०७, ११५.

२. वही, ६।३३, ३४.

यहाँ पर कोई ज्ञानी अन्य जनों को उपदेश दे रहा है कि यद्यपि यह विश्व मिथ्या है तथापि ईश्वर सेवा से विश्व का मिथ्यात्व भी सार्थक हो सकता है। असत्य सत्य में तथा अपवित्रता पवित्रता में परिवर्तित हो सकती है। अतएव मानव मात्र को ईश्वर सेवा में तत्पर होना चाहिए। उनकी सेवा में यह संसार बाधक नहीं हो सकता। शम अथवा निर्वेद स्थायी भाव है। अनित्यता किं वा दुःखमयता आदि के कारण सांसारिक विषयों की निःसारता का ज्ञान आलम्बन है। भगवत् सेवा उद्दीपन है। सांसारिकता की अपेक्षा ईश्वर निष्ठा का प्राधान्य वर्णित करना अनुभाव है। मति, धृति संचारी भाव हैं, जिससे शान्तरस आस्वादित हो रहा है।

रौद्र रस

'चैतन्यचरितामृतम्' में रौद्र रस का स्फुरण एक ही दो स्थलों पर हुआ है। चैतन्य के भक्तों के विद्वेषियों एवं पाखण्डियों के वर्णन प्रसंग में रौद्र का चित्रण देखिये—

आः पापात्मन् दुराचारमद्भक्त द्वेषकारकः।
त्वामुद्धरिष्येच्चेन्नाहमुद्धरिष्यामि किं तत् ॥
श्रीवासस्य सदाद्वेषं यतस्त्वं कृतवानसि।
अतएव प्रतिभवं कुष्ठी खलु भविष्यसि ॥[1]

प्रस्तुत प्रसंग में कोई कुष्ठी रोग से पीडित पाखण्डी ब्राह्मण चैतन्य के समीप मुक्ति की आकांक्षा लेकर आता है। चैतन्य का क्रोध उसके कृत्रिम विनयपूर्ण वचनों से उद्दीप्त हो उठता है। क्रोध स्थायी भाव है। चैतन्य के प्रिय भक्त श्रीवास का द्वेषी ब्राह्मण आलम्बन विभाव है। ब्राह्मण की उद्धारार्थ याचना उद्दीपन है। तर्जना, शाप आदि अनुभाव हैं। मोह, अमर्ष, आवेग, उग्रता, असूया आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सबके सहयोग से क्रोध रौद्र रस के रूप में आस्वादित हो रहा है। इस प्रकार के स्थल 'चैतन्यचरितामृतम्' में अत्यन्त अल्प हैं। भक्ति प्रधान काव्य में रौद्र एवं वीर रस की अधिक अपेक्षा भी नहीं की सकती है।

अद्भुत रस

'चैतन्यचरितामृतम्' में अद्भुत रस सर्वत्र विद्यमान है। कवि कर्णपूर अद्भुत रस की उपस्थिति सर्वत्र स्वीकार भी करते हैं, ऐसा प्रथम खण्ड में कहा जा चुका है। प्रस्तुत महाकाव्य में चैतन्य के बाल्यकाल से लेकर मृत्यु

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ८।५, ६.

पर्यन्त अलौकिक घटनाओं का प्रदर्शन किया गया है। इसलिए सहृदय पाठकों को विस्मय की अनुभूति 'चैतन्यचरितामृतम्' में आद्योपान्त निरन्तर होती रहती है; यथा—

> क्षणाद्वैह्वल्यसंभिन्नः स्खलत् सर्वतनुः प्रभुः।
> मधूनि देहि देहीति बभाषे मधुराननः॥
> आश्चर्यमाश्चर्यमिदं चरितं परमात्मनः।
> हाटकाचलगौरोऽयं रौप्याचल इवाभवत्॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर चैतन्य के बलरामावेश का वर्णन किया गया है। चैतन्य के अलौकिक व्यक्तित्व से उनके भक्तजनों को विस्मयानुभूति हो रही है। विस्मय स्थायी भाव है। चैतन्य आलम्बन एवं भक्तगण आश्रय हैं। विह्वल चैतन्य की मधु याचना एवं (शरीर का) रंग परिवर्तन उद्दीपन विभाव है। विस्मय सूचक शब्द—'आश्चर्य', 'आश्चर्य' का सहसा निःसृत होना अनुभाव है। संभ्रम, आवेग, हर्ष, वितर्क, मति, धृति आदि व्यभिचारी भाव हैं। स्तम्भ, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भाव आक्षिप्त हैं। इन सबके सहयोग से विस्मय अद्भुत रस में आस्वादित रहा है। 'चैतन्यचरितामृतम्' में अद्भुत रस के स्थल अनेक हैं, किन्तु विस्तारभय से उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'चैतन्य-चरितामृतम्' में भक्तिरस, शृंगार, करुण, अद्भुत, रौद्र, शान्त आदि रसों की व्यञ्जना हुई है। भक्तिरस में उज्ज्वलरस एवं करुणरस के निरूपण में कवि को विशेष सफलता मिली है।

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ८।१९, २०.

उपसंहार

चैतन्य साहित्य एवं सम्प्रदाय में कवि कर्णपूर का स्थान

प्रस्तुत ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में कवि कर्णपूर की समसामयिक परिस्थितियों, जीवनवृत्त, काल, कृतियों एवं दार्शनिक विचारधारा पर सम्यक् विचार विमर्श किया गया है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में उनके महाकाव्यों के कथानक के मूलस्रोतों, महाकाव्यों पर पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव, वस्तुवर्णन, छन्दो-योजना, अलंकार-योजना एवं रस-योजना पर आलोचनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। सम्पूर्ण अध्ययन के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कवि कर्णपूर एक महाकवि की प्रतिभा से संपन्न कवि हैं। उनकी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का विस्तार संस्कृत साहित्य की समस्त सारिणियों— महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, चम्पू एवं लक्षण काव्य में हुआ है। कवि की पूर्वोक्त साहित्यिक सेवा इस तथ्य का प्रबल समर्थन करती है कि कवि कर्णपूर को निष्पक्ष दृष्टि से महाकवि की गरिमामयी उपाधि से गौरवान्वित किया जाना चाहिए। इसका प्रमुख कारण है कि उनकी कृतियाँ विशेषतः उनके महाकाव्य एक सफल रचना की समस्त विशेषताओं अर्थात् कथानक की सरलता एवं एक सूत्रता, छन्द एवं अलंकार की रसानुगुणता, वस्तु वर्णन की मनोहारिता, वैदर्भी रीति की कोमलता तथा प्रसाद एवं माधुर्य गुण की प्रचुरता से अनुप्राणित हैं।

कवि कर्णपूर की समस्त साधना उनके अगाध पाण्डित्य की परिचायक हैं। उससे स्फुरित होने वाली व्युत्पत्ति इस तथ्य का सबल प्रमाण है कि कवि का ज्ञान पल्लवग्राही नहीं है, अपितु उन्होंने योग्य गुरु की छत्रछाया में वेद, वेदांग, उपनिषद्, पुराण, व्याकरण, काव्य, अलंकारशास्त्र, छन्द-शास्त्र, कामशास्त्र, नृत्यसंगीत, नाट्यशास्त्र, भूगोल, कोष आदि विषयों का भलीभाँति अध्ययन किया है। उनका पाण्डित्य व्यापक एवं प्रतिभा विश्वतोन्मुखी है। अलंकार-शास्त्र के परिपक्व ज्ञान का ज्वलन्त उदाहरण उनका 'अलंकारकौस्तुभः' है, जिसमें काव्य, शब्दार्थ, ध्वनि, रस, गुण, अलंकार, रीति, दोष आदि का विवेचन कवि ने प्राक्तन काव्यशास्त्र पद्धति पर करते हुए भी यथावसर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। साथ ही उसका गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय द्वारा प्रवर्तित नवीन विचारधारा से सामञ्जस्य स्थापित करने का सफल प्रयास किया है, जो उनके समन्वय-

वादी दृष्टिकोण का परिचायक है। कवि के आलंकारिक दृष्टिकोण की झलक अन्य कृतियों में भी विद्यमान है, जिसका उल्लेख तृतीय अध्याय में किया जा चुका है। नृत्य और संगीत का उन्हें कितना विशद ज्ञान था, इसका परिचय 'चैतन्यचरितामृतम्' एवं 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' से प्राप्त होता है। 'चैतन्यचरितामृतम्' के पञ्चदश एवं षोडश सर्ग में चैतन्य और उनके प्रमुख पार्षदों के भावनृत्य का इतना सजीव वर्णन किया गया है, जो समग्र दृश्य को नेत्रों के समक्ष प्रत्यक्ष कर देता है। 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के विंशति स्तवक में उन्होंने हल्लीसक नृत्य का उल्लेख किया है। इसमें संगीत के समस्त तत्वों—राग, रागिणी, स्वर, मूर्छना, श्रुति, जाति, ताल, गान, नृत्य, वाद्ययन्त्रों आदि का इतना सूक्ष्म एवं विशद विवेचन किया है,[1] जिससे यही विचार पुष्ट होता है कि वह स्वयं एक कुशल गायक, वादक, और उच्च कोटि के नर्तक रहे होंगे। बिना संगीत के वातावरण में रहे, इतना सजीव वर्णन करना असम्भव है।

कवि कर्णपूर का कामशास्त्र विषयक प्रौढ़ ज्ञान 'चैतन्यचरितामृतम्' के नवम एवं दशम सर्ग में वर्णित कृष्ण और गोपाङ्गनाओं की केलि-क्रीडाओं से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त 'नखक्षतं स्तनयोश्च चुम्बनं कामशास्त्र-विरुद्धम्' उपनिबद्ध करके उन्होंने अपने कामशास्त्र विषयक ज्ञान को स्वयं ही प्रमाणित कर दिया है।[2] छन्दःशास्त्र का सुपरिपक्व ज्ञान उनके रसानुकूल विविध छन्द प्रयोगों तथा 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में छन्दों से दी गई अनेक उपमाओं से स्पष्ट हो जाता है।[3] भारत की भौगोलिक स्थिति—कौन-सा देश किस वस्तु के लिए प्रसिद्ध है और उसका सांस्कृतिक महत्त्व क्या है? इसका उल्लेख कृष्ण एवं सत्यभामा की स्वर्गपुरी से द्वारावती की विमानयात्रा के वर्णन प्रसंग में किया गया है।[4] कवि ने स्थानों का जो क्रम निश्चित किया है, वे भौगोलिक दृष्टि से उसी क्रम में अवस्थित हैं। कवि कर्णपूर की वेद, वेदांग, उपनिषद तथा पौराणिक व्युत्पत्ति का अतिशय उनकी दार्शनिक विचारधारा में स्पष्ट किया जा चुका है। कवि कर्णपूर का

---

१. कवि कर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू (पण्डित न्यू सीरिज, काशी, खण्ड-३), २०।४६–५५.

२. कवि कर्णपूर, अलंकारकौस्तुभः, पृ० ३८८.

३. कवि कर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू (पण्डित न्यू सीरिस, काशी, खण्ड-३), २०।२०.

४. कवि कर्णपूर, पारिजातहरणम्, १७।४३–७७.

संस्कृत शब्दकोष अत्यधिक समृद्ध है। भाषा का लालित्य और शब्दों की विविधता 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' और 'कृष्णाह्निककौमुदी' में विशेष प्रशंसनीय है। संस्कृत भाषा के अतिरिक्त बँगला एवं प्राकृत पर भी उनका समान अधिकार है। उदाहरणार्थ केदार राग में उपनिबद्ध शौरसेनी प्राकृत का यह पद्य द्रष्टव्य है; यथा—

सअलकलाभिअमण्डलो वड्ढि अपेम्भसमुद्दओ।
पउमिणिमुद्दाम षण्डिओ रहेह सामलचन्दओ ॥[1]

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कवि कर्णपूर एक उच्चकोटि के विद्वान्, सहृदय कवि एवं गम्भीर दार्शनिक हैं। खेद का विषय है कि अभी तक कवि कर्णपूर का पाण्डित्य और उनकी अमूल्य साहित्यिक सेवा विद्वज्जनों की दृष्टि से उपेक्षित रही तथा उनका उचित मूल्यांकन नहीं किया गया। संस्कृत साहित्य के अत्यधिक विशाल और गम्भीर होने के कारण कवि कर्णपूर की उपेक्षा पर आश्चर्य किंवा रोष उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु चैतन्य साहित्य एवं सम्प्रदाय में कवि कर्णपूर के स्थान को देखकर अवश्य आश्चर्य एवं विषाद की सम्मिलित अनुभूति होती है। कवि कर्णपुर के ही समकालीन रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी की गणना वृन्दावन के षट्गोस्वामियों में की गई है, किन्तु कवि कर्णपूर का उस पद के लिए नाम भी परिगणित नहीं किया गया है। जहाँ तक रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी की साहित्यिक सेवाओं का प्रश्न है, तुलनात्मक दृष्टि से कवि कर्णपूर की साहित्यिक सेवाएँ उनके समकक्ष ही महत्त्वपूर्ण हैं। रूपगोस्वामी ने जिन-जिन काव्यकोटियों में ग्रन्थों की रचना की है, उसी श्रेणी में कवि कर्णपूर ने भी की है। रूपगोस्वामी ने काव्यशास्त्रविषयक 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' एवं 'उज्ज्वलनीलमणि' की रचना की है। कवि कर्णपूर ने उसी कोटि में 'अलंकारकौस्तुभः' की रचना की है, जो रूपगोस्वामी के पूर्वोक्त ग्रन्थ से किसी भी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'अलंकारकौस्तुभः' पर प्राप्त होने वाली ५ टीकाएँ उसकी लोकप्रियता के लिए यथेष्ट हैं। रूपगोस्वामी ने कृष्णलीला को लेकर 'ललितमाधव' एवं 'विदग्धमाधव' नाटक की रचना की है। कवि कर्णपूर ने गौराङ्गलीला को लेकर एक नाटक—'चैतन्यचन्द्रोदयम्', एक महाकाव्य—'चैतन्यचरितामृतम्' एवं एक खण्डकाव्य—'आर्याशतकम्' तथा कृष्णचरित को लेकर एक अन्य

१. कवि कर्णपूर, आनन्दवृन्दावनचम्पू (पण्डित न्यू सीरिज, काशी, खण्ड–३), २१।३९.

महाकाव्य—'पारिजातहरणम्' एवं एक खण्डकाव्य—'कृष्णाह्निककौमुदी' की रचना की है। रूपगोस्वामी ने 'राधाकृष्णगणोद्देशदीपिका' का निर्माण किया है, उसी प्रकार कवि कर्णपूर ने 'गौरगणोद्देशदीपिका' एवं 'बृहद्-कृष्णगणोद्देशदीपिका' का सृजन किया है। 'श्रीमद्भागवत' पुराण का आश्रय लेकर जीवगोस्वामी ने 'गोपालचम्पू' की रचना की है। कवि कर्णपूर ने 'श्रीमद्भागवत' पुराण का आधार लेकर 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' का प्रणयन किया है। जीवगोस्वामी का पूर्वोक्त ग्रन्थ केवल मात्र साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का संग्रह ग्रन्थ है।[1] किन्तु 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' साहित्यिक दृष्टिकोण से संस्कृत साहित्य का सर्वोत्कृष्ट चम्पूकाव्य है। जीवगोस्वामी ने 'श्रीमद्भाग-वत' पर 'लघुवैष्णवतोषिणी' नामक व्याख्या का निर्माण किया है। कवि कर्णपूर ने भी 'श्रीमद्भागवत' पर टीका लिखी है; जो अप्रकाशित है। इसके अतिरिक्त रूपगोस्वामी एवं जीवगोस्वामी विरचित अन्य स्फुट काव्य एवं स्तोत्र हैं; उसी प्रकार कवि कर्णपूर ने भी अनेक स्फुट काव्यों एवं स्तोत्रों का सृजन किया है, जिसका उल्लेख तृतीय अध्याय में किया जा चुका है। जिस प्रकार रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी ने वृन्दावन में रहकर अपनी साहित्यिक सेवाओं से संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया है, उसी प्रकार कवि कर्णपूर ने गौड देश में रहकर संस्कृत एवं बँगला साहित्य को अलंकृत किया है। यही नहीं रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी के जीवनकाल में ही कवि कर्णपूर की कृतियों को वृन्दावन में लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी थी। स्वयं रूपगोस्वामी ने कवि कर्णपूर के एक पद्य को अपनी 'पद्यावली' में उद्धृत किया है।[2] दूसरी ओर षट्गोस्वामियों में कुछ ऐसे भी गोस्वामी हैं, जिन्होंने एक भी साहित्यिक अथवा साम्प्रदायिक ग्रन्थ का सृजन नहीं किया है तथापि उन्हें गोस्वामी होने का गौरव प्राप्त है, उदाहरणार्थ—रघुनाथ भट्ट। इसके अतिरिक्त सनातनगोस्वामी और रूपगोस्वामी को चैतन्य का सान्निध्य केवल कतिपय मास का ही प्राप्त हो सका था। सम्भवतः जीव-गोस्वामी एवं गोपालभट्ट को चैतन्य के दर्शन का सुअवसर भी प्राप्त नहीं हुआ था, किन्तु कवि कर्णपूर को चैतन्य की साक्षात्कृपा प्राप्त थी। तथापि उनका व्यक्तित्व उपेक्षित रहा है। उपर्युक्त तथ्य इस प्रश्न पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने के लिए बाध्य करते हैं कि कवि कर्णपूर जैसे उत्साही

१. De, S. K., The Champu, Journal of Ganganath Jha Research Institute, Vol. I, pt. I, 1943, p. 65.

२. रूपगोस्वामी, पद्यावली, पदसंख्या, ३०५.

लेखक को चैतन्यसम्प्रदाय का प्रमुख गोस्वामी होने का सौभाग्य क्यों नहीं मिला ? ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रश्न के पीछे कोई गूढ़ साम्प्रदायिक कारण प्रच्छन्न है। सम्भवतः वृन्दावन और नवद्वीप की उपासना पद्धति में मतभेद होने के कारण उन्हें वृन्दावन के गोस्वामियों में स्थान नहीं दिया गया होगा। दूसरी ओर उन्होंने सम्प्रदाय के विरुद्ध 'पारिजातहरणम्' महाकाव्य की रचना की है। इन सब कारणों ने निश्चय ही कवि के स्थान और महत्त्व को कुछ कम बना दिया होगा। किन्तु निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट परिलक्षित होता है कि कवि कर्णपूर का सशक्त व्यक्तित्व सम्पूर्ण चैतन्य सम्प्रदाय और साहित्य पर छाया हुआ है। चैतन्य दर्शन के सम्बन्ध में कवि कर्णपूर की अमूल्य उपलब्धियों का विस्तृत विवेचन उनकी दार्शनिक विचारधारा (चतुर्थ अध्याय) में किया जा चुका है। चैतन्य के जीवन की मूल घटनाओं के लिए प्रत्येक उत्तरवर्ती चरित लेखक एवं दार्शनिक कवि कर्णपूर की कृतियों के लिए ऋणी हैं। चैतन्य के परवर्ती चरित लेखकों में कृष्णदास कविराज सर्वाधिक कवि कर्णपूर से ही प्रभावित हैं।[1] उन्होंने अनेक स्थलों पर कवि कर्णपूर के महाकाव्य एवं नाटक से मूल घटनाएँ ही नहीं ली हैं, अपितु उनका भावानुवाद एवं शब्दानुवाद भी किया है। साम्प्रदायिक संकीर्णता के कारण उन्होंने कवि कर्णपूर के नाम का उल्लेख केवल उन्हीं स्थलों पर किया है, जहाँ उनके महाकाव्य अथवा नाटक का उल्लेख किये बिना कृष्णदास कविराज के मत की पुष्टि नहीं हुई है। किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर घटनाएँ कवि कर्णपूर से ली गई हैं, किन्तु कृष्णदास कविराज ने उन घटनाओं के प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन अन्य लेखकों के प्रति किया है। उपर्युक्त कथन की सत्यता कुछ उद्धरणों से प्रमाणित हो जायेगी।

कृष्णदास कविराज ने कवि कर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' नाटक से १६ श्लोकों को अपने मत की पुष्टि के लिए प्रत्यक्ष रूप से उद्घृत किया है। यह स्थल इस प्रकार हैं—

(१) चैतन्य के साथ सार्वभौम भट्टाचार्य के वाद-विवाद के अवसर पर

---

१. यद्यपि कृष्णदास कविराज कृत 'चैतन्यचरितामृतम्' बंगभाषा में उपनिबद्ध है तथापि कवि कर्णपूर का चैतन्य सम्प्रदाय में स्थान निर्धारित करने के लिए उनके ऊपर कवि कर्णपूर के प्रभाव को स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। इसलिए उसको उद्धृत किया गया है।

ब्रह्म की सविशेषता सिद्धि के लिए,[1] (२) स्वरूपदामोदर द्वारा चैतन्य की स्तुति,[2] (३) चैतन्य के साथ गजपति प्रतापरुद्र का समागम,[3] (४) रूपगोस्वामी के साथ चैतन्य का मिलाप,[4] (५) रूपगोस्वामी एवं सनातनगोस्वामी पर चैतन्य का कृपाभाव,[5] (६) शिवानन्द के साथ चैतन्य का मिलाप,[6] (७) रघुनाथ की महिमा का उल्लेख[7] करते समय नाटक से उद्धरण दिये गये हैं।

---

१. या या श्रुतिर्जल्पति निर्विशेषं सा साभिधत्ते सविशेषमेव।
विचारयोगे सति हन्त तासां प्रायो बलीयः सविशेषमेव॥
कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, ६।३७.
उद्धृत—कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।६।८.

२. हेलोद्धूलितखेदया विशदया प्रोन्मीलदामोदया
शाम्यच्छास्त्रविवादया रसदया चित्तार्पितोन्मादया।
शश्वद्भक्तिविनोदया समदया माधुर्यमर्यादया
श्रीचैतन्यदयानिधे तव दया भूयादमन्दोदया॥
कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, ८।१०.
उद्धृत—कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।१०।१३.

३. प्रस्तुत प्रसंग में कृष्णदास कविराज ने अपने चैतन्यचरितामृतम् [२।११।२, ३, ९] में तीन श्लोकों—'निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनो·········अप्यसाधु', 'आकारादपि भेतव्यं·········तस्याकृतेरपि', 'अदर्शनीयानपि·········सोऽवततार देवः' को 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' (८।२३, २४, २८) से उद्धृत किया है।

४. उपर्युक्त प्रसंग में 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' के तीन श्लोकों—'कालेन वृन्दावनकेलिवार्ता·········सनातनश्च', 'यः प्रागेव·········अनुजग्राहदेवः,' 'प्रियस्वरूपे·········स्वविलासरूपे' (६।३७, २८, २९) को कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्यचरितामृतम्' (२।१९।११–१३) में उद्धृत किया है।

५. प्रस्तुत प्रसंग में 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' के दो श्लोकों—'गौडेन्द्रस्य सभाविभूषण·········प्रीतिप्रदस्तद्विदाम्', तं सनातनम्·········चम्पकगौरः (९।३३।३४) को कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्यचरितामृतम्' (२।२४।९३, ९४) में उद्धृत किया है।

६. निमज्जतोऽनन्तभवार्णवान्तश्चिराय मे कूलमिवासि लब्धः।
त्वयापि लब्धं भगवन्निदानीमनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः॥
कविकर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, ८।४१.
उद्धृत—कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।११।१३.

७. रघुनाथ की महिमा का उल्लेख करते समय कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य-

इसी प्रकार कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्यचरितामृतम्' के मध्य खण्ड में तृतीय से लेकर षोडश परिच्छेद पर्यन्त कवि कर्णपूर के 'चैतन्य-चरितामृतम्' तथा नाटक का अवलम्बन लिया है। इसके लिए उन्होंने कवि कर्णपूर के प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन नहीं किया है। तथापि उनके एक वक्तव्य—अर्थात्—'इन लीलाओं में से जिनको श्रीवृन्दावनदास ने 'चैतन्य-भागवत' में विस्तारपूर्वक वर्णित किया है; उनका सूत्र रूप में उल्लेख करूँगा और जो अन्यान्य विशेष लीलाएँ हैं, उनका विस्तारपूर्वक वर्णन करूँगा'[1]—से इस अंश पर किञ्चित् प्रकाश पड़ जाता है कि जो घटनाएँ कृष्णदास कविराज को 'चैतन्यभागवत' में नहीं मिलीं, उनके लिए उन्होंने अन्य किसी स्रोत का आश्रय लिया है। वस्तुतः यह अन्य स्रोत कवि कर्णपूरकृत महा-काव्य एवं नाटक ही है। उपर्युक्त कथन की पुष्टि एक दो उद्धरणों से भली प्रकार हो जाती है।

१. रेमुणा में अवस्थित गोपीनाथ के मन्दिर में चैतन्य के अलौकिक व्यक्तित्व के सम्बन्ध में वृन्दावनदास ने अपनी 'चैतन्यभागवत' में कोई संकेत नहीं दिया है। किन्तु कवि कर्णपूर ने उक्त अवसर पर चैतन्य के अलौकिक व्यक्तित्व के उद्घाटनार्थ साक्षी गोपाल की मूर्त्ति द्वारा चैतन्य की अभ्यर्चना का उल्लेख अपने दोनों ग्रन्थों में किया है।[2] उपर्युक्त प्रसंग उसी रूप में कृष्णदास कविराज के ग्रन्थ में विद्यमान है।[3]

२. वृन्दावनदास ने 'चैतन्यभागवत' में साक्षी गोपाल की कथा का उल्लेख नहीं किया है। कृष्णदास कविराज ने इस कथा का मूल

चन्द्रोदयम्' के दो श्लोकों—'आचार्यो रघुनन्दनः......तिष्ठताम्' तथा 'यः सर्वलोकैक......फलवानतुल्यम्' (१०।३, ४) को उद्धृत किया है। साथ ही यह भी कहा है कि—

एइ त प्रस्तावे श्री कवि कर्णपूर रघुनाथेर महिमा ग्रन्थे लिखियाछे प्रचुरः।
शिवानन्द यैछे सेइ मनुष्ये कहिल कर्णपूर सेइ रूप श्लोक वर्णित॥

कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, ३।६।२५६, २६०.

१. वही, २।१।५-६.

२. (१) कवि कर्णपूर चैतन्यचरितामृतम्, ११।७८.
(२) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, ६।६.

३. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम, २।४।१२-१३.

कवि कर्णपूरकृत नाटक[1] से लेकर एवं स्थानीय जनप्रवाद को संग्रहीत करके अपने महाकाव्य में वर्णित किया है।[2] प्रस्तुत स्थल पर कृष्णदास कविराज ने उपनिबद्ध किया है कि चैतन्यप्रभु जिस समय साक्षीगोपाल के समक्ष उपस्थित होते हैं, उस समय भक्तों को ऐसा प्रतीत होता है मानों चैतन्य एवं गोपाल दोनों की एक ही मूर्त्ति है।[3] इस घटना का मूल कवि कर्णपूर के महाकाव्य का श्लोकार्द्ध है; यथा—

उभौ गौरस्यामद्युतिकृतविभेदौ न तु महा-
प्रभावाद्यैर्भिन्नो सपदि ददृशाते जनचयैः ॥[4]

३. कृष्णदास कविराज ने सार्वभौम भट्टाचार्य के उद्धार का वर्णन किया है, किन्तु यह घटना वृन्दावनदास की 'चैतन्यभागवत' में वर्णित कथा से साम्य नहीं रखती है। अपितु कृष्णदास कविराज द्वारा वर्णित प्रसंग कवि कर्णपूरकृत 'चैतन्यचरितामृतम्' के द्वादश सर्ग एवं 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' नाटक के षष्ठांक में वर्णित कथा से अत्यधिक साम्य रखती है। इस प्रसंग में उन्होंने ६ घटनाओं का उल्लेख किया है।

(क) सार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा चैतन्य का परिचय ग्रहण करना एवं उनसे वेदान्त पाठ करने के लिए अनुरोध करना।[5]

(ख) चैतन्य के ईश्वरत्व के सम्बन्ध में गोपीनाथाचार्य और शिष्यों का वाद-विवाद।[6]

(ग) सार्वभौम के निकट सात दिवस पर्यन्त चैतन्य द्वारा वेदान्त-श्रवण, तदनन्तर उस पर विचार करने के पश्चात् 'आत्मराम ......मुनयो' श्लोक की व्याख्या करना, सार्वभौम के समक्ष

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, ६।९.
२. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।५।९–१२२.
३. वही, २।५।१३४–१३६.
४. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, ११।७९.
५. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १०९–११३.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।६।३०–११३.
६. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १११, ११२.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।६।६६–१०५.

चैतन्य द्वारा चतुर्भुज रूप का प्रदर्शन एवं सार्वभौम द्वारा शत श्लोकों में उनकी स्तुति करना ।[1]

(घ) सार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा बिना मुख प्रक्षालन के चैतन्य प्रदत्त प्रसाद का भक्षण करना ।[2]

(ङ) सार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा दो श्लोक चैतन्य की स्तुति में प्रेषित करना ।[3]

(च) सार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा 'श्रीमद्भागवत' के एक श्लोक में 'मुक्तिपद' के स्थान पर 'भक्तिपद' का पाठ करना ।[4]

४. इसी प्रकार संन्यासग्रहणोपरान्त महाप्रभु चैतन्य राढ़देश भ्रमण करते हुए गंगा के तट पर आते हैं, उस समय घटित होने वाली घटना का वर्णन न केवल 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' के आधार पर किया गया है,[5] अपितु उसका अविकल अनुवाद भी किया गया है। इस घटना का वृन्दावनदास वर्णित घटना से साम्य नहीं प्रतीत होता है ।[6]

५. दक्षिण देश की यात्रा का वर्णन करते समय कई घटनाओं के लिए कृष्णदास कविराज कवि कर्णपूर के ऋणी हैं। ये घटनाएँ निम्न हैं—

(१) चैतन्य की दक्षिण देश की यात्रा के प्रारम्भ में सार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा उन (चैतन्य) से गोदावरी तट पर रामानन्द-

---

१. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , १२।२६–८१.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम् , २।६।११५–२१५.

२. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , १२।७०–७२.
(२) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम् , पृ० ११७–११८.
(३) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम् , २।६।१९३–२१५.

३. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , १२।८६–८८.
(२) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम् , ७।४३, ४४.
(३) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम् , २।६।२२३–२३०.

४. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम् , १२।७१.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम् , २।६।२३३–२५१.

५. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम् , पृ० ८८–९१.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम् , २।३।४–२६.

६. वृन्दावनदास, चैतन्यभागवत, ३।१।३७३.

राय से मिलने के लिए अनुरोध करना।[1]

(२) कूर्म्म नामक ब्राह्मण के गृह में चैतन्य द्वारा भिक्षा ग्रहण।[2]

(३) कुष्ठी रोगग्रस्त वासुदेव नामक ब्राह्मण का विलाप।[3]

(४) दक्षिणापथ की विशृंखलित धार्मिक अवस्था तथा वहाँ चैतन्य का प्रभाव।[4]

(५) चैतन्य के सम्पर्क में आकर रामभक्त ब्राह्मण का कृष्णभक्त हो जाना।[5]

(६) त्रिमल्लभट्ट के साथ चैतन्य के मिलाप का प्रसंग।[6]

(७) श्रीरंगक्षेत्र में गीता का अशुद्ध पाठ करने वाले ब्राह्मण का उल्लेख।[7]

(८) प्रतापरुद्र और चैतन्य का साक्षात्कार एवं प्रतापरुद्र के ऊपर चैतन्य का कृपाभाव।[8]

६. महाप्रभु चैतन्य की गौडदेशयात्रा से पूर्व नीलाचल लीला की अनेक घटनाएँ कृष्णदास कविराज ने कवि कर्णपूर के महाकाव्य एवं नाटक से ली हैं; यथा—

---

१. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १२।६६.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।७।६१–६२.

२. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १२।१०२–१०५.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।७।११८–१३२.

३. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १२।१०८–११७.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।७।११८–१३२.

४. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १३३.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।९।६–११.

५. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १३४.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।९।१६३, १८४.

६. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १३।४–५.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।९।७६–८०.

७. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १३५.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।९।८७–९९.

८. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, ८।२३, २४, २८.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।११।२, ३, ६.

(१) सार्वभौम भट्टाचार्य के द्वारा महाप्रभु चैतन्य के दर्शनार्थ आये हुए गौडीय भक्तों का परिचय देना।[१]

(२) गौडीय भक्तों के साथ महाप्रभु का मिलन।[२]

(३) मुरारिगुप्त का दैन्य प्रकाश।[३]

(४) गुण्ड़िचामार्जन लीला।[४]

(५) इन्द्रद्युम्न सरोवर की जल-क्रीडा।[५]

(६) महाप्रभु के गौडदेश गमन का वृत्तान्त भी नाटक के आधार पर उपनिबद्ध किया गया है; यथा—

(१) तुरस्कराज और राजपुरुष की सहायता से महाप्रभु चैतन्य का वृत्तान्त।[६]

(२) हुसैनशाह द्वारा अपने मन्त्री केशववसु से चैतन्य का अनुगमन करने वाले जन समुदाय के सम्बन्ध में जिज्ञासा।[७]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कृष्णदास कविराज ने अनेक घटनाएँ कवि कर्णपूर के 'चैतन्यचरितामृतम्' एवं 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' नाटक से मूल स्रोत के रूप में अभिग्रहण की है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी स्थल प्राप्त होते हैं, जहाँ पर उन्होंने घटनाएं कवि कर्णपूर से ली हैं, किन्तु उन (घटनाओं) के प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन अन्य लेखकों के प्रति किया है। प्रस्तुत तथ्य की पुष्टि भी एक-दो उद्धरणों से हो जायेगी।

---

१. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, ८।३३–३४.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।११।६०–९५.

२. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, ३।३८–४१.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।११।११२–१४५.

३. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १४।१०३–११२.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।११।१३७–१४३.

४. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, १०।३०–४०.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।१२।६६–१४७.

५. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १८।१४.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।१४।८६–८७.

६. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १६८–१७०.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।१६।१५४–१६६.

७. (१) कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० १७२.
(२) कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।१।१५७–१६४.

१. कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्यचरितामृतम्' में चैतन्य और रामानन्दराय की मिलन-लीला का वर्णन करते समय उल्लिखित किया है कि 'रामानन्दराय की यह मिलन-लीला मैंने स्वरूप-दामोदरगोस्वामी के कड़चा के अनुसार वर्णित की है।'[1] किन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि इस स्थल पर कृष्णदास कविराज कवि कर्णपूर से प्रभावित हैं। उन्होंने इस प्रसंग को 'चैतन्यचरिमृतम्' और 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' नाटक से लिया है। इस सम्बन्ध में कृष्णदास कविराज ने तीन विषय महाकाव्य से लिये हैं—

(क) क्रमानुसार साध्यतत्त्वनिर्णय।

(ख) 'नानोपचारकृतपूजन' श्लोक एवं चैतन्य की बाह्य उक्ति।

(ग) 'पहिलराग' पद।

कवि कर्णपूर ने इस घटना को चैतन्य के तिरोभाव के ९ वर्ष पश्चात् छन्दोबद्ध किया था। यद्यपि इन घटनाओं का उन्होंने प्रत्यक्ष अवलोकन नहीं किया था तथापि अपने पिता शिवानन्दसेन से उनका श्रवण कर वर्णन किया था। वस्तुतः चैतन्य की दक्षिण यात्रा के समय गोदावरी नदी के तट पर रामानन्दराय और चैतन्य के मिलाप के अवसर पर स्वरूप दामोदर और शिवानन्दसेन में से कोई भी व्यक्ति उनके साथ नहीं था। सम्भवतः उन दोनों ने ही चैतन्य के मुख से रामानन्दराय के साथ होने वाले वार्त्तालाप का संक्षिप्त सार सुना होगा। शिवानन्दसेन ने समस्त वार्त्तालाप को कवि कर्णपूर को सुनाया होगा, जिसके आधार पर उन्होंने इस घटना को महाकाव्य एवं नाटक में उपनिबद्ध किया। कवि कर्णपूर ने इस प्रसंग को स्वरूप दामोदर के कड़चा से लिया होगा, ऐसी स्थिति में रामानन्दराय के द्वारा उच्चारित किये गये वैराग्य सूचक श्लोक, महाकाव्य और नाटक दोनों में एक से ही होते, पृथक्-पृथक् नहीं। महाकाव्य में यह श्लोक इस प्रकार है—

वैराग्यं चेज्जनयतितरां पापमेवास्तु यस्मात्
सान्द्रं रागं जनयति न चेत् पुण्यमस्मासु भूयात्।
वैराग्येन प्रमुदितमनोवृत्तिरभ्येति रागं,
रागेन स्त्रीजठरकुहरे ताम्यति ब्राह्मणोऽपि॥[2]

---

१. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृतम्, २।८।२६३.

२. कवि कर्णपूर, चैतन्यचरितामृतम्, १३।३९.

तथा नाटक में—

मनो यदि न निर्जितं किममुना तपस्यादिना,
कथं स मनसो जयो यदि न चिन्त्यते माधवः ।
किमस्य च विचिन्तनं यदि न हन्त चेतोद्रवः
स वा कथमहो भवेद्यदि न वासनाक्षालनम् ॥[1]

उपर्युक्त विवेचन से यही प्रमाणित होता है कि कवि कर्णपूर और कृष्णदास कविराज दोनों ने किसी एक स्थान अर्थात् स्वरूप दामोदर के कड़चा से इस प्रसंग को नहीं लिया है, अपितु कृष्णदास ने कवि कर्णपूर के पूर्वोक्त दोनों ग्रन्थों से इसका मूल लेकर तदनन्तर षड्गोस्वामियों के शास्त्र से सम्मत प्रणाली के आधार पर क्रमबद्ध भाव से साध्य एवं साधन का निर्धारण किया है।

२. इसी प्रकार कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्यचरितामृतम्' ग्रन्थ में चैतन्य और रामानन्दराय के मध्य होने वाले प्रश्नोत्तर का वर्णन किया है। इस वर्णन प्रसंग पर वर्ण्यविषय एवं रचना शैली दोनों ही दृष्टिकोण से कवि कर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदयम् का स्पष्ट प्रभाव है; यथा—

चैतन्यचन्द्रोदयम्—

भगवान्—का विद्या—
रामानन्दरायः—हरिभक्तिरेवं न पुनर्वेदादिनिष्णातता ।

चैतन्यचरितामुतम्—

प्रभु कहे—कोन विद्या विद्यामध्ये सार ।
राय कहे—कृष्णभक्ति विना विद्या नाहि आर ॥

चैतन्यचन्द्रोदयम्—

भगवान्—कीर्तिः का ?
रामानन्दरायः—भगवत्परोऽयमिति या ख्यातिर्न दानादिना ।

चैतन्यचरितामृतम्—

कीर्तिगणमध्ये जीवेर कोन बड़ कीर्त्ति ?
कृष्णप्रेमभक्त वलियार हय ख्याति ॥

चैतन्यचन्द्रोदयम—

भगवान्—का श्रीः ?
रामानन्दः—तत्प्रियता न वा धनजनग्रामादिभूयिष्ठता ।

---

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, ७1७.

चैतन्यचरितामृतम्—

सम्पत्ति जीवेर कोन सम्पत्तिगणि ?
राधाकृष्ण प्रेमयार सेइ वड धनी ॥

चैतन्यचन्द्रोदयम्—

भगवान्—किं दुःखम् ?
रामानन्दराय:—भगवत्प्रियस्य विरहो नो हृद् व्रणादिव्यथा ।

चैतन्यचरितामृतम्—

दुःख मध्ये कोन दुःख हय गुरूतर ?
कृष्णभक्त विरह बिनु दुःख नाहि अरि ॥

चैतन्यचन्द्रोदयम्—

भगवान्—किमनुध्येयम् ?
रामानन्दः—मुरारेः पदम् ।
भगवान्—क्व स्थेयम् ?
रामानन्दः—व्रज एव ।

चैतन्यचरितामृतम्—

ध्येयमध्ये जीवेर कर्त्तव्य कोन ध्यान ?
राधाकृष्ण-पदाम्बुज-ध्यान प्रधान ॥
सर्वत्यागी जीवेर कर्त्तव्य काहाँ वास ?
व्रजभूमि वृन्दावन-याहाँ लीला रास ॥

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर कवि कर्णपूरकृत 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' के सप्तम सर्ग में तीन श्लोकों (७।८-१०) तथा कृष्णदास कविराज के 'चैतन्यचरितामृतम्' के ६ (२।८।६१-६६) पयारों में वर्णित हैं ।

इसी प्रकार एक अन्य घटना कृष्णदास कविराज ने नाटक से ली है। कवि कर्णपूर ने चैतन्य द्वारा गुण्ड़िचाभवनमार्जन और अद्वैताचार्य के पुत्र गोपाल का नृत्य करते-करते मूर्च्छित हो जाने का वर्णन नाटक में किया है।[1] कृष्णदास कविराज ने इस घटना का वर्णन अपने 'चैतन्यचरितामृतम्' में करते हुए उल्लिखित किया है कि इस घटना का वर्णन वृन्दावनदास ने किया है। इसलिए इसका संक्षेप में वर्णन किया है। वास्तविक तथ्य यह है कि उन्होने यह घटना कवि कर्णपूर से ली है और उल्लेख यह किया है कि

१. कवि कर्णपूर, चैतन्यचन्द्रोदयम्, १०।३०-४१.

यह घटना वृन्दावनदास से ली गई है। वृन्दावनदास विरचित 'चैतन्य-भागवत' की प्राप्त सभी हस्तलिपियों और मुद्रित पुस्तकों में इस घटना का उल्लेख हो नहीं मिलता है। ऐसी अवस्था में कृष्णदास कविराज ने इस घटना को वृन्दावनदास से किस प्रकार लिया होगा ? यदि यहाँ पर यह सम्भावना व्यक्त की जाये तो सम्भवतः 'चैतन्यभागवत' के कुछ अंश लुप्त हो गये होंगे। किन्तु यह परिकल्पना भो चिरस्थायी नहीं रहती है, क्योंकि कृष्णदास के पूर्ववर्ती लोचनदास, जयानन्द आदि अनेक लेखकों ने वृन्दावन-दास की अनेक कथाओं के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। १५७६ ई० में छन्दोबद्ध 'गौरगणोद्देशदोपिका' में कवि कर्णपूर ने वृन्दावनदास को वेदव्यास के रूप में सम्मानित किया है।[१] कृष्णदास कविराज के पूर्व जिस ग्रन्थ का इतना सम्मान हो चुका था, जिसकी अनेकों हस्तलिपियाँ हो चुकी थीं, उसका कोई अंश एक बार विलुप्त हो गया हो और उस पर किसी ने कुछ कहा न हो, इस तथ्य पर विश्वास नहीं किया जा सकता है। यदि वह अंश 'चैतन्यभागवत' का होता, ऐसी स्थिति में वह किसी न किसी प्रतिलिपि में अवश्य विद्यमान होता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृष्णदास कविराज ने कवि कर्णपूर के काव्य एवं नाटक का आश्रय स्थान-स्थान पर लिया है। उनका पञ्चतत्त्व निरूपण कवि कर्णपूर के पञ्चतत्त्व निरूपण के आधार पर ही किया गया है। साम्प्रदायिक मतभेदों के कारण उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में कवि कर्णपूर की प्रशंसा नहीं की है तथापि उनका 'चैतन्यचरितामृतम्' इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वे कवि कर्णपूर से प्रभावित थे।

कृष्णदास कविराज के पश्चात् प्रमुख चैतन्यभक्त नरहरि चक्रवर्ती पर कवि कर्णपूर का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'भक्तिरत्नाकर' में कवि कर्णपूर के प्रति विशेष श्रद्धाभाव अभिव्यक्त करते हुए कई स्थलों पर उनके ग्रन्थ 'चैतन्यचरितामृतम्'[२], 'चैतन्यचन्द्रोदयम्',[३]

---

१. कविकर्णपूर, गौरगणोद्देशदीपिका, १०६.

२. नरहरि चक्रवर्ती, भक्तिरत्नाकर के पृ० ४८८, ५३४ पर चैतन्यचरितामृतम् के क्रमशः २।२४, ५।१२, ८, १२६ श्लोक उद्धृत हैं।

३. नरहरि चक्रवर्ती, भक्तिरत्नाकर के पृ० ३७, ६६, ३३०, ३६७, ५६०, ५६४ पर चैतन्यचन्द्रोदयम् के क्रमशः ६।३३, १०।३, ६।२६, ३।१२, १०।७३, ४।१७ श्लोक उद्धृत हैं।

'गौरगणोद्देशदीपिका'[1] एवं 'बृहत्कृष्णगणोद्देशदीपिका'[2] का उल्लेख अपने मत की पुष्टि के लिए किया है।

चैतन्य के समसामयिक जगन्नाथ पण्डित के प्रपौत्र प्रेमदास नें कवि कर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' से अत्यधिक प्रभावित होकर उसका भावानुवाद बंगभाषा में किया है, जो 'चैतन्यचन्द्रोदयकौमुदी' नाम से प्रसिद्ध है। चैतन्य के ऊपर स्फुट पद लिखने वाले भी कवि कर्णपूर के व्यक्तित्व से विशेष प्रभावित प्रतीत होते हैं। उद्धवदास नामक एक पदकर्ता ने कवि कर्णपूर के प्रति अपनी भावभक्ति प्रदर्शित करते हुए उल्लिखित किया है—

या शुनि भक्ति उदय नास्तिकता नष्ट हय
अवैष्णवभाव हय दूर।
कर्णपूर गुण यत एक मुखे कब कत
चैतन्येर वर पुत्र येँह
उद्धवेर दया करि ज्ञानचक्षु दान करि
करित्व लओं याय जानि तहँ ॥[3]

उपर्युक्त विवेचन के सिंहावलोकन के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि चैतन्यसम्प्रदाय अथवा साहित्य में कवि कर्णपूर का स्थान निर्धारित करने से पूर्व साम्प्रदायिक संकीर्णताओं की परिधि का परित्याग कर उदार दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा। निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाये, तो चैतन्य सम्प्रदाय एवं साहित्य में कवि कर्णपूर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्पूर्ण सम्प्रदाय उनकी अमूल्य उपलब्धियों के लिए सदैव कृतज्ञ रहेगा। चैतन्यदर्शन अथवा चैतन्य के जीवनचरित-पर किया गया कोई भी अध्ययन उनकी कृतियों के बिना अपूर्ण ही रहेगा। सम्प्रदाय के क्रमिक विकास के अभिज्ञानार्थ उनका गम्भीर अध्ययन विशेषतया अपेक्षित है।

---

१. नरहरि चक्रवर्ती, भक्तिरत्नाकर के पृ० ५१, ८७, ९४, २१२, ३६१, ३९६, ४६०, ४७५, ६०१, ६२३ पर गौरगणोद्देशदीपिका के क्रमशः २०१, १८४, १६२, २१–२५, १२८, १४७–१५५, १८, २०४, ४०, ६५, ६० श्लोक उद्धृत हैं।

२. नरहरि चक्रवर्ती, भक्तिरत्नाकर, पृ० ३१२.

३. मृण्पलकान्तघोष (सम्पादक), गौरपदतरङ्गिणी (द्वितीय संस्करण), ६।३।४७.

परिशिष्ट १

कर्णपूर के जन्मस्थान—काञ्चनपल्ली का विशेष परिचय

'काञ्चनपल्ली' बंगाल के २४ परगनों के अन्तर्गत है एवं कलकत्ता से १४ कोस उत्तर की ओर अवस्थित है। इसका लोकव्यवहृत नाम कांचड़ापाड़ा है। किन्तु वर्द्धमान जिला का राढ़देशीय जन समुदाय इसे 'कातलापाड़ा' नाम से अभिहित करता है। 'काञ्चनपल्ली' अपने नाम से सम्बन्धित अनेकानेक किंवदन्तियों के लिए लोकविख्यात है। उसके नाम के सम्बन्ध में किंवदन्ति प्रचलित है कि 'काञ्चनपल्ली' से पूर्व इसका नाम गौरवसुचक्र था। एक अन्य जनश्रुति है कि पूर्वकाल में यहाँ बहुसंख्यक पण्डित एवं विचक्षण चिकित्सक रहा करते थे, अतएव जनसमुदाय ने इसे आदर देने के लिए 'काञ्चनपल्ली' नाम से अभिहित किया। कुछ विद्वानों की धारणा है कि वैद्यजाति के एक समाज का नाम नरहट्ट था, जो यहाँ निवास करता था। इसलिए यह ग्राम नरहट्ट नाम से प्रसिद्ध था। किन्तु कालचक्र से नरहट्ट ग्राम गंगा के गर्भ में समाहित हो गया। तत्पश्चात् उसी स्थान पर एक नवीन ग्राम का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका नाम 'काञ्चनपल्ली' रखा गया। कुछ लोगों की सम्भावना है कि यहाँ पर काचना नामक तृण विशेष की अधिकता होने के कारण इसका नाम काञ्चनंपाड़ा पड़ा। एक अन्य किंवदन्ति है कि पूर्वकाल में यहाँ अनेक सुवर्णवाणिक निवास करते थे, जो सोने, चाँदी का क्रय-विक्रय किया करते थे। इसलिए जनसाधारण इसे 'काञ्चनपल्ली' नाम से अभिहित करने लगा। 'काञ्चनपल्ली' ग्राम के नाम के पीछे चाहे कोई भी रहस्य अन्तर्निहित हो, किन्तु इतना सुस्पष्ट है कि 'काञ्चनपल्ली' बंगाल के विख्यात ग्राम 'कुमारहट्ट' की एक विशिष्ट पल्ली है। पूर्वकाल में यह 'कुमारहट्ट' से संयुक्त थी, किन्तु बाद में बागेरखाल नामक एक कृत्रिम नदी के द्वारा 'कुमारहट्ट' से पृथक् कर दी गई थी। वर्तमान समय में 'काञ्चनपल्ली' की दक्षिणी सीमा पर काटीखाल, पश्चिमी सीमा पर भगीरथीखाल, उत्तरी सीमा पर यमुनातीरस्थ मुरतिपुर तथा पूर्वी सीमा पर सिन्देश्वनीपुर है।

'काञ्चनपल्ली' केवल अपने नाम से सम्बन्धित विचित्र किंवदन्तियों के लिए ही प्रसिद्ध नहीं है, अपितु सदैव से उच्चकोटि के विद्वानों तथा अपने निवासियों के शारीरिक बल के लिए भी अत्यधिक प्रसिद्ध रही है। इसः

प्रसंग में एक किंवदन्ति लोकविश्रुत है कि 'काञ्चनपल्ली' में वेचाराम नामक एक अत्यधिक बलवान् मल्ल निवास करता था। किसी समय गंगा के घाट वाले मार्ग में ताड़ का एक विशाल वृक्ष धराशायी हो गया। आवागमन का मार्ग अवरुद्ध हो गया। किन्तु वेचाराम ने ताड़ के विपुलकाय वृक्ष को बिना किसी की सहायता से उठा लिया। यह भी एक जनश्रुति है कि इस ग्राम के एक युवक को घड़ियाल ने निगल लिया था। इस घटना के पश्चात् उस युवक के मित्रों ने गंगा में से उसी घड़ियाल को पकड़कर अपने मित्र के प्राणों की रक्षा की।'[1]

'काञ्चनपल्ली' ग्राम में कृष्णराय का एक सुविख्यात मन्दिर है, जिसकी प्रतिमा की स्थापना कवि कर्णपूर के पिता शिवानन्दसेन ने की थी। यह विग्रह प्रथमतः श्रीनाथाचार्य के दौहित्र सन्तान श्रीमहेश के निज गृह में अवस्थित था। इसे बंगाल के अनेक राजाओं से आर्थिक सहायता प्राप्त थी। प्रतिवत्सर कृष्णराय की रथयात्रा धूमधामपूर्वक सम्पन्न की जाती थी। काञ्चनपल्ली के इस देवमन्दिर की अखण्ड कीर्ति कालचक्र से गंगा के गम्भीर गर्भ में विलीन हो गई थी। किञ्चित् वर्षों के उपरान्त कलकत्ता निवासी श्रीनिमाईचरण एवं गौरचरण मल्लिक ने इसका जीर्णोद्धार १७८५ ई० में किया। गंगा की पवित्रघाटी को अलंकृत करने वाला यह मन्दिर अत्यधिक भव्य व कलात्मक है। यदि यह मन्दिर वर्तमान समय में श्रीहीन ग्राम में अवस्थित न होता तो निश्चय ही आज आधुनिक कलाविदों की जिज्ञासा का प्रमुख केन्द्र होता। जनसमुदाय की परिकल्पना है कि शिवानन्दसेन ने अपने गुरु श्रीनाथाचार्य के प्रति अत्यधिक श्रद्धाभाव के कारण निजप्रतिष्ठित मन्दिर की प्रतिमा पर एक शिलालेख उत्कीर्ण करवाया है कि—'कलियुग में कृष्णदेव को अनुगृहीत करने के लिए स्वयं श्रीनाथाचार्य प्रादुर्भूत हुए हैं।'[2]

कृष्णराय के मन्दिर के उन्नत शिखर 'काञ्चनपल्ली' के स्वर्णिम अतीत के इतिहास को आज भी अपनी मूकवाणी से कहते प्रतीत होते हैं।

---

१. Sen, D. C., Chaitanya and His Companion, p. 118.

२. स्वकृत श्रीकृष्णदेवाय प्रादुरासीत् स्वयं कलौ।
अनुग्रहणाय द्विजः श्रीयः श्रीनाथसंज्ञकः ॥

परिशिष्ट २

कवि कर्णपूर के टीकाकार विश्वनाथ चक्रवर्ती

कवि कर्णपूर के अनेक टीकाकारों का परिचय 'अलंकारकौस्तुभः' और 'आनन्दवृन्दावनचम्पू:' पर प्राप्त होने वाली टीकाओं से प्राप्त होता है। 'अलंकारकौस्तुभः' पर पण्डितसार्वभौम, कृष्णमोहनगोस्वामी, लोकनाथ-चक्रवर्ती, वृन्दावनचन्द्रतर्कालंकार एवं विश्वनाथ चक्रवर्ती तथा 'आनन्द-वृन्दावनचम्पू:' पर वृन्दावन चक्रवर्ती की प्रसिद्ध टीकाएँ हैं। पूर्वोल्लिखित टीकाकारों में केवल विश्वनाथ चक्रवर्ती के जीवनचरित तथा अन्य काव्य-कृतियों का परिचय प्राप्त होता है। अन्य टीकाकारों का जीवनचरित, काव्यकृतियाँ तथा रचनाकाल अतीत के गर्भ में है।

विश्वनाथ चक्रवर्ती गौडीय वैष्णवसम्प्रदाय के सर्वाधिक लोकप्रसिद्ध एवं उद्भट टीकाकार हैं। लगभग सभी प्रसिद्ध ग्रन्थों पर इनकी महत्त्वपूर्ण टीकाएँ प्राप्त होती हैं। इनके जीवनचरित से सम्बद्ध कुछ साक्ष्यों तथा किंवदन्तियों को वृन्दावन के निकटवर्ती राधाकुण्ड के अधिकारी कृष्णदास बाबा तथा वृन्दावनवासी दामोदराचार्य से सुनने का सौभाग्य मिला। पूर्वोक्त महानुभावों के ही कथन के आधार पर विश्वनाथ चक्रवर्ती का परिचय देने का प्रयास किया जा रहा है।

जनश्रुति के अनुसार विश्वनाथ चक्रवर्ती का जन्म नदिया जिला के देवग्राम में राठीश्रेणी ब्राह्मण-परिवार में १६६४ ई० के लगभग हुआ था। यह तीन भ्राता थे—ज्येष्ठ–रामभद्र, मध्य–रघुनाथ एवं कनिष्ठ–विश्वनाथ। किंवदन्ति है कि जिस समय विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भूमि का स्पर्श किया था, उस समय सूतिकागृह में अलौकिक ज्योति का स्फुरण हुआ था। उन्होंने मुर्शिदाबाद जिला के सैयदाबाद निवासी श्रीकृष्णचरण चक्रवर्ती के निकट मंत्र ग्रहण किया था। गुरुगृह में दीर्घकाल पर्यन्त निवास करने के कारण उन्होंने स्वयं को सैयदाबाद निवासी ही बताया है। इस तथ्य का प्रमाण 'अलंकारकौस्तुभः' की 'सुखबोधिनी' टीका से हो जाता है—

> सैयदाबाद-निवासि श्रीविश्वनाथचक्रवर्तिना।
> चक्रवर्तीति नाम्नेयं कृता टीका सुखबोधिनी ॥

विश्वनाथ चक्रवर्ती बाल्यकाल से ही उदासीन प्रवृत्ति के थे। पिता ने इन्हें सांसारिक बन्धनों में आबद्ध करने का भगीरथ प्रयास किया।

अल्पावस्था में ही इनका विवाह कर दिया तथा गृह में ही पण्डित रखकर उन्हें 'श्रीमद्भागवत' का अध्ययन कराया। किन्तु 'श्रीमद्भागवत' के अध्ययन से विश्वनाथ चक्रवर्ती का बाल्यवैराग्य भाव प्रौढ़ हो गया। एक दिन उन्होंने अतुल ऐश्वर्य, रूपवती भार्या, स्नेहमयी जननी तथा पुत्रवत्सल पिता का परित्याग कर वृन्दावनवास आरम्भ कर दिया। गृहत्याग के पश्चात् किञ्चित् समय उपरान्त स्वदेश-गमन की इच्छा जाग्रत हुई। किन्तु गृह में आकर उनका मन स्थिर न रह सका। वे पुनः वृन्दावन लौट आये तथा स्थायी रूप में राधाकुण्ड में अवस्थित कृष्णदास कविराज की परित्यक्त कुटी में उनके शिष्य मुकुन्ददास के साथ आवास करने लगे। राधाकुण्ड की यह कुटी ऐतिहासिक है। अद्यावधि वर्तमान है। इसी कुटी में रघुनाथदास तथा कृष्णदास कविराज जैसे लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने अपनी साहित्यिक एवं दार्शनिक साधनाएँ सम्पन्न की थीं।

विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपने जीवन के शेष भाग में 'श्रीगोकुलानन्द-विग्रह' की सेवा की थी। बीच-बीच में रघुनाथदासगोस्वामी की 'गोवर्द्धन-शिला' की भी सेवा की थी। इस 'गोवर्द्धनशिला' से सम्बद्ध एक कथा राधाकुण्ड में प्रसिद्ध है। तदनुसार इस शिला को श्रीशंकरानन्दसरस्वती ने महाप्रभु की वृन्दावन यात्रा पर उन्हें समर्पित की थी। महाप्रभुचैतन्य ने रघुनाथदास को अर्पण करते हुए इसकी सेवा का आदेश दिया। रघुनाथ के पञ्चतत्त्वगमन के उपरान्त यह शिला कृष्णदास कविराज के पास रही। उनकी अप्रकट लीला के पश्चात् उनके शिष्य मुकुन्ददास उनकी सेवा करने लगे। प्रसिद्ध गंगानारायण चक्रवर्ती की कन्या विष्णुप्रिया राधाकुण्ड के तट पर निवास करती थी। मुकुन्ददास ने पूर्वोक्त 'गोवर्द्धनशिला' विष्णुप्रिया को समर्पित कर दी। विष्णुप्रिया ने इस शिला की सेवा का सुअवसर कभी-कभी विश्वनाथ चक्रवर्ती को प्रदान किया। सम्प्रति यह शिला 'गोकुलानन्द-विग्रह' मन्दिर में प्रतिष्ठित है।

विश्वनाथ चक्रवर्ती ने व्याकरण, काव्य, अलंकारशास्त्र आदि का गूढ़ अध्ययन किया था। उनके काव्यग्रन्थों को देखकर उनके असाधारण कवित्व पर आश्चर्य होता है। जनश्रुति है कि उन्होंने एक दिग्विजयी पण्डित को वाद-विवाद में परास्त किया था। वृन्दावन आवास-काल में ही उन्होंने अनेकानेक प्रसिद्ध ग्रन्थों एवं टीकाओं का सृजन किया। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

१. 'श्रीमद्भागवत' की 'सारार्थदर्शिनी' टीका, २. कवि कर्णपूर विरचित 'अलंकारकौस्तुभः' की 'सुखबोधिनी' टीका, ३. 'गीता' की 'सारार्थवर्षिणी'

टीका, ४. रूपगोस्वामी विरचित 'विदग्धमाधव' नाटक की टीका, ५. 'श्रीकृष्ण-भावनामृतम्' महाकाव्य, ६. 'स्वप्नविलासामृतम्' काव्य, ७. 'माधुर्य-कादम्बिनी', ८. 'ऐश्वर्यकादम्बिनी', ९. 'स्तवामृतलहरी', १०. 'चमत्कार-चन्द्रिका', ११. 'गौराङ्गलीलामृतम्', १२. 'चैतन्यचरितामृतम्' की संस्कृत टीका, १३. 'उज्ज्वलनीलमणि' की 'आनन्दचन्द्रिका' टीका, १४. 'गोपाल-तापनी' की टीका, १५. 'गौरगणचन्द्रिका'। किंवदन्ति है कि 'चैतन्यरसायन' नामक एक अन्य ग्रन्थ की रचना करने का प्रयास वे कर रहे थे, किन्तु स्वप्न में चैतन्य महाप्रभु ने निषेध कर दिया था। इसलिए वे इसके निर्माण-कार्य से विरत हो गये।

पूर्वोक्त ग्रन्थ संस्कृत साहित्य के अमूल्य रत्न हैं। विश्वनाथ चक्रवर्ती की साहित्यिक सेवाओं में 'श्रीमद्भागवत' की 'सारार्थदर्शिनी' टीका, 'अलंकारकौस्तुभः' की 'सुखबोधिनी' टीका, 'उज्ज्वलनीलमणि' की 'आनन्द-चन्द्रिका' टीका तथा 'कृष्णभावनामृतम्' ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः वैष्णवसमाज में उनका नाम 'सारार्थदर्शिनी' टीका से ही चिरस्थायी रह सकता था।

सन्दर्भ ग्रन्थावली

ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम व प्रकाशन
१. अभिनव भारती	अभिनवगुप्त, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्व-विद्यालय, प्रथम संस्करण, १९६० ई०
२. अलंकारकौस्तुभः	कवि कर्णपूर, वीरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, १९२३–३४ ई०
३. अलंकारसर्वस्व (जयरथ टीका सहित)	रुय्यक, काव्यमाला ३५, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण, १९३९ ई०
४. आनन्दवृन्दावनचम्पू	कवि कर्णपूर, पण्डित ओल्ड सीरीज काशी, भाग ९–१० एवं न्यू सीरीज, भाग १–३
५. उज्ज्वलनीलमणि	रूपगोस्वामी, मथुरा, सम्वत् २०२२
६. कठोपनिषद्	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, तृतीय संस्करण, १९२५ ई०
७. काव्यादर्श	दण्डी, भण्डारकर प्राच्य विद्यामन्दिर, पूना, १९३८ ई०
८. काव्यानुशासन	हेमचन्द्र, काव्यमाला ७०, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०१ ई०
९. काव्यालंकार	भामह, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९२८ ई०
१०. काव्यालंकार	रुद्रट, काव्यमाला २, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण, १९०९ ई०
११. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति	वामन, ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९२७ ई०
१२. काव्यप्रकाश	मम्मट, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६० ई०
१३. काव्यमीमांसा	राजशेखर, गायकवाड ओरियन्टल सीरीज नं० १, ओरियन्टल इन्स्टीटचूट आफ बड़ौदा, तृतीय संस्करण, १९३४ ई०
१४. किरातार्जुनीयम्	भारवि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १३वाँ संस्करण, १९४२ ई०

१५.	कुमारसम्भव	कालिदास, बम्बई संस्कृत सीरीज ५, बम्बई, १९२६ ई०
१६.	कुवलयानन्द	अपय्य दीक्षित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, चतुर्थ संस्करण, १९१७ ई०
१७.	कृष्ण-कौतुक	परमानन्द, मथुरा, १९६५ ई०
१८.	कृष्णाह्निककौमुदी (बंगलिपि)	कवि कर्णपूर, हरिबोल कुटीर, नवद्वीप, १९४१ ई०
१९.	गोविन्दलीलामृतम्	कृष्णराज कविराज, मथुरा, संवत् २०२२
२०.	गोविन्दभाष्य (बंगलिपि)	बलदेव विद्याभूषण, कलकत्ता, १८९४ ई०
२१.	गौरगणोद्देशदीपिका	कवि कर्णपूर, मथुरा, संवत् २०११
२२.	चन्द्रालोक	जयदेव, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, १९६६ ई०
२३.	चमत्कारचन्द्रिका (बंगलिपि)	विश्वनाथ चक्रवर्ती, हरिबोल कुटीर, नवद्वीप, प्रथम संस्करण, १९३० ई०
२४.	चित्र-मीमांसा	अपय्य दीक्षित, काशी, संवत् १९४८
२५.	चैतन्यचन्द्रामृतम्	प्रबोधानन्द सरस्वती, मथुरा, संवत् २००८
२६.	चैतन्यचन्द्रोदयम्	कवि कर्णपूर, काव्यमाला ८७, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण, १९१७ ई० एवं ऐशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, १८५४ ई०
२७.	चैतन्यचरितामृतम् (बंगलिपि)	कवि कर्णपूर, राधारमण प्रेस, मुर्शिदाबाद, द्वितीय संस्करण, १९२५ ई०
२८.	दशरूपक	धनिक-धनञ्जय, चौखम्भा वाराणसी, १९६७ ई०
२९.	दशकुमारचरितम्	दण्डी, काव्यमाला, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३३ ई०
३०.	दानकेलिकौमुदी (बंगलिपि)	रूपगोस्वामी, मुर्शिदाबाद, द्वितीय संस्करण, १८८६ ई०
३१.	दानकेलिचिन्तामणि (बंगलिपि)	रघुनाथदास, हरिबोल कुटीर, नवद्वीप, चैतन्याब्द, ४५१
३२.	ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन, चौखम्भा वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६५ ई०

३३. नाट्यशास्त्र — भरतमुनि, काव्यमाला ४२, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९४ ई०

३४. नैषधीयचरितम् — श्रीहर्ष, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, नवम संस्करण, १९५२

३५. पद्यावली — रूपगोस्वामी, ढाका विश्वविद्यालय, ढाका, १९३४ ई०

३७. पारिजातहरणम् — कवि कर्णपूर, मिथिला विद्यापीठ दरभंगा, १९५६ ई०

३६. प्रमेयरत्नावली — बलदेव विद्याभूषण, कलकत्ता, १९२७ ई०

३८. प्रेमविलास (बंगलिपि) — नित्यानन्द दास, बरहमपुर, मुर्शिदाबाद, बंगाब्द, १२९२

३९. प्रीतिसन्दर्भ — जीवगोस्वामी, कलकत्ता, १९३२ ई० एवं शंकर प्रेस, कूमिल्ला, कलकत्ता

४०. भक्तिरसायन — मधुसूदन सरस्वती, कलकत्ता, संवत् १९६९

४१. भट्टिकाव्य — भट्टि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२० ई०

४२. महाभारत — पूना, प्रथम संस्करण, १९२९

४३. मुक्ताचरित (बंगलिपि) — रघुनाथदास, गौडीय मठ, कलकत्ता, १९४९ ई०

४४. मेघदूत — कालिदास, कलकत्ता, १९५१ ई०

४५. मृच्छकटिकम् — शूद्रक, चौखम्भा वाराणसी, १९५४ ई०

४६. रघुवंशम् — कालिदास, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९२६ ई०

४७. रसगंगाधर — पण्डितराज जगन्नाथ, काशी हिन्दूविश्व-विद्यालय, वाराणसी, वि० संवत् २०२०

४८. रामायण — वाल्मीकि, चौखम्भा, वाराणसी

४९. राधाकृष्णगणोद्देश-दीपिका — रूपगोस्वामी, मधुकरी पत्रिका, बंगाब्द, १३२९, फाल्गुन, १३३०, श्रावण

५०. ललितमाधव — रूपगोस्वामी, हरिबोल कुटीर, नवद्वीप, सन् १९४७ ई०

५१. वक्रोक्तिजीवितम् — कुन्तक, कलकत्ता, तृतीय संस्करण, १९६१ ई०

५२. विदग्धमाधव — रूपगोस्वामी, काव्यमाला ८१, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०३ ई०
५३. विष्णुपुराण — गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् २००९
५४. वृत्तमाला — कवि कर्णपूर, कामरूप संस्कृत सञ्जीवनी सभा, शकाब्द, १८५४
५५. बृहत्भागवतामृतम् (बंगलिपि) — सनातनगोस्वामी, मुर्शिदाबाद, चैतन्याब्द, ४०१
५६. शिशुपालवधम् — माघ, चौखम्भा, वाराणसी, १९६१ ई०
५७. श्रृंगारप्रकाश (द्वितीय खण्ड) — भोजदेव, मैसूर, १९६३ ई०
५८. श्वेताश्वेतोपनिषद् — निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, तृतीय संस्करण, १९२५ ई०
५९. श्रीकृष्णचैतन्य-चरितामृतम् — मुरारिगुप्त, अमृत बाजार पत्रिका आफिस, कलकत्ता, तृतीय संस्करण, १९२१ ई०
६०. श्रीकृष्णभावनामृतम् — विश्वनाथ चक्रवर्त्ती, मथुरा, चैतन्याब्द, ४१८
६१. श्रीमद्भागवत (भाग-२) — निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१६ ई०
६२. श्रीस्तवकल्पद्रुम — संकलन, मथुरा, १९५९ ई०
६३. षड्सन्दर्भ-तत्त्वसन्दर्भ, कृष्णसन्दर्भ, परमात्मा-सन्दर्भ, भागवत् सन्दर्भ एवं प्रीतिसन्दर्भ — जीवगोस्वामी, नवद्वीप, बंगाब्द, १३३२
६४. संक्षेपभागवतामृतम् (बंगलिपि) — रूपगोस्वामी, मुर्शिदाबाद, द्वितीय संस्करण, बंगाब्द १३०२
६५. संस्कृतपारसीकपदप्रकाश — काशी गोरक्षा ग्रन्थमाला
६६. समराङ्गणसूत्रधार (भाग-२) — भोजराज, गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा, १९२५ ई०
६७. सरस्वतीकण्ठाभरणम् — भोजदेव, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, १८९४ ई०
६८. सहस्रनामत्रयस्तोत्र — संकलन, मथुरा, सं० २०१२
६९. साहित्यदर्पण — विश्वनाथ, चौखम्भा वाराणसी, १९५७ ई०

७०. सुवृत्ततिलक — क्षेमेन्द्र, काव्यमाला-२, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण, १९२३

७१. सोलहवीं शताब्दी के हिन्दी और बंगाली कवि—तुलनात्मक अध्ययन — डॉ० रत्नकुमारी, भारतीय साहित्य मन्दिर फव्वारा, दिल्ली, १९५६

७२. स्तवमाला (बंगलिपि) — रूपगोस्वामी, मुर्शिदाबाद, द्वितीय संस्करण, १९१२ ई०

७३. स्तवावली (बंगलिपि) — रघुनाथदास, मुर्शिदाबाद, बंगाब्द १३२४

७४. स्मरणमंगलस्तोत्र — रूपगोस्वामी (डॉ० सुशीलकुमार डे की पुस्तक The Early History of Vaiṣṇava faith And Movement in Bengal के परिशिष्ट में प्रकाशित)

७५. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु — रूपगोस्वामी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६३

७६. हरिभक्तिविलास — गोपालभट्ट, बरहमपुर, मुर्शिदाबाद, द्वितीय संस्करण, भाग-२, १८८९–१८९२ ई०

७७. हरिवंशपुराण — गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५९ ई०

हस्तलिपियाँ

ओरियन्टल लायब्रेरी ऑफ ऐसियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, कलकत्ता में उपलब्ध हस्तलिपियाँ —

७८. गौरगणोद्देशदीपिका — हस्तलिपि सं० IIIE 145

७९. चमत्कारचन्द्रिका — हस्तलिपि सं० 5200/1579

८०. चिकित्सारत्नावली — हस्तलिपि सं० 53 B II

८१. चैतन्यचन्द्रोदयम् — हस्तलिपि सं० III 205

सरस्वतीभवन पुस्तकालय, वाराणसी से उपलब्ध होने वाली हस्तलिपियाँ—

८२. अलंकारकौस्तुभः — हस्तलिपि सं० ४१०६०, ४१०५९, ४३०६१

८३. गौरगणोद्देशदीपिका — हस्तलिपि सं० ४४४३२

८४. चैतन्यचरितामृतम् — हस्तलिपि सं० ४०४५९, ४२९९७

वृन्दावनशोधसंस्थान, वृन्दावन से प्राप्त होने वाली हस्तलिपियाँ—

८५.	गौरगणोद्देशदीपिका	हस्तलिपि सं० १२६७
८६.	चैतन्यचन्द्रोदयम्	हस्तलिपि सं० ३१
८७.	वैष्णवतोषणी	हस्तलिपि सं० २०
		बंगला ग्रन्थ
८८.	अनुरागावल्ली	मनोहरदास, बागबाजार स्ट्रीट पत्रिका प्रेस, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, गौराब्द ४२४
८९.	गौरपदतरङ्गिणी	जगद्बन्धुभद्र (सम्पादक एवं संकलनकर्ता), बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, १९०२ ई० एवं मृणालकान्तघोष (सम्पादक), बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, १९३५ ई०
९०.	चैतन्यचन्द्रोदयकौमुदी	प्रेमदास, कलकत्ता, शकाब्द १७५१
९१.	चैतन्यचरितामृतम् (तीन खण्ड)	कृष्णदास कविराज, हरिनाम संकीर्तन मण्डल, वृन्दावन, १९६२–६५ ई०
९२.	चैतन्यचरितेर उपादान	डॉ० विमानविहारी मजूमदार, कलकत्ता विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, १९३९ ई०, द्वितीय संस्करण, १९५९ ई०
९३.	चैतन्यमंगल	जयानन्द, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, १९०५ ई०
९४.	चैतन्यमंगल	लोचनदास, बागबाजार, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, गौराब्द ५४४
९५.	चैतन्यभागवत (तीन खण्ड)	वृन्दावनदास, मथुरा, संवत् २०२० एवं अतुलकृष्ण गोस्वामी (सम्पादक), कलकत्ता, तृतीय संस्करण, बंगाब्द १३४२
९६.	पदकल्पतरु (पाँच खण्ड)	वैष्णवदास (संकलनकर्त्ता), श्रीसतीशचन्द्र-राय (सम्पादक) बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, १९१५–१९३१ ई०
९७.	बंगालीभक्तमाल	श्रीलालदास, अक्षयपुस्तकालय, कलकत्ता
९८	भक्तिरत्नाकर	नरसिंह चक्रवर्ती, गौडीय मिशन कलकत्ता, १९४० ई०
९९.	भगवत्सन्दर्भ की सर्वसंवादिनी टीका	जीवगोस्वामी, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, १९२१ ई०

१००. भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय (प्रथम भाग) — अक्षयकुमारदत्त, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, १८७० ई०

१०१. भारतवर्षीय कविदिगेर समय निरूपण — हरिमोहन प्रामाणिक, कलकत्ता, बंगाब्द, १३०२

१०२. विश्वकोष (तृतीय खण्ड) — नगेन्द्रवसु, कलकत्ता, बंगाब्द, १२९९

१०३. वैष्णवाचारदर्पण (प्रथम भाग) — नवद्वीपचन्द्र गोस्वामी (सम्पादक), कलकत्ता, तृतीय संस्करण, शकाब्द, १८२३

१०४. श्रीहट्टेर इतिवृत्त — श्रीअच्युतचरण चौधरी, कलकत्ता, बंगाब्द १३१७

बंगला पत्रिका

१०५. श्रीचैतन्यमतबोधिनी पत्रिका — चैतन्याब्द ४०७

१०६. मासिक वसुमती पत्रिका — सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय (सम्पादक), बहू बाजार स्ट्रीट १६६ नं० कलकत्ता, पोषमास, सं०-३, वर्ष-१४, वंगाब्द १३४२

१०७. सज्जनतोषिणी भाग-२ — कलकत्ता, १८८५ ई०

१०८. सोनार गौराङ्ग पत्रिका — श्रीहट्ट से प्रकाशित, संख्या-११, बंगाब्द १३३७

आँग्ल ग्रन्थ

१०९. Early History of Vaiṣṇava faith & Movement in Bangal — Dr. S. K. De., Calcutta, Ist edition, 1942.

११०. Bhoja's Sṛngāra Prakāśa — Dr. V. Raghavan. Madras, 1963.

१११. Chaitanya And His Aga — Dr. D. C. Sen, Calcutta University, Calcutta, 1922.

११२. Chaitanya And His Companion — Dr. D. C. Sen, Calcutta University, Calcutta, 1907.

११३. Chaitanya Movement. — Melvill, T. Kennedy, Oxford Uuiversity, 1925.

११४. Classical History of Sanskrit Literatures — Krishanamachari, Madras, 1937.

११५. History of Assam — Edward Gait, Calcutta, 3rd Edition, 1963.

११६. History of Orrisa — R. D. Banerjee, Calcutta, Vol. Ist. 1930.

११७. History of Sanskrit Literature — Dr. S. K. De & Das Gupta, University of Calutta, IInd Edition, 1962.

११८. Moghul Empire — A. L. Srivastava, Agra, IInd Edition, 1956.

११९. Sanskrit Poetics — Dr. S. K. De, Calcutta University, Calcutta, IInd Edition, 1966.

१२०. Shri Chaitanya Mahaprabhu. — B. P. Tirtha, Bengal, 1939.

१२१. Shri Krishna Chaitanya — Sree Nishi Kanta Sanyal, Vol-1, Gaudiya Math, Madras, 1933.

१२२. Vaiṣṇava Literature of Mediaeval Bengal. — Dr. D. C. Sen. Calcutta University, Calcutta, 1917.

Journals and Catalogues

१२३. Asutosh Silver Jubilee Volume, Part 3, Vol. III, Year 1927.

१२४. B. C. Law Volume, Part IInd, Year 1945.

१२५. Indian Historical Quarterly, Vol. VIII, 1932.

१२६. Journal of Asiatic Society of Bengal, Vol. XIX, Year 1950.

१२७. Journal of Ganga Nath Jha, Research Institute, Part I, Vol. I, Year 1943.

१२८. Journal of Oriental Research, Madras, Vol. XI Year 1937.

१२९. Year Book of Royal Asiatic Society of Bengal, Vol. IV, Year 1938.

१३०. Our Heritage—Bulletin of the Department of Postgraduate Training & Research Sanskrit College, Calcutta, Part I, Vol. IV, Year 1956.

१३१. Catalogus Catalogorum, T. Aufrecht, Part II, 196[illegible].

१३२. Catalogue of Sanskrit Mss., India Office Library, Jultius Eggeling, Part. III, Year 1891, IV, Year 1894 & VII, Year 1904.

१३३. Descriptive Catalogue of Sanskrit Mss. Oriental Library of Asiatic Society of Bengal, Vol. VI.

१३४. Notices of Sanskrit Mss. H. P. Shastri, Vol. II, Year 1904.

१३५. Notices of Sanskrit Mss., R. L. Mitra, Vol. I, II. IV, VI. IX.

१३६. Descriptive Catalogoue of Sanskrit Mss. in the Adyar Library, Vol. V, Year 1951.

१३७. Varzeichnies Indischer Hands Chriften der Ko"niglichen Universitats–Bibliothek in Tubingen. Anhang. Indische Hands Chriften der Ko"nigilichen Oeffentlichen. Bibliothek in Stuttgart. Von R. Roth Tubingen. 1865.

श्लोकानुक्रमणिका